# भारतीय ज्ञानपीठ काशी

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

## भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक [ प्राकृत और संस्कृत विभाग ]

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्०

### संस्कृत ग्रन्थाङ्क २०

प्रकाशक

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

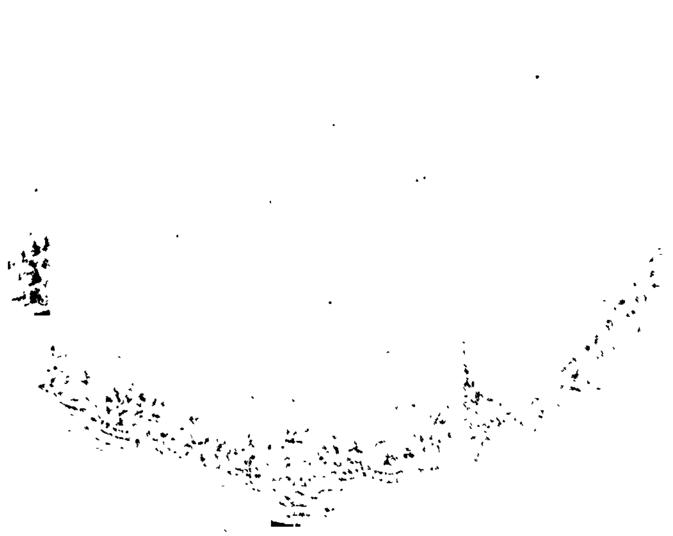
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ९
वीर नि० २४७०





विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी सन् १९४४



स्वर्गीय मूर्तिदेवी, मातेश्वरी साहू शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVI JAINA GRANTHA
SAMSKRIT GRANTHA NO. 20

# TATTVĀRTHAVĀRTIK

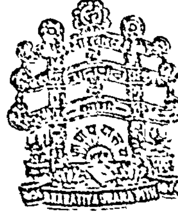
OF

SHRI AKALANK DEVA

WITH

HINDI TRANSLATION

PART II



*Edited with*

Introduction, appendices, variant readings, comparative notes etc.

BY

Pt. MAHENDRA KUMAR JAIN, M.A.,

*Nyayacharya, Jain-Prachina-Nyayatirtha, etc.*

Lecturer in Bauddhadarshan, Samskrit Mahavidyalaya,
Hindu University Banaras.

*Published By*

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA KĀSHĪ

*First Edition* 1000 *Copies.*

VAISHAKH VIR SAMVAT 2484
VIKRAMA SAMVAT 2014
MAY 1957.

*Price* *Rs. 12/-*

# BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHI

*FOUNDED BY*

**SETH SHĀNTI PRASĀD JAIN**

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

**SHRĪ MŪRTI DEVĪ**

## JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ JAIN GRANTHAMĀLĀ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL, PAURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SAṂSKRIT, APABHRANSHA, HINDI, KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED.

*General Editors of the Prakrit and Samskrit Section*

Dr. HIRALAL JAIN, M. A. D. Litt.

Dr. A. N. UPADHYA, M. A. D. Litt.

**SAMSKRIT GRANTHA NO. 20**

*PUBLISHER*

**AYODHYA PRASAD GOYALIYA**

Secy., BHARATIYA JNANAPITHA
DURGAKUND ROAD, BANARAS

*Founded on* Phalguna Krishna 9. Vira Sam. 2470



Vikrama Samvat 2000 *18th Feb. 1944*

# सम्पादकीय

उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्रकी जैन साहित्यमें जो पद-प्रतिष्ठा है वह दूसरे किसी अन्य ग्रन्थकी नहीं। इसका समाज भरकी सभी शाखाओंमें समान आदर है, और प्रामाणिकताकी दृष्टिसे वह उसी प्रकार पूजा जाता है जैसे वेद, बाइबिल व कुरान अपनी-अपनी धार्मिक परम्पराओंमें। उसमें धर्मकी सभी बातों और मान्यताओंका बड़ी व्यवस्थासे सूक्ष्ममें परिचय करा दिया गया है। उसमें केवल लगभग साढ़े तीन सौ सूत्र हैं, सबसे छोटे एक दो शब्दोंके और बड़ोंमें अधिकांश पाँच-सात शब्दोंसे अधिक लम्बे नहीं। उन्हें कण्ठस्थ कर लेने व समझ लेनेसे जैन सिद्धान्तका अच्छा खासा पाण्डित्य प्राप्त हो जाता है। यों उसके पाठमात्रसे भी बड़ा पुण्य माना जाता है। प्राचीनतामें भी यह कम बढ़ आजसे दो हजार वर्ष पुराना माना जाता है।

ऐसे ग्रन्थपर इतने कालमें अनेक भाष्य, वृत्ति, टीका, टिप्पणी आदि लिखे जाँय यह स्वाभाविक ही है। ग्रन्थ भिन्न-भिन्न कालकी रची हुई बीसों टीकाओंसे सम्पन्न पाया जाता है। एक मान्यतानुसार भाष्य स्वोपज्ञ है, अर्थात् स्वयं सूत्रकारका बनाया हुआ। अन्य टीकाओंमें देवनन्दि पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति, हरिभद्रकृत वृत्ति और अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक अपनी प्राचीनता, प्रामाणिकता एवं विषय-गांभीर्य और विस्तार आदि गुणोंके लिए श्रेष्ठ मानी जाती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थमें तत्त्वार्थसूत्र भट्टाकलंकदेव विरचित अपनी तत्त्वार्थवार्तिक नामक टीका सहित प्रकाशित किया जा रहा है। इस वार्तिकमें विषयकी दृष्टिसे सर्वार्थसिद्धिका अच्छा विस्तार किया गया है। शैली न्याय-प्रचुर है—अधिकांश अतिप्रसन्न और कहीं कहीं जटिल भी। इसके रचयिताने अपनेसे पूर्वकी सिद्धान्त और न्याय सम्बन्धी सामग्री और परम्पराका अच्छा उपयोग किया है। और उनसे पीछेके रचयिताओंपर इस रचनाका गम्भीर प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार जैनसंस्कृति की अपार काल-परम्पराके बीच यह ग्रन्थ दोनों ओर अपनी भुजाओंका प्रसार किये मेरुके समान अचल खड़ा है।

इतना महत्त्वपूर्ण होने पर भी यह ग्रन्थराज अनेक वर्षोंसे दुर्लभ हो रहा था। पूर्व प्रकाशित संस्करणकी प्रतियाँ कभीकी समाप्त हो चुकी थीं। शुद्धिकी दृष्टिसे भी पाठ-संशोधनकी आवश्यकता थी। सुलभोपयोगके लिए अनुक्रमणिकादिका जोड़ना आवश्यक था।

इन्हीं अभावोंकी पूर्तिके लिए ज्ञानपीठने इस ग्रन्थका यह नया संस्करण प्रकाशित करना आवश्यक समझा।

प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान्, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, के बौद्धदर्शनाध्यापक, न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी, एम. ए. ने किया है। पूर्व प्रकाशित संस्करणके अतिरिक्त कुछ अन्य प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंके पाठ-संकलन, तुलनात्मक टिप्पण, हिन्दी-सार, सूत्र-पाठ समस्त दिगम्बर श्वेताम्बर टीकाकारोंके पाठभेदों सहित सूत्रोंकी व तद्गत शब्दोंकी वर्णानुक्रमणियाँ, अवतरण सूची, भौगोलिक शब्द सूची तथा वार्तिकके विशिष्ट शब्दोंकी सूची, ये इस संस्करणकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

इन विशेषताओंको सम्पन्न करनेमें विद्वान् सम्पादकको क्या अनुभव हुआ, ग्रन्थका विषय, शैली, रचयिताकी लेन व देन, एवं उनका वैयक्तिक परिचय, रचनाकाल आदि इतिहास उन्हें क्या कैसा प्रतीत हुआ, इन बातोंका उन्हींके द्वारा लिखित विवरण ग्रन्थकी प्रस्तावनाके रूपमें पाठकोंके सम्मुख रखनेकी ग्रन्थ-मालाके पदाधिकारियोंकी प्रबल इच्छा थी और इसके लिए पण्डितजीसे बहुत अनुरोध किया गया। ज्ञानपीठकी संचालक समितिकी ११-१२ जूनकी बैठकमें निम्न प्रस्ताव भी पारित किया गया :—

"अनेक अनुरोधोंपर भी पं० महेन्द्रकुमारजीने राजवार्तिककी प्रस्तावना अभी तक नहीं दी। इससे ग्रन्थके प्रकाशन-क्रममें बहुत बाधा आई है। उनसे पुनः अनुरोध किया जाय कि वे जल्दीसे जल्दी प्रस्तावना दे दें और अधिकसे अधिक यदि तीन माह तक प्रतीक्षा करनेपर प्रस्तावना नहीं आती तो ग्रन्थ बिना उनकी प्रस्तावनाके ही छाप दिया जाय। केवल जनरल सम्पादकीय वक्तव्य ही पर्याप्त होगा।"

किन्तु इस प्रस्ताव व अनुरोधका भी कोई फल नहीं हुआ। किसी कारणवश विद्वान् सम्पादकने दो भागोंमें पूर्ण हुए इस महान् ग्रन्थको बिना उक्त परिचयात्मक प्रस्तावनाके ही पाठकोंके हाथ पहुँचने देना उचित समझा है।

बस, यही एक त्रुटि हमें खटकती है, और हम जानते हैं यह त्रुटि हमारे पाठकों तथा समालोचकोंको भी बहुत खटकेगी। किन्तु हम विवश हैं, और जहाँ तक हमारे अपने कर्त्तव्य पालनका प्रश्न है, हम अभी ही उनसे क्षमाकी याचना किये लेते हैं।

ही. ला. जैन
आ. ने. उपाध्ये
ग्रन्थमाला सम्पादक

## प्रकाशन-व्यय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १३१६॥≡)। | कागज़ २२×२९=३६ तथा २८ पौंड ६५ री० १० जि० | २४६२।≈)॥। | सम्पादन-व्यय |
| १५३५) | छपाई ५७ फार्म | ६३५॥≡)। | कार्यालय-व्यवस्था |
| १०००) | जिल्द बँधाई | २५०) | प्रूफ-संशोधन |
| ५५।≈)॥। | कवर कागज़ | ११००) | भेंट, आलोचना |
| ५०) | कवर छपाई | १६२) | पोस्टेज ग्रन्थ भेंट भेजनेका |
| | | ५६००) | कमीशन, विज्ञापन विक्री व्ययादि |

कुल लागत १४४६७॥)

१००० प्रति छपी। कीमत एक प्रति १४।≡)॥

मूल्य १२) रु०

अपरे[1] मन्यन्ते[2]–ध्वनयः क्षणिकाः क्रमजन्मानः स्वरूपप्रतिपादनादेवोपक्षीणशक्तिका नार्थान्तरमवबोधयितुमलम्। यदि समर्थाः स्युः; पदेभ्य इव पदार्थेषु [3]प्रतिवर्णं वर्णार्थेषु प्रत्ययः स्यात्। एकेन चार्थे कृते वर्णान्तरोपादानमनर्थकं स्यात्। नापि क्रमजन्मनां[4] सहभावः संघातोऽस्ति[5] योऽर्थेन युज्यते। अतस्तेभ्योऽर्थप्रतिपादने समर्थः शब्दात्मा अमूर्तो नित्योऽतीन्द्रियो निरवयवो निष्क्रियो[6] ध्वनिभिरभिव्यङ्ग्यः[7] इत्यभ्युपगन्तव्य इति; एतच्चानुपपन्नम्; कुतः? व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावानुपपत्तेः। व्यङ्ग्यस्तावत् शब्दात्मा स्वेन स्वरूपेणावस्थितो वा व्यज्येत, अनवस्थितो वा? यदि स्वरूपेणावस्थितो व्यज्येत; तत्रापि द्वैतं[8] भवति ध्वनिसन्निधेः प्राक् पश्चाच्चानुपलब्धेः सौक्ष्म्यं वा हेतुः स्यात्, प्रतिबन्धकं[9] वा किञ्चित्? यदि सौक्ष्म्यान्नोपलभ्येत; सर्वकालमस्याग्रहणमेव स्यात् आकाशादिवत्। अथ ध्वनिसन्निधाने स्थौल्यमस्य[10] स्यात्; विकारप्राप्तेः[11] नित्यता हीयते। [12]नापि किञ्चित् प्रतिबन्धकमस्ति घटोपलब्धौ तमोवत्। प्रभाभावस्तमो न वस्त्वन्तरमिति चेत्; न; अतिशयवत्त्वात्[13] [14]सम्पन्नरूपवत्त्वाच्च नीलादिवर्णवत्। स्वरूपेणानवस्थितश्चेत्; नासौ व्यङ्ग्यः [15]कार्यः स्यात् ध्वनिसन्निधाने स्वरूपप्राप्तेः। तत एवैषां ध्वनीनां व्यञ्जकत्वमयुक्तम्।

किञ्च, आद्यो वर्णध्वनिः [16]शब्दात्मनः सकलस्य वा व्यञ्जकः स्यात्, एकदेशस्य वा? यदि सकलस्य; इतरेषां ध्वनीनाम् आनर्थक्यं स्यात्। अथैकदेशस्य; निरवयवत्वमस्य हीयते। किञ्च, स ध्वनिर्व्यञ्जकः स्फोटस्य[17] वा उपकारं कुर्यात्, श्रोत्रस्य, उभयस्य वा? न तावत् पृथिवीगन्धस्य जलसेकवत् स्फोटस्योपग्रहे वर्तते; तस्य नित्यत्वात्[18] विकारप्राप्त्यनभ्युपगमात्। न चामूर्तस्याभिव्यङ्ग्यस्य विक्रियोपपद्यते। नापि चक्षुषोऽञ्जनवत् श्रोत्रस्योपकारे वर्तते; बधिरस्य गुणान्तरोत्पादनशक्त्यभावात्। युज्यते नेत्रस्याञ्जनमुपकारकमिति तिमिरादिदोषहननदर्शनात्, न तथोपहतश्रवणस्य ध्वनिकृतमुपकारं [19]किञ्चिदप्युपलभामहे। अथ [20]कल्पेन्द्रियस्य उपग्रहे वर्तते; न तत्रार्थावबोधनादुपग्रहोऽन्योऽस्ति। तदभ्युपगमे तेनैव कृतकृत्यत्वात् स्फोटकल्पना[21] अनर्थिका। नाप्युभयस्योपग्रहो[22] युक्तः; प्रत्येकमयुक्तत्वादेव।

किञ्च,[23] न ध्वनयः स्फोटाभिव्यक्तिहेतवो भवन्ति उत्पत्तिक्षणादूर्ध्वमनवस्थानात् उत्पत्तिक्षणे चाऽसत्त्वात्। अथ क्षणिका अपि सन्तः अभिव्यक्तिहेतवः; कश्चेदानीं भवतो मत्सरः? अर्थप्रत्यायने तदभ्युपगमे च स्फोटकल्पना व्यर्था। प्रदीपवदिति चेत्; न; तस्यासिद्धत्वात्। नोत्पत्त्यनन्तरापवर्गी प्रदीपः आत्मलाभे देशान्तरसंबन्धनिमित्तक्रियापरिणामविप्रकृष्टदेशस्थघटादिप्रकाशनदर्शनात्। [24]कर्मवदिति चेत्; असिद्धत्वादेव, कर्मव्यक्तयः[25] क्षणिकाः सत्यः कर्मत्वजातिमभिव्यञ्जयन्तीत्यसिद्धमस्मान् प्रति, द्रव्यगुणकर्मविषयसामा-

---

१ मीमांसकाः। २ "वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्। अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात्। एकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचकः।"–महाभा० प्र० पृ० १६। न्यायकुमु० पृ० ७४५ टि० ९, १०। ३ घकारटकारेत्यादि। ४ घकारादिवर्णानाम्। ५ क्षणिकत्वात्। ६ वर्णपदवाक्यात्मको लोकव्यापी। ७ स्फोट इत्यर्थः। ८ द्वौ विकल्पौ भवतः। ९ आवरणम्। १० सूक्ष्मस्वरूपस्य वर्णादेः। ११ नित्यत्वं ही–मु०, द०, ब०, ता०। १२ नहि कि–आ०, मु०, ब०। १३ दृष्टा हि तमोवृद्धिः सन्ध्याकालादारभ्य आयामादेः, ततोऽतिशयवत्त्वाद् वस्त्वन्तरमेव। १४ सपत्नवत्त्वाच्च–मू०, द०, भा०। सम्पन्नवत्त्वाच्च–मु०, श्र०। तमालच्छायादिवत् स्निग्धनीलतम नीलतरत्वादिना। १५ कार्यं स्यात् मु०। व्यञ्जकस्य। १६ शब्दात्मा स–मु०, द०, ब०। १७ वर्णादिव्यङ्ग्यस्य। १८ नित्यत्वमस्य कथमिति चेदाह। १९–रकं किञ्चि–मु०, द०। २० कर्णेन्द्रियस्य–मु०, द०, ब०। अदृष्टेन, अदृष्टेन्द्रियस्येत्यर्थः। २१ ध्वनिना। २२–होऽपि यु–मु०, द०, ब०। २३ किंच ते ध्वनयो न स्फो–ता०; श्र०, मू०, मु०, आ०, द०, ज०। २४ वचनादिव्यापारवत्। २४ काष्ठसंचयनाग्निसन्धुक्षणादि।

न्य विशेषस्यार्थान्तरभूतस्यानभ्युपगमात्[3] । [4]कर्मणोऽपि द्रव्यादपृथग्भूतस्य द्रव्यार्थावस्थानाभ्युपगमात् ।

किञ्च, अभिव्यञ्जकाभिव्यङ्ग्यवैधर्म्यात् । यथा मूर्तः क्रियावान् प्रदीपोऽभिव्यञ्जकः तद्व्यङ्ग्याश्च घटादयः क्रियावन्तो मूर्तिमन्तो दृष्टाः, न च तथा ध्वनिर्मूर्तः क्रियावांश्च, तद्व्यङ्ग्यः स्फोटोऽपि न [5]तद्धर्मः ततोऽभिव्यक्त्यभावः ।　५

किञ्च, स्फोटः ध्वनेरन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा ? यद्यनन्यः; तादात्म्यं प्राप्नोति, व्यङ्ग्यत्वाभावश्च भेदाभावात् । अथान्यः; तस्य श्रोत्रोपलभ्यत्वाभावः ।

किञ्च, व्यङ्ग्यत्वे सति अनित्यत्वं स्यात् स्फोटस्य घटादिवत् विज्ञानेन व्यङ्ग्यत्वात् । आकाशादेर्व्यभिचार इति चेत्; न; मूर्तिमता[6] व्यङ्ग्यत्वादिति विशेष्यवचनात् । किञ्च, यस्य व्यङ्ग्यत्वं तस्य कार्यत्वमपि दृष्टं यथा घटादेः[7] । न तथा स्फोटस्य कार्यत्वमस्ति नित्यत्वाभ्युपगमादिति व्यङ्ग्यत्वाभावः । महदादिवदिति चेत्; साध्यसमत्वात्, यथा महदादि व्यङ्ग्यमेव न कार्यं[8] तथा स्फोटोऽपीति; तन्न; साध्यसमत्वात् । यथेदं स्फोटस्य व्यङ्ग्यत्वं साध्यं तथा महदादेरपीति ।　१०

किञ्च, दृष्टान्ताभावात् । न चामूर्तः कश्चिन्नित्यो निरवयवो मूर्तिमताऽनित्येन सावयवेन व्यङ्ग्यो दृष्टः, तदभावात् साध्यसिद्ध्यभावः । तस्मात् ध्वनिरूप एव शब्दो द्विशक्तिरभ्युपगन्तव्यः । स च पुद्गलद्रव्यार्थादेशात्ततोऽनन्यत्वात् स्यान्नित्यः श्रोत्रोपलभ्यपर्यायसामान्यस्थित्यपेक्षया कालान्तरस्थायी, प्रतिसमयस्थितिभेदापेक्षया क्षणिक इति च जैनेश्वरदर्शनमनवद्यम् ।　१५

**बन्धोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोगभेदात् ।६।** बन्धश्च[9] द्वैविध्यमश्नुते । कुतः ? विस्रसा-प्रयोगभेदात् । वैस्रसिकः प्रायोगिकश्चेति ।

**आद्यो द्वेधा आदिमदनादिविकल्पात् ।७।** आद्यो वैस्रसिको बन्धो द्विधा भिद्यते । कुतः ? आदिमदनादिविकल्पात् । तत्रादिमान् स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तः विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः । अनादिरपि वैस्रसिकबन्धो धर्माधर्माकाशानामेकशः त्रैविध्यान्नवविधः । धर्मास्तिकायबन्धः धर्मास्तिकायदेशबन्धः धर्मास्तिकायप्रदेशबन्धः । अधर्मास्तिकायबन्धः अधर्मास्तिकायदेशबन्धः अधर्मास्तिकायप्रदेशबन्धः । आकाशास्तिकायबन्धः आकाशास्तिकायदेशबन्धः आकाशास्तिकायप्रदेशबन्धश्चेति । कृत्स्नो धर्मास्तिकायः, तदर्धं देशः, अर्धार्धं प्रदेशः । एवमधर्माकाशयोरपि । कालाणूनामपि सततं परस्परविश्लेषाभावात् अनादिः । एकजीवप्रदेशानां च संहरणविसर्पणस्वभावत्वेऽपि परस्परवियोगाभावात् अनादिर्बन्धः । धर्माधर्मकालाकाशानां परस्परवियोगाभावात् अनादिर्बन्धः । नानाजीवानामपि सामान्यापेक्षया इतरद्रव्यैः सह सम्बन्धोऽनादिः । पुद्गलद्रव्येष्वपि महास्कन्धादीनां सामान्यादनादिर्बन्धः । एवं सर्वद्रव्यविषये बन्धे सति पुद्गलप्रकरणात् तद्विषयो बन्धः परिगृह्यते ।　२०　२५

**विस्रसा विधिविपर्यये निपातः ।८।** पौरुषेयपरिणामापेक्षो विधिः, तद्विपर्यये विस्रसाशब्दो निपातो द्रष्टव्यः । विस्रसा प्रयोजनो वैस्रसिको बन्धः ।　३०

**प्रयोगः पुरुषकायवाङ्मनःसंयोगलक्षणः ।९।** पुरुषस्य कायवाङ्मनःसंयोगः प्रयोग इत्युच्यते । [10]प्रयोगप्रयोजनो बन्धः प्रायोगिकः । स द्वेधा अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति । तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः । जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः । कर्मबन्धो ज्ञानावरणादिरष्टतयो[11] वक्ष्यमाणः । नोकर्मबन्धः औदारिकादिविषयः । स पुनः पञ्चविधः-आलपनाऽऽश्ले[12]-पनसंश्लेपशरीरशरीरिभेदात् । रथशकटादीनां लोहरज्जुवरत्रादिभिरालपनादाकर्षणात् बन्धः　३५

---

१ सत्तासामान्यस्य । २ त्वत्कल्पितस्य । ३ अस्माकम् । ४ व्यापारस्यापि । ५ मूर्तादिधर्मा न भवति । ६-तां व्य-ता०, श्र० । ७ दीपादिकरणस्य घटादेर्दृश्यत्वादि कार्यम् । ८ क्षय । ९ बन्धोऽपि द्वि-मु० । १० प्रयोगः प्रयो-ता०, श्र० । ११-ष्टधा ब-मु०, द०, ब० । १२-नालपनसं-ता०, श्र०, मू० ।

आलपनबन्धः । अनेकार्थत्वात् धातूनां लपिः आकर्षणक्रियो ज्ञेयः । कुड्यप्रासादादीनां मृत्पिण्डेष्टकादिभिः प्रलेपदानेन अन्योन्यालेपनात् अर्पणात् आलेपनबन्धः । धातूनामनेकार्थत्वात् आङ्पूर्वस्य [3]लिपः अर्पणक्रियस्य ग्रहणम् । जतुकाष्ठादिसंश्लेपणात् संश्लेषबन्धः । शरीरबन्धः पञ्चधा–औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धभेदात् । स प्रत्येकं चतुश्चतुस्त्रिद्वि-
५ रेकभङ्गभेदात् पञ्चदशधा । तत्रौदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशानामौदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशैरन्यो-न्यानुप्रवेशात् औदारिकौदारिकशरीरनोकर्मबन्धः प्रथमः । औदारिकतैजसशरीरनोकर्मप्रदे-शानाम् अन्योन्यानुप्रवेशाद् औदारिकतैजसशरीरनोकर्मबन्धो द्वितीयः । औदारिककार्मणशरीर-नोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेशः औदारिककार्मणशरीरनोकर्मबन्धस्तृतीयः । औदारिकतैजस-कार्मणशरीरनोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेशः औदारिकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धश्चतुर्थः ।
१० अनेन विधिना वैक्रियिकवैक्रियिकशरीरनोकर्मबन्धः वैक्रियिकतैजसशरीरनोकर्मबन्धः वैक्रियिक-कार्मणशरीरनोकर्मबन्धः वैक्रियिकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धः । आहारकाहारकशरीरनो-कर्मबन्धः आहारकतैजसशरीरनोकर्मबन्धः आहारककार्मणशरीरनोकर्मबन्धः आहारकतैजस-कार्मणशरीरनोकर्मबन्धः । तैजसतैजसशरीरनोकर्मबन्धः तैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धः । कार्मण-कार्मणशरीरनोकर्मबन्धश्च योज्यः । शरीरिबन्धो द्वेधा–अनादिरादिमांश्च । अष्टजीवमध्यप्रदेशाना-
१५ मुपर्यधश्चतुर्णां रुचकवदवस्थितानां सर्वकालमन्योन्यापरित्यागात् अनादिर्बन्धः । इतरेषां प्रदे-शानां कर्मनिमित्तसंहरणविसर्पणस्वभावत्वादादिमान् । अथवा, यथा क्रोधपरिणत आत्मैव क्रोधः तथा तप्तायःपिण्डवत् शरीरेण सह बन्धं प्रत्यात्मनः एकत्वादात्मैव शरीरमिति व्यपदेशात् पूर्वोक्ताः पञ्चदश विकल्पाः [7]शरीरिविषयत्वेन योज्याः । औदारिकादिशरीरभेदार्पणात् प्रागुक्ता विकल्पाः ।

२० अत्राह–कर्मनोकर्मणोः कः प्रतिविशेष इति ? उच्यते–आत्मपरिणामेन योगभाव-लक्षणेन क्रियत इति कर्म । तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम् । तदुदयापादितः पुद्गलपरिणाम आत्मनः सुखदुःखबलाधानहेतुः औदारिकशरीरादिः ईषत्कर्म नोकर्मेत्युच्यते । किञ्च, स्थितिभे-दाद्भेदः । कर्मणां स्थितिरुत्तरत्र वक्ष्यते । नोकर्मणां स्थितिरुच्यते–औदारिकवैक्रियिकशरीरयोः स्वायुःप्रमाणस्थितिर्निषेकः । तत्रौदारिकशरीरस्य त्रिपल्योपमा स्थितिः, यस्मादेकसमयादारभ्य आ-
२५ त्रिपल्योपमसमाप्तेरवस्थानम् । वैक्रियिकशरीरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा स्थितिः, यस्मादेकसमय-निषेकादारभ्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्त्यसमयावस्थानम् । आहारकशरीरस्य अन्तर्मुहूर्तपरिमाणा स्थितिः । तैजसशरीरस्य षट्षष्टिसागरोपमा स्थितिः । कार्मणशरीरस्य कर्मस्थितिः ज्ञानावरणाद्य-नेककर्मस्थितिसंभवेऽप्यात्मीयैव कर्मस्थितिर्ग्राह्या । औदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणशरीरकर्मणा-मेकैकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः स्थितिः । आहारकशरीरकर्मणोऽन्तःकोटीकोट्यः स्थितिः ।

३० **सौक्ष्म्यं द्विविधम् अन्त्यमापेक्षिकं च ।१०।** सौक्ष्म्यं द्विविधं वेदितव्यम् । कुतः ? अन्त्यम् आपेक्षिकं चेति । तत्राऽन्त्यं परमाणूनाम् । आपेक्षिकं बिल्वामलकबदरादीनाम् ।

**तथा स्थौल्यम् ।११।** तेनैव प्रकारेणान्त्यम् आपेक्षिकं चेति द्विविधं स्थौल्यमवगन्तव्यम् । तत्रान्त्यं स्थौल्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे । आपेक्षिकं बदरामलकबिल्वतालादिषु ।

**संस्थानं द्वेधा–इत्थंलक्षणम् अनित्थंलक्षणं च ।१२।** संस्थानमाकृतिर्द्वेधा भिद्यते–इत्थं-
३५ लक्षणम्, अनित्थंलक्षणं चेति ।

**वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादि इत्थमतोऽन्यदनित्थम् ।१३।** वृत्तं त्र्यस्रं चतुरस्रमायतं

---

१–न्यालयना–ता०, श्र०, मू० । २ आलयनब–ता०, श्र०, मू० । ३ लिङः–ता०, श्र०, मू०, द० । लिङ–ता०, श्र०, मु० । ४–दिसम्बन्धः मु०, द० । ५ सह सम्बन्धं प्र–श्र० । सह बन्धं सत्या–द० । ६ शरीरिबन्धः । ७ शरीरवि–मू०, ता०, श्र०, द० । ८ अष्टविधम् ।

परिमण्डलमित्येवमादि संस्थानमित्थंलक्षणम्। अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानम् अनेकविधम् इत्थमिदमिति निरूपणाभावात् अनित्थंलक्षणम्।

भेदः षोढोत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात् ।१४। भेदः षोढा भिद्यते। कुतः? उत्करादिविकल्पात्। तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम्। चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः। खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः। चूर्णिका माषमुद्गादीनाम्। प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम्। अणुचटनं तप्तायःपिण्डादिष्वयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः। ५

तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणम् ।१५। दृष्टेः प्रतिबन्धकं वस्तु तम इति व्यपदिश्यते। यदपहरन् प्रदीपः प्रकाशको भवति।

छाया प्रकाशावरणनिमित्ता ।१६। प्रकाशावरणं शरीरादि यस्या निमित्तं भवति सा छाया।

सा द्वेधा तद्वर्णादिविकार-प्रतिबिम्बमात्रग्रहणविकल्पात् ।१७। सा छाया द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः? तद्वर्णादिविकारात् प्रतिबिम्बमात्रग्रहणाच्च। आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणता[3] उपलभ्यते। इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव। १०

अत्राह-विपरीतग्रहणं कुतः, प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखा छाया दृश्यते इति? प्रसन्नद्रव्यपरिणामविशेषाद्भवति। अत्र चोद्यते-नादर्शतलादिच्छायासद्भावः। किं तर्हि?[7] 'नयननिर्गतेन रश्मिना घनद्रव्यात् प्रतिहतनिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणम्' इति; तदयुक्तम्; विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात्, कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात्, ग्रहणशक्त्यभावाच्च। विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गस्तावत् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव ग्रहणं प्राङ्मुखस्य प्राङ्मुखमित्येव ग्रहणं स्यात्, विपर्यासहेत्वभावात्। कुड्यादिषु चातिप्रसङ्गः स्यात्, नयनरश्मेः प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात्। नाप्यसौ नयनरश्मिः शरीरान्निष्क्रान्तः मनसाऽनधिष्ठितो ग्रहीतुं शक्नोति। १५

आतप उष्णप्रकाशलक्षणः ।१८। आतप आदित्यनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः पुद्गलपरिणामः। २०

उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिविषयः ।१९। चन्द्रमणिखद्योतादीनां[10] प्रकाश उद्योत उच्यते[11]।

क्रियोपसंख्यानं पुद्गलपरिणामादिति चेत्; न; धर्माधर्माकाशानां क्रियाप्रतिषेधासंबन्धेनोक्तत्वात् ।२०। स्यादेतत्-क्रिया उपसंख्यातव्या। कुतः? पुद्गलपरिणामादिति; तन्न; किं कारणम्? धर्माधर्माकाशानां क्रियाप्रतिषेधसंबन्धेनोक्तत्वात्।

कालस्यापि क्रियावत्त्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; पूर्वत्रानभिधानात् ।२१। स्यान्मतम्-यदि धर्माधर्माकाशानां क्रियापरिणामप्रतिषेधात् सामर्थ्यात् पुद्गलानां क्रियावत्त्वमवसीयते,[12] ननु कालस्यापि क्रियावत्त्वं प्रसज्यत इति; तन्न; किं कारणम्? पूर्वत्र अनभिधानात् "[13]अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" [त० सू० ५।१] इत्यत्र। तत्र हि पाठे "आ आकाशादेकद्रव्याणि, निष्क्रियाणि" [त० सू० ५।६-७] इत्यतः कालस्य बहिर्भावात् पुद्गलवत् क्रियावत्त्वं भवेत्। अथवा, पूर्वत्रानभिधानात्। क्व? द्रव्याणि जीवाः कालश्चेति। यदि कालस्य क्रियावत्त्वमिष्टं भवेत् तत्र पठ्येत, तथा सति "जीवाश्च" [त० सू० ५।२] इति चशब्दाकरणात् लघुसूत्रं स्यात्, पुनः 'कालश्च' इत्यव- २५ ३०

---

१ प्रतिबन्धमा-श्र०, मु०, द०। २ प्रतिबन्धमा-द०, श्र०। ३ देवदत्तमुखस्य श्यामत्वादि। ४ प्रतिबन्धमा-श्र०। ५-रीतं ग्र-श्र०। ६ अत्र प्रतिवाक्यमुच्यते। ७ "अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण तेजसा। स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम्॥ स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा। भिन्नमूर्ति यथापात्रं तदास्त्यनेकता कुतः॥"-मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८०-१८१। ८ आदर्शादि। ९ प्राङ्मुखमेव ग्र-मु०, द०। १०-तानां-श्र०। ११ उच्यते-मु०, नू०, ता०, द०। वद् व्यक्तायां वाचि। १२-वत्त्वमनुमीयते मु०। १३ क्वेत्याशङ्कायामाह।

अनादिपरमाण्वघस्थमिति चेत्; न; तत्कार्याभावात् ।८। स्यान्मतम्–अनाद्यणुत्वावस्थः परमाणुरस्ति स द्व्यणुकादिकार्यहेतुत्वात् कारणमेव न कार्यम्। न हि असौ भेदादुत्पद्यत इति; तन्न; किं कारणम्? तत्कार्याभावात्। न हि तस्यानादिपारिणामिकाण्ववस्थस्य कार्यमस्ति, तत्स्वभावाविनिवृत्तेः[1]। सति च कार्ये तद्भेदादणुरिति कार्यत्वसिद्धिः। ततः कार्यस्याभावात् कारणमिति
५ व्यपदेशश्च नोपपद्यते। नहि असति पुत्रे अस्ति पितृव्यपदेश इति।

छायादि तत्कार्यमिति चेत्; न; स्कन्धनिमित्तत्वात् ।९। यदि छायादि कार्यमनादिपरमाणोरिति कल्प्यते; तदपि नोपपद्यते; कुतः? स्कन्धनिमित्तत्वात्। अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धारब्धं छायादि नानादिपरमाणुकार्यम्।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; चाक्षुषत्वात् ।१०। अथ मतम्–प्रतिज्ञामात्रमेतत् स्कन्धकार्यं
१० छायादि नाणुकार्यमिति; तच्चायुक्तम्; कुतः? चाक्षुषत्वात्। चाक्षुषं हि छायादि अचाक्षुषमणु(पाणु)-कार्यं न भवितुमर्हति। न चानादिपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति "भेदादणुः।" [५।२७] इति वचनात्।

नित्यवचनं तदर्थमिति चेत्; न; तस्यापि स्नेहादिविपरिणामाभ्युपगमात् ।११। स्यान्मतम्–नित्यवचनमनादिपरमाण्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम्? तस्यापि स्नेहादिविपरिणामाभ्युपगमात्। [2]न हि निष्परिणामः कश्चिदर्थोऽस्ति।

१५ नयापेक्षमिति चेत्; युक्तम् ।१२। अथ मतम्–"कारणमेव तदन्त्यं नित्यः" [ ] इति वचनं नयापेक्षम्। द्व्यणुकादिवत् [3]संघातकार्याभावात् कारणमेव, द्रव्यार्थतया व्ययोदयाभावात् नित्यः, इत्येवं सति युक्तम्, [4]हेतुविशेषसामर्थ्यार्पणे अवधारणाऽविरोधात्, द्रव्यार्थतयाऽवस्थानाच्च।

एकरसवर्णगन्धोऽणुः निरवयवत्वात् ।१३। एकरसः एकगन्धश्च परमाणुर्वेदितव्यः। कुतः? निरवयवत्वात्। सावयवानां हि [5]मातुलिङ्गादीनाम् अनेकरसत्वं दृश्यते, अनेकवर्णत्वं च
२० मयूरादीनाम्, अनेकगन्धत्वं चानुलेपनादीनां च। निरवयवश्चाणुरत एकरसवर्णगन्धः।

द्विस्पर्शो विरोधाभावात् ।१४। द्विस्पर्शोऽणुरवगन्तव्यः। कुतः? विरोधाभावात्। कौ पुनः द्वौ स्पर्शौ? शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च, एकप्रदेशत्वात् विरोधिनोः युगपदनवस्थानम्। गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शानां परमाणुष्वभावः, स्कन्धविषयत्वात्। कथं पुनस्तेषामणूनामत्यन्तपरोक्षाणाम् अस्तित्वमवसीयत इति चेत्? उच्यते—

२५ तदस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वात् ।१५। तेषामणूनामस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वादवगन्तव्यम्। [6]कार्यलिङ्गं हि कारणम्। नाऽसत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रियमहाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति।

अनेकान्तः कारणत्वादिविकल्पः ।१६। अणोः कारणत्वादिविकल्पोऽनेकान्तो योज्यः–स्यात्कारणं स्यात्कार्यमित्यादि। द्व्यणुकादिकार्यप्रादुर्भावनिमित्तत्वात् स्यात्कारणमणुः, भेदादुपजायत इति स्यात्कार्यम्, स्निग्धरूक्षत्वादिकार्यगुणाधिकरणाद्वा। ततः पुनर्भेदाभावात् स्यादन्त्यः, प्रदेश-
३० भेदाभावेऽपि पुनरपि गुणभेदसद्भावात् स्यान्नान्त्यः। सूक्ष्मपरिणामसद्भावत्वात् स्यात्सूक्ष्मः, स्थूलकार्यप्रभवयोनित्वात्[8] स्यात्स्थूलः। द्रव्यताऽपरित्यागात् स्यान्नित्यः, बन्धभेदपर्यायादेशात् गुणान्तरसङ्क्रान्तिदर्शनाच्च स्यादनित्यः। निष्प्रदेशत्वपर्यायार्पणात् स्यादेकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शश्च, अनेक-

---

१ अप्रतिबन्धत्वात्। २ परमाणौ एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयादिस्नेहादिगुणहानिवृद्धिरूपविविधपरिणामाङ्गीकारात्। ३ कार्यं द्विविधं संघातकार्यं भेदकार्यञ्चेति, तयोर्मध्ये। ४ द्व्यणुकादिस्कन्धकार्यापेक्षया कारणमिति। ५ मातुलुङ्गा–श्र०। ६ "कार्यलिङ्गं हि कारणम्"–आप्तमी० श्लो० ६८। ७–सद्भावबलात् मु०। –सद्भावात् श्र०, आ०। ८ योगित्वात् मु०, द०, ता०, ब०।

प्रदेशस्कन्धपरिणामशक्तियोगात् स्यादनेकरसादिः । कार्यलिङ्गेनानुमीयमानसद्भावादेशात् स्यात्कार्यलिङ्गः, प्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वपर्यायादेशात् स्यान्न कार्यलिङ्गः । उक्तं च–

"कारणमेवं तदन्त्यं[1] सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" [ ]

के पुनः स्कन्धाः ?　　५

परिप्राप्तबन्धपरिणामाः स्कन्धाः ।१६। बन्धो वक्ष्यते, तं परिप्राप्ताः येऽणवः ते स्कन्धा इति व्यपदेशमर्हन्ति । ते त्रिविधाः–स्कन्धाः स्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाश्चेति । अनन्तानन्तपरमाणुबन्धविशेषः स्कन्धः । तदर्धं देशः । अर्धार्धं प्रदेशः । तद्भेदाः पृथिव्यप्तेजोवायवः स्पर्शादिशब्दादिपर्यायाः । पृथिवी तावत् घटादिलक्षणा स्पर्शादिशब्दाद्यात्मिका सिद्धा । अम्भोऽपि तद्विकारत्वात् तदात्मकम्, साक्षात् गन्धोपलब्धेश्च । तत्संयोगिनां पार्थिवद्रव्याणां गन्धः तद्गुण इवोपलभ्यत　　१०
इति चेत्; न; साध्यत्वात् । तद्वियोगकालादर्शनात् तदविनाभावाच्च तद्गुण एवेति निश्चयः कर्तव्यः–गन्धवदम्भः रसवत्त्वात् आम्रफलवत् । तथा तेजोऽपि स्पर्शादिशब्दादिस्वभावकं [3]तद्वत्कार्यत्वात् घटवत् । स्पर्शादिमतां हि काष्ठादीनां कार्यं तेजः । किञ्च, तत्परिणामात् । उपयुक्तस्य हि [4]आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः । [5]पित्तं च जठराग्निः, तस्मात्[6] स्पर्शादिमत्तेजः । तथा स्पर्शादिशब्दादिपरिणामो वायुः स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत् । किञ्च, तत्परिणामात्[7] ।　　१५
उपयुक्तस्य हि आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः । वातश्च प्रणादिः । ततो वायुरपि स्पर्शादिमान् इत्यवसेयः ।

एतेन 'चतुस्त्रिद्व्येकगुणाः पृथिव्यादयः पार्थिवादिजातिभिन्नाः' इति दर्शनं[8] प्रत्युक्तम् ।

आह–किमेषां अणुस्कन्धलक्षणः परिणामोऽनादिः, उत आदिमान् इति ? उच्यते–स खलूत्पत्तिमत्त्वादादिमान् प्रतिज्ञायते । यद्येवमभिधीयताम्–कस्मान्निमित्तादुत्पद्यन्त[9] इति । तत्र　　२०
स्कन्धानां तावदुत्पत्तिहेतुप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

## भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

संहतानां द्वितयनिमित्तवशात् विदारणं भेदः ।१। बाह्याभ्यन्तरविपरिणामकारणसन्निधाने सति संहतानां स्कन्धानां विदारणं नानात्वं भेद इत्युच्यते ।

विविक्तानाम् एकीभावः संघातः ।२। पृथग्भूतानाम् एकत्वापत्तिः संघात इति कथ्यते ।　　२५

द्वित्वाद् द्विवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्–भेदसंघातयोर्द्वित्वात् द्विवचनेन भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? [10]बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात् । अतो भेदेन संघातः भेदसंघातः इत्यस्याप्यवरोधः कृतो भवति ।

उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थः ।४। उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थो द्रष्टव्यः–उत्पद्यन्ते जायन्त इति यावत् ।

तदपेक्षो हेतुनिर्देशः ।५। भेदसंघातेभ्य इत्ययं हेतुनिर्देशः तदपेक्षो वेदितव्यः । [11]"निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां [12]प्रायदर्शनात्" [पात० महा० २।३।२३] इति भेदसंघातेभ्यः कारणेभ्यः उत्पद्यन्ते　　३०

---

१ तदन्त्यः–मु० । २ गन्ध । ३ पृथिवीवत्त्व । ४ पार्थिवद्रव्यस्य । ५ पित्तं जठ–श्र० । ६ पार्थिवद्रव्यकार्यत्वात् । ७ पार्थिवपरिणामत्वात् । ८ नैयायिकादीनाम् । "कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति ? एकैकश्येन उत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः ।"–न्यायसू० ३।१।६४ । ९–द्यते इति मु० । १० भेदात् संघातात् भेदसंघाताभ्यां च स्कन्धा उत्पद्यन्ते इत्यर्थः । ११ हेतौ हेत्वर्थैः सर्वाः प्राय इति । १२ प्रदर्शनात्–मु०, द० ।

इति हेत्वर्थगतेः। तद्यथा–द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेशस्कन्ध उत्पद्यते। द्विप्रदेशस्य अणोश्च त्रयाणां वा अणूनां संघातात्त्रिप्रदेशः। द्वयोः द्विप्रदेशयोः त्रिप्रदेशस्याणोश्चतुर्णां वा अणूनां संघाताच्चतुष्प्रदेशः। एवं संख्येयानाम् असंख्येयानामनन्तानां च संघातात्तावत्प्रदेशः। एषामेव भेदात् द्विप्रदेशपर्यन्तात् स्कन्धा उत्पद्यन्ते। एवं भेदसंघाताभ्याम् एकसामयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः ५ स्कन्धा उत्पद्यन्ते अन्यतो भेदेन अन्यस्य संघातेनेति।

एवमुक्तानामणुस्कन्धानामविशेषेण भेदादिहेतुकोत्पत्तिप्रसङ्गे विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

## भेदादणुः ॥ २७ ॥

सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकारावचनं अब्भक्षवत् ।१। यथा न कश्चित् अपो न भक्षयति इत्यब्भक्षणसिद्धेः अब्भक्षवचनात् अप एव भक्षयतीत्यवधारणं गम्यते, एवं भेदसंघातेभ्य[1] १० उत्पद्यन्ते इत्यनेनैवाणोर्भेदादुत्पत्तौ सिद्धायां पुनर्वचनमवधारणार्थं भवति–भेदादेवाणुः न संघातात् नापि भेदसंघाताभ्यामिति।

अत्राह–संघातादेव स्कन्धानामात्मलाभसिद्धेर्भेदसंघातग्रहणमनर्थकमिति तद्ग्रहणप्रयोजनप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते–

## भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

१५ अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि कश्चिच्चाक्षुषः कश्चिचाऽचाक्षुषः[2]। तत्र योऽचाक्षुषः स कथं चाक्षुषो भवतीति चेत्? उच्यते–भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः न भेदादिति। काऽत्रोपपत्तिरिति चेत्? ब्रूमः–सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागात् अचाक्षुषत्वमेव। सूक्ष्मपरिणतः पुनरपरः सत्यपि तद्भेदेऽन्यसंघातान्तरसंयोगात् सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति।

२० अत्राह–गतिस्थित्यवगाहनवर्तनाशरीरादिपरस्परोपकाराद्यनुमितास्तित्वं धर्मादि पुरस्ताद्द्रव्यमित्याख्यातम्, [3]तत्कथं द्रव्यमित्यवध्रियते[4]?

## सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

सत्त्वात्, यत्सत्तद् द्रव्यम्।

यद्येवं प्राप्तमिदं सतः किं लक्षणमिति? उच्यते–यदिन्द्रियग्राह्यमतीन्द्रियमपि बाह्याध्यात्मिक- २५ निमित्तापेक्षम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्तत् 'वेदितव्यम्' इति वाक्यशेषः।

अथवा, धर्मादि सत्त्वात् द्रव्यमित्यवधृतम्। तस्मात् अभिधीयतां किं तत्सत् इति? तत इदमुपादिक्षत–

## उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[5] ॥ ३० ॥ इति

अथवा, यद्युपकारसद्भावात् धर्मादिद्रव्यं सद्विवक्षितं यदा तर्हि नोपकरोति तदा तदसत्त्व- ३० प्रसङ्ग इति; उच्यते–असत्यपि उपकारविशेषे यस्मात् सामान्ये द्रव्यलक्षणत्रये सन्निहिते उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं [6]सद्द्रव्यं भविष्यतीत्यर्थः।

स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः ।१। चेतनस्य अचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वजातिमजहतः निमित्तवशात् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद इत्युच्यते मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।

---

१ औदारिकादिः। २ कार्मणादिः। ३ तत्कथं सद्द्रव्यलक्षणं धर्मादि द्रव्यमित्य–मु०, ब०। ४–ते सत्त्वात् ता०, श्र०, मु०, मू०, ब०। ५ सत् सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ ३० ॥ भा० १। ६ सत्तद्द्रव्यं मु०।

तथा पूर्वभावविगमो व्ययनं व्ययः ।२। तेन प्रकारेण तथा स्वजात्यपरित्यागेन इत्यर्थः, पूर्वभावविगमो व्ययनं व्यय इति कथ्यते यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः ।

[1]ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणो ध्रुवतीति ध्रुवः ।३। अनादिपा[2]रिणामिकस्वभावत्वेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्, यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयात् । ५

अन्येनान्यस्य योगे[3] दण्डिवदिति चेत्; न; अन्तर्णीतसत्ताक्रियस्य युजेराश्रितत्वात् ।४। स्यान्मतम्–उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं च उत्पादव्ययध्रौव्याणि । उत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमिति निर्देशो नोपपद्यते । कुतः? अन्येनान्यस्य योगात् दण्डिवदिति; तन्न; किं कारणम्? अ[4]न्तर्णीतसत्ताक्रियस्य युजेराश्रितत्वात् । कथं पुनः युजेः सत्ताक्रियत्वमिति चेत्? उच्यते–सर्वे धातवो भाववचनाः । भावश्च सत्ता क्रिया इत्यनर्थान्तरम् । तामेव सर्वे शब्दाः १० स्वार्थोपनिधानेनावच्छिद्यावच्छिद्य[5] विषयीकुर्वन्ति । उत्पादव्ययध्रौव्यं सदिति यावत् तावदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमिति । सर्वधातूनां सत्तार्थत्वे एधादीनां वृद्ध्यादिप्रतिनियतार्थत्वाभाव इति चेत्; न; सत्तार्थत्वे सत्येधादीनां वृद्ध्याद्यर्थप्रवृत्तेः, नाऽसतां खरविषाणादीनां वृद्ध्यादिरर्थोऽस्ति ।

उत्पादव्ययध्रौव्यवदिति न्याय्यमिति चेत्; न; उपालम्भपरिहारतुल्यत्वात् ।५। स्यादेतत्–यद्य[6]न्तर्णीतसत्ताक्रियो युजिः परिगृह्यते उत्पादव्ययध्रौव्यवदित्येतदेव न्याय्यमिति; तन्न; किं १५ कारणम्? उपालम्भपरिहारतुल्यत्वात् । यथा गोभ्योऽन्यत्वे देवदत्तस्य गोमानिति व्यपदेशो भवति न तथा उत्पादव्ययध्रौव्येभ्योऽन्यत् द्रव्यमिति 'मत्वर्थीयो नोपपद्यते' इति उपालम्भो न निवर्तते ।' 'अनन्यत्वेऽपि लोके मत्वर्थीयो दृश्यते–आत्मवान् आत्मा, सारवान् स्तम्भः' इति परिहारश्च तुल्यः ।

समाधिवचनत्वाद्वा ।६। अथवा समाधिवचनोऽयं युजिः[7] परिगृह्यते । युक्तः समाहित २० इत्यर्थः । समाधानं च तात्पर्यं तादात्म्यमिति यावत् । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमित्यर्थः ।

कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेर्वा ।७। यथा वा पर्यायेभ्यः पर्यायिणः कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेः [8]योगवचन एव वा युक्तशब्दो न्याय्यः । यदि हि सर्वथा अनन्यत्वं स्यात् उभयाभावप्रसङ्गः स्यात् ।

सच्छब्दस्य प्रशंसाद्यनेकार्थसंभवे विवक्षातोऽस्तित्वसंप्रत्ययः ।८। सच्छब्दः प्रशंसा- २५ दिषु बह्वर्थेषु दृष्टप्रयोगः । प्रशंसायां तावत्–सत्पुरुषः प्रशस्तः पुरुषः इत्यर्थः । क्वचिदादरे–सत्करोति आदरं करोतीत्यर्थः । क्वचिदस्तित्वे–सद्भूतमयमाह[9] विद्यमानमाहेत्यर्थः । क्वचित् प्रज्ञायमाने–प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात्? प्रव्रजित इति प्रज्ञायमान इत्यर्थः । तत्रेह विवक्षातः अस्तित्ववचनो वेदितव्यः ।

व्ययोत्पादाव्यतिरेकाद् द्रव्यस्य ध्रौव्यानुत्पत्तिरिति चेत्; न; अभिहितानवबोधात् ।९। ३० स्यादेतत्–व्ययोत्पादाभ्यामव्यतिरेकात् द्रव्यस्य व्ययोत्पादात्मकत्वात् ध्रुवत्वं नोपपद्यते इति; तन्न;

---

१ ध्रुवेस्थै–मु०, ता०, श्र०, द० । २–परिणामस्व–श्र० । ३–नान्यसंयोगे मु०, द० । ननु सर्वथा भेदे सति युक्तशब्दो लोके प्रयुज्यमानो दृष्टः मत्वर्थीयवत्, यथा दण्डयुक्तो देवदत्त इति । तथा च सति भवत्पक्षे उत्पादादिधर्माणां त्रयाणां निराश्रयत्वात् द्रव्यस्य च निःस्वरूपत्वादभावः प्राप्नोतीति परमतमाशङ्क्य परिहरति । ४ अन्तर्नीत–मु०, द०, श्र०, ता० । ५ यजनादिक्रियां विशेष्य विशेष्य । ६–न्तर्नीत–मु०, द०, श्र०, ता० । ७ युजिः समाधौ । ८ युजृज् योगे । ९ पुरुषः ।

किं कारणम्? अभिहितानवबोधात्। द्रव्यार्थावस्थानात् ध्रौव्यमभिहितम्, न व्ययोत्पादाभ्यां व्यतिरेकात्। यदि च व्ययोत्पादाभ्यां व्यतिरेकात् ध्रौव्यमभिहितं स्यात् तदव्यतिरेकात् अध्रौव्यं भवेत्। यदि वा व्ययोदयाभ्यां व्यतिरेकात् द्रव्यं ध्रुवम्; द्रव्यादपि व्यतिरेकात् व्ययोदययोर्ध्रौव्यं प्रसज्येत।

अथवा, अभिहितानवबोधात्। नैकान्तेन व्ययोदयाभ्यामव्यतिरेको द्रव्यस्याभिहितः। यदि ५ स्यात्[3]; तदत्यन्ताव्यतिरेकात् तद्भावापत्तेर्ध्रौव्याभावः स्यात्। यतस्तु केनचित् प्रकारेण व्ययोत्पादाभ्यां व्यतिरेकः केनचिदव्यतिरेकः[4]। व्ययोत्पादकाले द्रव्यार्थावस्थानात् स्याद् व्यतिरेकः। द्रव्यजात्यपरित्यागात् स्यादव्यतिरेकः। तत एकान्तपक्षोपालम्भाभावः। एकान्तव्यतिरेके हि द्रव्यं प्रत्याख्याय[5] अन्यत्र व्ययादयावुपलभ्येयाताम्। ऐकान्तिकाऽव्यतिरेके च एकलक्षणत्वात् अन्यतराभावे[6] अवशिष्टस्याप्यभावः स्यात्।

१० **स्ववचनविरोधाच्च** ।१०। यदि व्ययोत्पादाव्यतिरेकान्न द्रव्यस्य ध्रौव्यम् यस्तेन स्वपक्षसिद्धये हेतुर्व्यपदिश्यते स साधकत्वादव्यतिरिक्त इति परपक्षस्यापि साधकः स्यात्। परपक्षस्य वा यो दूषक इति ततोऽव्यतिरेकात् स्वपक्षस्यापि दूषक इति वचनविरोधः। ततश्च न युक्तमुक्तं व्ययोत्पादाऽव्यतिरेकात् ध्रौव्यानुपपत्तिरिति।

**उत्पादादीनां द्रव्यस्य चोभयथा लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिरिति चेत्; न; अन्यत्वानन्य-** १५ **त्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः** ।११। स्यान्मतम्—उत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यादर्थान्तरभूतानि वा स्युः, अनर्थान्तरभूतानि वा? यद्यर्थान्तरभावः कल्प्येत[7]; तानि वः[8] सत्ता, ततोऽन्यत्वात् द्रव्यस्याभावः स्यात्। तदभावे च निराधारत्वात् उत्पादादीनामभाव इति लक्ष्यलक्षणभावो नोपपद्यते। नहि असतां वन्ध्यापुत्राकाशकुसुमादीनां लक्ष्यलक्षणभावोऽस्ति। अथानर्थान्तरत्वमिष्येत; लक्ष्यमेव लक्षणमिति दृष्टविरोधः स्यादिति; तन्न; किं कारणम्? अन्यत्वानन्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः। पर्यायिणः पर्या-२० याणां च स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वम्। यथैकस्य मनुष्यस्य जातिकुलरूपादिभिः अविशिष्टस्य अनेकसंबन्ध्यन्तराविर्भूतपितापुत्र[9]भ्रातृभागिनेयादयो धर्माः परस्परतो विशिष्टा उपलभ्यन्ते न तेषां भेदात्तस्य भेदः, नापि तस्याऽभेदात्तेषामभेदः, ततः पितृत्वादिशक्त्यपेक्षया नाना मनुष्यत्वापेक्षया न पृथक्, तथा द्रव्यस्यापि बाह्याभ्यन्तरहेतुविशेषापादिताः पर्यायाः कथञ्चिद्भिन्नाः द्रव्यार्पणात् कथञ्चिदभिन्नाः इति नासत्त्वं न लक्ष्यलक्षणभावाभावः। तस्मादुत्पादादित्रयैक्यवृत्तिः सत्ता, तद्युक्तं २५ द्रव्यमित्यवसेयम्।

अत्राह—यथा द्रव्यस्यात्मभूतोऽन्वयो धर्मः तथा पर्यायोऽप्यात्मभूतो द्रव्यस्येति तन्निवृत्तिवद् द्रव्यनिवृत्तिकल्पनायामुच्छेदप्रसङ्ग इति; अत्र ब्रूमहे—स्यादेतदेवं यदि क्रमेण पिण्डघटकपालादिवद्रूप[10]द्रव्याजीवानुपयोगत्वादिलक्षणः परिणामः कादाचित्कः स्यात्। यतः सत्यपि व्ययोत्पादवत्त्वे पर्यायाणाम्—

३० ## तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३०॥

किम् अध्यवस्यामः? द्रव्यमिति वाक्यशेषः। तद्भाव इत्युच्यते। कस्तद्भावः?

**प्रत्यभिज्ञानहेतुता तद्भावः** ।१। [11]तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्, तदकस्मान्न भवति इति योऽस्य हेतुः स तद्भावः। भवनं भावः, तस्य[12] भावस्तद्भावः, येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना

१ व्ययोत्पादाभ्यां मु०, द०। २ व्ययोत्पादयो–मु०। ३ उत्पादव्ययस्वरूपसद्भावात्। ४ कथमित्युक्ते तदेव विवृणोति। पर्यायार्थनयादेशादुत्पादव्यययुक्तं द्रव्यम्, द्रव्यार्थनयादेशात् ध्रौव्ययुक्तमिति विभागकथनस्याविरोधात् एकस्मिन्नपि समये द्रव्यस्य त्रयात्मकत्वं न विरुध्यते। ५ परित्यज्य। ६ अन्यतरभावे–श्र०। ७ कल्पेत मू०, द०, श्र०। ८ युष्माकम्। ९ पितृपुत्र–मु०। १०–विद्र्प–मु०। ११ वस्तु। १२ वस्तुनः।

पुनरपि भावात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। यद्यत्यन्तनिरोधाभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव स्यात्; स्मरणानुपपत्तेः तदधीनो लोकसंव्यवहारो विरुध्येत। ततः तद्भावेनाव्ययं तद्भावाव्ययम् नित्यमिति निश्चीयते।[1]

विरोध इति चेत्; धर्मान्तराश्रयणात्।२। स्यान्मतम्–वियदेव न व्येति, उत्पद्यमान एव नोत्पद्यते इति विरोधः, ततो न युक्तमिति; तन्न; किं कारणम्? धर्मान्तराश्रयणात्। यदि येन रूपेण व्ययोदयकल्पना तेनैव रूपेण नित्यता प्रतिज्ञायेत स्याद्विरोधः, जनकत्वापेक्षयैव[2] पितापुत्रव्यपदेशवत्, [3]नन्तु धर्मान्तरसंश्रयणात्।

पुनरपि मिथ्यादर्शनाकुलितचेताः निरूपितमपि त्रितयात्मकत्वमप्रतिपद्यमान आह–यद् व्येति उत्पद्यते च तत्सन्नित्यं चेत्यतिसाहसमेतत् दुरुपपादत्वात् कथं श्रद्धीयत इति? अत्रोच्यते–श्रद्धेहि व्ययोत्पादवत्सु पर्यायेषु अव्यभिचारिणी सन्नित्यत्वे स्त इति। कुतः? यस्माद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकसंभवे[4] अन्यतरविवक्षावशात् यथोक्ते उभे अपि—

## अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

धर्मान्तरविवक्षाप्रापितप्राधान्यमर्पितम्।१। अनेकात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशात् यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया[5] प्रापितप्राधान्यम् अर्थरूपमर्पितमुपनीतमिति यावत्।

तद्विपरीतमनर्पितम्।२। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवति इत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। अर्पितं चानर्पितं च अर्पितानर्पिते ताभ्यां सिद्धेः सन्नित्यत्वे अर्पितानर्पितसिद्धेः। तद्यथा–मृत्पिण्डः रूपिद्रव्यमित्यर्पितः स्यान्नित्यः तदर्थापरित्यागात्। अनेकधर्मपरिणामिनोऽर्थस्य धर्मान्तरविवक्षाव्यापारात् रूपिद्रव्यात्मनाऽर्पणात् मृत्पिण्ड इत्येवमर्पितं पुद्गलद्रव्यं स्यादनित्यं तस्य पर्यायस्याध्रुवत्वात्। तत्र यदि द्रव्यार्थिकनयविषयमात्रपरिग्रहः; स्यात् [6]व्यवहारलोपः तदात्मकवस्त्वभावात्। यदि च पर्यायार्थिकनयगोचरमात्राभ्युपगमः स्यात्; लोकयात्रा न सिद्ध्यति तथाविधस्य वस्तुनोऽसद्भावात्। तावेकत्रोपसंहृतौ लोकयात्रासमर्थौ भवतः तदुभयात्मकस्य वस्तुनः प्रसिद्धेः। इत्येवमर्पितानर्पितव्यवहारसिद्धेः सन्नित्यत्वे।

आह–सतोऽनेकनयव्यवहारतन्त्रत्वात् उपपन्ना भेदसंघातेभ्यः सतां स्कन्धात्मनोत्पत्तिः। इदं तु सन्दिह्मः–किं संघातः संयोगादेव द्व्यणुकादिलक्षणो भवति, उत कश्चिद्विशेषोऽवध्रियते इति? उच्यते–सति संयोगे बन्धादेकत्वपरिणामकात् संघातो निष्पद्यते। यद्येवमिदमुच्यतां कुतो न खलु पुद्गलजात्यपरित्यागे संयोगे च भवति केषाञ्चित् बन्धोऽन्येषां च नेति? उच्यते–यस्मात्तेषां पुद्गलात्माऽविशेषेऽपि अनन्तपर्यायाणां परस्परविलक्षणपरिणामाहितसामर्थ्याद्[7] भवन् प्रतीतः—

## स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः।१। बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः।

रूक्षणाद् रूक्षः।२। द्वितयनिमित्तवशात् रूक्षणात् रूक्ष इति व्यपदिश्यते। स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वम्। स्निग्धत्वं चिक्कणत्वलक्षणः पर्यायः। तद्विपरीतः परिणामो रूक्षत्वम्। स्निग्धरूक्षत्वादिति हेतुर्निर्देशः।

---

१ सामर्थ्यात् उत्पादव्ययभागात्तदनित्यमित्यप्यवगम्यते। २ जनकत्वापेक्षयैव पिता पुत्रश्चेन्युक्ते विरोधः। ३ ननु मु०, द०, ता०। ४ द्रव्याधिक। ५ विवक्षायां मु०। ६ दत्तनिक्षेपादि। ७–द्बन्धः प्र–मु०, द०।

तत्कृतो बन्धो द्व्यणुकादिपरिणामः। द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्पराश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकः स्कन्धो भवति। एवं संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशस्कन्धो योज्यः।

एकगुणादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पः स्नेहः ।३। अविभागपरिच्छेदैकगुणः स्नेहः प्रथमः। एवं द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणः स्नेहविकल्पः। एवंगुणा परमाणवः सन्ति।

५ तथा रूक्षः ।४। यथा स्नेह उक्तस्तथा रूक्षोऽपि संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पो वेदितव्यः। एवंगुणाश्च परमाणवः सन्ति।

तोयाजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु पांशुकणिकाशर्करादिषु च प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्तदनुमानम् ।५। यथा तोयादजाक्षीरघृते प्रकृष्टस्नेहे ततः प्रकृष्टस्नेहे गोक्षीरघृते ततश्चाधिकस्नेहे महिषीक्षीरघृते ततोऽप्युत्कृष्टस्नेहे उष्ट्रीक्षीरघृते। पांशुभ्यः प्रकृष्टरूक्षगुणाः तुषकणिकादयः ततोऽपि प्रकृष्ट-

१० रूक्षाः शर्कराः। तथा परमाणुष्वपि प्रकर्षाप्रकर्षवृत्त्या स्निग्धरूक्षगुणाः सन्तीत्यनुमानं क्रियते।

स्निग्धरूक्षगुणनिमित्ते बन्धे अविशेषेण प्रसक्ते अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

## न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

शाखादित्वाद्देहाङ्गत्वाद्वा जघन्यशब्दसिद्धिः ।१। जघनमिव जघन्यमिति शाखादित्वात् सिद्ध्यति। क उपमार्थः ? यथा शरीरावयवेषु जघनं निकृष्टं तथाऽन्योऽपि निकृष्टो जघन्य इत्यु-

१५ च्यते। अथवा देहाङ्गत्वात्सिद्धिः। जघने भवः जघन्यः। जघन्य इव जघन्यः। यथा जघने भवो निकृष्टस्तथाऽन्योऽपि निकृष्टो जघन्य इति व्यपदिश्यते।

गुणशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षावशाद्भागग्रहणम् ।२। गुणशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगः। कश्चिद्रूपादिषु वर्तते–रूपादयो गुणा इति। कचिद्भागे वर्तते–द्विगुणा यवास्त्रिगुणा यवा इति। क्वचिदुपकारे वर्तते–गुणज्ञः साधुः उपकारज्ञ इति यावत्। क्वचिद्द्रव्ये वर्तते– गुणवानयं देश

२० इत्युच्यते यस्मिन् गावः शस्यानि च निष्पद्यन्ते। क्वचित्समेष्ववयवेषु–द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति। क्वचिदुपसर्जने–गुणभूता वयमस्मिन् ग्रामे उपसर्जनभूता इत्यर्थः। तत्रेह भागे वर्तमानः परिगृह्यते। जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणास्तेषां जघन्यगुणानां नास्ति बन्धः। एतदुक्तं भवति–एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निग्धेन द्वितीयादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः। तस्यैवैकगुणस्निग्धस्य एकगुणरूक्षेण द्व्यादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणरूक्षेण वा नास्ति

२५ बन्धः। तथा एकगुणरूक्षस्यापि योज्यमिति।

एतौ जघन्यगुणस्निग्धरूक्षौ वर्जयित्वा अन्येषां स्निग्धरूक्षाणां परस्परेण संबन्धो भवतीति अविशेषप्रसङ्गे[1] तत्रापि प्रतिषेध[2]विषयख्यापनार्थमाह—

## गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

सदृशग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थम् ।१। स्निग्धजात्या रूक्षजात्या च तुल्यानां संप्रत्ययः कथं स्यादिति सदृशग्रहणं क्रियते।

३०

गुणसाम्यग्रहणं तुल्यभागसंग्रहार्थम् ।२। तुल्यभागा ये तेषां ग्रहणार्थं गुणसाम्यग्रहणं क्रियते।

---

१ अविशेषेण प्र–मु०। २–धज्ञाप–मु०।

सदृशग्रहणमनर्थकं गुणसाम्यवचनादिति चेत्; न; समानगुणकार्ययोः स्निग्धरूक्षयोः प्रतिषेधप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्–सदृशग्रहणमनर्थकम् । कुतः ? गुणसाम्यवचनात्सिद्धेरिति; तन्न[1]; किं कारणम् ? समानगुणकार्ययोः स्निग्धरूक्षयोः प्रतिषेधप्रसङ्गात् । सदृशग्रहणे ह्यसति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः त्रिगुणस्निग्धानां त्रिगुणरूक्षैर्गुणकारसाम्याद्बन्धः प्रतिषिध्येत । सदृशग्रहणे पुनः सति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धैर्द्विगुणरूक्षाणां द्विगुणरूक्षैरित्येवमादिषु बन्धप्रतिषेधः[2] कृतो भवति । ५

नवेष्टत्वात् ।४। न वा एतत्प्रयोजनमस्ति । किं कारणम् ? इष्टत्वात् । इष्यते द्विगुणस्निग्धानामपि द्विगुणरूक्षैर्बन्धप्रतिषेधः । किमर्थं तर्हि सदृशग्रहणम् ?

गुणवैषम्ये बन्धप्रतिपत्त्यर्थम् ।५। गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीत्येतस्यार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं क्रियते ।

अतो विषमगुणानां तुल्यजातीयानां चाविशेषेण प्रसक्ताविष्टार्थसंप्रत्ययार्थमिदमुच्यते— १०

## द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

द्व्यधिकश्चतुर्गुणः ।१। द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिकः । कः पुनरसौ ? चतुर्गुणः ?

आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् पञ्चगुणादिसंप्रत्ययः ।२। द्व्यधिकादीत्ययमादिशब्दः प्रकारार्थः । कः पुनरसौ प्रकारः ? द्वाभ्यामधिकता । तेन पञ्चगुणादीनां संप्रत्ययो भवति । 'अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः' इति चतुर्गुणस्यापि ग्रहणं भवति । तेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां च बन्ध उक्तो भवति, नेतरेषाम् । तद्यथा–द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोः एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः, चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति बन्धः । तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टनवदशसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन बन्धो न विद्यते । एवं त्रिगुणस्निधस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति, शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति । चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः, शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति । एवं शेषेष्वपि योज्यः । तथा द्विगुणरूक्षस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः, चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः । तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति बन्धः । एवं त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्यः । एवं भिन्नजातीयेष्वपि द्विगुणस्निग्धस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः, चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः, उत्तरैः पञ्चगुणरूक्षादिभिर्नास्ति । एवं त्रिगुणस्निग्धादीनां पञ्चगुणरूक्षादिभिरस्ति, शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति बन्ध इति योज्यः । उक्तं च— १५ २० २५

> "णिद्धस्स णिद्धेण [3]दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
> णिद्धस्य लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥[4]१॥" [छक्खं० वग्ग० ५।६।३६]

एवमुक्तेन विधिना बन्धे सत्यणूनां द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तप्रदेशावसानस्कन्धोत्पत्तिर्वेदितव्या ।

तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषप्रतिपत्त्यर्थः ।३। तुशब्दः क्रियमाणः [5]प्रतिषेधं व्यावर्त्तयति बन्धं च विशेषयति । ३०

अत्राह–किमर्थं संयोगजातीयः पुद्गलानां बन्धो नाम धर्मः कल्प्यते ? न[6]नु प्राप्त्याद्यात्मकत्वादनेनैव सर्वसामूहिकव्यवहारसिद्धिरिति ? उच्यते–संयोगेऽपि सति प्राप्तिमात्रेण कृतार्थत्वात् परस्परानुप्रवेशनिरुत्सुकौ स्निग्धरूक्षगुणौ स्कन्[7]धौ परमाणूनां संयोगमात्रत्वात् पारिणामिकौ न स्याताम् शुक्लकृष्णतन्तुसंयोगावस्थानवत्, ततोऽयमारम्भः—

---

१ चेन्न मु० । २–दिसम्बन्धः कृतो मु०, द० । ३ द्व्यधिकादिकेन चतुर्गुणेनेत्यर्थः । ४ गो० जी० गा० ६१४ । ५ न जघन्येत्यत्र नञम् । ६ न प्रा–मु०, द० । ७ स्कन्धपर–ता०, श्र० ।

तत्कृतो बन्धो द्व्यणुकादिपरिणामः ।  द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्पराश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकः स्कन्धो भवति । एवं संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशस्कन्धो योज्यः ।

एकगुणादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पः स्नेहः ।३। अविभागपरिच्छेदैकगुणः स्नेहः प्रथमः । एवं द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणः स्नेहविकल्पः । एवंगुणा परमाणवः सन्ति ।

५ तथा रूक्षः ।४। यथा स्नेह उक्तस्तथा रूक्षोऽपि संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पो वेदितव्यः । एवंगुणाश्च परमाणवः सन्ति ।

तोयाजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु पांशुकणिकाशर्करादिषु च प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्तदनुमानम् ।५। यथा तोयादजाक्षीरघृते प्रकृष्टस्नेहे ततः प्रकृष्टस्नेहे गोक्षीरघृते ततश्चाधिकस्नेहे महिषीक्षीरघृते ततोऽप्युत्कृष्टस्नेहे उष्ट्रीक्षीरघृते । पांशुभ्यः प्रकृष्टरूक्षगुणाः तुषकणिकादयः ततोऽपि प्रकृष्ट-
१० रूक्षाः शर्कराः । तथा परमाणुष्वपि प्रकर्षाप्रकर्षवृत्त्या स्निग्धरूक्षगुणाः सन्तीत्यनुमानं क्रियते ।

स्निग्धरूक्षगुणनिमित्ते बन्धे अविशेषेण प्रसक्ते अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

## न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

शाखादित्वाद्देहाङ्गत्वाद्वा जघन्यशब्दसिद्धिः ।१। जघनमिव जघन्यमिति शाखादित्वात् सिद्ध्यति । क उपमार्थः ? यथा शरीरावयवेषु जघनं निकृष्टं तथाऽन्योपि निकृष्टो जघन्य इत्यु-
१५ च्यते । अथवा देहाङ्गत्वात्सिद्धिः । जघने भवः जघन्यः । जघन्य इव जघन्यः । यथा जघने भवो निकृष्टस्तथाऽन्योऽपि निकृष्टो जघन्य इति व्यपदिश्यते ।

गुणशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षावशाद्भागग्रहणम् ।२। गुणशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगः । कश्चिद्रूपादिषु वर्तते–रूपादयो गुणा इति । क्वचिद्भागे वर्तते–द्विगुणा यवास्त्रिगुणा यवा इति । क्वचिदुपकारे वर्तते–गुणज्ञः साधुः उपकारज्ञ इति यावत् । क्वचिद्द्रव्ये वर्तते– गुणवानयं देश
२० इत्युच्यते यस्मिन् गावः शस्यानि च निष्पद्यन्ते । क्वचित्समेष्ववयवेषु–द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति । क्वचिदुपसर्जने–गुणभूता वयमस्मिन् ग्रामे उपसर्जनभूता इत्यर्थः । तत्रेह भागे वर्तमानः परिगृह्यते । जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणास्तेषां जघन्यगुणानां नास्ति बन्धः । एतदुक्तं भवति–एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निग्धेन द्वितीयादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः । तस्यैवैकगुणस्निग्धस्य एकगुणरूक्षेण द्व्यादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणरूक्षेण वा नास्ति
२५ बन्धः । तथा एकगुणरूक्षस्यापि योज्यमिति ।

एतौ जघन्यगुणस्निग्धरूक्षौ वर्जयित्वा अन्येषां स्निग्धरूक्षाणां परस्परेण संबन्धो भवतीति अविशेषप्रसङ्गे[1] तत्रापि प्रतिषेध[2]विषयख्यापनार्थमाह—

## गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

सदृशग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थम् ।१। स्निग्धजात्या रूक्षजात्या च तुल्यानां संप्रत्ययः कथं स्यादिति सदृशग्रहणं क्रियते ।

३० गुणसाम्यग्रहणं तुल्यभागसंग्रहार्थम् ।२। तुल्यभागा ये तेषां ग्रहणार्थं गुणसाम्यग्रहणं क्रियते ।

---

१ अविशेषेण प्र–मु० । २–षज्ञाप–मु० ।

सदृशग्रहणमनर्थकं गुणसाम्यवचनादिति चेत्; न; समानगुणकारयोः स्निग्धरूक्षयोः प्रतिषेधप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्-सदृशग्रहणमनर्थकम् । कुतः ? गुणसाम्यवचनात्सिद्धेरिति; तन्न; किं कारणम् ? समानगुणकारयोः स्निग्धरूक्षयोः प्रतिषेधप्रसङ्गात् । सदृशग्रहणे ह्यसति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः त्रिगुणस्निग्धानां त्रिगुणरूक्षैर्गुणकारसाम्याद्बन्धः प्रतिषिध्येत । सदृशग्रहणे पुनः सति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धैर्द्विगुणरूक्षाणां द्विगुणरूक्षैरित्येवमादिषु बन्धप्रतिषेधः कृतो भवति । ५

नवेष्टत्वात् ।४। न वा एतत्प्रयोजनमस्ति । किं कारणम् ? इष्टत्वात् । इष्यते द्विगुणस्निग्धानामपि द्विगुणरूक्षैर्बन्धप्रतिषेधः । किमर्थं तर्हि सदृशग्रहणम् ?

गुणवैषम्ये बन्धप्रतिपत्त्यर्थम् ।५। गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीत्येतस्यार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं क्रियते ।

अतो विषमगुणानां तुल्यजातीयानां चाविशेषेण प्रसक्ताविष्टार्थसंप्रत्ययार्थमिदमुच्यते— १०

## द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

द्व्यधिकश्चतुर्गुणः ।१। द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिकः । कः पुनरसौ ? चतुर्गुणः ?

आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् पञ्चगुणादिसंप्रत्ययः ।२। द्व्यधिकादीत्ययमादिशब्दः प्रकारार्थः । कः पुनरसौ प्रकारः ? द्वाभ्यामधिकता । तेन पञ्चगुणादीनां संप्रत्ययो भवति । 'अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः' इति चतुर्गुणस्यापि ग्रहणं भवति । तेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां च बन्ध उक्तो भवति, नेतरेषाम् । तद्यथा-द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोः एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः, चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति बन्धः । तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टनवदशसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन बन्धो न विद्यते । एवं त्रिगुणस्निधस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति, शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति । चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः, शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति । एवं शेषेष्वपि योज्यः । तथा द्विगुणरूक्षस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः, चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः । तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति बन्धः । एवं त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्यः । एवं भिन्नजातीयेष्वपि द्विगुणस्निग्धस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः, चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः, उत्तरैः पञ्चगुणरूक्षादिभिर्नास्ति । एवं त्रिगुणस्निग्धादीनां पञ्चगुणरूक्षादिभिरस्ति, शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति बन्ध इति योज्यः । उक्तं च— २५

"णिद्धस्स णिद्धेण [3]दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्य लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥[4]१॥" [छक्खं० वग्ग० ५।६।३६]

एवमुक्तेन विधिना बन्धे सत्यणूनां द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तप्रदेशावसानस्कन्धोत्पत्तिर्वेदितव्या ।

तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषप्रतिपत्त्यर्थः ।३। तुशब्दः क्रियमाणः [5]प्रतिषेधं व्यावर्त्तयति बन्धं च विशेषयति । ३०

अत्राह-किमर्थं संयोगजातीयः पुद्गलानां बन्धो नाम धर्मः कल्प्यते ? [6]ननु प्राप्त्याद्यात्मकत्वादनेनैव सर्वसामूहिकव्यवहारसिद्धिरिति ? उच्यते-संयोगेऽपि सति प्राप्तिमात्रेण कृतार्थत्वात् परस्परानुप्रवेशनिरुत्सुकौ स्निग्धरूक्षगुणौ स्कन्धौ परमाणूनां संयोगमात्रत्वात् पारिणामिकौ न स्याताम् शुक्लकृष्णतन्तुसंयोगावस्थानवत्, ततोऽयमारम्भः—

---

१ चेन्न मु० । २-दिसम्बन्धः कृतो मु०, द० । ३ द्व्यधिकादिकेन चतुर्गुणेनेत्यर्थः । ४ गो० जी० गा० ६१४ । ५ न जघन्येत्यत्र नञम् । ६ न प्रा-मु०, द० । ७ स्कन्धपर-ता०, श्र० ।

# बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ[1] ॥३६॥

प्रकृतत्वाद् गुणसंप्रत्ययः ।१। प्रकृतं गुणग्रहणम्, तदभिसंबन्धाद् गुणसंप्रत्ययो भवतीत्यधिकगुणाविति ।

भावान्तरापादनं परिणामकत्वं क्लिन्नगुडवत् ।२। यथा क्लिन्नगु[2]डोऽधिकमधुररसः ५ पतितानां रेण्वादीनां स्वगुणापादनात् परिणामकः, तथा अन्योऽपि अधिकगुणः अल्पीयसः परिणामक इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्षः परिणामको भवतीति ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवपूर्वकं तातीर्यकमवस्थान्तरं[3] प्रादुर्भवतीत्येकस्कन्धत्वमुपपद्यते, इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत्संयोगे सत्यप्यपरिणामकत्वात् सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत । दृश्यते हि श्लेषे सति [4]वर्णगन्धरसस्पर्शानामवस्थान्तरभावः शुक्लपीतादिसंयोगे शुक्लपत्रवर्णादिप्रादुर्भाववत् ।

१० समाधिकावित्यपरेषां पाठः ।३। "बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ" [ तत्त्वार्थाधि० ५।३६ ] इत्यपरे सूत्रं पठन्ति, द्विगुणस्निग्धस्य द्विगुणरूक्षोऽपि परिणामक इति ।

तदनुपपत्तिरार्षविरोधात् ।४। स पाठो नोपपद्यते । कुतः ? आर्षविरोधात् । एवं ह्युक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने–नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्धनिर्देशे प्रोक्तः(क्तम्–)'विषमस्निग्धतायाम् विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां च भेदः' इति। तदनुसारेण १५ च सूत्रमुक्तम् "गुणसाम्ये सदृशानाम्" [५।३४] समगुणानां बन्धप्रतिषेधात् बन्धे समः परिणामक इत्यार्षविरोधिवचो न विद्वद्ग्राह्यम् ।

विषमे समे वास्ति बन्धः इति वचनान्न विरोध इति चेत्; न; आर्षार्थाज्ञानात् ।५। स्यान्मतम्–'जघन्यवर्जे विषमे समे वास्ति' इति वचनात् समगुणस्यापि बन्ध इत्यभ्युपगमान्नास्ति विरोधः इति; तन्न; किं कारणम् ? [6]आर्षार्थाज्ञानात् । नायमस्यार्थः–समगुणस्य बन्ध इति । कस्तर्हि ? २० समस्तुल्यजातीयः, विषमोऽतुल्यजातीयः । समस्य चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः विषमस्य चतुर्गुणरूक्षस्य षड् गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः इत्ययमार्षार्थः । तत्रैतत् स्यात्–किमर्थोऽयमारम्भ इति ? उच्यते–पौद्गलिकं कर्मात्मस्थानन्तानन्तप्रदेशं कायवाङ्मनोयोगनिमित्तं विस्रसोपचितानन्तप्रदेशस्निग्धरूक्षपरिणतं बन्धमायातमात्मनः ज्ञानावरणादिभावेन त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्याद्यवस्थानभाक् तत्परिणामकापादितपरिणामात् घनादिवन्न विष्वग्भवतीति ।

२५ अत्राह–उक्तं भवता "द्रव्याणि, जीवाश्चेति" [ ५।२,३ ] इति; तत्र किमुद्देशत एव द्रव्याणां प्रसिद्धिराहोस्विल्लक्षणतोऽपीति ? अत्रोच्यते–लक्षणतोऽपि प्रसिद्धिः । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

# गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥

गुणाश्च ते पर्ययाश्च गुणपर्ययास्ते यस्य सन्तीति तद् गुणपर्यय[8]वदिति । मतुर्नोपपद्यते अनर्थान्तरभावात्[11], अर्थान्तरभावे चाऽभावप्रसङ्गः; इत उत्तरं पठति–

३० अनन्यत्वेऽपि लोके सुवर्णाङ्गुलीयकवद् व्यपदेशदर्शनात् मत्वर्थीयसिद्धि[12]ः ।१। अनन्यत्वेऽपि लोके व्यपदेशो दृश्यते, यथा सुवर्णस्याङ्गुलीयकं सुवर्णाङ्गुलीयकमिति । तथा [13]लक्षणतः कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः गुणपर्ययेभ्योऽनन्यत्वे कथञ्चिद्भेदसिद्धेः मत्वर्थीयमुपपद्यते ।

१–कौ च मु० । २–डो हि मधु–मु०, ब० । ३ पर्याय इति । ४ वर्णरसगन्धस्प–मु० । ५ "वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो ॥३२॥ समणिद्धदा समलुक्खदा भेदो ॥३३॥" –छक्खं० वग्ग० पृ० ३० । ६ आर्षाज्ञा–मु०, मू०, ब०, आ०, ज० । ७ स्निग्धरूक्ष । ८ पर्यायव–मू० । ९ पर्याया–श्र० । १०–पर्याय श्र० । ११ गुणपर्यायाणाम् । १२–सिद्धेः मु० । १३ तल्लक्षण–मू०, श्र० ।

**गुणाभावादयुक्तिरिति चेत्; न; अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्** ।२। गुण इति संज्ञा तन्त्रान्तराणाम्, आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितयमेव तत्त्वम् । अतश्च द्वितयमेव नयद्वयोपदेशात्, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ । यदि गुणोऽपि कश्चित्स्यात्, तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम् । न चास्त्यसाविति, अतो गुणाभावात् गुणपर्ययवदिति निर्देशो न युज्यते; तन्न; किं कारणम्? अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात् । उक्तं हि अर्हत्प्रवचने— ५
"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" [त० सू० ५।४०] इति । अन्यत्र चोक्तम्—

"गुण इति दव्वविधाणं दव्वविर्यारो य पज्जयो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं [3]अजुदवसिद्धं हवदि णिच्चं ॥१॥"[4] [　　　] इति ।

यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम्—तद्विषयस्तृतीयो मूलनयः प्राप्नोतीति; नैष दोषः; द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यं विशेषश्चेति । तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम् । १० विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्दः । तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः । विशेषविषयः पर्यायार्थिकः । तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते, न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकलादेशत्वान्नयानाम् । तत्समुदयोऽपि प्रमाणगोचरः सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य ।

**गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः** ।३। अथवा, उत्पादव्ययध्रौव्याणि पर्यायाः, न तेभ्योऽन्ये गुणाः सन्ति, ततो गुणा एव पर्याया इति सति सामानाधिकरण्ये मतौ सति गुणपर्या- १५ यवदिति निर्देशो युज्यते ।

**विशेषणानुपपत्तिरर्थाभेदादिति चेत्; न; मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात्** ।४। स्यादेतत्—यदि गुणा एव पर्यायाः; विशेषणमपार्थकम्; कुतः? अर्थाभेदात् । ततो गुणवदिति वा पर्यायवदिति वा वक्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् । [5]मतान्तरे हि द्रव्यादन्ये गुणाः परिकल्पिताः, न ते सन्ति? अर्थान्तरभावे सत्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् । [6]अतो द्रव्यस्य [7]परि- २० णमनं परिवर्तनं पर्यायः । तद्भेदा एव गुणाः न भिन्नजातीया इति मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् विशेषणमर्थवत् ।

उक्तानां द्रव्याणां लक्षणनिर्देशात्तद्विषय एव द्रव्यव्यवसायप्रसक्ते अनुक्तद्रव्यसंसूचनार्थमिदमाह—

## कालश्च ॥ ३९ ॥　　　　२५

**यथोक्तद्रव्यलक्षणोपेतत्वाद् द्रव्यम्** ।१। यथोक्तं द्रव्यलक्षणम्—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" [त० सू०, ५।३०,३७] इति च; तेन लक्षणेनोपेतत्वात् कालश्च द्रव्यमित्यवगम्यते । कथं लक्षणोपेतत्वमिति चेत्? उच्यते—

**आकाशादिवत्तत्सिद्धिः** ।२। यथा आकाशादीनां द्रव्यलक्षणं तथा कालस्यापि सिद्ध्यति । ध्रौव्यं तावत् कालस्य स्वप्रत्ययं स्वभावव्यवस्थानात्, व्ययोदयौ परप्रत्ययौ, अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्य- ३० पेक्षया स्वप्रत्ययौ च । तथा गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः सन्ति । तत्रासाधारणः वर्तनाहेतुत्वम्, साधारणाश्च अचेतनत्वामूर्तत्वसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादयः । पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्याः । तस्यास्तित्वलिङ्गं सन्निवेशक्रमश्च व्याख्यातः ।

---

१ असाधारणलक्षणम् । २ विकार । ३ अयुतप्रसिद्धम् । ४ उद्धृतेयम्—स० सि० ५।३८ । ५ वैशेषिकमते—स० । ६ यतो श्र० । ७ परिगमनं मू० ।

आह–द्रव्यत्वे सति किमसौ कालः आकाशवदेक उत संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तो वेति ? अत्रोच्यते–

## सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

व्यवहारकालप्रमाणावधारणार्थं वचनम् ।१। मुख्याः परमार्थकालाणवः धर्मास्तिकायप्रदेशतुल्या असंख्येया व्याख्याताः । इदं तु वचनं व्यवहारकालप्रमाणावधारणार्थं क्रियते । [1]साम्प्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽप्यतीतानागताश्च समया अन्तातीता इति कृत्वा अनन्ता इति व्यपदिश्यन्ते ।

मुख्यस्यैव वानन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वात् ।२। अथवा, मुख्यस्यैव कालस्य प्रमाणावधारणार्थमुच्यते । अनन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते । समयः पुनः परमनिरुद्धः कालांशः । तत्प्रचयविशेष आवलिकादिर्व्याख्यातः ।

आह–"गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इत्युक्तम्, तत्र के गुणाः इति ? अत्रोच्यते–

## द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

आश्रयशब्दोऽधिकरणसाधनः कर्मसाधनो वा ।१। अयमाश्रयशब्दः अधिकरणसाधनः गुणा यत्राश्रयन्ते स आश्रय इति पुल्लिङ्गे घः[2] । अथवा कर्मसाधनः गुणैराश्रियत इत्याश्रयः । द्रव्यशब्द उक्तार्थः, द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः ।

निर्गुणा इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थम् ।२। द्रव्याश्रया गुणा इत्युच्यमाने द्व्यणुकादिष्वपि गुणसंप्रत्ययः स्यात्–[3]कारणद्रव्याश्रयाणि कार्यद्रव्याणीति, ततस्तन्निवृत्त्यर्थं निर्गुणा इति विशेषणमुपादीयते । द्व्यणुकादीनां हि रूपादयो गुणाः सन्तीति तन्निवृत्तिः कृता भवति ।

पर्यायाणां गुणत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; द्रव्याश्रया इति विशेषणात्तन्निवृत्तेः ।३। स्यान्मतम्–यदि गुणा द्रव्याश्रया इत्येतत्तावल्लक्षणं गुणानाम्, पर्यायाणामपि घटसंस्थानादीनां तदुभयमस्तीति गुणत्वं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? द्रव्याश्रया इति विशेषणात्तन्निवृत्तेः । ननु द्रव्याश्रया इति विशेषणं तदाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थं तदन्तरेणापि सिद्ध्यति । कुतः ? सामर्थ्यात्–निराश्रयगुणाभावात् आश्रयान्तराभावाच्च, ततस्तदनर्थकं पर्यायनिवृत्त्यर्थं भवति । किं शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यमिति पर्यायनिवृत्तिर्गृह्यते ? न; इत्याह–

मत्वर्थे वा वृत्तिविधानात् इति ।४। मत्वर्थेऽन्यपदार्थे वृत्तिः, मत्वर्थश्च नित्ययोगे विद्यत इति नित्ययोगोऽत्र वेदितव्यः । नित्यं द्रव्यमाश्रित्य ये वर्तन्ते ते गुणा इति । पर्यायाः पुनः कादाचित्का इति न तेषां ग्रहणम् । तेनान्वयिनो धर्मा गुणा इत्युक्तं भवति । तद्यथा जीवस्यास्तित्वादयः ज्ञानदर्शनादयश्च । पुद्गलस्याचेतनत्वादयः रूपादयश्चेति । पर्यायाः पुनः घटज्ञानादयः कपालादिविकाराश्च ।

अत्राह–उक्तः परिणामशब्दः असकृन्न तु तस्यार्थो वर्णितः, तस्मादुच्यतां कः परिणामः इति ?

---

१ वर्तमानकालस्य । २ पुन्नाम्नि घः प्रायः । ३ परमाणवः कारणद्रव्याणि द्व्यणुकादीनि कार्यद्रव्याणि ।

## तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अथवा, गुणा द्रव्यादर्थान्तरभूता इति [1]केषाञ्चिद्दर्शनम्, तत्किं भवतः सम्मतम् ? नेत्याह–यद्यपि कथञ्चिद् व्यपदेशादिभेदहेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्चानन्ये । यद्येवं स उच्यतां कः परिणाम इति ? तन्निश्चयार्थमिदमुच्यते–तद्भावः परिणामः ।

धर्मादीनां येनात्मना भवनं सः तद्भावः परिणामः ।१। धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावः तत्त्वं परिणाम इत्याख्यायते । ५

तत्स्वरूपं व्याख्यातम् ।२। तस्य परिणामस्य स्वरूपं व्याख्यातम् । क्व ? "वर्तनापरिणामक्रियाः" [त० सू० ५।२२] इत्यत्र ।

स द्विविधोऽनादिरादिमांश्च ।३। स एष परिणामो द्विधा भिद्यते । अनादिरादिमांश्चेति । तत्रा[2]नादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः । न ह्येतदस्ति धर्मादीनि द्रव्याणि प्राक्, पश्चाद्गत्युपग्रहादिः, प्राग्वा गत्युपग्रहादिः पश्चाद्धर्मादीनि इति । किं तर्हि ? अनादिरेषां संबन्धः । आदिमांश्च बाह्यप्रत्ययापादितोत्पादः । १०

अत्रान्ये[3] धर्माधर्मकालाकाशेषु अनादिः परिणामः, आदिमान् जीवपुद्गलेषु इति वदन्ति; तदयुक्तम्; कुतः ? सर्वद्रव्याणां द्व्यात्मकत्वे सत्त्वम्, अन्यथा[4] नित्याभावप्रसङ्गात् । कथं तर्हि ग्राह्यम् ? १५

नयद्वयवशात् सर्वत्र तदुभयसिद्धिः ।४। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयविवक्षावशात् सर्वेषु धर्मादिद्रव्येषु स उभयः परिणामोऽवसेयः । अयं तु विशेषः धर्मादिषु चतुर्षु द्रव्येष्वत्यन्तपरोक्षेष्वनादिरादिमांश्च परिणामः आगमगम्यः, जीवपुद्गलेषु कथञ्चित्प्रत्यक्षगम्योऽपि[5] इति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे पञ्चमोध्यायः ।

---

१ वैशेषिकाणाम्–स० । २ गतिसामान्येन । ३ "तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति । रूपादिष्वादिमान् [५-४२] रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिः । योगोपयोगौ जीवेषु [५।४५] जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामौ आदिमन्तौ भवतः ।"–तत्त्वार्थाधि० भा० । ४ सत्त्वाभावे । ५ अपिशब्दादागमगम्यश्च ।

# षष्ठोऽध्यायः

आह–अजीवपदार्थो व्याख्यातः। इदानीं तदनन्तरोद्देशभाग् आस्रवपदार्थो व्याख्येय इति ततस्तत्प्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यते—

## कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥—

**कायादीनामितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः** ।१। कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनांसि इतीतरेतरयोगे द्वन्द्वः।

**वाङ्मनस[मिति]प्रसङ्ग इति चेत्; न; बहुषु तदभावात्** ।२। स्यादेतत्–वाङ्मनसमिति प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? बहुषु तदभावात्। द्वयोः हि [2]सविधिः, तेन बहुषु न भवति। कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ्मनस्कर्मेति। "कृकमिकं सः" [जैनेन्द्र० ५।४।३४] इति सत्वम्। कायादयः शब्दा व्याख्यातार्थाः।

**कर्मशब्दस्यानेकार्थत्वे क्रियावाचिनो ग्रहणम्, इहान्यस्यासंभवात्** ।३। कर्मशब्दोऽनेकार्थः। [3]क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते–यथा घटं करोतीति। क्वचित्पुण्यापुण्यवचनः–यथा "कुशलाऽकुशलं कर्म" [आप्तमी० श्लो० ८] इति। क्वचिच्च क्रियावचनः–यथा "उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" [वैशे० १।१।७] इति। तत्रेह क्रियावाचिनो ग्रहणम्। कुतः? अन्यस्यासंभवात्। तत्कथमिति चेत्? उच्यते—

**न कर्तुरीप्सिततमम्, अन्यतरस्योभयस्य च विवक्षाऽसंभवात्** ।४। कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्म[4]। तत्त्रिविधं निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति। तत् त्रितयमपि कर्तुरन्यत्। तत्र यदि कायादीनां कर्तृत्वम्; कर्मान्यद्वाच्यम्। न चातोऽन्यत् सूत्रे गृहीतमस्ति। अथ कर्मत्वं कायादीनाम्; कर्ताऽन्यो वाच्यः। न चासौ संगृहीतोऽस्ति। अथ युगपत्कर्तृत्वं कर्मत्वञ्चेष्टम्; तच्चासंभवात् असत्। तस्मात् कर्तुरीप्सिततमं नेह परिगृहीतम्।

**नापि पुण्यापुण्यलक्षणम्; उत्तरसूत्रस्य सामर्थ्यात्** ।५। नापीह पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म गृह्यते। कुतः? उत्तरसूत्रसामर्थ्यात्। यदि पुण्यापुण्यलक्षणमिह गृह्येत, "स आस्रवः शुभः पुण्यस्य" [त० सू० ६।२,३] इत्युत्तरसूत्रारम्भोऽनर्थकः स्यात्।

**कर्तुरीप्सिततमं वा आत्मनः कर्तृत्वात्** ।६। अथवा सामर्थ्यसन्निहित इहात्मा[5] कर्ता, तस्य कर्तुरीप्सिततमत्वात् पारिभाषिकं कर्म गृह्यते।

**कर्त्रादिसाधनेष्विच्छातो विशेषाध्यवसायः[6]** ।७। कर्मशब्दस्य कर्त्रादिषु साधनेषु संभवत्सु इच्छातो विशेषोऽध्यवसेयः। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणामः पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चयव्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म[7]। करणप्रशंसाविवक्षायां कर्तृधर्माध्यारोपे सति स परिणामः कुशलमकुशलं वा द्रव्यभावरूपं करोतीति कर्म। आत्मनः प्राधान्यविवक्षायां कर्तृत्वे सति परिणामस्य करणत्वोपपत्तेः बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन

---

१ आविर्भूतावयवभेदः। २ स इति स्वमते समाससंज्ञा, समासविधिरित्यर्थः। ३ व्याकरणशास्त्रे–स०। "कर्तुरीप्सिततमं कर्म"–पाणिनि० १।४।४९। ४ पात० महा०। ५ जीवः। ६–षोऽध्यवसेयः मु०। ७ प्रधानकर्म।

कर्मेत्यपि भवति। साध्यसाधनभावानभिधित्सायां स्वरूपावस्थिततत्त्वकथनात् कृतिः कर्मेत्यपि भवति। एवं शेषकारकोपपत्तिश्च योज्या।

योगशब्दस्यापि तथैव ।८। तेनैव प्रकारेण योगशब्दस्यापि कर्त्रादिसाधनसंभवो योज्यः।

त्रैविध्यानुपपत्तिरात्मपरिणामाविशेषादिति चेत्; न पर्यायविवक्षाव्यापाराद्रूपादिवत् ।९। स्यान्मतम्–योगस्य त्रैविध्यं नोपपद्यते। कुतः? आत्मपरिणामाविशेषात्। आत्मा हि निरवयवद्रव्यम्, तत्परिणामो योगः, सोऽविशिष्ट इति; तन्न; किं कारणम्? पर्यायविवक्षाव्यापाराद्रूपादिवत्। यथा घटस्यैकत्वमजहतश्चक्षुरादिकरणसंबन्धवशाद्रूपादिपरिणामभेदः, तथा आत्मनः एकत्वेऽपि पर्यायभेदात् योगस्य भेदो ज्ञेयः।

चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वाद् रूपाध्यवसायस्येति चेत्; न; आत्माभेदेऽपि कायादीनां पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात् ।१०। स्यादेतत्–युज्यते घटस्य रूपादिभेदाध्यवसायः। कुतः? चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वात्। [1]ग्रहणभेदाद्धि लोके ग्राह्यभेदो दृष्टः, न तथा आत्मन इति; तन्न; किं कारणम्? आत्माऽभेदेऽपि कायादीनां पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात्। तद्यथा पुद्गलविपाकिनः शरीरनामकर्मण उदयापादिते कायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालम्बने[2] सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्या[3]वरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुख्यस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने पूर्वोक्तबाह्यनिमित्तालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुख्यस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षात्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। यदि क्षयोपशमलब्धिरभ्यन्तरहेतुः क्षये कथम्? क्षयेऽपि हि सयोगकेवलिनः त्रिविधो योग इष्यते। अथ क्षयनिमित्तोऽपि योगः कल्प्यते, अयोगकेवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति; नैष दोषः; क्रियापरिणामिन आत्मनस्त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पन्दः सयोगकेवलिनो [4]योगविधिर्विधीयते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषां योगविधिर्नास्ति।

अनेकान्ताच्च लावकादिवत् ।११। यथा देवदत्तस्य जातिकुलरूपसंज्ञालक्षणसम्बन्धाद्यविशेषादेकत्वमजहतः बाह्योपकरणसंबन्धोपनीतभेदलावकपावकादिपर्यायानास्कन्दतः स्यादेकत्वं स्यादनेकत्वमित्यनेकान्तः तथा प्रतिनियतक्षायोपशमिकशरीरादिपर्यायार्थादेशात् स्यात्त्रैविध्यं योगस्य, अनादिपारिणामिकात्मद्रव्यार्थादेशात् स्यादैकविध्यमित्यनेकान्तः। ततो नायमुपालम्भः।

ध्यानं योग इति चेत्; न; तस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।१२। स्यादेतत्–ध्यानं योगशब्दार्थः न कायवाङ्मनस्कर्मेति; तन्न; किं कारणम्? तस्य वक्ष्यमाणत्वात्। [6]युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्, स तु वक्ष्यते। इहास्रवप्रतिपादनार्थत्वात् त्रिविधक्रिया योग इत्युच्यते।

समुदाये योगव्यपदेशप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः ।१३। स्यान्मतम्–यथा गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामिति अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं[7] दण्डयन्ति। कुतः? समुदाये वाक्यपरिसमाप्तेः, तथा कायवाङ्मनस्कर्मसमुदाये योगव्यपदेशः प्रसक्त इति चेत्; न; किं कारणम्? प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते, तथा योगव्यपदेशोऽपि प्रत्येकं त्रिषु कर्मसु वेदितव्यः।

---

१ यदा दूरे वृक्षसामान्यावलोकनात् समीपं गत्वा आम्रोऽयं पनसोऽयमित्यादि ग्राह्यभेदो दृष्टः। २ बाह्ये। ३ पदवाक्यादि। ४ योगो विधी–ता०, श्र०, मू०, ज०। योगोविधिर्विधते–मु०। ५ लुनाति पुनातीति। ६ युजि समाधौ इति धातोः। ७ एकैकगर्गान्।

अत्राह–अभ्युपेमः आहितत्रैविध्या क्रिया योग इति । प्रकृत इदानीं निर्दिश्यताम् किंलक्षण आस्रव इति ? अत्रोच्यते–योऽयं योगशब्दाभिधेयः संसारिणः पुरुषस्य प्रयोगस्त्रिविधः—

## स आस्रवः ॥ २ ॥

'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इत्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; न; योगा[1]प्रख्यानात् ।१। स्यान्मतम्–कायवाङ्मनस्कर्मास्रव इत्यस्तु सूत्रम्, कुतः ? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? योगाप्रख्यानात् । योगशब्दो हि आगमे प्रसिद्धः, तस्यार्थोऽप्रख्यातः स्यात् ।

कायवाङ्मनस्कर्म योग आस्रव इति चेत्; न; सर्वयोगास्रवप्रसङ्गात् ।२। अथ मतमेतत्–'कायवाङ्मनस्कर्म योग आस्रवः' इत्येकयोगः कर्तव्यस्तथा सति तच्छब्दस्यावचनात्, योगविभागस्य चाऽकरणात्, निर्देशश्च लघुर्भवति, योगशब्दार्थश्च[3]प्रख्यातो भवति इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वयोगास्रवप्रसङ्गात् । केवलिसमुद्घातकाले हि दण्डकपाटप्रतरलोकपूर्णयोगस्याप्यास्रवत्वं प्रसज्येत । अस्त्वास्रवत्वं को दोषः ? सूक्ष्मयोगत्वं तत्रेष्यते, तन्निमित्तश्च बन्धोऽल्पः; तद्विपरीतता प्राप्नोति । अपि च, वर्गणालम्बननिमित्तो योग आस्रव इष्यते, न च दण्डादियोगस्तदालम्बनहेतुकः, तस्मादस्यास्रवत्वं नेष्यते । यद्येवं दण्डादिव्यापारकालेऽनास्रवत्वादबन्धकत्वं प्राप्नोति, इष्यते च बन्धः ? नैष दोषः; न दण्डादियोगनिमित्तो बन्धः । किं तर्हि ? कायवर्गणानिमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दोऽस्ति, तन्निमित्तस्तत्र बन्धः ।

एकयोगेऽपि तत्प्रयोजनाकरणात्तदप्रसङ्ग इति चेत्; न; योगविभागकरणसामर्थ्यात्तत्प्रतीतेः ।३। यथा केवलिनः सत्स्वपीन्द्रियेषु तदव्यापारात् इन्द्रियजकर्मबन्धाभावः तथा दण्डादियोगे सत्यपि तत्पूर्वकबन्धाभावात् आस्रवत्वमस्य योगविभागवदेकयोगेऽपि व्यावर्तते इति; तन्न; किं कारणम् ? योगविभागकरणसामर्थ्यात्तत्प्रतीतेः । सति हि योगविभागे य उद्दिष्टो योगः स आस्रवो भवति नान्य इत्ययमर्थोऽवगन्तुं शक्यते तेनान्योऽपि योगोऽस्तीति सूच्यते । एकयोगे पुनः सति तस्यार्थस्याप्रतीतेः सर्वस्य योगस्यास्रवत्वं प्रसज्यत एव । अथास्रवाभिधानं कुतो भवति ?

तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलवाहिद्वारवत् ।४। यथा सरःसलिलवाहि द्वारं तदास्रवणकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते, तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योगः आस्रव इति व्यपदेशमर्हति ।

कषायक्लिन्नस्य तदुपश्लेष आर्द्रवस्त्ररेणुवत् ।५। यथा आर्द्रवासः समन्ताद्वातानीतं रेणुमुपादत्ते, तथा कषायतोयार्द्र आत्मा योगानीतं कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति । यथा वा, निष्टप्तायःपिण्डोऽम्भसि प्रक्षिप्तोऽम्भः समन्तादात्मसात्करोति, तथा कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते ।

आह– कर्म द्विविधं पुण्यं पापं चेति, तस्य किमविशेषेण योगः आस्रवणहेतुराहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

## शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य ॥३ ॥

प्राणातिपातानृतभाषणवधचिन्तनादिरशुभः ।१। प्राणातिपातादत्तादानमैथुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः । अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो वाग्योगः । वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः ।

---

१–गाप्रत्याख्या–मु०, द०, ब० । २ अकथितः । ३–श्चाप्रत्याख्यातो मु० । ४ कषायतार्द्र मु०, द० । ५ सकषायो जीवः मु० । कषायोष्मो जीवः द० ।

ततोऽनन्तविकल्पादन्यः शुभः ।२। तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्यः शुभयोग इत्युच्यते। तद्यथा अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः। सत्यहितमितभाषणादिः शुभो वाग्योगः । अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः । आह–असंख्येयलोकत्वादध्यवसायावस्थानानां कथमनन्तविकल्पत्वमिति? उच्यते–अनन्तानन्तपुद्गलप्रदेशप्रचितज्ञानावरणवीर्यान्तरायदेशसर्वघातिद्विविधस्पर्धकक्षयोपशमादेशात् योगत्रयस्यानन्त्यम्। अनन्तानन्तप्रदेशकर्मादानकारणत्वाद्वा अनन्तः, अनन्तानन्तनानाजीवविषयभेदाद्वाऽनन्तः । कथं योगस्य शुभाशुभत्वम्?

शुभाशुभपरिणामनिर्वृत्तत्वाच्छुभाशुभव्यपदेशः ।३। शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः, अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्येत; शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्।

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् ।४। कर्मणः स्वातन्त्र्यविवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्। पारतन्त्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्तेः पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्याद्युत्तरत्र वक्ष्यते।

तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम् ।५। तस्य पुण्यस्य प्रतिद्वन्द्विरूपं पापमिति विज्ञायते। पाति रक्षत्यात्मानम् अस्माच्छुभपरिणामादिति पापाभिधानम्। तदसद्वेद्याद्युत्तरत्र वक्ष्यते।

उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वादविशिष्टमिति चेत्; न; इष्टानिष्टनिमित्तभेदा[2]त्तद्भेदसिद्धेः।६। स्यान्मतम्–यथा निगलस्य कनकमयस्यायसस्य चाऽस्वतन्त्रीकरणं फलं तुल्यमित्यविशेषः, तथा पुण्यं पापं चात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तमविशिष्टमिति नात्र संकल्पभेदो युक्त इति; तन्न; किं कारणम्? इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धेः। यदिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकं तत्पुण्यम्। अनिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकं यत्तत्पापमित्यनयोरयं भेदः। तत्र शुभो योगः पुण्यस्यास्रवः, अशुभः पापस्य।

शुभपरिणामस्य घातिकर्मनिमित्तत्वात्तदनिर्देश इति चेत्; न; [3]इतरपुण्यपापापेक्षत्वात् ।७। स्यादेतत्–शुभः पुण्यस्येत्यनिर्देशः, [4]अगमको निर्देशः अनिर्देशः। कुतः? घातिकर्मबन्धस्य शुभपरिणामहेतुत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? इतरपुण्यपापापेक्षत्वात्, अघातिकर्मसु पुण्यं पापं चापेक्ष्येदमुच्यते। कुतः? घातिकर्मबन्धस्य स्वविषये निमित्तत्वात्। अथवा, नैवमवधारणं क्रियते–शुभः पुण्यस्यैवेति। कथं तर्हि? शुभ एव पुण्यस्येति। तेन शुभः पापस्यापि हेतुरित्यविरोधः। यद्येवं शुभः पापस्यापि[हेतुः]भवति; अशुभः पुण्यस्यापि भवतीत्यभ्युपगमः कर्तव्यः, सर्वोत्कृष्टस्थितीनाम् उत्कृष्ट[सं]क्लेशहेतुकत्वात्। उक्तं च–

"सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सगो दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जघण्णो आउगतिगवज्जसेसाणं॥" [ पंचसं० ४।४३६ ] इति,

ततः सूत्रद्वयमनर्थकमिति; नानर्थकम्; अनुभागबन्धं प्रत्येतदुक्तम्। अनुभागबन्धो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्वात् सुखदुःखविपाकस्य । तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्तः सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः। उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामनिमित्तः सर्वाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः। उत्कृष्टः शुभपरिणामः अशुभजघन्यानुभागबन्धहेतुत्वेऽपि भूयसः शुभस्य हेतुरिति शुभः पुण्यस्येत्युच्यते; यथा अल्पापकारहेतुरपि बहूपकारसद्भावादुपकार इत्युच्यते। एवमशुभः पापस्येत्यपि। उक्तं च—

१–नं यस्मा–मु०, ब० । २–त्तसि–मु०, ता०, श्र०, द०, ब०, ज०, मू० । ३अघाति। ४ अज्ञापको।

"शुभपगदीण विसोधिए तिव्वमसुहाण संकिलेसेण ।
विपरीदे दु जहण्णो अणुभागो सव्वपगदीणं ॥" [ पंचसं० ४।४४५ ] इति ।

आह–किमयमास्रवः सर्वसंसारिसमानफलारम्भहेतुराहोस्वित् कश्चिदस्ति विशेष इति ? अत्रोच्यते–

५ **सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥**

आस्रवस्योभयस्वामिकत्वाद् द्वयीप्रसिद्धिः ।१। उभौ आस्रवस्य स्वामिनौ–सकषायोऽकषायश्चेति । तस्यास्रवस्यानन्त्येऽपि स्वामिनो द्वैविध्यकल्पनया द्वयी प्रसिद्धिरवसेया । कोऽत्र कषायः ?

कषत्यात्मानमिति कषायः ।२। क्रोधादिपरिणामः कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः ।

१० कषायवद्वा[1] श्लेषहेतुत्वात् ।३। अथवा, यथा कषायो नैयग्रोधादिः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते । सह कषायेण वर्तते इति सकषायः । न विद्यते कषयोऽस्येत्यकषायः । सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ तयोः सकषायाकषाययोः ।

समन्तात्पराभव आत्मनः सम्परायः ।४। कर्मभिः समन्तादात्मनः पराभवोऽभिभवः सम्पराय इत्युच्यते ।

१५ तत्प्रयोजनं साम्परायिकम् ।५। तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते यथा [2]ऐन्द्रमहिकमिति ।

ईरणमीर्या योगगतिः ।६। ईरेर्गत्यर्थाद्भावे ण्यः, ईरणमीर्या योगगतिरिति यावत् ।

तद्द्वारकमीर्यापथम् ।७। सा ईर्या द्वारं पन्था यस्य तदीर्यापथं कर्म । साम्परायिकं च ईर्यापथं च साम्परायिकेर्यापथे तयोः साम्परायिकेर्यापथयोः यथासंख्यमभिसंबन्धो भवति ।
२० सकषायस्यात्मनः साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति, अकषायस्य ईर्यापथस्येति । तद्यथा–सम्परायः कषाय इत्यर्थः । मिथ्यादृष्ट्यादीनां सूक्ष्मसाम्परायान्तानां [3]कषायोदयपिच्छिलपरिणामानां योगवशादानीतं कर्म भावेनोपश्लिष्यमाणं आर्द्रचर्माश्रितरेणुवत् स्थितिमापद्यमानं साम्परायिकमित्युच्यते । उपशान्तक्षीणकषाययोः योगिनश्च योगवशादुपात्तं कर्म कषायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुड्यपतितलोष्टवद् अनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमित्युच्यते ।

२५ "अजाद्यत्" इत्युभयत्र पूर्वनिपातप्रसङ्ग इति चेत् ; न; अतिबहुवक्तव्यतया तयोरभ्यर्हितत्वात् ।७। स्यादेतत्–अकषायशब्दस्येर्यापथशब्दस्य च "अजाद्यत्" [जैनेन्द्र० १।३।९९] इति पूर्वनिपातः प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम् ? अतिबहुवक्तव्यतया तयोरभ्यर्हितत्वात् सकषायशब्दस्य साम्परायिकशब्दस्य चाभ्यर्हितत्वमिति पूर्वनिपातो भवति ।

यदि साम्परायिकास्रवो बहुवक्तव्यः, तस्य के भेदाः इति ? अत्रोच्यते—

३० **इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥**

इन्द्रियादय उक्तलक्षणा द्वन्द्ववृत्तिमयाः ।१। इन्द्रियादीनामुक्तलक्षणानां द्वन्द्वो वेदितव्यः । इन्द्रियाणि च कषायाश्च अव्रतानि च क्रियाश्च इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया इति । स चायं द्वन्द्व इतरेतरयोगलक्षण इति बहुवचनं भवति ।

---

१–द्वाऽऽश्ले–श्र० । २ इन्द्रमहः प्रयोजनम् । ३ कषायोदयेपि तच्छीलप–मु०, द० ।

**पञ्चादीनां संख्याशब्दानां संख्यया वृत्तिः ।२।** पञ्चादीनां संख्याशब्दानां संख्याशब्देन सह वृत्तिर्द्रष्टव्या पञ्चाधिका विंशतिः पञ्चविंशतिः। पञ्च च चत्वारश्च पञ्च च पञ्चविंशतिश्च पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिः, सा संख्या येषां ते पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः।

**पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनः ।३।** अयं पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनः–अतीतसूत्रे यः प्राङ् निर्दिष्टस्तस्येति। ५

**भिद्यन्ते इति भेदाः ।४।** परस्परतो भिद्यन्त विशिष्यन्ते इति भेदाः प्रकारा इत्यर्थः।

**यथासंख्यमभिसंबन्धो व्याख्यानतः ।५।** यथासंख्यमभिसंबन्धोऽत्र द्रष्टव्यः। कुतः? व्याख्यानतः। पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषायाः, पञ्चाऽव्रतानि, पञ्चविंशतिः क्रिया इति।

**इन्द्रियादीनामात्मनोऽनन्यत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तः ।६।** इन्द्रियादीनामात्मनः अनन्यत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तो वेदितव्यः। तद्यथा, अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशादिन्द्रियादीनां १० भेदाभावादनन्यत्वम्। कर्मोदयक्षयोपशमनिमित्तपर्यायार्थादेशाद्भेदोपपत्तेः स्यादन्यत्वम्। इन्द्रियादिनिवृत्तौ द्रव्यावस्थानाच्च स्यादन्यत्वम्। तत एव पर्यायभेदात् पञ्चादिसंख्यानिर्देश उपपन्नो भवति। तत्र पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शा(र्शना)दीन्युक्तानि। क्रोधादयः कषाया अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पा वक्ष्यन्ते। हिंसादीन्यव्रतानि "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [त० सू० ७।१३] इत्येवमादिलक्षणानि वक्ष्यन्ते। पञ्चविंशतिः क्रिया उच्यन्ते— १५

**सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रियाः पञ्च ।७।** तत्र चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया। गमनागमनप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया, वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गोपष्टम्भादात्मनः कायवाङ्मनोयोगनिर्वृत्तिसमर्थपुद्गलग्रहणं वा। संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुखं(ख्यं)समादानक्रिया। ईर्यापथकर्मनिमित्ता ईर्यापथक्रिया। एताः २० पञ्च क्रियाः।

**प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रियाः पञ्च ।८।** क्रोधावेशात् प्रादोषिकी क्रिया। सा क्रोधस्वभाविकेति क्रोधग्रहणेनैव गृहीतेः पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; क्रोधनिमित्तत्वात्[1]। क्रोधो हि प्रदोषहेतुः, अतः कार्यकारणभेदादपौनरुक्त्यम्। नैमित्तिक(काऽ)निमित्त[2]भेदाच्च–इष्टदारवित्तहरणादेर्निमित्ताद्विनापि पिशुनः स्वभावत एव क्रुध्यति, तथा दृष्टिविषादयश्च।' उक्तं च— २५

> "अणिमित्तमेव कोई कम्मस्स वसंगदो कसायाणं।
> उदयं उवेदि जीवो [3]चंद इव महग्गहं पव्वे॥" [ ]

तथा—

> "मृगलोहिततान्त्र[4]लोलजिह्वैर्हरिशार्दूलवृकैर्निसर्गहिंस्रैः।
> भुजगैश्च सवैरजातरोषैः समरूपाण्यसतां[5] विचेष्टितानि॥" ३०

इत्यनिमित्तः क्रोधः, निमित्तवान् प्रदोषः। प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया। हिंसोपकरणादानादाधिकरणिकी क्रिया। दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया। आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकरणात् प्राणातिपातिकी[6]। एताः पञ्च क्रियाः।

**दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपाताऽनाभोगक्रियाः पञ्च ।९।** रागार्द्रीकृतत्वात् प्रमादिनः रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया। प्रमादवशात् स्पृष्टव्यसञ्चेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। ३५

---

१ यसः। बहुव्रीहिसमास इत्यर्थः। २ निमित्तनैमित्तिकभे–मु०। ३ चन्द्रे। ४–तान्त्रलो–मु०। ५ दुर्जनोनाम्। ६–की क्रिया ए–मु०, व०।

ननु इन्द्रियग्रहणादेव सिद्धेर्दर्शनस्पर्शनग्रहणमनर्थकमिति; नैष दोषः; पूर्वत्रेन्द्रियविज्ञानग्रहणम्, इह तत्पूर्वपरिस्पन्दग्रहणम्। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्यायिकी क्रिया। स्त्रीपुरुषपशुसंपातिदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया। अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः।

**स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकाङ्क्षाः क्रियाः पञ्च।१०।** यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया। पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया। आलस्याद्वा प्रशस्तक्रियाणामकरणं पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। यथोक्तामाज्ञामावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणात् आज्ञाव्यापादिका क्रिया। शाठ्यालस्याभ्यां [1]प्रवचनापदिष्टविधिकर्तव्यतानादरः अनाकाङ्क्षक्रिया[2]। ता एताः पञ्च क्रियाः।

**आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रियाः पञ्च।११।** छेदनभेदन[3]विस्रंसनादिक्रियापरत्वम्, अन्येन चारम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष आरम्भक्रिया। परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया। अन्यं मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्द्रढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया।

**इन्द्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावानतिवृत्तेः क्रियावचनेनैव गतत्वात् प्रपञ्चमात्रप्रसङ्ग इति चेत्; न; अनेकान्तात्।१२।** [4]स्यान्मतम्–इन्द्रियकषायाव्रतान्यपि क्रियास्वभावानि ततस्तेषां क्रियाग्रहणेन ग्रहणादनर्थकमुपादानम्, सति चोपादाने प्रपञ्चमात्रत्वं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अनेकान्तात्। नायमेकान्तः इन्द्रियकषायाव्रतानि क्रियास्वभावान्येवेति। कुतः? नामस्थापनाद्रव्येन्द्रियकषायाव्रतेषु परिस्पन्दाभावात्। यतो नामेन्द्रियादौ न क्रियाऽस्ति नाममात्रत्वात्। स्थापनायां च न मुख्यक्रियाऽस्ति तदेवेदमिति वाग्बुद्धिप्रवृत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। द्रव्ये च प्रच्युतेन्द्रियकषायाव्रतक्रियापरिणामे अनागतेन्द्रियकषायाव्रतक्रियापरिणामाभिमुखे वा साम्प्रतिकेन्द्रियकषायाव्रतक्रियाणामभावान्न परिस्पन्दात्मिका क्रियाऽस्ति। अथवा, [5]नायमेकान्तः, इन्द्रियकषायाव्रतानि क्रियास्वभावान्येवेति। कुतः? आदेशवचनात्। द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् इन्द्रियकषायाव्रतानां स्यात् क्रियास्वभावाऽनतिवृत्तिः। पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् स्यात् क्रियास्वभावातिवृत्तिरिति। किञ्च;

**शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वात् इन्द्रियकषायाव्रतानां द्रव्यास्रवत्वात्।१३।** शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वादिन्द्रियकषायाव्रतानां द्रव्यास्रवत्वम्, भावास्रवः कर्मादानम्, तच्च पञ्चविंशतिक्रियाभिरास्रवति कर्मेत्येतदर्थमिन्द्रियकषायाव्रतवचनम्।

[6]**न वा प्रतिज्ञातविरोधात्।१४।** न वा एतत्प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्? प्रतिज्ञातविरोधात्। यत्प्रतिज्ञातं[7] "कायवाङ्मनस्कर्म योगः, स आस्रवः" [६।१,२] इति; तद्विरुध्यते[8], [9]द्रव्यास्रव इत्यभ्युपगमात्।

[10]**कार्यकारणक्रियाकलापविशेषज्ञापनार्थं वा।१५।** निमित्तनैमित्तिकविशेषज्ञापनार्थं तर्हि पृथगिन्द्रियादिग्रहणं क्रियते; सत्यम्; स्पृशत्यादयः क्रुध्यत्यादयः हिनस्त्यादयश्च क्रिया आस्रवः;

---

१ प्रवचनोपदि–मु०, द०। २–क्षा ता ए–ता०, श्र०, द०, ब०, भा०। ३–विशासन–भा० २। ४ आह तटस्थः परं प्रति आचार्याभिप्रायमज्ञात्वा स्वयमेव। ५ पुनरप्युत्तरं ददाति तटस्थः। ६ आह आचार्यः तटस्थं प्रति। ७ सूत्रकारेण। ८ कुतः। ९ तवाभिप्रायेण। कायादियोगस्य आस्रवाभिमुखत्वेन साम्प्रतिकास्रवत्वाभावाभ्युपगमात् इति यावत्। १० आचार्यवचनेन प्रबुद्धः सन्नाह तटस्थः।

इमाः पुनस्तत्प्रभवाः पञ्चविंशतिक्रियाः सत्स्वेतेषु त्रिषु प्राच्येषु परिणामेषु भवन्ति–यथा मूर्च्छा कारणं परिग्रहः कार्यं तस्मिन्सति पारिग्राहिकी[1] क्रिया न्यासरक्षणाविनाशसंस्कारादिलक्षणा। तथा, क्रोधः कारणं प्रदोषश्च कार्यं तस्मिन् सति प्रादोषिकी क्रिया। मानः कारणं कार्यमप्रणतिः तस्यां सत्यामपूर्वाधिकरणोत्पादनत्वात् प्रात्यायिकी क्रिया। माया कारणं कार्यं कुटिलक्रिया तस्यां सत्यां ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मायाप्रवृत्तिक्रिया। प्राणातिपातः कारणं कार्यं प्राणातिपातिकी क्रिया। ५ मृषावादाऽदत्तादानाऽब्रह्मचर्याणि कारणं कार्यमसंयमोदयादाज्ञाव्यापादिका[3] क्रिया। एवमितरत्रापि योज्यम्।

इन्द्रियग्रहणमेवास्त्विति चेत्; न; तदभावेऽप्यास्रवसद्भावात् ।१६। स्यादेतत्–इन्द्रियग्रहणमेवास्तु, कुतः? लघुत्वात्–इन्द्रियैर्हि उपलभ्य विचार्य च कषायाव्रतक्रियासु प्रवर्तन्ते प्रजाः। अतः इन्द्रियवचनेनैव गतत्वात् कषायाव्रतक्रियाणामग्रहणमस्त्विति; तन्न; किं कारणम्? तदभावेऽप्यास्रवसद्भावात्। यदि हीन्द्रियग्रहणमेव स्यात् प्रमत्तस्यैव आस्रव उक्तः स्यात् नाप्रमत्तस्य। प्रमत्तो हि चक्षुरादिभिः रूपादिविषयासेवनं[4] प्रत्यादृतः रूपादीन् सेवमानोऽसेवमानो वा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभहिंसादिकारणकषायाष्टकपरिणतः हिंसादीन् कुर्वन्नकुर्वन् वा सातत्येनाविरतः प्रमत्तत्वात् कर्मादत्ते। अप्रमत्तस्तु पञ्चदशप्रमादातीतोऽपि योगकषायनिमित्तमास्रवमश्नुते। एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च यथासंभवं चक्षुरादीन्द्रियमनोविचाराभावेऽपि क्रोधादिहिंसापूर्वककर्मादानं दृश्यते। तस्मात् सर्वसंग्रहार्थं कषायादिग्रहणं क्रियते।

कषायाणां साम्परायिकभावेऽपि पर्याप्तत्वात् अग्रहणमिति चेत्; न; सन्मात्रेऽपि तत्प्रसङ्गात् ।१७। स्यान्मतम्–नाऽरक्तद्विष्टो रूपादीनर्थान् चक्षुरादिभिरुपलभते, नचाऽरक्तद्विष्टो जीवान् हिनस्ति मृषावादादिषु वा प्रवर्तते, अतः कषायग्रहणेनैव साम्परायिकास्रवस्य[6] पर्याप्तत्वात् इन्द्रियाव्रतक्रियाणामग्रहणमस्तु इति; तन्न; किं कारणम्? सन्मात्रेऽपि तत्प्रसङ्गात्। उपशान्तकषायस्य कषायसन्मात्रावस्थाने चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणात् रागद्वेषहिंसाद्यात्मलाभप्रसङ्गः। किञ्च, चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणे वीतरागत्वात्, अन्यथा यस्य चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणमात्रत्वात् रक्तद्विष्टत्वम्, तस्य वीतरागत्वाभावः। तस्मात् कषायग्रहणमात्रमयुक्तम्।

अव्रतवचनमेवेति चेत्; न; तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वात् ।१८। स्यादेतत्–अव्रतवचनमेव युक्तं तत्र[7]वेन्द्रियकषायक्रियापरिणामान्तर्भावादिति; तन्न; किं कारणम्? तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वात्। तस्य हि अव्रतस्येन्द्रियादिपरिणामाः प्रवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति ततस्तद्ग्रहणं न्याय्यम्।

आह–योगत्रयस्य एकान्नचत्वारिंशत्प्रभेदाः[8] सर्वात्मकार्यत्वात् संसारिणां सर्वेषां साधारणाः, ततः फलानुभवं प्रत्यविशेष इति? अत्रोच्यते–नैतदेवम्, यस्मात् सत्यपि प्रत्यात्मसंभवे तेषां परिणामेभ्यः अनन्तविकल्पेभ्यः विशेषोऽभ्यनुज्ञायते। कथमिति चेत्? उच्यते— ३०

## तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

अतिप्रवृद्धक्रोधादिवशात् तीवनात्तीव्रः ।१। बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामः तीवनात् स्थूलभावात् तीव्र इत्युच्यते।

तद्विपरीतो मन्दः ।२। अनुदीरणप्रत्ययसन्निधानात् उत्पद्यमानोऽनुद्रिक्तः परिणामो मन्दनात् गमनात् मन्द[10] इत्युच्यते। ३५

१ त्रिविंशतितमी क्रिया। २ क्रियाऽन्यासंर–ता०, श्र० मू०। ३–दिकी कि–मु०, द०, ब०। ४ प्रत्यावृतः मु०, द०। ५ रागद्वेषरहितः। ६ संसारकारणस्य। ७ इन्द्रियादयः पूर्वसूत्रोदिताः। ८ योगानाम्। ९ मन्दनान्मन्द मु०, द०, ब०। १० इति कथ्यते मू०।

ज्ञातमात्रं ज्ञात्वा वा प्रवृत्तेर्ज्ञातम् ।३। हिनस्मि इत्यसति परिणामे प्राणव्यपरोपणे ज्ञातमात्रं मया व्यापादित इति ज्ञातम् । अथवा 'अयं प्राणी हन्तव्यः' इति ज्ञात्वा प्रवृत्तेः ज्ञातमित्युच्यते ।

मदात्प्रमादाद्वाऽनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम् ।४। सुरादिपरिणामकृतात् करणव्यामोहकरात् मदाद्वा मनःप्रणिधानविरहलक्षणात् प्रमादाद्वा व्रज्यादिष्वनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातमिति व्यवसीयते ।

५ अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणम् ।५। अर्थाः प्रयोजनानि पुरुषाणां यत्राधिक्रियन्ते प्रस्तूयन्ते तदधिकरणम् , द्रव्यमित्यर्थः ।

द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यम् ।६। द्रव्यस्य शक्तिविशेषः सामर्थ्यं वीर्यमिति निश्चीयते ।

भावशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।७। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते तथा अयं भावशब्दः प्रत्येकं तीव्रादिभिरभिसंबध्यते–तीव्रभावः मन्दभावः ज्ञातभावः अज्ञातभाव इति ।

युगपदसंभवात् भावशब्दस्यायुक्तं विशेषणमिति चेत्; न; बुद्धिविशेषव्यापारात् ।८। स्यान्मतम्–भावो नाम द्रव्यस्य अहेयः परिणामः, तस्यैकत्वात् सदात्मख्यापनं युगपत्तीव्रादिविशेषणं चानुपपन्नम्, यथा गोत्वमेकं न खण्डमुण्डादीनां गोद्रव्याणां विशेषकं गोप्रत्ययाभिधानहेतुत्वात् तथा भावः सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वात् न तीव्रादीनां विशेषक इति; तन्न; किं कारणम् ? बुद्धिविशेषव्यापारात् । बौद्धोऽयं व्यापारः तीव्रादिपरिणामानां विशेषकः । कथम् ? भावद्वैविध्यात् । द्विविधो हि नो[1] द्रव्याणां भावः परिस्पन्दरूपः इतरश्च । तत्रापरिस्पन्दो द्रव्याणाम् अस्तित्वभावोऽनादिः । परिस्पन्दरूपस्तु व्ययोत्पादात्मक आदिमान् । तत्र[2] योऽपरिस्पन्दः स सामान्यमात्रगतो भावः नासौ तीव्रादीनां विशेषकः । यस्तु कायादिक्रियालक्षणो भावः स कायादि[3]सत्त्वस्य युगपत्तीव्रादीनां च विशेषकः कायवाङ्मनस्कर्मयोगाधिकारात्[4] । [5]सोऽयं विशेषः बौद्धाद् व्यापारात् विभाव्यते । अथवा,[6] भाववत्[7] आत्मनोऽव्यतिरेकात् तीव्रादीनामपि भावसिद्धिः ।

किञ्च, भावभूयस्त्वात् । असंख्येयलोकपरिमाणा हि भावाः एकैकस्मिन्नपि कषायादिपरिणामे,[8] ततो भावबहुत्वोपपत्तेः युगपदसंभवात् एकस्य भावस्य अयुक्तः संबन्धः इत्यवबोध्यम्[9] । [10]योऽपि त्वन्मत्याऽयं भावः एकः तथापि बौद्धाद् व्यापारात्संबन्धः सिद्धः ।

वीर्यस्यात्मपरिणामत्वात् पृथग्ग्रहणमिति चेत्; न; तद्विशेषवतो [11]व्यपरोपणादिष्वास्रवफलभेदज्ञापनार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–पृथग् वीर्यग्रहणमनर्थकम् । कुतः ? आत्मपरिणामत्वात् । जीवाधिकरणस्य हि परिणामो वीर्यमधिकरणग्रहणेनैव गृह्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? तद्विशेषवतो व्यपरोपणादिष्वास्रवादिज्ञापनार्थत्वात् । वीर्यवतो हि आत्मनः तीव्रतीव्रतरादिपरिणामविशेषो जायते ।

तथा च तीव्रादिग्रहणसिद्धिः ।१०। तेन प्रकारेण तथा आस्रवफलभेदज्ञापनेनेत्यर्थः, ३० तीव्रादीनां पृथग्ग्रहणं सिद्धं भवति । इतरथा हि जीवाधिकरणस्वरूपत्वात् तीव्रादीनां पृथग्ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

तन्निमित्तत्वाच्छरीराद्यानन्त्यसिद्धिः ।११। कार्यभेदेनावश्यं कारणभेदपूर्वकेण भवितव्यम् । उक्ताश्चानन्ता आस्रवभेदा अनुभागविकल्पात्, ततस्तत्कार्यमात्मनः शरीराद्यानन्त्यं सिद्ध्यति । कार्यानन्त्यं च कारणानन्त्यस्यानुमानम्[12] ।

---

१ अस्माकम् । २ द्वयोर्मध्ये । ३–सत्त्वस्य मु० । ४ सूत्रकाराभिप्रायमिति ज्ञापयति । ५ भावशब्दस्य द्वैविध्येऽपि परिस्पन्दरूप एवेति कुतोऽवसीयते इत्याशङ्क्य परिहरति । ६ अङ्गीकृत्याप्याह । ७ भाववचनात् मु० । ८–रिणामा हि मु०, द० । ९–ध्यते मु० । १० तथापि त्व– ता०, श्र०, मू०, द० । ११ हिंसादिषु । १२ ज्ञापकम् ।

अत्राह–अधिकरणमुक्तं तत्स्वरूपमनिर्ज्ञातम्, अतस्तदुच्यतामिति ? तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेण अधिकरणस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमिदमुच्यते–

## अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

उक्तलक्षणा जीवाऽजीवाः ।१। जीवानामजीवानां च लक्षणं व्याख्यातम्। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थम् ? ५

पुनर्वचनमधिकरणविशेषज्ञापनार्थम् ।२। पुनर्वचनं क्रियते अधिकरणविशेषज्ञापनार्थम्। जीवाऽजीवानामधिकरणं इत्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य इति। कः पुनरसौ ? हिंसाद्युपकरणभावः।

द्विवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; पर्यायाणामधिकरणत्वात् ।३। स्यादेतत्–मूलपदार्थयोर्द्वित्वात् जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवाविति द्विवचनं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? पर्यायाणामधिकरणत्वात्। न जीवाजीवसामान्यमधिकरणत्वं बिभर्ति। किं तर्हि ? पर्यायाः। येन केनचित् १० पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यम् अधिकरणमित्याख्यायते। ततो बहुवचनं न्यायप्राप्तम्।

जीवाजीवाधिकरणमित्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; न; वृत्तिद्वयेऽप्यभिप्रेतार्थगत्यभावात् ।४। स्यादेतत्–'जीवाजीवाधिकरणम्' इत्येतत्सूत्रमस्तु, कुतः ? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? वृत्तिद्वयेऽप्यभिप्रेतार्थगत्यभावात्। अत्र द्वितयी वृत्तिः स्यात्–जीवाजीवावेवाधिकरणम्, जीवाजीवयोर्वाऽधिकरणं जीवाजीवाधिकरणमिति ? न तावत् सामानाधिकरण्यलक्षणा वृत्तिरुपपद्यते; जीवा- १५ जीवत्वविशेषणविशिष्टाधिकरणमात्रप्रतिपत्तेः आस्रवविशेषज्ञापनाभावात् अभिप्रेतार्थगत्यभावः। नापि भिन्नाधिकरणा वृत्तिः युज्यते; तयोराधारमात्रप्रतिपत्तेः अभिप्रेतास्रवविशेषार्थगत्यभाव इति। न च तयोरधिकरणं व्यतिरिक्तमुपलभ्यते, तस्मादस्तु तयोराद्य एव पाठः। अथ जीवाजीवाधिकरणं कस्य ? आस्रवः प्रकृतः, तस्येत्यभिसंबध्यते। स तर्हि तथा[1] निर्देशः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः।

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामोपपत्तेरास्रवस्येत्यभिसंबन्धः ।५। यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि २० आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवति, एवमिहाप्यधिकरणं जीवाजीवौ कस्य ? आस्रवस्येत्यभिसंबन्धोऽर्थवशाद्वेदितव्यः। तदुभयमधिकरणं दशप्रकारम्–विषलवणक्षारकटुकाम्लस्नेहाग्नि-दुष्प्रयुक्तकायवाङ्मनोयोगभेदात्।

किमेतावानेव भेदः, आहोस्वित् कश्चिदन्योऽप्यस्ति ? अस्तीति। आह–यद्येवम्, आद्यस्यैव तावद्भेदः कथ्यतामिति ? अत्रोच्यते– २५

## आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

आद्याऽग्रहणं सामर्थ्यात् सिद्धेरिति चेत्; न; विस्पष्टार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्–आद्यग्रहणमनर्थकम्। कुतः ? सामर्थ्यात् सिद्धेः। किं पुनः सामर्थ्यम् ? वक्ष्यमाणानन्तरसूत्रे 'पर' वचनम्, तेनाद्यमिदं विज्ञायत इति; तन्न; किं कारणम् ? विस्पष्टार्थत्वात्। आनुमानिके हि सति ३० संप्रत्येयप्रतिपत्तेर्गौरवं स्यात्।

प्रयत्नावेशः संरम्भः ।२। प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरम्भ इत्युच्यते।

साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः ।३। साध्यायाः क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समाहारः समारम्भ इत्याख्यायते।

---

1 प्रथमाविभक्तिरूपेण।

**प्रक्रमः आरम्भः** ।४। प्रशब्दस्यादिकर्मणि प्रवृत्तेः आदौ क्रमः प्रक्रमः आरम्भ इति विज्ञायते । [1]आङः आदिकर्मणो द्योतनत्वात् ।

**तत्त्वकथनात् सर्वे भावसाधनाः** ।५। संरम्भणं संरम्भः, समारम्भणं समारम्भः, आरम्भणमारम्भ इति ।

**व्याख्यातार्थो योगशब्दः** ।६। योगशब्दस्यार्थो व्याख्यातः "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [६।१] इति ।

**कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम्** ।७। [2]स्वातन्त्र्यविशिष्टेनात्मना यत्प्रादुर्भावितं तत्कृतमित्युच्यते ।

**कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम्** ।८। परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितमिति कथ्यते ।

**अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः** ।९। यथा मौनव्रतिकश्चक्षुष्मान् पश्यन् क्रियमाणस्य कार्यस्याप्रतिषेधात् अभ्युपगमात् अनुमन्ता, तथा कारयिता प्रयोक्तृत्वात्, तत्समर्थाचरणावहितमनःपरिणामः अनुमन्तेत्यवगम्यते ।

**अभिहितलक्षणाः कषायाः** ।१०। कषायाणां लक्षणमभिहितम्–कषन्त्यात्मानम् अतः कषाया इति ।

**विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः** ।११। विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः । अथवा, विशिष्टिर्वा विशेषः ।

**तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः** ।१२। स विशेषशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते–संरम्भविशेषः समारम्भविशेष इत्यादि ।

**विशेषैरिति निर्देशानुपपत्तिः क्रियापदाभावात्** ।१३। यथा देवदत्तेन भुक्तं पाणिना कृतमिति क्रियापदप्रयोगे सति कर्तृकरणनिर्देश उपपद्यते न तथेह क्रियापदमस्तीति विशेषैरिति निर्देशो नोपपद्यते ?

**न वा, वाक्यशेषापेक्षत्वात्** ।१४। नैष दोषः । किं कारणम् ? वाक्यशेषापेक्षत्वात् क्रियापदमत्रोपस्क्रियते–संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैः 'भिद्यते' इति । अप्रयुक्तक्रियापेक्षा हि कारकविवक्षा दृश्यते–शङ्कुलया[3] खण्डः, प्रविशपिण्डीमिति यथा ।

**अधिकृताभिसंबन्धाद्वा** ।१५। अथवा, अधिकृतो भेदशब्दः 'पूर्वस्य भेदाः' इति, अतः स इहाभिसंबध्यत इति तदपेक्षः कारकनिर्देशो वेदितव्यः ।

**त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुरिति सुजन्तानां यथाक्रममभिसंबन्धः** ।१६। एते त्रयस्त्रिशब्दाश्चतुःशब्दश्च संरम्भादिभिः यथाक्रममभिसंबध्यन्ते सुजन्ताः, संरम्भसमारम्भारम्भास्त्रयः योगास्त्रयः कृतकारितानुमतास्त्रयः कषायाश्चत्वार इत्येतेषां गणनाभ्यावृत्तिः सुचा द्योत्यते ।

**एकश इति वीप्सार्थनिर्देशः** ।१७। एकशब्दः वीप्सार्थद्योतनः "संख्यैकाद्वीप्सायाम्" [जैनेन्द्र० ४।२।४८] इति शस् । एकमेकं त्र्यादीन् भेदान्नयेदित्यर्थः ।

**संरम्भादित्रयस्यादौ वचनं वस्तुत्वात्** ।१८। संरम्भादित्रयमिदं वस्तु तद्भेदहेतुत्वात् इतरेषाम्, अतोऽस्यादौ वचनं क्रियते ।

---

१ अपादानतापत्तस्य । २ कृत इति । ३ शङ्कुलया कृतः खण्डः, तृतीया तत्कृतैरिति समासः ।

योगादीनामानुपूर्व्यवचनं पूर्वापरविशेषणत्वात् ।१९। योगादीनामानुपूर्व्यवचनं क्रियते। कुतः ? पूर्वापरविशेषणत्वात्। तस्मात् क्रोधादिचतुष्टयकृतकारितानुमतभेदात् कायादियोगानां संरम्भसमारम्भारम्भाः विशेष्याः प्रत्येकं षट्त्रिंशद्विकल्पाः। तत्र संरम्भस्तावत्-क्रोधकृतकायसंरम्भः मानकृतकायसंरम्भः मायाकृतकायसंरम्भः लोभकृतकायसंरम्भः, क्रोधकारितकायसंरम्भः मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः लोभकारितकायसंरम्भः, क्रोधानुमतकायसंरम्भः मानानुमतकायसंरम्भः मायानुमतकायसंरम्भः लोभानुमतकायसंरम्भश्चेति द्वादशधा संरम्भः। क्रोधकृतकायसमारम्भः मानकृतकायसमारम्भः मायाकृतकायसमारम्भः लोभकृतकायसमारम्भः, क्रोधकारितकायसमारम्भः मानकारितकायसमारम्भः मायाकारितकायसमारम्भः लोभकारितकायसमारम्भः, क्रोधानुमतकायसमारम्भः मानानुमतकायसमारम्भः मायानुमतकायसमारम्भः लोभानुमतकायसमारम्भश्चेत्येवं समारम्भोऽपि द्वादशधा। क्रोधकृतकायारम्भः मानकृतकायारम्भः मायाकृतकायारम्भः लोभकृतकायारम्भः, क्रोधकारितकायारम्भः मानकारितकायारम्भः मायाकारितकायारम्भः लोभकारितकायारम्भः, क्रोधानुमतकायारम्भः मानानुमतकायारम्भः मायानुमतकायारम्भः लोभानुमतकायारम्भश्चेत्येवमारम्भोऽपि द्वादशधा। एते संपिण्डिताः कायविकल्पाः षट्त्रिंशत्। उक्तं च—

"संरम्भो द्वादशधा क्रोधादिकृतादिकायसंयोगात्।
आरम्भसमारम्भौ तथैव भेदास्तु षट्त्रिंशत् ॥१॥" [ ] इति।

तथा वाङ्मनसयोरपि[1] प्रत्येकं षट्त्रिंशत्। त एते संपिण्डिताः जीवाधिकरणास्रवभेदाः अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति।

चशब्दः क्रोधादिविशेषोपसंग्रहार्थः ।२०। चशब्दः क्रियते क्रोधादीनां विशेषाणाम् उपसंग्रहार्थम्। तेन अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनषोडशकषायभेदात् द्वात्रिंशदुत्तरचतुःशतगणनाविकल्पा वेदितव्याः। कथमेषामास्रवत्वमिति चेत् ? उच्यते—

संरम्भादीनां क्रोधाद्याविष्टपुरुषकर्तृकाणां तदनुरञ्जनादधिकरणभावो नीलीपटवत् ।२१। यथा नील्यां प्रक्षिप्तः पटः नील्यनुरञ्जनान्नीली भवति तथा संरम्भादिक्रियाणामनन्तानुबन्ध्यादिकषायाविष्टानामनुरञ्जनाज्जीवाधिकरणत्वं सिद्धम्।

निरूपितविकल्पादाद्यादधिकरणाद्विलक्षणस्य[2] साम्परायिकनिमित्तविरुद्धदोषस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

# निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

निर्वर्त्तनादीनां कर्मसाधनं भावो वा ।१। एते निर्वर्तनादयः शब्दाः कर्मसाधना वेदितव्याः- निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना, निक्षिप्यत इति निक्षेपः, संयुज्यतेऽसौ संयोगः, निसृज्यतेऽसौ निसर्ग इति। अथवा भावसाधनाः-निर्वर्तनं निर्वर्तना, निक्षिप्तिर्निक्षेपः, संयुक्तिः संयोगः, निसृष्टिर्निसर्ग इति।

सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वाऽधिकरणसंबन्धः ।२। अधिकरणशब्दोऽनुवर्तते, तस्येह सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वाभिसंबन्धो द्रष्टव्यः। यदा कर्मसाधना एते शब्दास्तदा सामानाधिकरण्येन संबन्धः कर्त्तव्यः-निर्वर्तनैव अधिकरणमित्यादि। यदा तु भावसाधनास्तदा वैयधिकरण्येन, निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गलक्षणा भावाः परमधिकरणं विशिषन्तीति अभ्याहिय-

१ वाङ्मानस-मु०। २ पुद्गलाधिकरणस्य।

माणक्रियापदापेक्षया कर्मनिर्देशः[1]। निर्वर्तना निष्पादना, निक्षेपः स्थापना, संयोगो [2]मिश्रीभावः, निसर्गः प्रवर्तनम्।

द्विचतुर्द्वित्रिभेदा इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।३। द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च द्विचतुर्द्वित्रयः, ते भेदाः एषां ते द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः इति द्वन्द्वगर्भोऽन्यपदार्थ[3]निर्देशः प्रत्येतव्यः।

५ परवचनमनर्थकं पूर्वत्राद्यवचनात् ।४। परवचनमनर्थकम्। कुतः ? पूर्वत्राद्यवचनात्।

अस्मिन् सति पूर्वत्राद्यवचनमनर्थकम् अर्थापत्तिसिद्धेः ।५। अस्मिन् परवचने सति पूर्वस्मिन् सूत्रे आद्यवचनमनर्थकम्। कुतः ? [4]अर्थापत्तिसिद्धेः।

अर्थापत्तिरनैकान्तिकीति चेत्; न; प्रयासमात्रत्वात् ।६। स्यादेतत्–अर्थापत्तिरनैकान्तिकी दृष्टा, यथा हि असति मेघे वृष्टिर्नास्तीत्युक्ते अर्थादापन्नं सति मेघे वृष्टिरस्तीति, सत्यपि मेघे

१० कदाचिद्वृष्टिर्नास्तीत्यर्थापत्तिरनैकान्तिकीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रयासमात्रत्वात्। प्रयासमात्रमेतत्–अर्थापत्तिरनैकान्तिकीति। 'अहिंसा धर्मः' इत्युक्ते अर्थापत्त्या 'हिंसा अधर्मः' इति न न सिद्ध्यति ? सिद्ध्यत्येव। असति मेघे न वृष्टिरित्युक्ते सति मेघे वृष्टिरित्यत्रापि सत्येवं[5] मेघे इति नास्ति दोषः।

असंबन्धार्थत्वादिति चेत्; न; निवर्त्याभावात् ।७। स्यादेतत्–असति परशब्दे असंबन्धार्थमिदं[6] स्यात्, ततः संबन्धार्थं परशब्दोपादानमिति; तन्न; किं कारणम् ? निवर्त्याभावात्।

१५ किमन्यन्निवर्त्यमस्ति येनेदमसंबन्धः स्यात् ? ननु संरम्भादिकं जीवाधिकरणं निवर्त्यमस्ति; न; तस्य [7]संबन्धत्वादाद्यं जीवाधिकरणं संरम्भादिविशिष्टमिति। ततः परिशेषात् अजीवाधिकरणमेवेदमिति व्यर्थं परवचनम्।

एतेन प्रकृष्टवाचित्वं प्रत्युक्तम् ।८। केन ? निवर्त्याभावात् इत्यनेन। न हि निकृष्टं [8]जीवाधिकरणं यत्प्रकृष्टेनाऽजीवाधिकरणेन निवर्त्येत इति।

२० इष्टवाचित्वमिति चेत्; न; अत एव ।९। स्यादेतत्–इष्टवाची परशब्द इति, यथा परं धाम गत इति इष्टं धाम गत इति; तन्न; किं कारणम् ? अत एव। कुत एव ? निवर्त्याभावात् इति,[10] एवं किमनिष्टं यस्मिन् सति निवर्त्ये इष्टवाची परशब्दोऽर्थवान् स्यात् ?

[11]न वा अन्यार्थत्वात् ।१०। न वाऽनर्थकः। कुतः ? अन्यार्थत्वात्। परशब्दोऽयमन्यार्थः, संरम्भादिभ्योऽन्यत् निर्वर्तनादीत्यर्थः। इतरथा हि निर्वर्तनादीनामप्यात्मपरिणामसद्भावाज्जीवा-

२५ धिकरणविकल्प एवेति विज्ञायेत। अथवा, उक्तमेतत्–विस्पष्टार्थत्वादिति।

इष्टार्थसंप्रत्ययाद्वा ।११। अथवा [12]इष्टार्थोऽनेन[13] परशब्देन[14] संप्रत्याय्यते। कः पुनरिष्टार्थ इति चेत् ? उच्यते–

निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलोत्तरभेदात् ।१२। अजीवाधिकरणं निर्वर्तनालक्षणं द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः ? मूलोत्तरभेदात्। मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणम् उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति।

३० तत्र मूलं पञ्चविधानि शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च। [15]उत्तरं काष्ठपुस्तचित्रकर्मादि।

निक्षेपश्चतुर्धा अप्रत्यवेक्षादुष्प्रमार्जनसहसाऽनाभोगभेदात् ।१३। निक्षेपश्चतुर्धा भिद्यते। कुतः ? अप्रत्यवेक्षादुष्प्रमार्जनसहसाऽनाभोगभेदात्–अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणम् [16]अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति।

---

१ परमिति। २ मिश्रभावः मु०, द०, ब०। ३–र्थः प्र–मु०, द०, ब०। ४ सामर्थ्यं। ५ वृष्टिकाले सत्येव मेघे वृष्टिर्भवति। ६ सूत्रम्। ७ सम्बन्धत्वं कथमित्यत आह। ८ तत्। ९ सूत्रकारस्योभावपि जीवपुद्गलौ प्रकृष्टाविति भावः। १० इत्येव कि–मु०, ब०। ११ अत्राह आचार्यः। १२–र्थः तेन मु०। १३ व्यर्थेनापि। १४ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूचयन्त्याचार्यस्येति न्यायात्। १५ पृथग्विक्रियारूपम्। १६ आभोगः परिपूर्णता, तदभावः असम्पूर्णन्यासाधिकरणमित्यर्थः।

संयोगो द्विधा भक्तपानोपकरणभेदात् ।१४। संयोगो द्विधा विभज्यते । कुतः ? भक्तपानोपकरणभेदात्–भक्तपानसंयोगाधिकरणम् उपकरणसंयोगाधिकरणं चेति ।

निसर्गस्त्रिधा कायादिभेदात् ।१५। निसर्गस्त्रिधा कल्प्यते । कुतः ? कायादिभेदात् । कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति ।

आह–योऽयम् आहितत्रैविध्यानन्तपर्यायः कायवाङ्मनसां परिणामः आस्रवशब्दाभिलाप्यः, किमसौ सकलसाम्परायिकावर्जनहेतुरैकध्येन[1] प्रणिधीयमानः ? नेत्युच्यते, कश्चित् कस्यचित् कुतश्चित् कायिकादिव्यापाराविशेषे सति यस्मान्नियमेनैव– ५

## तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

ज्ञानकीर्तनानन्तरमनभिव्याहरतोऽन्तः पैशुन्यं प्रदोषः ।१। मत्यादिज्ञानपञ्चकस्य मोक्षप्रापणं प्रति मूलसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचित् अनभिव्याहरतः अन्तःपैशुन्यपरिणामो यो भवति स प्रदोष इति कथ्यते । १०

पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः ।२। यत्किञ्चित् परनिमित्तमभिसन्धाय नास्ति[2] न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं वञ्चनं निह्नव इत्युच्यते ।

यावद्यथावद्देयज्ञानाप्रदानं मात्सर्यम् ।३। कुतश्चित् कारणात् आत्मना भावितज्ञानं दानार्हमपि योग्याय यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् । १५

ज्ञानव्यवच्छेदकरणम् अन्तरायः ।४। कलुषेणात्मना ज्ञानस्य व्यवच्छेदकरणमन्तराय इति भण्यते ।

वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम् ।५। कायेन वाचा च परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनमासादनं वेदितव्यम् । २०

प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः ।६। स्वमतेः कलुषभावाद् युक्तस्याप्ययुक्तवत्प्रतीतेः दोषोद्भावनं दूषणमुपघात इति विज्ञायते ।

आसादनमेवेति चेत्; न; सतो विनयाद्यननुष्ठानात् ।७। स्यादेतत्–एवं सति उपघात आसादनमेव [3]प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? सतो विनयाद्यननुष्ठानात् । सतो हि ज्ञानस्य विनयप्रकाशनादिगुणकीर्तनाननुष्ठानमासादनम्, उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्राय इत्ययमनयोर्भेदः । तदित्यनेन किं प्रतिनिर्दिश्यते ? २५

तदिति ज्ञानदर्शनप्रतिनिर्देशः ।८। तदित्यनेन ज्ञानदर्शने प्रतिनिर्दिश्येते, तयोः प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताः तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता इति । कथं पुनरप्रकृतयोरशब्दितयोः[4] तदित्यनेन परामर्शः स्यात् ?

सामर्थ्यात्तदभिसंबन्धः ।९। सामर्थ्यात्तयोर्ज्ञानदर्शनयोः अभिसंबन्धो भवति । किं सामर्थ्यम् ? ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रव इति वचनसामर्थ्यात्तत्प्रदोषादय इति संबन्धः क्रियते । अथ ज्ञानदर्शनवत्सु तत्साधनेषु च का[5] प्रतिपत्तिः ? तद्वत्साधनप्रदोषादयश्च[6] तत्प्रदोषादिग्रहणेनैव गृह्यन्ते तन्निमित्तत्वात् । ३०

---

१ एकप्रकारत्वेन । २ ज्ञातमप्यर्थम् । ३ प्राप्नोति तन्न मु०, द० । ४ अशब्दितयोः अनुक्तयोः । असंशब्दित–मु०, द०, मू०, ता०, व० । ५ उभयत्रापि तत्प्रदोषादयो भवन्तीति । ६ तद्वत्सु साधनेषु च प्रदोषादयः ते तथोक्ताः ।

तुल्यास्रवत्वादेकत्वमिति चेत्; न; वचनविरोधात् ।१०। स्यान्मतम्–तुल्यास्रवत्वादनयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्य[2]कारणानां हि लोके एकत्वं दृष्टमिति; तन्न; किं कारणम्? वचनविरोधात्। यदि तुल्यास्रवत्वात् ज्ञानदर्शनावरणयोरेकत्वं ननु कण्ठादिसंयोगविभागतुल्यहेतुत्वात् वचनस्य साधकदूषकत्वाविशेषे [3]यत्रापदिष्टस्तत्राऽसाधकत्वाद्वचनविरोधः। अथ तुल्यहेतुत्वेऽपि वचनं
५ स्वपक्षस्य साधकमेव परपक्षस्य दूषकमेवेति न साधकदूषकधर्मयोरेकत्वमिति मतम्; ननु यदुक्तं तुल्यहेतुत्वादेकत्वमिति तद्धीनम्।

दृष्टागमव्याघातात् ।११। दृष्टागमव्याघाताच्च नैतद्युक्तम्। यस्य तुल्यहेतुकानामेकत्वं तस्य मृत्पिण्डादितुल्यहेतुकानां घटशरावादीनां नानात्वं व्याहन्यत इति दृष्टव्याघातः। [4]प्रधानतुल्यनिमित्तानां महदहङ्कारादीनाम्, [5]अविद्यातुल्यप्रत्ययानां पुण्यापुण्यानेञ्ज्यसंस्काराणाम्, [6]चतुष्टय-
१० सन्निकर्षाऽविशिष्टकारणरूपादिज्ञानसुखदुःखादीनां चैकत्वमित्यागमव्याघातः।

आवरणाभावे साहचर्यात् ।१२। आवरणात्यन्तसंक्षये केवलिनि युगपत् केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यं भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्। ततश्चानयोस्तुल्यास्रवत्वं युक्तम्।

इतरत्र क्रमवृत्तिर्जलसमवेताग्निप्रतापप्रदीपप्रकाशवत् ।१३। इतरस्मिन् सावरणे ज्ञानदर्शनयोः क्रमेण वृत्तिः, यथा जलसमवायिनोऽग्नेः प्रताप एव न प्रकाशः, प्रदीपप्रकाशस्य च
१५ प्रकाश एव न प्रतापः, तथा छद्मस्थस्य यदा ज्ञानोपयोगः न तदा दर्शनोपयोगः यदा दर्शनोपयोगः न तदा ज्ञानोपयोगः।

अतीतानागतयोर्दर्शनाभावस्तल्लक्षणाभावादिति चेत्; न; निरावरणत्वात् ।१४। स्यान्मतम्–नास्त्यतीतेऽनागते च दर्शनम्, कुतः? तल्लक्षणाभावात्। अस्पृष्टेऽविषये च ज्ञानमुत्पद्यते स्पृष्टे विषये च दर्शनम्, न ह्यतीतानागतयोः विनष्टानुत्पन्नत्वे सत्यसत्त्वात् स्पृष्टत्वविषयत्वे स्त इति
२० तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतदर्शित्वमयुक्तम्? तन्न; किं कारणम्? निरावरणत्वात्। यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः, तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्याऽचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञानं तत्रावश्यं दर्शनं यत्र च दर्शनं तत्र च ज्ञानम्। किञ्च,

[7]तद्वत्प्रवृत्तेः ।१५। यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो
२५ हीयते? किञ्च,

विकल्पात् ।१६। यथा ह्यस्पृष्टेऽविषये च [8]सावरणस्योपदेशाभावे न ज्ञानमस्तीति केवलिनोऽपि किं तद्वद्भवति? तथा सावरणस्य विषये स्पष्टे च दर्शनप्रवृत्तेः न केवलिनस्तद्वद्भविष्यति इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनम्। भवतु तावन्निरावरणत्वात् केवलिनोऽतीतानागतयोर्दर्शनप्रवृत्तिः अवधिज्ञानिनः सावरणस्य कथं दर्शनमिति? अत्रोच्यते–

३० करणनिरपेक्षक्षयोपशमशक्तिविशेषयोगादवधिज्ञानिनः ।१७। यद्यप्यवधिज्ञानिन आवरणमस्ति तथाप्यवधिदर्शनावरणक्षयोपशमविशेषस्य करणनिरपेक्षत्वात् केवलदर्शनवत् अनुपदेशापूर्वकप्रवृत्तेः अतीतानागतयोरस्पृष्टाविषयत्वेऽपि अवधिदर्शनं प्रवर्तते।

मनःपर्यय[9]दर्शनमप्यस्त्विति चेत्; न; कारणाभावात् ।१८। यथा अवधिज्ञानं दर्शनपूर्वकं तथा मनःपर्ययज्ञानेनापि दर्शनपुरस्सरेण भवितव्यमिति चेत्; तन्न; किं कारणम्?

---

१ यः समयस्थः सन् ब्रूते तस्य आप्तवचनोल्लङ्घनत्वात् वचनविरोधः। यः परः सन् ब्रूते तस्य स्वसमयविरोधात् वचनविरोधः। २ शालिबीजकारणमङ्कुरं शाल्यङ्कुरमित्यादि। ३ यत्रोपदि–मु०, श्र०। ४ सांख्यमते–स०। ५ बौद्धमते। ६ नैयायिकमते। ७ तद्वद्वृत्तेः–मु०, ब०। ८ संसारिणः। ९–यज्ञानदर्श–ता०, श्र०, मू०, ज०।

कारणाभावात्। न मनःपर्ययदर्शनावरणमस्ति दर्शनावरणचतुष्टयोपदेशात्, तदभावात् तत्क्षयोपशमाभावे तन्निमित्तमनःपर्ययदर्शनोपयोगाभावः। किञ्च,

परकीयमनःप्रणालिकया तदधिगमात् ।१९। मनःपर्ययज्ञानं स्वविषये अवधिज्ञानवत् न स्वमुखेन वर्तते। कथं तर्हि? परकीयमनःप्रणालिकया। ततो यथा मनोऽतीतानागतानर्थांश्चिन्तयति न तु पश्यति तथा मनःपर्ययज्ञान्यपि भूतभविष्यन्तौ वेत्ति न पश्यति। वर्तमानमपि मनो [1]विषयविशेषाकारेणैव प्रतिपद्यते, ततः सामान्यपूर्वकवृत्त्यभावात् मनःपर्ययदर्शनाभावः, अलमतिप्रसङ्गिन्या कथया। प्रकृतं प्रस्तूयते—　५

भिन्नास्रवत्वं वा प्रदोषादीनां विषयभेदाद्भेदसिद्धेः ।२०। अथवा, भिन्नास्रवत्वं ज्ञानदर्शनावरणयोर्वेदितव्यम्। कुतः? प्रदोषादीनां विषयभेदाद्भेदसिद्धेः। ज्ञानविषया हि प्रदोषादयो ज्ञानावरणस्यास्रवाः, दर्शनविषयाश्च दर्शनावरणस्येति। अपि च, आचार्योपाध्यायप्रत्यनीकत्व-अकालाध्ययन-श्रद्धाऽभाव-अभ्यासालस्य-अनादरार्थश्रवण-ती[2]र्थोपरोध-बहुश्रुतगर्व-मिथ्योपदेश-बहुश्रुतावमान-स्वपक्षपरिग्रहपण्डितत्व-स्वपक्षपरित्याग-अबद्धप्रलाप-उत्सूत्रवाद-साध्यपूर्वकज्ञानाधिगम-शास्त्रविक्रय-प्राणातिपातादयः ज्ञानावरणस्यास्रवाः। दर्शनमात्सर्याऽन्तराय-नेत्रोत्पाटनेन्द्रियप्रत्यनीकत्व-दृष्टिगौरव-आयतस्वापिता-दिवाशयनालस्य-नास्तिक्यपरिग्रह-सम्यग्दृष्टिसंदूषण-कुतीर्थप्रशंसा-प्राणव्यपरोपण-यतिजनजुगुप्सादयो दर्शनावरणस्यास्रवाः, इत्यस्ति आस्रवभेदः।　१० १५

यथा अनयोः कर्मप्रकृत्योरास्रवभेदस्तथा—

## दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानि असद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् ।१। विरोधिद्रव्योपनिपाताभिलषितवियोगाऽनिष्टनिष्ठुरश्रवणादिबाह्यसाधनापेक्षात् असद्वेद्योदयादुत्पद्यमानः पीडालक्षणः परिणामो दुःखमित्याख्यायते।　२०

अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः ।२। अनुग्राहकस्य बान्धवादेः संबन्धविच्छेदे तद्गताशयस्य चिन्ताखेदलक्षणः परिणामो वैक्लव्यविशेषो मोहकर्मविशेषशोकोदयापेक्षः शोक इत्युच्यते।

परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः ।३। परिवादः परिभवः, परुषवचनश्रवणादिनिमित्तापेक्षया कलुषान्तःकरणस्य तीव्रानुशयः परिणामः ताप इत्यभिधीयते।　२५

परितापजाश्रुपातप्रचुरविला[3]पाद्यभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रन्दनम् ।४। परितापनिमित्तेनाश्रुपातप्रचुरविलापेनाङ्गविकारादिना चाभिव्यक्तं[4] क्रन्दनमाक्रन्दनं प्रत्येतव्यम्।

आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः ।५। भवधारणकारणस्यायुषः रूपादिग्रहणनिमित्तानाम् इन्द्रियाणां कायादिवर्गणालम्बनबलस्योच्छ्वासनिःश्वासलक्षणस्य च प्राणस्य परस्परतो वियोगकरणं वध इत्यवधार्यते।　३०

संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रायं परिदेवनम् ।६। संक्लेशपरिणामालम्बनं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयम् अनुकम्पाप्रचुरं परिदेवनमिति परिभाष्यते।

---

१-विषये वि-मु०, द०, ब०। २ दिव्यध्वनिकाले स्वयं व्याख्यानम्। ३-पादिभि-श्र०। ४-क्तं क्रन्दनं प्रत्ये-श्र०, ता०, मू०, द०।

दुःखजातीयत्वात् सर्वेषां पृथगवचनमिति चेत्; न; कतिपयविशेषसंबन्धेन तज्जात्याख्यानात् ।७। स्यान्मतम्–शोकादयो हि सर्वे दुःखजातीयाः ततो दुःखग्रहणादेव सिद्धे पृथगेषां वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? कतिपयविशेषसंबन्धेन तज्जात्याख्यानात् । यथा गौरित्युक्ते अनिर्ज्ञातविशेषे तत्प्रतिपादनार्थं खण्डमुण्डशुक्लकृष्णाद्युपादानं क्रियते, तथा दुःखविपयास्रवाऽसंख्येयलोकभेदसंभवात् दुःखमित्युक्ते विशेषानिर्ज्ञानात् कतिपयविशेषनिदर्शनेन तद्विवेकप्रतिपत्तिः कथं स्यादिति शोकाद्युपादानं क्रियते । एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षणं च प्रपञ्चश्चेति ।

कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेश्च ।८। यथा मृत्पिण्डघटकपालादीनां मूर्तिमद्रूपद्रव्यार्थादेशात् स्यादनन्यत्वम्, प्रतिनियतसंस्थानादिपर्यायादेशात् स्यादन्यत्वम्, तथा दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानामप्रीतिसामान्यादेशात् स्याद्दुःखपरिणामादनन्यत्वम्, प्रत्यर्थनियतहेतुभेदाहितविशेषदुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनपर्यायादेशात् स्यादन्यत्वम् ।

दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः ।९। दुःखादीनां शब्दानां कर्त्रादिसाधनत्वमवसेयम् । कुतः ? पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः । यदा पर्यायिपर्याययोरभेदविवक्षा तदा तप्तायःपिण्डवत्तत्परिणामादात्मैव दुःखयतीति कर्तृसाधनत्वम् । यदा पर्यायिपर्याययोर्भेदविवक्षा तदा दुखयत्यनेनास्मिन्निति वा दुःखमिति करणादिसाधनत्वम् । वस्तुस्वरूपमात्रकथनात् दुःखनं दुःखमिति भावसाधनत्वं वा । एवं शोकादिष्वपि योज्यम् ।

तदेकान्तावधारणेऽनुपपन्नम् अन्यतरैकान्तसंग्रहात् ।१०। कर्त्रादिसाधनत्वं दुःखादीनामेकान्तावधारणेऽनुपपन्नम् ? कुतः अन्यतरैकान्तसंग्रहात् । पर्यायमात्रत्वे तावदसत्यात्मनि विज्ञानादीनां करणादिसाधनत्वमयुक्तं कर्तुरभावात् । स्वातन्त्र्यशक्तिविशिष्टार्थापेक्षाणि हि शेषकारकाणि[2] तदभावादभावमास्कन्देयुः । कर्तृसाधनत्वमपि–चायुक्तम्[3], करणादिसाचिव्यव्यपेक्षाभावात् । न च तेषां विज्ञानादीनां परस्परं प्रति साचिव्यमस्ति युगपदुपजायमानत्वात् सव्येतरगोविषाणवत् । नाप्यतीतानागतानां वर्तमानं प्रति सहायभावोऽस्ति असत्त्वाद् वन्ध्यापुत्रवत् । क्षणिकत्वाच्च पूर्वानुभूतस्मरणाभावात् शोकादिपरिणामाऽभावः । पूर्वानुभूतं हि अर्थं विनष्टं चिन्तयतः शोकादयो भवन्ति । न च क्षणिकवादे स्मरणमस्ति, तदभावाच्छोकाद्यभावः । सन्तानादिति चेत्; न; तदभावादित्युक्तत्वात् । भावसाधनत्वमपि नोपपत्तिक्षमम्, भाववन्तमन्तरेण भावस्य वृत्त्यभावात् ।

द्रव्यमात्रत्वे च क्रियागुणविरहात् पुरुषस्य निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वं च दधानस्य सुखदुःखादिपरिणामप्राप्तिं प्रति कर्तृत्वाभावः । तदभावात् करणादीनामप्यभावः । अथ कर्त्रादिसाधनभावः कल्प्यते; न तर्हि निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वं चात्मनोऽवतिष्ठते ।

तथा अचेतनस्यापि[4] दुःखादिपरिणामं प्रति कर्तृभावोऽनुपपन्नः, दुःखादीनां घटादिष्वचेतनेष्वदर्शनात् । यद्यचेतनस्यापि दुःखादयोऽभ्युपगम्येरन्; चेतनाचेतनयोरविशेषः स्यात् । [5]निष्क्रियत्वेऽप्यधर्मनिमित्ताः पुरुषस्य दुःखादय इति चेत्; न; निष्क्रियस्य धर्माधर्मोपार्जनविध्यभावात् तत्फलानुभवनाभावाच्च ।

तान्यात्मपरोभयस्थानि क्रोधाद्यावेशात् ।११। तानि दुःखादीनि क्रोधाद्यावेशात् आत्मपरोभयस्थानि भवन्ति । तद्यथा, यदा क्रोधाद्याविष्ट आत्मा स्वस्मिन् दुःखादीन्युत्पादयति तदा

---

१ कर्तृत्वसाध–मु०, अ०, मू०, ता० । २ चक्रचीवरादीनि । ३–वायुक्तं करणादिसाधय्य–मु०, द० । ४ प्रधानस्यापि । ५ नैयायिकः ।

आत्मस्थानि भवन्ति। यदा पुनरीश्वरः कषायवशात् परस्य दुःखादीनि जनयति तदा परस्थानि भवन्ति। यदा तूत्तमर्णादयः अधमर्णादिनिरोधे वर्तमानाः तज्जनितानि क्षुत्पिपासादीनवाप्नुवन्ति तदोभयस्थानि।

विद्यादीनामवगमनाद्यर्थत्वादनिर्देश इति चेत्; न; विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात्।१२। स्यान्मतम्–इमे चत्वारो विदयः विदविद्लृविन्तिविद्यतयः अवगमनलाभविचारसद्भावार्थाः, एतेषां कस्यचिदपि संग्रहे अभिप्रेतस्यार्थस्याऽगतेरनिर्देश इति; तन्न; किं कारणम्? विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात्। विदेः चुरादिण्यन्तस्य चेतनार्थस्येदं वेद्यमिति। ५

तदसद्वेद्यमप्रशस्तत्वात्।१३। तद्वेद्यमसदिति विशेष्यते। कुतः? अप्रशस्तत्वात्। अनिष्टफलप्रादुर्भावकरणत्वादप्रशस्तमित्याख्यायते।

दुःखाभिधानमादौ प्रधानत्वात्।१४। दुःखग्रहणमादौ क्रियते। कुतः? प्रधानत्वात्। कुतः पुनरस्य प्राधान्यम्? तद्विकल्पत्वात् [2]इतरेषाम्। किमेतावन्त एव विकल्पाः? नेत्याह– १०

शोकादिग्रहणस्य विकल्पोपलक्षणत्वादन्यसंग्रहः।१५। इमे शोकादयः दुःखविकल्पा दुःखविकल्पानामुपलक्षणार्थमुपादीयन्ते, ततोऽन्येषामपि संग्रहो भवति। के पुनस्ते? अशुभप्रयोग-परपरिवाद-पैशुन्य-अनुकम्पाऽभाव-परपरितापनाऽङ्गोपाङ्गच्छेदन-भेदन-ताडन-त्रासन-तर्जन-भर्त्सन-तक्षण-विशंसन-बन्धन-रोधन-मर्दन-दमन-वाहन-विहेडन-ह्रेपण-कायरौक्ष्य-परनिन्दात्मप्रशंसा-संक्लेशप्रादुर्भावनायुर्वहमानता-निर्दयत्व-सत्त्वव्यपरोपण-महारम्भपरिग्रह-विश्रम्भोपघात-वक्रशीलता-पापकर्मजीवित्वाऽनर्थदण्ड-विष[3]मिश्रण-शरजालपाशवागुरापञ्जरयन्त्रोपायसर्जन-बलाभियोग-शस्त्रप्रदान-पापमिश्रभावाः। एते दुःखादयः परिणामा आत्मपरोभयस्था असद्वेद्यस्यास्रवा वेदितव्याः। १५

स्वतीर्थकरोपदेशविरोधादयुक्तिरिति चेत्; न; सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः।१६। स्यादेतत्–यदि दुःखाधिकरणमसद्वेद्यहेतुः, ननु नाग्न्यलोचाऽनशनादितपःकरणं दुःखहेतुरिति तदनुष्ठानोपदेशनं स्वतीर्थकरस्य विरुद्धम्, तदविरोधे च दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवस्यायुक्तिरिति; तन्न; किं कारणम्? सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः। न तावदार्हतस्य प्रश्न उपपद्यते–स्वतीर्थकरोपदेशव्याघातप्रसङ्गात्। यस्य क्षणिकवादः तस्यापि न युज्यते, [4]सर्वदुःखशून्यानात्मकत्वाभ्युपगमे हिंसादिवत् दानादेरप्यकुशलत्वं दुःखहेतुतुल्यत्वादिति। तथेतरेषामपि हिंसादीना दुःखहेतुत्वेन पापास्रवहेतूनभ्युपगच्छतां यमनियमपरिपालनविविधवेषानुष्ठानदुश्चरोपवासब्रह्मचर्यादीनां दुःखहेतुत्वात् तदनुष्ठानविरोधप्रसङ्गान्नोपपद्यते प्रश्नः। किञ्च, २० २५

द्वेषासंभवात्।१७। यथा अनिष्टद्रव्यसंपर्काद् द्वेषोत्पत्तौ दुःखोत्पत्तिः न तथा बाह्याभ्यन्तरतपःप्रवृत्तौ धर्मध्यानपरिणतस्य यतेरनशनकेशलुञ्चनादिकरणकारणापादितकायक्लेशेऽस्ति द्वेषसंभवः, तस्मान्नासद्वेद्यबन्धोऽस्ति। क्रोधाद्यावेशे हि सति स्वपरोभयदुःखादीनां पापास्रवहेतुत्वमिष्टं न केवलानाम्। किञ्च, ३०

आहितप्रसादत्वात्।१८। यथा यतिरहिंसादिकरणकारणोद्यतत्वादाहितप्रसादः तथा अयमुपवासादिकरणकारणेऽप्याहितप्रसादः अनशनादितपः करोतीति दुःखाद्यभावः। किञ्च,

प्रायश्चित्तोपदेशात्।१९। कादाचित्कान्यकारणाविर्भूतक्रोधादिपरिणामे च सति तदुत्सि-[5]सृक्षार्थं प्रायश्चित्तविधानं क्रियते, ततः कथमिव यतेः अनशनादितपश्चरणे क्रोधादिपरिणामो भवेत्? किञ्च, ३५

---

१ विदिश्चेतनाख्याननिवासनेषु इति चौरादिकः। २ शोकादीनाम्। ३–विषविधान–श्र०। ४ सर्वं दुःखमित्यादि। ५ निवारणार्थम्।

अनुग्रहबुद्ध्या तद्व्यापाराद्गण्ड[1]पाटनवत् ।२०। यथा भिषक् करुणार्द्रीकृतचेताः संयतस्योपरि अनुग्रहबुद्ध्या गण्डं पाटयंस्तत्र क्रोधाद्यभावात् नापुण्यं बध्नाति, तथा अनादिसांसारिकजातिजरामरणवेदनाजिघांसां प्रत्यागूर्णो यतिः तदुपाये प्रवर्तमानः स्वपरस्थदुःखादिहेतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात् पापस्याबन्धकः । किञ्च,

५ मनोरत्या सौख्याभिधानात् ।२१। यथा दुःखाभिभूतानामपि संसारिणां यत्र मनोरतिस्तत्र सौख्यं तथा अनशनादिकरणस्य यतेर्मनोरतिसौख्यसान्निध्याददोषः । उक्तञ्च–

"पुरे वने वा स्वजनेऽजने वा प्रासादशृङ्गे द्रुमकोटरे वा ।
प्रियाङ्गनाऽङ्केऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरन्ति ।।" [ ] इति ।

यद्यसद्वेद्यस्यामी प्रयोगाः यथा द्वितीयस्य क आस्रवा इति ? उच्यन्ते—

## १० भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।। १२ ।।

आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद् भूतानि ।१। तासु तासु योनिष्वायुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद्भूतानि सर्वे प्राणिन इत्यर्थः ।

व्रताभिसंबन्धिनो व्रतिनः ।२। व्रतानि वक्ष्यन्ते अहिंसादीनि, तदभिसंबन्धिनो ये ते १५ व्रतिनः । ते द्वेधा [2]अगारं प्रति निवृत्तौत्सुक्याः संयताः, गृहिणश्च संयतासंयताः ।

अनुकम्पनमनुकम्पा ।३। अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा । भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनः, भूतव्रतिष्वनुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा । "साधनं कृता बहुलम्" [जैनेन्द्र० १।३।२६] इति वृत्तिः[3] । यथा गलचोपक इति । मयूरव्यंसकादित्वाच्च ।

स्वस्य परानुग्रहबुद्ध्या अतिसर्जनं दानम् ।४। आत्मीयस्य वस्तुनः परानुग्रहबुद्ध्या २० अतिसर्जनं दानमिति कथ्यते ।

सम्परायनिवारणप्रवणोऽक्षीणाशयः सरागः ।५। पूर्वोपात्तकर्मोदयवशादक्षीणाशयः सन् सम्परायनिवारणं प्रत्यागूर्णमनाः सराग इत्युच्यते ।

प्राणेन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः ।६। प्राणिष्वेकेन्द्रियादिषु चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु च अशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयम इति निश्चीयते । सरागस्य संयमः सरागसंयमः, सरागो वा संयमः २५ सरागसंयमः ।

आदिशब्देन संयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपोऽनुरोधः ।७। संयमासंयमः अकामनिर्जरा बालतप इत्येतेषामादिशब्देनानुरोधः क्रियते । तत्र संयमासंयमः अनात्यन्तिकी विरतिः । विषयाऽनर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्याद्भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा । यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषां तपः बालतपः अग्निप्रवेश-कारीपसाधनादि ३० प्रतीतम् ।

निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः ।८। निरवद्य[4]स्य क्रियाविशेषस्यानुष्ठानं योगः समाधिः, सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः । [5]दण्डभावनिवृत्त्यर्थं च तस्य ग्रहणं क्रियते । भूतव्रत्यनुकम्पादानं च सरागसंयमादयश्च भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादयस्तेषां योगः भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः ।

---

१ गण्डः कपोलपिटके योगभेदे च गण्डके । गण्डः प्रवेरे चिह्ने स्यादश्वभूषणबुद्बुदे ।। २ आरम्भं प्रति मु०, द०, ता०, व० । ३ समासः–सम्या० । ४–द्यक्रिया–श्र० । ५ उपाधि ।

धर्मप्रणिधानात्क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः ।९। क्रोधादेः कषायस्य शुभपरिणामभावनापूर्विका निवृत्तिः क्षान्तिरित्युच्यते । ननु क्षमूषिति षित्त्वात्[1] अङि क्षमेति भवितव्यम्; सत्यमेवमेतत्, यदि भ्वादिषु पठितस्य ग्रहणं स्यात् । इदं दिवादिपठितस्य क्षमू सहने इत्यस्य रूपम् ।

लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् ।१०। लोभप्रकारेभ्यः उपरतः शुचिरित्युच्यते, तस्य भावः कर्म वा शौचम् । के पुनर्लोभप्रकाराः? स्वद्रव्यात्याग-परद्रव्यापहरण-सान्न्यासिकनिह्नवादयः । ५

इतिकरणः प्रकारार्थः ।११। हेत्वेवंप्रकारादिव्यवच्छेदादिषु दृष्टप्रयोग इतिशब्दः, तत्रेह प्रकारार्थो गृह्यते । एवंप्रकाराः सद्वेद्यस्यास्रवा इति ।

वृत्तिप्रसङ्गो लघुत्वादिति चेत्; न; अन्योपसंग्रहार्थत्वात् ।१२। स्यान्मतम्–वृत्तिरत्र न्याय्या संयमादियोगक्षान्तिशौचानीति । कुतः? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? अन्योपसंग्रहार्थत्वात् । १०

[2]इतिकरणानर्थक्यमिति चेत्; न; उभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात् ।१३। स्यादेतत्–यद्यवृत्तिकरणमन्योपसंग्रहार्थम्, इतिशब्दोपादानस्यापि तदेव प्रयोजनमिति तस्यानर्थक्यमिति; तन्न; किं कारणम्? उभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात् । व्यक्त्यर्थमुभयं गृह्यते । के पुनस्ते गृह्यमाणाः? अर्हत्पूजाकरणपरता-बालवृद्धतपस्विवैयावृत्त्योद्योगार्जवविनयप्रधानतादयः ।

व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् ।१४। स्यान्मतम्–भूतग्रहणादेव सिद्धं व्रतिग्रहणमनर्थकं सामान्यनिर्देशस्य सर्वविशेषव्यापि[3]त्वाविरोधादिति; तन्न; किं कारणम्? प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । भूतेषु याऽनुकम्पा तस्या[4] व्रतिष्वनुकम्पा प्रधानभूतेत्ययमर्थः ख्याप्यते । १५

नित्यानित्यात्मकत्वे अनुकम्पादिसिद्धिर्नान्यथा ।१५। द्रव्यत्वाद्यन्वयादेशान्नित्यतामजहतः नैमित्तिकपरिणामसुखेनानित्यतामास्कन्दतः जीवस्यानुकम्पादयः परिणामविशेषा युज्यन्ते नान्यथा । यदि नित्यत्वमेव स्यात्; विक्रियाऽभावात् अनुकम्पादिपरिणत्यभावः, तदभ्युपगमे च नित्यताव्याघातः । क्षणिकैकान्तेऽपि पूर्वोत्तरावग्राहकैकविज्ञानाभावात् अनुकम्पादिप्रच्यवः । संस्कारादिति चेत्; न; तस्याप्यनित्यत्वात् । ज्ञानाऽज्ञानभावे चाऽनुपपत्तेः[5] । २०

आह–उक्ता सदसत्प्रकारस्य वेदनीयस्योपादानहेतवः । अथ अनन्तरस्यानन्तप्रवाहसंसारास्पदकारणस्य मोहस्यात्मलाभे को हेतुरिति? अत्रोच्यते—

## केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ २५

करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः ।१। करणं चक्षुरादि, कालभेदेन वृत्तिः क्रमः, कुड्यादिनाऽन्तर्धानं व्यवधानम्, एतान्यतीत्य वर्तते, ज्ञानावरणस्यात्यन्तसंक्षये आविर्भूतमात्मनः स्वाभाविकं ज्ञानम्, तद्वन्तोऽर्हन्तो भगवन्तः केवलिन इति व्यपदिश्यन्ते ।

तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम् ।२। तैर्व्यपगतरागद्वेषमोहैरुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैरवधारितं श्रु[6]तमित्युच्यते । तद्विस्तरतो व्याख्यातम् । ३०

रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः सङ्घः ।३। सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयभावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः सङ्घ इति कथ्यते ।

---

१ 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यादि सूत्रेण । २ अवृत्तिकरणमितिकरणमिति । ३–पित्वात् विरोधा–श्र० । ४ ततः । ५ संस्कारस्तावत् ज्ञानं वा स्यात्, अज्ञानं वा? यदि ज्ञानम्; तस्य उक्तदोषत्वादनुपपत्तिः । यद्यज्ञानम्; अनवबुद्धस्वभावत्वात्तस्यानुपपत्तिः । ६ श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितमिति श्रुतभक्तावुक्तत्वात् ।

[1]एकस्याऽसङ्घत्वमिति चेत्; न; अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः ।४। स्यादेतत्–सङ्घो गणो वृन्दमित्यनर्थान्तरम् तस्य कथमेकस्मिन् वृत्तिरिति ? तन्न; किं कारणम् ? अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः । उक्तं च–

"संघो गुणसंघादो कम्माण विमोयदो हवदि संघो ।
दंसणणाणचरित्ते संघादित्तो[2] हवदि संघो ॥ १ ॥" [ भग० आरा० गा० ७१४ ]

अहिंसादिलक्षणो धर्मः ।५। तस्मिन् जिनप्रवचने निर्दिष्टोऽहिंसादिलक्षणो धर्म इत्युच्यते ।

देवशब्दो व्याख्यातार्थः ।६। "देवाश्चतुर्णिकायाः" [ त० सू० ४।१ ] इत्यत्र देवशब्दो व्याख्यातार्थः ।

अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः ।७। गुणवत्सु महत्सु स्वमतिकलुषदोषात् असद्भूतमलोद्भावनमवर्णवाद इति वर्ण्यते । केवलिश्रुतसंघधर्मदेवानामवर्णवादः केवलिश्रुतसंघधर्मदेवाऽवर्णवादः ।

पिण्डाभ्यवहारजीवनादिवचनं केवलिषु ।८। पिण्डाभ्यवहारजीविनः [3]कंबलदशानिर्हरणाः अलाबूपात्रपरिग्रहाः कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः ।

मांसभक्षणाद्यनवद्याभिधानं श्रुते ।९। मांसमत्स्य[4]भक्षणं मधुसुरापानं [5]वेदनार्दितमैथुनोपसेवा रात्रिभोजनमित्येवमाद्यनवद्यमित्यनुज्ञानं श्रुतेऽवर्णवादः ।

शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं सङ्घे ।१०। एते श्रमणाः शूद्राः अस्नानमलदिग्धाङ्गाः अशुचयो दिगम्बरा निरपत्रपा इहैवेति दुःखमनुभवन्ति परलोक[6]ञ्च मुषित इत्यादिवचनं सङ्घेऽवर्णवादः ।

निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे ।११। जिनोपदिष्टो दशविकल्पो धर्मो निर्गुणः, तदुपसेविनो ये ते चाऽसुरा भवन्ति इत्येवमाद्यभिधानं धर्मावर्णवादः ।

सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः ।१२। सुरा मांसं चोपसेवन्ते देवा आ[7]ह(अहि)-ल्यादिषु चासक्तचेतसः इत्याद्याघोषणं देवावर्णवादः ।

दर्शनं मोहयति मोहनं वा दर्शनमोहः ।१३। दर्शनमुक्तलक्षणं "तत्त्वार्थश्रद्धानम्" [ त० सू० १।२ ] इत्यत्र, दर्शनं मोहयतीति दर्शनमोहः, दर्शनस्य मोहनं वा दर्शनमोहः, तस्य दर्शनमोहस्यैते आस्रवा वेदितव्याः ।

आह–यद्येते दर्शनमोहस्यापादकाः परिणामा निश्चीयन्ते । क इदानीमनन्तरोद्दिष्टस्य चारित्रमोहस्यास्रव इति ? अत्रोच्यते—

## कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः ।१। प्रागुपात्तस्य कर्मणः द्रव्यादिनिमित्तवशात् फलप्राप्तिः परिपाक उदय इति निश्चीयते । कषायो निरुक्तः । कषायस्य उदयः कषायोदयः तस्मात् कषायोदयात् ।

---

१ संघावर्णवाद आस्रवो भवतु, एकस्योपर्यवर्णवादो नास्रवहेतुरित्याशङ्कमानं प्रत्याह । २ संघातादुङ्सेरिति प्राकृतव्याकरणसूत्रात् द्विरुक्तिः । तदुक्तं प्राकृतमञ्जर्याम्–तोरित्येष द्विरुक्तः स्यादोकारो वा ङसेः पुनरिति । ३ कंबल कुंज । ४ जीवन्मत्स्य । यो जग्धा पिशितं मत्स्यकवलमिति । ५ तीव्रवेदनेषु कृपाहितमनसा । तदुक्तम्–अभवत् सुगतः खरी खराणां स्वयमुत्पाद्य भगान् समन्ततः । कृपया न तु कामसेवया न वयं तत्र विनिश्चयं गताः ॥ ६ परलोके कुतश्च सुखिनः इ–मु०, द०, ब० । ७ आहल्येति तापसस्त्री काचित् ।

तीव्रपरिणामशब्दावुक्तार्थौ ।२। "तीव्रमन्द" [ त० सू० ६।६ ] इत्यत्र तीव्रशब्दो व्याख्यातार्थः "तद्भावः परिणामः" [ त० सू० ५।४१ ] इत्यत्र परिणामशब्दो वर्णितार्थः ।

चारित्रं मोहयति मोहनं वा चारित्रमोहः ।३। चारित्रमुक्तलक्षणम्, तन्मोहयति मोहनं वा तस्य चारित्रमोह इति निश्चियते, तस्य चारित्रमोहस्य कषायोदयनिमित्तः तीव्रपरिणामो यः स आस्रव इति वेदितव्यः। स किंस्वरूप इति चेत्? उच्यते–जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावितात्मतपस्विजनगर्हण-धर्मावध्वसंन-तदन्तरायकरण-शीलगुणदेशसंयतविरतिरतिप्रच्यावन-मधुमद्यमांसविरतचित्तविभ्रमापादान-वृत्तसंदूषण-संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारण-स्वपरकषायोत्पादनादिलक्षणः कषायवेदनीयस्यास्रवः। उत्प्रहास-दीनाभिहासित्व-कन्दर्पोपहसन-बहुप्रलापोपहासशीलता हास्यवेदनीयस्य। विचित्रपरक्रीडन-परसौचित्यावर्जन-बहुविधपीडाभाव-देशाद्यनौत्सुक्यप्रीतिसंजननादिः रतिवेदनीयस्य। परारतिप्रादुर्भावन-रतिविनाशन-पापशीलसंसर्गता-ऽकुशलक्रियाप्रोत्साहनादिः अरतिवेदनीयस्य। स्वशोकाऽमो[2]दशोचन-परदुःखाविष्करण-शोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य। स्वयं भयपरिणाम-परभयोत्पादन-निर्दयत्व-त्रासनादिर्भयवेदनीयस्य। सद्धर्मापन्नचतुर्वर्णविशिष्टवर्गकुलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सा-परिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य। प्रकृष्टक्रोधपरिणामातिमानितेर्ष्याव्यापारालीकाभिधायिता-ऽतिसन्धानपरत्व-प्रवृद्धराग-पराङ्गनागमनादर-वामलोचनाभावाभिष्वङ्गतादिः स्त्रीवेदस्य। स्तोकक्रोध-जैह्मनिवृत्त्यनुत्सिक्तत्वा-ऽलोभ[3]भावा-ऽङ्गनासमवायाल्परागत्व-स्वदारसन्तोषेर्ष्याविशेषोपरम-स्नानगन्धमाल्याभरणानादरादिः पुंवेदनीयस्य। प्रचुरक्रोधमानमायालोभपरिणाम-गुह्ये[4]न्द्रियव्यपरोपण-स्त्रीपुंसानङ्ग[5]व्यसनित्व-शीलव्रतगुणधारिप्रव्रज्याश्रितप्रम(मै)थन-पराङ्गना-वस्कन्दन[6]रागतीव्रानाचारादिर्नपुंसकवेदनीयस्य।

आह–मोहनीयस्यानेकविकल्पस्यास्रवभेदो निर्दिष्टः। इदानीम् आयुश्चतुष्टयस्यास्रवभेदो वक्तव्य इति। तत्राद्यस्य नियतकालपरिपाकस्यायुषः कारणप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

## बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् ।१। अयं बहुशब्दः अस्त्येव संख्यापदम्–एकः द्वौ बहव इति। अस्ति वैपुल्यवाची बहुरोदनो बहुसूप इति। तस्य द्विप्रकारस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यते। कुतः? अविशेषात्।

आरम्भो हैंस्रं कर्म ।२। हिंसनशीलाः हिंस्राः, तेषां कर्म हैंस्रम् आरम्भ इत्युच्यते। बहव आरम्भाः बह्वारम्भाः, बहुर्वा आरम्भो बह्वारम्भः।

ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः ।३। ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते। बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः तस्य भावः बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः आस्रवो भवति। एतदुक्तं भवति–परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ताः तीव्रतरपरिणामा हिंसापरा बहुशो विज्ञाता ह्यनुमता भाविताश्च, तत्कृतकर्मात्मसात्करणात् तप्तायःपिण्डवत् आहितक्रौर्या[7] नारकस्यायुषः आस्रव इति संक्षेपः। तद्विस्तरस्तु मिथ्यादर्शनाश्लिष्टाचारतोत्कृष्टमानता–शैलभेदसदृशरोष–तीव्रलोभानुरागा-ऽनुकम्पाहीनभाव-परपरितापान्तःप्राणिधान–वधबन्धनाभिनिवेश–प्राण[8]भूतजीवसत्त्वाजस्रोपघातपरिणाम–प्राणवधात्मकानृतवचनशीलत्व–परस्वहरणानि-

---

१ आपादन। २ प्रीत्यर्थं परशोचनम्। ३–भत्वाङ्गना–मु०, द०। ४ शिश्नादिच्छेदन। ५ अनङ्गक्रीडा। ६ हठात् बलाभियोगेन स्वसात्करणम्। ७–क्रोधार्या–द०। –क्रोधाद्यर्था–मु०। ८ प्राणाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः सत्त्वाः साधारणाह्वयाः। प्रत्येकधातवो भूता जीवास्तु विकलेन्द्रियाः॥

भृताभिष्वङ्ग[1]परिणाम-मैथुनोपसेवनाविरति-महारम्भवशीकृतेन्द्रियता - कामभोगाभिलापप्रवृद्धता - नैःशील्य-पापनिमित्ताहाराभिप्राय-स्थिरवैर-नृशंसासमीक्षितक्रन्दनकारिता-निरनुग्रहस्वाभाव्य-यतिसमयभेद-तीर्थकरासादन-कृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो विज्ञेयः।

आह-उक्तो नारकस्यायुष आस्रवः, तैर्यग्योनस्येदानीं वक्तव्य इति ? अत्रोच्यते—

५ **माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥**

**चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया ।१।** चारित्रमोहकर्मोदयाविर्भूत आत्मनः कुटिलस्वभावः मायेति व्यपदिश्यते। सा माया निकृतिस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रव इति संक्षेपः। प्रपञ्चस्तु-मिथ्यात्वोपष्टम्भा-ऽधर्मदेशना-ऽनल्पारम्भपरिग्रहा-ऽतिनिकृति - कूटकर्मा-ऽवनिभेदसदृशरोष-निःशीलता-शब्दलिङ्गवञ्चना-ऽतिसन्धानप्रियता-भेदकरणा-ऽनर्थोद्भावन-वर्णगन्धरसस्पर्शान्यत्वापा-

१० दन[3]-जातिकुलशीलसंदूषण-विसंवादनाभिसन्धि-मिथ्याजीवित्व - सद्गुणव्यपलोपा-ऽसद्गुणख्यापन-नीलकपोतलेश्यापरिणाम-आर्तध्यानमरणकालतादिलक्षणः प्रत्येतव्यः।

आह-व्याख्यातस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवः। इदानीं मानुषस्यायुषः को हेतुरिति ? अत्रोच्यते—

**अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥**

१५ **नारकायुरास्रवविपरीतो मानुषस्य ।१।** नारकायुरास्रवो व्याख्यातः, तद्विपरीतो मानुष[4]स्यास्रव इति संक्षेपः। व्यासस्तु-मिथ्यादर्शनालिङ्गितमति-विनीतस्वभावता-प्रकृतिभद्रता-मार्दवार्जवसमाचारसुखप्रज्ञापनीयता-वालुकाराजिसदृशरोष-प्रगुणव्यवहारप्रायता-ऽल्पारम्भपरिग्रह-सन्तोषाभिरति-प्राण्युपघातविरमण - प्रदोषविकर्मनिवृत्ति-[5]स्वागताभिभाषणा-ऽमौखर्य-प्रकृतिमधुरता - लोकयात्रानुग्रह-औदासीन्या-ऽनुसूया-ऽल्पसंक्लेशता-गुरुदेवताऽतिथिपूजासंविभागशीलता - कपोत-

२० पीतलेश्योपश्लेष-धर्मध्यानमरणकालतादिलक्षणः।

किमेतावानेवायुषो मानुषस्यास्रव इति ? उच्यते—

**स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥**

**उपदेशानपेक्षं स्वभावमार्दवम् ।१।** मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवम्, स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम्। उपदेशानपेक्षमित्यर्थः। ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं पुनर्ग्रहणमनर्थकं [6]सूत्रेऽनुपात्तमिति

२५ कृत्वा पुनरिदमुच्यते।

**एकयोगीकरणमिति चेत्; न; उत्तरापेक्षत्वात् ।२।** स्यान्मतम्-एको योगः कर्तव्यः-'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य' इति; तन्न; किं कारणम् ? उत्तरापेक्षत्वात्। दैवस्यायुषः कथमयमास्रवः स्यादिति पृथक्करणम्।

किमेतदेव द्वितयं मानुषस्यास्रवः ? नेत्युच्यते—

३० **निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥**

**चशब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः ।१।** अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्यायुषः निःशीलव्रतत्वं चेत्यधिकृतसमुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते। शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि, निष्क्रान्तः शीलव्रतेभ्यः निःशीलव्रतः, तस्य भावः निःशीलव्रतत्वम्।

---

१ आसक्ति। २ शब्दलिङ्गवचना-ता०, श्र०, मू०, द०। ३ विक्रयार्थम्। ४ मानुषस्यायुष इ-मु०। ५ क्षेमवार्ता। ६ पूर्वसूत्रे।

सर्वेषां ग्रहणं सकलास्रवप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। सकलस्यायुषः आस्रवप्रतिपत्तिः कथं स्यादिति सर्वेषामित्युच्यते ।

देवायुषोऽपि प्रसङ्ग इति चेत्; न; अतिक्रान्तापेक्षत्वात् ।३। यदि सर्वेषां ग्रहणं सकलसंग्रहार्थं क्रियते, देवायुषोऽप्ययमास्रवः प्रसक्तः ? नैष दोषः; अतिक्रान्तापेक्षत्वात् । अतिक्रान्तानामायुषां सर्वेषामास्रव इत्यपेक्ष्यते ।　५

पृथक्करणात् सिद्धेरानर्थक्यमिति चेत्; न; भोगभूमिजार्थत्वात् ।४। स्यादेतत्-पृथक्करणादेवातिक्रान्तायुस्त्रयापेक्षा सिद्ध्यति । यदि मानुषायुरास्रव एवेष्टः स्यात् तत्रैव क्रियेत, ततः सर्वेषां ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? भोगभूमिजार्थत्वात् । भोगभूमिजापेक्षया निःशीलव्रतत्वं दैवस्यायुष आस्रव इत्येतस्य प्रदर्शनार्थं सर्वेषामित्युच्यते ।

आह-त्रयाणामास्रवविधिरुक्तः । इदानीं दैवस्यायुषो विव्रियतामिति ? अत्रोच्यते—　१०

## सरागसंयमसंयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

व्याख्याताः सरागसंयमादयः ।१। प्राक् शुभपरिणामाः सरागसंयमादयः व्याख्याताः ते दैवस्यायुष आस्रवहेतवो भवन्तीति संक्षेपः । विस्तरस्तु-कल्याणमित्रसंबन्ध-आयतनोपसेवा-सद्धर्मश्रवणगौरवदर्शना-ऽनवद्यप्रोषधोपवास-तपोभावना-बहुश्रुतागमपरत्व-कषायनिग्रह-पात्रदान-पीतपद्मलेश्यापरिणाम-धर्म्यध्यानमरणादिलक्षणः सौधर्माद्यायुषः आस्रवः । अव्यक्तसामायिक-विराधितसम्यग्दर्शनता भवनाद्यायुषः [3]महर्द्धिकमानुषस्य वा । पञ्चाणुव्रतधारिणोऽविराधितसम्यग्दर्शनाः तिर्यङ्मनुष्याः सौधर्मादिषु अच्युतावसानेषूत्पद्यन्ते, विनिपतितसम्यक्त्वा भवनादिषु । [4]अनधिगतजीवाजीवा बालतपसः अनुपलब्धतत्त्वस्वभावा अज्ञानकृतसंयमाः संक्लेशाभावविशेषात् केचिद्भवनव्यन्तरादिषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्यतिर्यक्ष्वपि च । अकामनिर्जरा-क्षुत्तृष्णानिरोध-ब्रह्मचर्य-भूशय्या-मलधारण-परितापादिभिः परिखेदितमूर्तयः चारकनिरोधबन्धनबद्धाः दीर्घकालरोगिणः असंक्लिष्टाः तरुगिरिशिखरपातिनः अनशन-ज्वलनजलप्रवेशन-विषभक्षणधर्मबुद्धयः व्यन्तरमानुषतिर्यक्षु । निःशीलव्रताः सानुकम्पहृदयाः जलराजितुल्यरोषा भोगभूमिसमुत्पन्नाश्च व्यन्तरादिषु जन्म प्रतिपद्यन्ते इति ।　१५　२०

उक्तो दैवस्यायुष आक्रान्तभेद आस्रवः । किमेतावानेव देवायुरास्रवविधिः, आहोस्विदन्योऽप्यस्तीति ? अत्रोच्यते—　२५

## सम्यक्त्वं च [6] ॥ २१ ॥

किम् ? दैवस्यायुषः, 'आस्रवः' इत्यनुवर्तते । उक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् ।

अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात् ।१। सम्यक्त्वं दैवस्यायुष आस्रव इत्यविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिर्भवति । कुतः ? पृथक्करणात् । यद्यविशेषग-

---

१-णागोर-मु०, ब० । २-र्माद्या-श्र० । -र्माद्यास्रवः अव्य-ता० । -र्माद्यायुषः अव्य-मू० । ३ महाऋद्धियुतमहाराजादिः । ४ श्र० प्रतौ 'अनधिगतजीवाजीवा बालतपसः' इति वार्तिकचिह्नाङ्कितम् । ५ गूढपुरुष । ६ सूत्रमेतन्नास्ति भा० १, २ ।

तिरेवेष्टा स्यात् पृथक्करणमनर्थकं स्यात् पूर्वसूत्रे एवोच्येत। यद्येवं पूर्वसूत्र उक्त आस्रवविधिः अविशेषेण प्रसक्तः, तेन सरागसंयमसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्रसक्तौ ?

न, अतस्तत्सिद्धेः ।२। नैष दोषः। कुतः? अतस्तत्सिद्धेः। यत एव सम्यक्त्वं सौधर्मादिष्विति नियम्यते तत एव तयोरपि नियमसिद्धिः, नासति सम्यक्त्वे सरागसंयमसंयमासं-
५ यमव्यपदेश इति।

आह–आयुषोऽनन्तरं यन्निर्दिष्टं नाम, तस्य क आस्रव इति? अत्रोच्यते–तन्नाम द्विविधम्–अशुभं शुभं चेति। तत्राशुभनामास्रवप्रतिपत्त्यर्थमारभ्यते—

## योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता ।१। कायवाङ्मनांसि व्याख्यातानि, तेषां
१० कुटिलता योगवक्रता इत्युच्यते। अनार्जवं प्रणिधानमिति यावत्।

विसंवादनमन्यथाप्रवर्त्तनम् ।२। अन्येन प्रकारेण प्रवर्तनं प्रतिपादनं विसंवादनमिति विज्ञायते।

योगवक्रतैवेति चेत्; सत्यम्; आत्मान्तरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात् पृथग्वचनम् ।३। स्यादेतत्–अन्यथाप्रवर्तनं विसंवादनं तदेव योगवक्रताऽपीति पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; सत्यमेवमेतत्;
१५ किन्तु आत्मान्तरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात् पृथग्वचनम्। सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं कायवाङ्मनोभिर्विसंवादयति–मैवं कार्षीरेवं कुर्विति कुटिलतया प्रवर्तनं विसंवादनम्, आत्मगता योगवक्रतेत्ययमनयोर्भेदः।

चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ।४। चशब्दः क्रियते अनुक्तस्यास्रवस्य समुच्चयार्थः। कः पुनरसौ? मिथ्यादर्शन-पिशुनता-ऽस्थिरचित्तस्वभावता-कूटमानतुलाकरण-सुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति-कुटि-
२० लसाक्षित्वा-ऽङ्गोपाङ्गच्यावन-वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावन-यन्त्रपञ्जरक्रिया-द्रव्यान्तरविषयसंबन्ध-निकृतिभूयिष्ठता-परनिन्दात्मप्रशंसा-ऽनृतवचन-परद्रव्यादान - महारम्भपरिग्रह-उज्ज्वलवेषरूपमद-परुषासभ्यप्रलाप-आक्रोश-मौखर्य-सौभाग्योपयोगवशीकरणप्रयोग-परकुतूहलोत्पादना-ऽलङ्कारादर - चैत्यप्रदेशगन्धमाल्यधूपादिमोषण-विलम्बनोपहास-इष्टिकापाक-दवाग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिश्रयारामोद्यानविनाशन-तीव्रक्रोधमानमायालोभ-पापकर्मोपजीवनादिलक्षणः। स एष सर्वोऽशुभस्य नाम्न
२५ आस्रवः।

आह–अथ शुभनामकर्मणः क आस्रव इति? उच्यते—

## तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

ऋ[1]जुयोगोऽविसंवादनं च तद्विपरीतम् ।१। कायवाङ्मनसां ऋजुत्वमविसंवादनं च तद्विपरीतमित्युच्यते। चशब्देन धार्मिकदर्शनसंभ्रम-सद्भावोपनयन-संसरणभीरुता-प्रमादवर्जना-
३० ऽसंभेदचरितताद्यो यथोक्ताऽशुभविपरीता परिणामाः शुभनाम्न आस्रवाः प्रत्येतव्याः।

आह–किमेतावानेव शुभनामास्रवविधिः, उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेषः इति? उच्यते–यदिदं तीर्थकरनामकर्म अनन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति। यद्येवमुच्यतां तस्यास्रव इति? अत इदमारभ्यते—

---

1 ऋजुयोगाविसं–मू०, ता०, श्र०, द०।

# दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग- संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदा- चार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशङ्कितत्वाद्यष्टाङ्गा दर्शनविशुद्धिः ।१। जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः । तस्या अष्टावङ्गानि–निःशङ्कितत्वम्, निःकाङ्क्षता, विचिकित्साविरहः, अमूढदृष्टिता, उपबृंहणम्, स्थितिकरणम्, वात्सल्यम्, प्रभावनं चेति । तत्र इहलोकपरलोकव्याधिमरणासंयमारक्षणाकस्मिकसप्तविधभयविनिर्मुक्तता, अर्हदुपदिष्टे वा प्रवचने किमिदं स्याद्वा नवेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम् । उभयलोकविषयोपभोगाकाङ्क्षानिवृत्तिः कुदृष्ट्यन्तराकाङ्क्षानिरासो वा निःकाङ्क्षता । शरीराद्यशुचिस्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयः, अर्हत्प्रवचने वा इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनाविरहः निर्विचिकित्सता । बहुविधेषु दुर्नयदर्शनवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावं परीक्षाचक्षुषा व्यवसाय्य[3] विरहितमोहता अमूढदृष्टिता । उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनो धर्मपरिवृद्धिकरणमुपबृंहणम् । कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषु उपस्थितेष्वात्मनो धर्माऽप्रच्यवनं परिपालनं स्थितिकरणम् । जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम् । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्रभावेन आत्मनः प्रकाशनं प्रभावनम् ।

ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता ।२। सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधनेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता ।

चरित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः ।३। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसां शीलव्रतेष्वनतिचार इति कथ्यते ।

ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः ।४। मत्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषयं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्यव्यवहितफलं हिताहितानुभयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाव्यवहितफलं यत्, तस्य भावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः ।

संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः ।५। शारीरं मानसं च बहुविकल्पप्रियविप्रयोगाऽप्रियसंयोगेप्सिताऽलाभादिजनितं संसारदुःखं यदतिकष्टं ततो नित्यभीरुता संवेगः ।

परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः ।६। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तरणकारणम् । अत एतत्त्रिविधं यथाविधि प्रतिपद्यमानं त्यागव्यपदेशभाग्भवति ।

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः ।७। शरीरमिदं दुःखकारणमनित्यमशुचि, नास्य यथेष्टभोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीदं गुणरत्नसंचयोपकारीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिष्वङ्गस्य स्वकार्यं प्रत्येतद्भृतकमिव नियुञ्जानस्य यथाशक्ति मार्गाविरोधि कायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते ।

---

१ अगुप्ति । २ अत्राण । ३ व्यवसायवि–ता०, श्र०, मू०, द० । निश्चीय । ४ साक्षात्फलम् ।

**मुनिगणतपःसंधारणं समाधिः भाण्डागाराग्निप्रशमनवत्** ।८। यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात् तथा अनेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कुतश्चित् प्रत्यूहे समुत्थिते तत्संधारणं समाधिरिति समाख्यायते ।

**गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैय्यावृत्त्यम्** ।९। गुणवतः साधुजनस्य दुःखे सन्निहिते निरवद्येन विधिना तदपहरणं बहूपकारं वैयावृत्त्यमिति व्याख्यायते ।

**अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः** ।१०। अर्हदाचार्येषु केवलश्रुतज्ञानादिदिव्यनयनेषु परहितकरप्रवृत्तेषु स्वपरसमयविस्तरनिश्चयज्ञेषु च बहुश्रुतेषु प्रवचने च श्रुतदेवतासन्निधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदभवनारोहणसुरचितसोपानभूते भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः, त्रिविधा ( चतुर्विधा ) कल्प्यते ।

**षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनमावश्यकाऽपरिहाणिः** ।११। षडावश्यकक्रियाः– सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति । तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम् । चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थकरगुणानुकीर्तनम् । वन्दना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना । अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम् । अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम् । परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः । इत्येतासां षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनम् अनौत्सुक्यं आवश्यकाऽपरिहाणिरिति परिभाष्यते ।

**ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनम्** ।१२। ज्ञानरविप्रभया परसमयखद्योतोद्योततिरस्कारिण्या, सत्तपसा महोपवासादिलक्षणेन सुरपतिविष्टरप्रकम्पनहेतुना, जिनपूजया वा भव्यजनकमलषण्डप्रबोधनप्रभया, सद्धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनमिति संभाव्यते ।

**वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्** ।१३। यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्रीकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते[1] । यः सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचनस्नेह इति । तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि ।

आह–नामानन्तरनिर्देशभाजो गोत्रस्योपादाने किं निबन्धनमिति प्रतिविधीयते । तद्द्वैविध्ये सति आद्यस्य तावत्—

## परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छा[2]दनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

**दोषोद्भावनेच्छा निन्दा** ।१। तथ्यस्य वा अतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रतीच्छा मनःपरिणामोऽवक्षेपो निन्देत्युच्यते ।

**गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा** ।२। सद्भूतस्याऽसद्भूतस्य वा गुणस्योद्भावनं प्रत्यभिप्रायः प्रशंसेत्युपदिश्यते । परश्च आत्मा च परात्मानौ, निन्दा च प्रशंसा च निन्दाप्रशंसे, परात्मनो निन्दाप्रशंसे परात्मनिन्दाप्रशंसे यथासंख्यमभिसंबन्धः । परनिन्दा आत्मप्रशंसेति यावत् ।

**अनुद्भूतवृत्तिता छादनम्** ।३। प्रतिबन्धकहेतुसन्निधाने सति अनुद्भूतवृत्तिताऽनाविर्भावः छादनमित्यवसीयते ।

---

१–त्वमिति कथ्यते मु०, श्र० । २–णाच्छा–मू० । –गोच्छा–श्र० ।

प्रतिबन्धकाऽभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनम् ।४। प्रतिबन्धकस्य हेतोरभावे प्रकाशितवृत्तिता उद्भावनमिति व्यपदेशमर्हति ।

संश्चाऽसंश्च सदसन्तौ, सदसन्तौ च तौ गुणौ च सदसद्गुणौ, छादनं चोद्भावनं च छादनोद्भावने, सदसद्गुणयोः छादनोद्भावने सदसद्गुणच्छादनोद्भावने । अत्रापि यथासंख्यमभिसंबन्धः, सद्गुणच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति । ५

गूयते तदिति गोत्रम् ।५। गूयते शब्द्यते तदिति गोत्रम् , औणादिकेन त्रटा निष्पत्तिः ।

नीचैरित्यधिकरणप्रधानः शब्दः ।६। नीचैरित्ययं शब्दः अधिकरणप्रधानो द्रष्टव्यः, नीचैः स्थाने येनात्मा क्रियते तन्नीचैर्गोत्रम् , तस्यास्रवकारणान्येतानि परनिन्दादीनि । तत्प्रपञ्च उच्यते–जातिकुलबलरूपश्रुताज्ञैश्वर्यतपोमद-परावज्ञानोत्प्रहसन-परपरिवादशीलता-धार्मिकजननिन्दात्मोत्कर्षा–ऽन्ययशोविलोपा-ऽसत्कीर्त्युत्पादन-गुरुपरिभव-तदुद्घट्टन-दोषख्यापन-विहेडन-स्थानावमान-भर्त्सन-गुणावसादन-अञ्जलिस्तुत्यभिवादनाभ्युत्थानाऽकरण-तीर्थकराधिक्षेपादिः । १०

आह–उपपादितो नीचैर्गोत्रस्यास्रवः, इदानीमुच्चैर्गोत्रस्यास्रवविधिः क इति ? अत्रोच्यते—

## तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

नीचैर्गोत्रास्रवप्रतिनिर्देशनार्थस्तच्छब्दः ।१। प्रत्यासत्तेस्तदित्यनेन नीचैर्गोत्रास्रवः प्रतिनिर्दिश्यते । १५

विपर्ययोऽन्यथावृत्तिः ।२। अन्येन प्रकारेण वृत्तिर्विपर्यय इति व्यपदिश्यते । तस्य विपर्ययः तद्विपर्ययः । कः पुनरसौ–आत्मनिन्दा-परप्रशंसे सद्गुणोद्भावनमसद्गुणच्छादनं च ।

गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः ।३। गुणोत्कृष्टेषु विनयेन अवनतिर्नीचैर्वृत्तिरित्याख्यायते ।

अनहङ्कारताऽनुत्सेकः ।४। विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतः तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कारता अनुत्सेक इत्युच्यते । तान्येतानि उत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति । प्रपञ्चस्तु विक्रियते–जातिकुलबलरूपवीर्यपरिज्ञानैश्वर्यतपोविशेषवतः आत्मोत्कर्षाऽप्रणिधानं परावज्ञानौद्धत्यनिन्दाऽसूयोपहासपरपरिवादनिवृत्तिः विनिहतमानता धर्म्यजनपूजाऽभ्युत्थानाञ्जलिप्रणतिवन्दना ऐदंयुगीनान्यपुरुषदुर्लभगुणस्याप्यनुत्सिक्तता, अहङ्काराऽत्यये नीचैर्वृत्तिता भस्मावृतस्येव हुतभुजः स्वमाहात्म्याप्रकाशनं धर्मसाधनेषु परमसम्भ्रम इत्यादि । २०

आह–उक्तः सप्तविधकर्म प्रत्यास्रवविकल्पः । इदानीमष्टमस्य कर्मणोऽन्तरायस्यास्रवविधिः क इति ? अत्रोच्यते– २५

## विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

दानादिविहननं विघ्नः ।१। दानादीन्युक्तानि "दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च" [ त० सू० २।४] इत्यत्र, तेषां विहननं विघ्न इत्युच्यते । "घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्" [ जैनेन्द्र० वा० २।३।५२ ] इति कविधिः । विघ्नस्य कारणं विघ्नकरणम् अन्तरायस्यास्रव इति संक्षेपः । तद्विस्तरस्तु विक्रियते–ज्ञानप्रतिषेध-सत्कारोपघात-दानलाभभोगोपभोगवीर्यस्नानानुलेपनगन्धमाल्याच्छादनविभूषणशयनासनभक्ष्यभोज्यपेयलेह्यपरिभोगविघ्नकरण-विभवसमृद्धिविस्मय-द्रव्यापरित्याग-द्रव्यासंप्रयोगसमर्थनाप्रमादा-ऽवर्णवाद-देवतानिवेद्यानिवेद्यग्रहण-निरवद्योपकरणपरित्याग-परवीर्यापहरण-धर्मव्यवच्छेद[3]नकरण-कुशलाचरणतपस्विगुरुचैत्यपूजाव्याघात-प्रव्रजितकृपणदीनानाथवस्त्रपात्रप्रति - ३०

१–णोच्छा–श्र० । २ श्र० मु० प्रत्योः 'घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्' इति वार्तिकचिह्नाङ्कितम् । ३–नकुश–मु०, द०, ब० । –नकरणाकुश–ता०, मू० ।

श्रयप्रतिषेधक्रिया-परनिरोधबन्धन-गुह्याङ्गच्छेदन-कर्णनासिकौष्ठकर्तन-प्राणिवधादिः । अत्र चोद्यते-सूत्रेऽनुपात्तः सर्वास्रवप्रपञ्चः कथमेवं गन्तुं(मवगन्तुं)शक्यते इति ? अत्रोच्यते—

**इतिकरणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः ।२।** इतिकरणोऽनुवर्तते । क्व प्रकृतः ? "क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य" [ ६।१२ ] इत्यतः, तेनानुक्तार्थसंग्रहः सर्वत्र वेदितव्यः । प्रकारार्थो हि इतिकरण इति ।

५ **स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो विकारः शौण्डातुरवत् ।३।** एवमुक्तेनास्रवविधिनोपात्तं कर्माष्टविधं ज्ञानावरणादिसंज्ञकं वक्ष्यमाणमूलोत्तरप्रकृतिभेदं यत्तन्निमित्तमात्मा संसारविकारमनुपरतमनुभवति । यथा शौण्डः स्वरुचिविशेषान्मदमोहविभ्रमकरीं मदिरां पीत्वा तत्परिपाकवशात् अनेकविकारमास्कन्दति, यथा वा आतुरः अपथ्यभोजनकृतं वातादिविकारमवाप्नोति ।

[1]**अनपदिष्टहेतुकत्वादास्रवाऽनियम इति चेत्; न; स्वभावाभिव्यञ्जकत्वाच्छास्त्रस्य ।४।**
१० स्यान्मतम्-य उक्त आस्रवनियमो ज्ञानावरणादीनां तत्प्रदोषनिह्नवादिः, स नोपपद्यते, कुतः ? अनपदिष्टहेतुकत्वात् । नात्र हेतुरुपदिष्टः[2] येनास्रवनियमं प्रतिपद्येमहि । यच्च नाम सहेतुकं तद्विदुषां[3] ग्राह्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वभावाभिव्यञ्जकत्वात् शास्त्रस्य । यथा प्रदीपो घटादीनां स्वभावमभिव्यनक्ति तथा शास्त्रमपि सतामेवार्थानां प्रकाशकम्, तत्रायं परिणाम इदं वीर्यं द्रव्यावर्जनसमर्थ[4] इति स्वभावव्याख्यानादुपालम्भाभावः ।

१५ **तत्सिद्धिरतिशयज्ञानदृष्टत्वात् ।५।** तस्य शास्त्रस्य सतामर्थानामभिव्यञ्जकत्वं दृष्टम् । कुतः ? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्, भगवतामर्हतामतिशयवज्ज्ञानं युगपत्सर्वार्थावभासनसमर्थं प्रत्यक्षम्, तेन दृष्टं तद्दृष्टं[5] यच्छास्त्रं तद् यथार्थोपदेशकम्, अतस्तत्प्रामाण्यात् ज्ञानावरणाद्यास्रवनियमप्रसिद्धिः ।

**सर्वाविसंवादाच्चोपालम्भनिवृत्तिः ।६।** [6]नात्र प्रवादिनो विसंवदन्ते-पृथिव्यादीनां द्रव्याणां
२० कठिनद्रवोष्णचलनादिस्वभावानां रूपादीनां च गुणानां चाक्षुषत्वादिप्रतिनियतस्वभावानां[7] उत्क्षेपणादीनां च संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्वादिस्वभावानामभ्युपगमात्[8] । तथा सत्त्वरजस्तमसां गुणानां प्रकाशप्रवृत्तिनियमस्वभावानामभ्युपेतत्वात्[9] । तथा अविद्यादीनां संस्कारादिप्रतिनियतकारणस्वभावानामिष्टत्वात्[10] ततो नायमुपालम्भः आस्रवनियमाभाव इति ।

**तत्प्रदोषादीनां सर्वास्रवत्वान्नियमाभाव इति चेत्; न; अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः ।७।**
२५ स्यादेतत्-ये[11] तत्प्रदोषनिह्नवादयः ज्ञानावरणादीनामास्रवाः प्रतिनियता उक्ताः, ते सर्वेषां कर्मणामास्रवा भवन्ति, ज्ञानावरणे बध्यमाने युगपदितरेषामपि बन्ध इष्यते आगमे, तस्मादास्रवनियमाभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः । यद्यपि तत्प्रदोषादिभिः ज्ञानावरणादीनां सर्वासां प्रकृतीनां प्रदेशादिबन्धनियमो नास्ति, तथापि अनुभागविशेषनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषनिह्नवादयः प्रविभज्यन्ते ।

३० इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

---

१ अनुपदि-श्र० । २-तुरुप-श्र० । ३-पा ग्रा-श्र०, मू०, द०, ता० । ४ द्रव्यार्जन-श्र० ।
५ दृष्टं यच्छा-मु०, द०, ब० । ६ तत्र प्रवादिनो न वि-मु०, द० । ७-वादीनाञ्चोत्क्षे-मु०, द० ।
८ वैशेषिकैः-स० । ९ सांख्यैः-स० । १० बौद्धैः । ११ एतत्प्रदो-ता०, श्र० ।

# अथ सप्तमोऽध्यायः

आस्रवपदार्थव्याख्यां प्रति[1]ज्ञायोक्तोऽष्टोत्तरशतभेदसंख्यो बहुविचारः । स द्वेधा पुण्य-पापलक्षणसाम्परायिकनिमित्तत्वात् । तत्र पुण्यास्रवो व्याख्येयः प्रधानत्वात् तत्पूर्वकत्वात् मोक्षस्य । यद्येवम्, उच्यतां कैस्ते क्रियाविशेषाः प्रारभ्यमाणास्तस्यास्रवा भवन्तीति ? अत्रोच्यते– व्रतिभिः । तत्रानिर्धारि[2]तेयत्ताविशेषलक्षणत्वात् व्रतस्य तत्प्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यते–

अथवा, "कायवाङ्मनस्कर्म योगः, स आस्रवः, शुभः पुण्यस्य" [६।१,२,३] इति सामान्येनोक्तः, तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

अथवा, उक्तमेतत् सद्वेद्यास्रवविधाने–"भूतव्रत्यनुकम्पा" [६।१२] इति; तत्रेदं न ज्ञायते किं व्रतम्, को व्रतीति ? तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते—

## हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसादयो निर्देक्ष्यमाणलक्षणाः ।१। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा [७।१३] इत्येवमादिभिः सूत्रैः हिंसादीनां लक्षणं निर्देक्ष्यते ।

विरमणं विरतिः ।२। चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमनिमित्तौपशमिकादिचारित्राविर्भावात् विरमणं विरतिः ।

[3]व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः ।३। बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसन्धिः, इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्तिः नियमः, अभिसन्धिना कृतः अभिसन्धिकृतः सर्वत्र व्रतव्यपदेशभाग् भवति ।

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशः ।४। हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशो द्रष्टव्यः ।

ध्रुवत्वाभावात्तदनुपपत्तिरिति चेत्; न; बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः ।५। स्यान्मतम्–नात्राऽपादानत्वमुपपद्यते । कुतः ? ध्रुवत्वाभावात् । ध्रुवत्वेन हि प्रसिद्धोऽर्थः अपादानसंज्ञो भवति यथा ग्रामादागच्छति इति, न तथा हिंसादयः परिणामा ध्रुवाः [4]क्षणिकत्वात्, तदपायेऽपायाऽप्रतीतेः । अथ हिंसादिपरिणत आत्मैव हिंसादिव्यपदेशभागिति द्रव्यार्थादेशात् ध्रुवत्वं कल्प्यते, एवमपि ततो विरतिर्नोपपद्यते नित्यत्वात्, तस्मादपादानत्वमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः, यथा धर्माद्विरमतीत्यत्र य एष मनुष्यः [5]सम्भिन्नबुद्धिः स पश्यति[6]–'दुष्करो धर्मः फलं[7] चास्य श्रद्धामात्रगम्यम्' इति स्वबुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते । एवमिहापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति य एते हिंसादयः परिणामाः पापहेतवः पापकर्मणि च प्रवर्तमानमिहैव राजानो दण्डयन्ति परत्र च बहुविधं दुःखमवाप्नोतीति [8]स्वबुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते । ततो बुद्ध्या ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः अपादानत्वं युक्तम् ।

---

१–ख्याप्रतिज्ञायो–मू० । –ख्याप्रतिज्ञयो–मु०, द०, श्र०, व० । २–ते यत्रावि–मु०, द०, व० । ३ "अभिसन्धिकृतो विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति"–रत्नक० श्लो० ८६ । ४ कारणत्वात् मु० । कारणवत्त्वात्–मू०, द० । ५ हतबुद्धिः । ६ किमिति ? ७ स्वर्गोऽस्तीति । ८ स बु–मु०, मू०, द० ।

अहिंसायाः प्रधानत्वादादौ तद्वचनम्, इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात् ।६। अहिंसा सर्वेषु व्रतेषु प्रधानम् अतस्तद्वचनमादौ क्रियते। कुतः पुनः प्राधान्यम् ? इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात्। इतराणि हि सत्यादीनि व्रतानि शस्यस्य वृतिपरिक्षेपवत्[1] अहिंसापरिपालनार्थानि।

विरतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ।७। हिंसाया विरतिः, अनृताद्विरतिः, स्तेयाद्विरतिः, ५ अब्रह्मणो विरतिः, परिग्रहाद्विरतिरिति। यद्येवम्–

विषयभेदाद्विरतिभेदे बहुत्वप्रसङ्गः ।८। यथा गुडतिलौदनादीनां पक्तव्यानां भेदात् पाको भिद्यते–द्वौ पाकौ त्रयः पाका इति, एवं त्यक्तव्यहिंसादिभेदात्त्यागस्यापि भेदोपपत्तेः विरतेर्बहुत्वं प्राप्नोति इति ?

न वा; तद्विषयविरमणसामान्योपादानात् ।९। न वा एष दोषः। किं कारणम् ? तद्विषय- १० विरमणसामान्योपादानात्। नात्र विषयभेदाद्भेदो विवक्षितः। यथा गुडतिलौदनादीनां पाक इति सामान्ये विवक्षिते एकवचनं तथा विरमणसामान्यस्य विवक्षितत्वादेकवचनं न्याय्यम्। तत एव सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतम्, भेदपरतन्त्रछेदोपस्थापनापेक्षया[2] पञ्चविधं व्रतम्। अत्र कश्चिदाह–

हिंसादिभ्यो निवृत्तिवचनमनर्थकं संवरेऽन्तर्भावात् ।१०। हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्व्रतमिति १५ आस्रवप्रकरणे विधानमिदमनर्थकम्; कुतः ? संवरेऽन्तर्भावात्।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; धर्माभ्यन्तरत्वात् ।११। स्यान्मतम्–प्रतिज्ञामात्रमेतत्–संवरेऽन्तर्भाव इति; तन्न; किं कारणम् ? धर्माभ्यन्तरत्वात्। दशविधो हि धर्मो वक्ष्यते, तत्र संयमे भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्याष्टविधविशुद्धिलक्षणे अहिंसादीनामन्तर्भावः, सत्यादिषु[3] च।

२० तत्प्रपञ्चार्थ उपन्यास इति चेत्; न; तत्रैव करणात् ।१२। स्यादेतत्–तस्य संयमस्यायं प्रपञ्चो यथा स्यादित्यहिंसादीनाम् उपन्यास इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्रैव करणात्। यदि तस्यैवायं प्रपञ्चः, तत्रैव क्रियेत प्रकरणोत्कर्षकरणे प्रयोजनाभावात्।

[4]न संवरो व्रतानि परिस्पन्ददर्शनात् ।१३। व्रतानि संवरव्यपदेशं नार्हन्ति। कुतः ? परिस्पन्ददर्शनात्। परिस्पन्दो हि दृश्यते, अनृताऽदत्तादानपरित्यागे सत्यवचन-दत्तादानक्रिया- २५ प्रतीतेः।[5]

गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च ।१४। गुप्त्यादिलक्षणः संवरो वक्ष्यते, तस्येदं परिकर्म व्रतानि, कृतव्रतपरिकर्मा हि साधुः सुखेन संवरं करोतीति, ततश्च पृथक्त्वमवसेयम्।

रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेत्; न; भावनान्तर्भावात् ।१५। स्यान्मतम्–इह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानं कर्त्तव्यं तदपि षष्ठमणुव्रतमिति; तन्न; किं कारणम् ? भावनान्तर्भा- ३० वात्। भावनासु हि अन्तर्भवति रात्रिभोजनविरमणम्।

अनिर्देशादिति चेत्; न; आलोकितपानभोजनवचनात् ।१६। अथ मतमेतत्–भावनासु निर्देशाभावादयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? आलोकितपानभोजनवचनात्। वक्ष्यते हि अहिंसाव्रतपरिपालनाय आलोकितपानभोजनभावना कार्या इति।

प्रदीपादिसंभवे सति रात्रावपि तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; अनेकारम्भदोषात् ।१७। स्यान्म- ३५ तम्–यद्यालोकनार्थं[6] दिवाभोजनम्, प्रदीपचन्द्रादिप्रकाशाभिव्यक्तं रात्रौ भोजनं कार्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनेकारम्भदोषात्। अग्न्यादिसमारम्भकरणकारणलक्षणो हि दोषः स्यात्।

---

१ शस्यवृत्ति–मु०, मू०। २–तन्त्राच्छेदो–श्र०। सत्यशौचादिषु। ४ आचार्यवचनमिदम्। ५ न तु संवरः परिस्पन्दलक्षणः। ६ संस्कारः।

परकृतप्रदीपादिसंभवे तदभाव इति चेत्; न; चङ्क्रमणाद्यसंभवात् ।१८। स्यादेतत्–परकृत-प्रदीपादिसंभवे नारम्भदोषः इति; तन्न; किं कारणम्? चङ्क्रमणाद्यसंभवात्। 'ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यतिः भिक्षां शुद्धामुपाददीत' इत्याचारोपदेशः, न चायं विधिः रात्रौ भवतीति चङ्क्रमणाद्यसंभवः।

दिवानीतस्य रात्रौ भोजनप्रसङ्गः इति चेत्; न; उक्तोत्तरत्वात् ।१९। स्यान्मतम्–दिवा ग्रामं पर्यट्य केनचिद्भाजने भोजनाद्यानीय रात्रावुपयोगः प्रसक्त इति; तन्न; किं कारणम्? उक्तोत्तरत्वात्। उक्तोत्तरमेतत्–प्रदीपादिसमारम्भप्रसङ्ग इति। नेदं संयमसाधनम्–आनीय भोक्तव्यमिति। नापि निस्सङ्गस्य पाणिपात्रपुटाहारिणः आनयनं संभवति। भाजनान्तरसंग्रहे अनेकावद्यदर्शनात् अतिदीनचरितप्रसङ्गादचिरादेवं निवृत्तिपरिणामासंभवाच्च। भाजनेनानीतस्य परीक्ष्य भोजनं संभवतीति चेत्; न; योनिप्राभृतज्ञस्य संयोगविभागगुणदोषविचारस्य तदानीमेवोपपत्तेः, आनीतस्य पुनर्दोषदर्शनात् विसर्जनेऽनेकदोषोपपत्तेश्च।

स्फुटार्थाभिव्यक्तेश्च दिवाभोजनं युक्तम् ।२०। यथा रविप्रकाशस्य स्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् भूमिदेशदातृजनचङ्क्रमणाद्यन्नपानादिपतितमितरच्च स्पष्टमुपलभ्यते न तथा चन्द्रादिप्रकाशानाम् अस्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् स्फुटा भूम्याद्युपलब्धिरस्तीति दिवाभोजनमेव युक्तम्।

तदेतदविशेषचोदितं पञ्चतयविषयव्रताभिधानं[3] विरत्याश्रयविवक्षाद्वयसंभवात् अभिधेयात्मभूतधर्मोपादानादभिधानानां [4]व्यक्तिव्यपदेशवद् द्वैविध्यमनुभवतीत्याह–

## देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

कुतश्चिद्दिश्यते इति देशः ।१। कुतश्चिदवयवात् दिश्यत इति देशः प्रदेशः, एकदेश इत्यर्थः।

सरत्यशेषानवयवानिति सर्वः ।२। सरति गच्छति अशेषानवयवानिति सर्व इत्युच्यते। देशश्च सर्वश्च देशसर्वौ, देशसर्वाभ्यां देशसर्वतः। विरतिरित्यनुवर्तते। हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रतम्, सर्वतो विरतिर्महाव्रतम्। अणु च महच्च अणुमहती इति व्रतापेक्षया नपुंसकलिङ्गनिर्देशः।

आह–'न हिनस्मि नानृतं वदामि नादत्तमाददे नाङ्गनां स्पृशामि न परिग्रहमुपाददे' इति एषोऽभिसन्धिः, योऽत्राऽसमर्थभावनापरः कथं यथाप्रतिज्ञाताभिघातभाक् स्यात् इति? अत्रोच्यते– यस्मादवहितेनेमा भावयितव्याः परमार्थादित्सया–

## तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

भावनाशब्दः कर्मसाधनः ।१। अयं भावनाशब्दः कर्मसाधनो द्रष्टव्यः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षेण आत्मना भाव्यन्ते ता इति भावनाः।

पञ्च पञ्चेत्यत्र वीप्सायां शस्प्रसङ्ग इति चेत्; न; कारकाधिकारात् ।२। स्यादेतत्–पञ्च पञ्चेत्यस्मिन् निर्देशे वीप्साविवक्षिते वीप्सायां शसा भवितव्यं पञ्चश इति, तथा सति लघुश्च निर्देशो भवतीति; तन्न; किं कारणम्? कारकाधिकारात्। कारकादिति तत्र [6]वर्तते, न चाऽत्र कारकत्वमस्ति इति शसा न भवितव्यम्।

क्रियाध्याहारात् कारकत्वमिति चेत्; न; विकल्पाधिकारात् ।३। स्यादेतत्–'पञ्च पञ्च भावयेत्' इत्येवमादि क्रियापदाध्याहारे कारकत्वोपपत्तौ शसा भवितव्यमिति; तन्न; किं

१–मुपाददीयेतेत्या–श्र०। –मुपादीयतेत्या–मु०। २ दीक्षाग्रहणकाले 'सर्वसावद्यविरतोऽस्मि' इति परिणामो न संभवति, तदैव भाजनान्तरसंग्रहे परिणामत्वात्। ३ कर्मतापन्नम्। ४ गवाद्यात्मभूतसास्नादिधर्मस्वीकारात्। ५ शबलशाबलेयादि। ६ प्रवर्त–श्र०।

कारणम् ? विकल्पाधिकारात् वेत्यनुवर्तते, तेनात्र शस् न भवति । ननु लघुत्वात् शसा निर्देशः कर्तव्यः; प्रतिपत्तेः गौरवं मा भूत् इति द्वित्वमेव कृतम्, वाक्याध्याहारे हि क्रियमाणे प्रतिपत्ते-गौरवं स्यात् इति । तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यार्थम् एकैकस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्याः ।

यद्येवम्, आद्यस्य अहिंसाव्रतस्य का इति ? उच्यते—

५ **वाङ्मनोगुप्तीर्याऽऽदाननिक्षेपणसमित्यालोकित-पानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥**

वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनमित्येताः पञ्च अहिंसाव्रतस्य भावनाः ।

अथ द्वितीयस्य व्रतस्य काः ?

१० **क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥**

क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानं भीरुत्वप्रत्याख्यानं हास्यप्रत्याख्यानम् अनुवीचिभाषणं चेत्येताः पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य ज्ञेयाः । अनुवीचिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थः । ननु अप्रशस्तक्रियस्यापि वचसोऽनुवीचिभाषणमापन्नम्; नैष दोषः; पुण्यास्रवस्य प्रकृतत्वात्, अप्रशस्तक्रियानुवीचिभाषणस्यानधिकारः । विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा ।

१५ इदानीं तृतीयस्य व्रतस्य भावना वक्तव्याः—

**शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥**

शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिष्वावासः । परकीयेषु च मोचितेष्वावासः । परेषाम् उपरोधाकरणम् । आचारशास्त्रमार्गेण भैक्ष्यशुद्धिः । ममेदं तवेदमिति सधर्मभिः अविसंवाद

२० इति एताः पञ्च अदत्तादानविरमणव्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्याः ।

अथेदानीं ब्रह्मचर्यस्य भावना वक्तव्याः—

**स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥**

स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जनं तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणविरहः पूर्वरतानुस्मरणपरित्यागः वृष्येष्टर-

२५ सानुभवननिरासः स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति चतुर्थव्रतस्य भावनाः पञ्च [1]विज्ञेयाः ।

अतः परं पञ्चमव्रतस्य भावना निर्देष्टव्याः—

**मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥**

पञ्चानामिन्द्रियाणां स्पर्शादीनामिष्टानिष्टेषु विषयेषु उपनिपतितेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषवर्जनानि पञ्च अस्य आकिञ्चन्यव्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्याः ।

३० किञ्चान्यत्, यथा अमीषां व्रतानां द्रढिमार्थं भावनाः [3]प्रति यतेद् विपश्चिदिति भावनोपदेशः, तथा तदर्थं तद्विरोधिष्वपि, इत्याह—

१ भावनाः कथ्यन्ते मु०, द० । २ ज्ञेयाः श्र० । ३ प्रयतेत विपश्चिदिति–ता० । प्रतीयते तद्विपश्चिद्भिरिति मु० ।

## हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां नाशकोऽपायो भयं वा ।१। अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियासाधनानां नाशकोऽनर्थः अपाय इत्युच्यते। अथवा ऐहलौकिकादिसप्तविधं भयमपाय इति कथ्यते।

अवद्यं गर्ह्यम् ।२। गर्ह्यमवद्यमिति यावत्। अपायश्च अवद्यं च अपायावद्ये। अपायावद्ययोर्दर्शनं अपायावद्यदर्शनं भावयितव्यम्। क? इहाऽमुत्र च। केषु? हिंसादिषु। कथमिति-चेत्? उच्यते-हिंसायां तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च, इहैव च वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवति इति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। तथा अनृतवादी [1]अश्रद्धेयो भवति, इहैव च जिह्वाच्छेदनादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनानि अवाप्नोति, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवति इति अनृतवचनात् व्युपरमः श्रेयान्। तथा स्तेनः परद्रव्याहरणासक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति, इहैव चाऽभिघातवधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवतीति स्तेयात् व्युपरमः श्रेयान्। तथा अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्भ्रथितचित्तः वनगज इव [2]वासितावञ्चितो विवशो वधबन्धपरिक्लेशादीन् अनुभवति, मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याऽकार्यानभिज्ञो न [3]किञ्चिदकुशलं नाचरति, पराङ्गनालिङ्गनासङ्गकृतरतिश्च इहैव वैरानुबन्धिनः लिङ्गच्छेदनवधबन्धसर्वस्वहरणादीन् अपायान् प्राप्नोति, प्रेत्य चाऽशुभां गतिमश्नुते, गर्हितश्च भवतीति, अतो विरतिरात्महिता। तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डः अन्येषां तदर्थिनां पतत्त्रिणाम्, इहैव तस्करादीनामभिभवनीयो भवति, तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान् बहूनवाप्नोति, न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवाग्नेः, लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति, प्रेत्य चाऽशुभां गतिमास्कन्दति, लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवति इति तद्विरमणं श्रेयः। एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम्।

हिंसादिषु भावनान्तरप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

## दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अत्र चोद्यते-दुःखमसद्वेद्योदयकृतः परितापः, हिंसादयः क्रियाविशेषाः, कथं दुःखमेव हिंसादयः इति? अत्रोच्यते—

दुःखमेवेति कारणे कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् ।१। यथा 'अन्नं वै प्राणाः' इति प्राणकारणे अन्ने प्राणोपचारः तथा दुःखकारणेषु हिंसादिषु दुःखमेव इत्युपचारो वेदितव्यः।

कारणकारणे वा धनप्राणवत् ।२। अथवा, यथा द्रविणकारणमन्नपानम्, अन्नपानकारणाः प्राणाः इति प्राणकारणे द्रविणे प्राणोपचारः। उक्तं च—

"यदेतद् द्रविणं नाम प्राणा ह्येते बहिश्चराः।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥ १ ॥" [　　] इति

तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकर्मकारणम्, असद्वेद्यकर्म दुःखकारणमिति दुःखकारणकारणेषु हिंसादिषु दुःखमेवेत्युपचारः।

तत्परत्र भावनमात्मसाक्षिकम् ।३। तदेतद्दुःखमेवेति भावनं परत्रात्मसाक्षिकम् अवगन्तव्यम्। तद्यथा-ममाऽप्रियं यथा वधपरिपीडनं तथा सर्वसत्त्वानाम्। यथा मम मिथ्याख्यानकटु-

---

१ श्रद्धेयो न भ-मु०, द०, ब०। २ करिण्या। ३ किञ्चिदपि कुशलं नाच-द०। किञ्चिदपि कुशलमाच-मु०।

कपरुपादीनि वचांसि शृण्वता अतितीव्रदुःखमभूतपूर्वमुत्पद्यते एवं सर्वजीवानाम्। यथा च ममेष्टद्रव्यवियोगे व्यसनमभूतपूर्वमुपजायते एवं सर्वभूतानाम्। यथा च मम कान्ताजनपरिभवे परकृते सति मानसी पीडाऽतितीव्रा जायते तथेतरेषाम्। यथा च मम परिग्रहेषु अप्राप्तेषु प्राप्तेषु विनष्टेषु काङ्क्षारक्षाशोकोद्भवं दुःखं तथा सर्वप्राणिनामिति हिंसादिभ्यो व्युपरमः परमहितः।

५ स्पर्शकृतं सुखमिति चेत्; न; वेदनाप्रतीकारत्वात् ।४। स्यादेतत्, न सर्वं दुःखमेव। किं तर्हि? स्पर्शकृतं सुखमप्यस्ति, वराङ्गनामृदुसुभगगात्रसंश्लेषणात् रतिसुखमुपजायत इति; तन्न; किं कारणम्? वेदनाप्रतीकारत्वात्। यथा त्वङ्मांसरुधिरकलुषभावोद्गीर्णया कण्ड्वा बाध्यमानः नखमुखशकलशर्करादिभिः छिन्नगात्रो रुधिरार्द्रोऽनुपरतकण्डूयो दुःखमपि तत्सुखमिति मन्यते, तथा मैथुनोपसेवी मोहादसुखमपि सुखमिति मन्यते। दुःखयोनित्वाच्च दुःखमेवेति भावनीयम्।

१० यथैते क्रियाविशेषाः तात्पर्येण भाव्यमाना व्रतपूर्णतां जनयन्ति तथा अमूनि तादर्थ्यात् ऐहिकप्रयोजनविनिवृत्तौत्सुक्येन अवहितचेतसाऽजस्रं भाव्यमानानि व्रतसम्पदमापादयन्तीत्याह–

## मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥

परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री ।१। स्वकायवाङ्मनोभिः कृतकारितानुमतविशेषणैः १५ परेषां दुःखानुत्पत्तौ अभिलाषः मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री।

वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः ।२। वदनप्रसादेन नयनप्रह्लादनेन रोमाञ्चोद्भवेन स्तुत्यभीक्ष्णसंज्ञासंकीर्तनादिभिश्च अभिव्यज्यमानाऽन्तर्भक्तिरागः प्रकर्षेण मोदः प्रमोद इत्युच्यते।

दीनानुग्रहभावः कारुण्यम् ।३। शारीरमानसदुःखाभ्यर्दितानां दीनानां प्राणिनाम् अनु- २० ग्रहात्मकः परिणामः करुणस्य भावः कर्म वा कारुण्यमिति कथ्यते।

रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताऽभावो माध्यस्थ्यम् ।४। रागात् द्वेषाच्च कस्यचित् पक्षे पतनं पक्षपातः तदभावात् मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, मध्यस्थस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम्।

अनादिकर्मबन्धवशात् सीदन्तीति सत्त्वाः ।५। अनादिना अष्टविधकर्मबन्धसन्तानेन तीव्रदुःखयोनिषु चतसृषु गतिषु सीदन्तीति सत्त्वाः।

२५ सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः ।६। सम्यग्ज्ञानदर्शनादयो गुणाः, तैः प्रकृष्टा गुणाधिका इति विज्ञायन्ते।

असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः ।७। असद्वेद्योदयापादितशारीरमानसदुःखसन्तापात् क्लिश्यन्त इति क्लिश्यमानाः।

तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसम्पादितगुणा अविनेयाः ।८। तत्त्वार्थोपदेशश्रवणग्रहणाभ्यां ३० विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेयाः, न विनेया अविनेयाः। एतेषु सत्त्वादिषु मैत्र्यादीनि यथाक्रमं भावयितव्यानि। तद्यथा, 'क्षमयामि[3] सर्वजीवान् क्षाम्यामि सर्वजीवेभ्यः, प्रीतिर्मे सर्वसत्त्वैः, वैरं मे न केनचित्' इति मैत्री सर्वसत्त्वेषु भावयितव्या। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राधिकेषु वन्दनास्तुतिवैयावृत्त्यकरणादिभिः प्रमोदो भावनीयः। मोहाभिभूतेषु मतिश्रुताज्ञानविभङ्गपरिगतेषु विषयतर्षाग्निना दह्यमानमानसेषु हिताहितविपरीतप्रवृत्तिषु विविधदुःखाभिभूतेषु दीनकृपणाऽनाथबालवृद्धेषु क्लिश्य-

---

१ प्राप्तविन–मु०, द०, ता०, मू०, ब०। २ परमः हि–मु०, द०। ३ "खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे। मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मम ण केणवि॥" –मूलाचा० गा० ४३।

मानेषु कारुण्यं भाव्यम्। अविनेयेषु ग्रहणधारणविज्ञानोहापोहवियुक्तेषु महामोहाभिभूतेषु दुष्टव्युद्ग्राहितेषु च माध्यस्थ्यं भावनीयम्। न हि तत्र वक्तुर्हितोपदेशस्य फलवत्त्वं भवतीति। एवं भावयतः परिपूर्णानि अहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति।

किमेतावानेव अभिनवाऽकुशलकर्मादाननिवृत्तिपरेण महाव्रतधारिणा क्रियाकलापः प्रणिधातव्यः ? नेत्याह— ५

## जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

जगत्कायशब्दावुक्तार्थौ ।१। जगच्छब्दः कायशब्दश्च उक्तार्थौ द्रष्टव्यौ।

स्वेनात्मना भवनं स्वभावः ।२। स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते। जगच्च कायश्च जगत्कायौ, जगत्काययोः स्वभावौ जगत्कायस्वभावौ।

संसाराद् भीरुता संवेगः ।३। संसाराद् विविधवेदनाकराद् भीरुता संवेजनं संवेग इत्युच्यते। १०

रागकारणाभावात् विषयेभ्यो विरञ्जनं विरागः ।४। चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद्वा शब्दादिभ्यो विरञ्जनं विराग इति व्यवसीयते। विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम्। संवेगश्च वैराग्यं च संवेगवैराग्ये, संवेगवैराग्याभ्यां संवेगवैराग्यार्थं जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ। तद्यथा—जगत्स्वभावस्तावत् आदिमदनादिमत्परिणामद्रव्यसमुदायरूपः तालवृक्षसंस्थानः अनादिनिधनः। अत्र जीवाः चतसृषु गतिषु नानाविधं दुःखं भोजं भोजं परिभ्रमन्ति न चात्र किञ्चिन्नियतमस्ति। जलबुद्बुदोपमं जीवितम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसंपदः इत्येवमादिः। कायस्वभावश्च अनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारता अशुचित्वमित्येवमादिः। एवं भावयतः संवेगः संजायते। तत आरम्भपरिग्रहदोषदर्शनाद्विरतिः धर्मे बहुमानो धार्मिकेषु च धर्मश्रवणे धार्मिकदर्शने च मनसः प्रसादः। उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तौ च श्रद्धेति वैराग्यं च भवति शरीरभोगोपभोगसंसारनिर्वेदलक्षणम्। एवं भावनोपेतः सम्यग्व्रतानि परिपालयति। १५ २०

ता एताः सर्वा व्रतभावनाः सर्वेषु पदार्थेषु सर्वथा नित्येषु सत्सु विक्रियाभावात् नोपपद्यन्ते। विक्रियाभ्युपगमे च नित्यताप्रतिज्ञाहानिः। सर्वथैवाऽनित्येषु चाऽनेकक्षणवृत्त्येकवस्त्वभावात् अनेकार्थविषयैकविज्ञानाभावाच्च स्मरणानुपपत्तेर्भावनाऽभावः। अनेकान्तवादिनः पुनः द्रव्यार्थिकनयादेशात् नित्यतामवलम्बमानस्य उभयनिमित्तवशात् उत्पत्तिनिरोधौ प्रत्याभिमुख्यमादधानस्य स्मरणोपपत्तेः विक्रियोपपत्तेश्च भावनासिद्धिः। २५

अत्राह—उक्तं भवता हिंसादिनिवृत्तिर्व्रतमिति। तत्र न जानीमः के हिंसादयः क्रियाविशेषा इति ? अत्रोच्यते—युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् तल्लक्षणनिर्देशस्य क्रमप्रसङ्गे यासावादौ चोदिता सैव तावत्—

## प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥ ३०

अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः ।१। इन्द्रियाणां प्रचारविशेषमनवधार्य प्रवर्तते यः स प्रमत्तः।

अभ्यन्तरीकृतेवार्थो वा ।२। अथवा, अभ्यन्तरीकृतेवार्थः प्रमत्त इत्युच्यते। कः पुनरिवार्थः ? यथा सुरापः प्रवृद्धमदत्वात् कार्याऽकार्यवाच्याऽवाच्याद्यनभिज्ञः, तथा जीवस्थानयोन्याश्रयविशेषानविद्वान् कषायोदयाविष्टः हिंसाकारणेषु स्थितः अहिंसायां [2]सामान्येन न यतत इति प्रमत्तः। ३५

---

१-कारवदफला-मु०, द०। २ साम्येन न यतते मू०। साम्येन न प्रयतते श्र०।

**पञ्चदशप्रमादपरिणतो वा** ।३। अथवा चतसृभिः विकथाभिः कषायचतुष्टयेन पञ्चभिरिन्द्रियैः निद्राप्रणयाभ्यां च परिणतो यः स प्रमत्त इति कथ्यते ।

**योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनः** ।४। अयं योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनो द्रष्टव्यः, योजनं योगः संबन्ध इति यावत् । यद्येवं भावप्रधानो निर्देशः कर्तव्यः–'प्रमत्तत्वयोगाद्' इति, द्रव्यप्रधाने
५ हि सति संबन्धाऽप्रतीतेः; नैष दोषः; आत्मपरिणाम एव कर्तृत्वेन निर्दिश्यते प्रमाद्यतिस्म इति प्रमत्तः परिणामः, तेन योगात् प्रमत्तयोगादिति ।

**कायवाङ्मनस्कर्म वा** ।५। अथवा, कायवाङ्मनस्कर्म योग इत्युच्यते । प्रमत्तस्य योग प्रमत्तयोगः तस्मात् प्रमत्तयोगात् इति हेतुनिर्देशः । प्रमत्तयोगाद्धेतोः प्राणव्यपरोपणं हिंसेति ।

**व्यपरोपणं वियोगकरणम्** ।६। वियोगकरणं व्यपरोपणमित्युच्यते । प्राणा उक्ताः, तेषां
१० व्यपरोपणं प्राणव्यपरोपणम् ।

**प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य** ।७। प्राणग्रहणं क्रियते तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य । प्राणवियोगपूर्वको हि प्राणिवियोगः, स्वतः प्राणिनो निरवयवत्वाद्वियोगाभावात् ।

**अन्यत्वादधर्माभावः इति चेत्; न; तद्दुःखोत्पादकत्वात्** ।८। स्यान्मतम्–प्राणेभ्योऽन्य आत्मा, अतः प्राणवियोगे नात्मनः किञ्चिद्भवतीत्यधर्माभावः स्यादिति; तन्न; किं कारणम्?
१५ तद्दुःखोत्पादकत्वात् । प्राणव्यपरोपणे हि सति तत्संबन्धिनो जीवस्य दुःखमुत्पद्यत इत्यधर्मसिद्धिः ।

**शरीरिणोऽन्यत्वात् दुःखाऽभाव इति चेत्; न; पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात्** ।९। स्यादेतत्–अन्यः शरीरी प्राणेभ्यः, अतस्तत्पूर्वकदुःखमस्य न युज्यते इति; तन्न; किं कारणम्? पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् । अन्यत्वेऽपि सति पुत्रकलत्रादिवियोगे तापो दृश्यते ।

२० **बन्धं प्रत्येकत्वाच्च** ।१०। यद्यपि शरीरिशरीरयोः लक्षणभेदान्नानात्वम्, तथापि बन्धं प्रत्येकत्वात् तद्वियोगपूर्वकदुःखोपपत्तेरधर्माऽभाव इत्यनुपालम्भः ।

**एकान्तवादिनां तदनुपपत्तिर्बन्धाभावात्** ।११। ये निष्क्रियत्वनित्यत्वशुद्धत्वसर्वगतत्वादिभिः एकान्तेन आत्मानं कल्पयन्ति तेषां शरीरेण [1]सह बन्धाभावात् दुःखादीनामनुपपत्तिर्भवति ।

२५ **उभयविशेषणोपादानम् अन्यतराभावे हिंसाऽभावज्ञापनार्थम्** ।१२। प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणमित्येतदुभयं विशेषणमुपादीयते । किमर्थम्? अन्यतराभावे हिंसाऽभावज्ञापनार्थम् । यदा प्रमत्तयोगो नास्ति केवलं प्राणव्यपरोपणमेव न तदा हिंसा । उक्तं च—

"वियोजयति चासुभिर्न च [2]वधेन संयुज्यते ।" [सिद्ध० द्वा० ३।१६]

"उच्चालदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
३० आवादेज्ज [3]कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥१॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥२॥" [प्रवचनसा० ३।१७, क्षे० १–२] इति[4] ।

ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते । उक्तं च—

"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
३५ पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ १ ॥" [प्रवचनसा० ३।१७] इति ।

---

१ सम्बन्धाभावा–श्र० । २ वधदोषेण । ३ कुत्सितप्राणी पृथिव्यादिकायिक इत्यर्थः । ४ द्रष्टव्यम्–जयध० पृ० १०३ टि० ४, ५ ।

नैष दोषः; तत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम्। तथा चोक्तम्—

"स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥ १॥" [　　] इति[1]।

एवं कृत्वा यैरुपालम्भः क्रियते—

"जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च। 　५
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥" [　　] इति;

सोऽत्रावकाशं न लभते। भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात्। किञ्च, सूक्ष्मस्थूलजीवाभ्युपगमात्।

"सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥" [　　] 　१०

अत्र कश्चिदाह–साधूक्तं भवता प्राणव्यपरोपणं हिंसेति। प्राणानां हि परस्परतो वियोगो हिंसा, न कश्चित् प्राणी विद्यते इति। अत उत्तरं पठति–

प्राण्यभावे प्राणाभावः कर्तुरभावात्।१३। यदि प्राणी न स्यात् प्राणानामभावः। कुतः? कर्तुरभावात्। इह कुशलाऽकुशलात्मककर्मपूर्वकाः प्राणाः तच्च कर्म असति[2] कर्तरि न भवतीति प्राणाभावः स्यात्, अतः प्राणसद्भाव एव प्राणिनोऽस्तित्वं गमयति। सन्दंशादिकरणसद्भावे 　१५ अयस्कारसंसिद्धिवत्।

किञ्च, असति प्राणिनि रूपणाऽनुभवनोपलम्भननिमित्तग्रहणसंस्करणभिन्नलक्षणाः [3]रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः विविक्तशक्तित्वात् परस्परोपकारं प्रति विनिवृत्तौत्सुक्याः क्षणिकत्वात् स्वप्रयोजनं प्रत्यप्यसमर्थाः हिंसानिर्वृत्तिहेतवो न भवन्ति। स्मृत्यभिसन्धि[4]क्रियाचित्तानां [5]व्यधिकरणवदेकाधिकरणेऽप्यनुपपत्तेः, एकेनापि विकले प्राणातिपाताऽनभ्युपगमात्। अपि च, 　२० उत्पत्त्यनन्तरं विनाशाभ्युपगमे निरोधस्याहेतुकत्वात् प्राणातिपातलक्षणस्य विनाशस्य हिंसको हेतुर्न भवति इति तत्फलानभिसंबन्धः। अथाऽहेतोरपि तत्फलमिष्यते; अहिंसको नाम न कश्चिदस्ति। भिन्नसन्तानोत्पत्तिहेतुर्हिंसक इति चेत्; न; असत उत्पत्तेर्हेत्वभावात्। अथाऽसत उत्पत्तेर्हेतुरिष्यते; सतो विनाशे हेतुः स्यादिति को विरोधः?

आह–अभिहितलक्षणाहिंसानन्तरोद्दिष्टम् अनृतं किं लक्षणमिति? अत्रोच्यते— 　२५

## असदभिधानमनृतम्॥ १४॥

असदिति नञः सत्प्रतिषेधाच्छून्यार्थसंप्रत्ययप्रसङ्गः।१। न सत् असदिति नञा सत्प्रतिषेधः क्रियते, तेन शून्यार्थसंप्रत्ययः प्रसज्यते, तेन नास्ति न किञ्चिदित्येवमाद्येवानृतं स्यात्, यदसत् सदिति ब्रूयात् न तदनृतं स्यात्।

न वा, सच्छब्दस्य प्रशंसार्थवाचित्वात्।२। न वैष दोषः, किं कारणम्? सच्छब्दस्य 　३० प्रशंसार्थवाचित्वात्। न सदसत् अप्रशस्तमिति यावत्।

---

१ उद्धृतोऽयम्–स० सि० ७।१३। २ आत्मनि। ३ रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परानुसम्बन्धा रूपस्कन्धाः। सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः। सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः। वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः। ज्ञानपुण्यपापादिवासनाः संस्कारस्कन्धा इति पञ्च स्कन्धाः। ४ अभिप्राय। ५ अन्याश्रयवत्।

अभिधानशब्दः करणादिसाधनः ।३। अयमभिधानशब्दः करणादिषु साधनेषु द्रष्टव्यः। अभिधीयते अनेन, अभिधीयते, अभिधा वा अभिधानमिति। असतोऽर्थस्याभिधानम् असद्-भिधानम् ।

ऋतं सत्यार्थे ।४। ऋतमित्येतत् पदं सत्यार्थे द्रष्टव्यम् । सत्सु साधु सत्यं प्रत्यवायकारणा-
५ निष्पादकत्वात् । न ऋतमनृतम् ।

मिथ्याऽनृतमित्यस्तु लघुत्वात् इति चेत्; न; विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसङ्गात् ।५। स्यान्मतम्-मिथ्याऽनृतमित्येतत् सूत्रमस्तु । कुतः ? लघुत्वात् । सूत्रं हि नाम यल्लघु गमक[2] च तत् कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसङ्गात् । अयं हि मिथ्याशब्दः विपरीतार्थे वर्तते । तेन भूतनिह्नवे अभूतोद्भावने च यदभिधानं तदेवानृतं स्यात्-नास्ति आत्मा
१० नास्ति परलोक इति, श्यामाकतण्डुलमात्र[3]मात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्रः सर्वगतो निष्क्रियः इति च, यत्तु विद्यमानार्थविषयं परप्राणिपीडाकरणं तन्न स्यात् । असदिति पुनरुच्यमाने अप्रशस्तार्थं यत् तत्सर्वमनृतमुक्तं भवति । तेन विपरीतार्थस्य प्राणिपीडाकरस्य चानृतत्वमुपपन्नं भवति ।

अथाऽनृतानन्तरमुद्दिष्टं यत्स्तेयं तस्य किं लक्षणमिति ? अत आह—

## अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

१५ आदानं ग्रहणम् , अदत्तस्याऽऽदानम् अदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते ।

सर्वमदत्तमाददानस्याऽकुशलकल्पनायां [4]कर्मादेयमात्मसात्कुर्वतः स्तेयप्रसङ्गः ।१। यद्यविशेषेण अदत्तस्य आदानं स्तेयमित्युच्यते, कर्माष्टविधं अन्येनाऽदत्तमाददानस्य स्तेयं प्राप्नोतीति । एतेन [6]नोकर्मापि चोदितं भवति ।

न; दानादानयोर्यत्रैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तत्रैवोपपत्तेः ।२। नैष दोषः, येषु मणिमुक्ताहिरण्या-
२० दिषु दानादानयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिसंभवः तेष्वेव स्तेयस्योपपत्तेः, तेन कर्मणि नास्ति प्रसङ्गः ।

इच्छामात्रमिति चेत्; न; अदत्तादानग्रहणात् ।३। स्यादेतत्-इच्छामात्रमिदं यस्य दानादानसंभवस्तस्य ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? अदत्तादानग्रहणात् । यस्य हि दानादाने संभवतः तस्य ग्रहणमकुशलम् । यदि हि कर्मादानमपि स्तेयं स्यात् 'अदत्तादानम्' इत्येतत् विशेषणमयुक्तं स्यात् , प्रसक्तस्य अदत्तमिति प्रतिषेधोपपत्तेः ।

२५ कर्मापि हि किमर्थं कस्मैचिन्न दीयत इति चेत्; न; हस्तादिकरणग्रहणविसर्गासंभवात्[7] सूक्ष्मत्वात् ।४। अथ मतमेतत्-किमर्थं कर्म न कस्मैचिद्दीयत इति गृह्यते ? ननु लोकवादः प्रसिद्धः-आरामविहारादि[8]पादपानां फलम् अन्यस्मै जलसेकेन[9] दीयते इति; तन्न; किं कारणम् ? हस्तादिकरणविसर्गासंभवात् । यथा वस्त्रपात्रादि हस्तादिकरणैरादीयते अन्यस्मै च दीयते न तथा कर्म हस्तादिभिरादीयते अन्यस्मै च दीयते । कुतः ? सूक्ष्मत्वात् । सूक्ष्मं हि कर्म हस्तादिग्रहण-
३० विसर्गयोग्यं न भवति । कथं तर्हि तदादीयते ?

शरीराहारविषयपरिणामतस्तद्बन्धः ।५। स्वपरकीयेषु शरीरेषु आहारेषु शब्दादिविषयेषु च रागद्वेषरूपात्तीव्रादिविकल्पात् परिणामात् तस्य कर्मबन्धो भवति, ततः स्वपरिणामवशीकृतत्वाच्च नान्यस्मै दीयते । यद्येवं नित्यकर्मबन्धः प्राप्नोति ? नैष दोषः;

---

१ कर्मसाधनः । २ ज्ञापकम् । ३-त्र आ-मु० । ४ आदातुं योग्यम् । ५ अदत्तस्तस्या-श्र० । ६ शरीर । ७-त् अथ ता०, श्र०, मू०, द०, ब०, आ० । ८-दिनिष्पादनं फलम् ता०, श्र०, मू० द० ब०, आ० । ६ धारापूर्वकमनित्यर्थः ।

ग्रृतत्वाद् वन्धाभावः ।६। आस्रवनिरोधो वक्ष्यते गुप्त्यादिलक्षणः,
ग्रन्धः इति नित्यबन्धाभावः । अतो यत्रैवैहलौकिकोपकारविशेषाद्
क्लृप्तिः ।

।ग्यदत्तादानात् स्तेयप्रसङ्ग इति चेत् ; न; अप्रमत्तत्वात् ।७। स्यादे-
न्यदत्तानि आददानस्य भिक्षोः स्तेयं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कार- ५
तो ह्यप्रमत्तस्य ज्ञानिनः शास्त्रदृष्ट्या शब्दादिविषयरथ्याद्वाराद्या-
:, सामान्यतो मुक्तत्वात् । दत्तमेव वा तत्सर्वम्, तथा हि अयं पिहि-

ादानात् स्तेयप्रसङ्ग इति चेत् ; न; उक्तत्वात् ।८। स्यान्मतम्–वन्द-
सति प्रशस्तं स्तेयं प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्त- १०
मतत्–दानादानसमवा यत्र तत्र स्तेयप्रसङ्ग इति ।

प्रमत्ताधिकाराच्चान्यत्राऽप्रसङ्गः ।९। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [त० ७।१३] इत्यतः प्रमत्तयोगग्रहणमनुवर्तते । तेन प्रमत्तस्य स्तेयम्, वन्दनादिषु योगत्रयेणाऽऽभिमुख्यादात्मनः प्रमत्तत्वं नास्ति, अतः सत्यपि धर्मादानेऽस्य न स्तेयम् । परिशेषात् प्रमत्तस्य सत्यसति च परकीयद्रव्यादाने [2]त्रेधाऽपि तदादानाद्यर्थोद्यतत्वात् स्तेयम्, तदपि प्राणिपीडाकारणत्वात् पापास्रव इत्युच्यते । १५

अत्राह–व्याख्यातं हिंसादित्रयलक्षणम् । अथाऽब्रह्म किंलक्षणमिति ? अत्रोच्यते—

# मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

मैथुनमिति किमिदम् ? मिथुनस्य भावो मैथुनम् ।

मिथुनस्य भाव इति चेत्; न; द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गात् ।१। यदि मिथुनस्य भावो मैथुनमित्युच्यते; नैतद्युक्तम्; कुतः ? द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गात् । एवं सति औदासीन्यावस्थितविनिवृत्तरागस्त्रीपुंसभवनेऽपि मैथुनप्रसङ्गः । २०

मिथुनस्य कर्मेति चेत्; न; पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् ।२। यदि मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते; नैतदुपपन्नम्; कुतः ? पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् । द्वयोः पुरुषयोः निर्वर्त्य यद्भारोद्वहनादि कर्म तत्रापि प्रसङ्गः स्यात् । २५

स्त्रीपुंसयोः कर्म इति चेत्; न; पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् ।३। स्यान्मतम्–न सर्वं मिथुनमिह परिगृह्यते अनिष्टप्रसङ्गात्, ततः स्त्रीपुंसमिथुनविषयकर्मसंग्रह इति; तन्न; किं कारणम् ? पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् । ततश्च स्त्रीप्रव्रजितयोर्नमस्काराद्यासेवने मैथुनप्रसङ्गदोषः । अत उत्तरं पठति–

स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे रागपरिणामो मैथुनम् ।४। चारित्रमोहोदये सति स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे सति सुखमुपलिप्समानयोः रागपरिणामो यः स मैथुनव्यपदेशभाक् । ननु नायं शब्दार्थः; सत्यमेवमेतत्; तथापि "प्रसिद्धिवशात् अर्थाध्यवसायः" [ ] इतीष्टार्थो गृह्यते । ३०

न वैकस्मिन्नप्रसङ्गात् ।५। न वैतद्युक्तम् ? कुतः ? एकस्मिन्नप्रसङ्गात् । हस्तपादपुद्गलसंघट्टनादिभिरब्रह्म सेवमाने एकस्मिन्नपि मैथुनमिष्यते, तन्न सिद्ध्यति ।

उपचारादिति चेत्; न; मुख्यफलाभावप्रसङ्गात् ।६। स्यादेतत्–यथा स्त्रीपुंसयोः चारित्रमोहोदये वेदनापीडितयोः कर्म मैथुनं तथैकस्यापि चारित्रमोहोदयोद्रिक्तरागस्य हस्तादिसंघट्टनेऽस्ति ३५

---

अन्यासाधारणम् । २ त्रिधापि–मु०, द०, ब० ।

मैथुनमिति; न; मुख्यफलाभावप्रसङ्गात्। यन्मुख्ये मैथुने कर्मास्रवफलं तदत्र न प्रसज्यते मुख्यसिंहगतक्रौर्यशौर्यादेर्माणवकेऽप्रवृत्तिवत्। इष्यते च मुख्यमतो नोपचारः।

न वा स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगस्याविशेषाभि[2]मानात् ।७। यथा स्त्रीपुंसयो रत्यर्थे संयोगे परस्पररतिकृतस्पर्शाभिमानात् सुखं तथैकस्यापि हस्तादिसवट्टनात् स्पर्शाभिमानस्तुल्यः। तस्मान्मुख्य ५ एव तत्रापि मैथुनशब्दलाभः रागद्वेषमोहाविष्टत्वात्। किञ्च,

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः ।८। यथैकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वं तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धेः मैथुनव्यवहारसिद्धिः।

प्रसिद्धिवशाच्चार्थविशेषप्रतीतेः पूर्वोक्तानां चाऽनवद्यत्वम् ।९। अयं मैथुनशब्दः लोके १० शास्त्रे च स्त्रीपुरुषसंयोगजरतिविशेषे प्रसिद्धः। लोके तावद् गोपालादयोऽपि स्त्रीपुंसरतिकर्म मैथुनमित्याचक्षते। शास्त्रेऽपि "[3]अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्" [पा० वा० ७।१।५१] इत्येवमादौ तदेव कर्माख्यायते। ततः प्रसिद्धिवशात् अर्थविशेषप्रतीतेः पूर्वोक्तानां च पक्षाणामनवद्यत्वमवसेयम्। तद्यथा—

यत्तावदुक्तम्–मिथुनस्य भाव इति चेन्न द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गादिति; तदसत्; अभ्यन्तर- १५ परिणामाभावे बाह्यहेतोरफलत्वात्। यथा [4]कंकडुकचणकादीनाम् अभ्यन्तरपाककारणविक्लेदशक्त्यभावात् बाह्योदकाग्निसंबन्धस्याऽफलत्वं तथा अभ्यन्तरचारित्रमोहोदयापादितस्त्रैणपौंस्नात्मकरतिपरिणामाभावात् बाह्यद्रव्यद्वयभवनेऽपि न मैथुनम्।

यच्चोक्तम्–मिथुनस्य कर्मेति चेन्न पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् इति; तच्च [5]वार्तम्; कुतः ? कदाचित् पुरुषद्वयेऽपि दर्शनात्। चारित्रमोहोदयाविष्टानां हि पुरुषाणां ता[6]दृशेष्वेव पुरुषेषु २० मैथुनं दृश्यते। उक्तं च—

"पुरुषाः पुरुषेष्वेव यदनिष्टप्रयोजनाः।
अत्यारूढस्य तत्सर्वं रागस्यैव विचेष्टितम् ॥" [ ] इति।

यदप्युक्तम्–स्त्रीपुंसयोः कर्मेति चेन्न पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् इति; तदसाम्प्रतम्; कुतः तद्विषयस्यैव ग्रहणात्। तयोरेव यत्कर्म तदिह गृह्यते, पच्यादिकर्म पुनः अन्येनापि क्रियते। अपि च, २५ प्रमत्तयोगादित्यनुवर्तते ततः चारित्रमोहोदयात् प्रमत्तस्य मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युक्तम्, नमस्काराद्युपयुक्तस्य चाऽप्रमत्तत्वात् चारित्रमोहोदयाभावाच्च सत्यपि वन्दनादिमिथुनकर्मणि न मैथुनम्।

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म ।१०। अहिंसादयो गुणाः यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयन्ति तद्ब्रह्मेत्युच्यते, न ब्रह्म अब्रह्म। किं तत् ? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मात् मैथुनसेवनप्रवणः स्था[7]ष्णुचरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते सचेत- ३० नमितरं च परिग्रहं गृह्णाति।

अत्राह– उक्तं भवता हिंसादिचतुष्टयस्य विशेषलक्षणम्। इदानीमिदमुच्यतां परिग्रहस्य किं लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

## मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

मूर्च्छेत्युच्यते। का मूर्च्छा ?

३५ बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्च्छा ।१। बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्तादीनां चेतना-

---

१ तन्न मु०, ब० । २–भिधानात् मु०, द०, ब० । ३ वृषाऽश्वयोर्मैथुने । ४ कंकटुकच–श्र०, ता० । ५ अयुक्तम् । ६ तादृशेषु पु–मु०, ब० । ७ स्थाणूंश्चरिष्णून् मु०, ब० ।

चेतनानाम् अभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणव्यापृतिः मूर्च्छेति कथ्यते ।

वातपित्तश्लेष्मविकारप्रसङ्ग इति चेत् ; न; विशेषितत्वात् ।२। स्यान्मतम्–वातपित्तश्लेष्मणामन्यतमस्य दोषस्य प्रकोपात् उपजायमानो विकारो मूर्च्छेति; तन्न; किं कारणम् ? विशेषितत्वात् । मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तमानः बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिविषयः परिगृहीत इति विशेषितत्वात् इष्टार्थसंप्रत्ययो भवति । सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्त इति । ५

बाह्यस्याऽप्रसङ्ग इति चेत् ; न; आध्यात्मिकप्रधानत्वात् ।३। स्यादेतत्–मूर्च्छेत्यनेन आध्यात्मिकः परिग्रहः परिगृह्यते, तेन बाह्यस्य परिग्रहत्वं न प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? आध्यात्मिकप्रधानत्वात् । ममेदमिति संकल्पः आध्यात्मिकः परिग्रहः, स प्रधानभूत इति तस्योपादानं क्रियते, तस्मिन् संगृहीते तत्कारणस्याप्यनुषङ्गेण[1] प्रतीतेः । अथ यदा बाह्यः प्राधान्येन इष्यते कथं तस्य संग्रहः ? १०

मूर्च्छाकारणत्वात् बाह्यस्य मूर्च्छाव्यपदेशः ।४। यथा अन्नं वै प्राणा इति प्राणकारणे अन्ने प्राणोपचारः, तथा मूर्च्छाकारणत्वात् बाह्यः परिग्रहो मूर्च्छेति व्यवह्रियते ।

ज्ञानदर्शनचारित्रेषु सङ्गः परिग्रहः इति चेत् ; न; प्रमत्तयोगाधिकारात् ।५। स्यान्मतम्–यथा आध्यात्मिकेऽपि रागादावात्मपरिणामे सङ्गः परिग्रह इत्युच्यते, ज्ञानदर्शनचरित्रेष्वपि ममेति संकल्पः परिग्रहः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रमत्तयोगाधिकारात् । ततः ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावात् न मूर्च्छास्ति इति निष्परिग्रहत्वं सिद्धम् । किञ्च, तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वात् आत्मस्वभावानतिवृत्तेरपरिग्रहत्वम् । रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इत्यनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः, ततस्तेषु संकल्पः परिग्रह इति युज्यते । १५

तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः ।६। सः परिग्रहो मूलमेषां ते तन्मूलाः । के पुनस्ते[2] ? सर्वे दोषानुषङ्गाः ? ममेदमिति हि सति संकल्पे रक्षणादयः सञ्जायन्ते । [3]तत्र च हिंसाऽवश्यंभाविनी, तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रतियतते, तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः, इहापि अनुपरतव्यसनमहार्णवावगाहनम् । २०

एवममूभिर्भावनाभिः स्थिरीकृतचेतसोऽपायावद्यदर्शिनो विचक्षणस्य सर्वसंसारिक्रियाकलापात् दुःखबुद्ध्या निरुत्सुकीकृतविषयकुतूहलस्य[4] मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यप्रणिधानापादितसौहार्दस्य जन्ममरणपरिखेदितमतेरवलोकितशरीरस्वभावस्य मोक्षं प्रत्यवहितस्य यस्य सन्ति व्रतानि स भवति– २५

## निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यम् ।१। विविधवेदनाशलाकाभिः प्राणिगणं शृणाति हिनस्ति इति शल्यम् । ३०

आबाधकत्वादुपचारसिद्धिः ।२। यथा शरीरानुप्रवेशात् काण्डादिप्रहरणं शरीरिणो बाधाकरं शल्यं तथा कर्मोदयविकारोऽपि शारीरमानसबाधाहेतुत्वात् शल्यमिव शल्यमित्युपचर्यते ।

तत्त्रिविधं मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् ।३। तदेतच्छल्यं त्रिविधं वेदितव्यम् । कुतः ? मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् । माया निकृतिर्वञ्चनेत्यनर्थान्तरम् , विषयभोगाकाङ्क्षा निदानम् , मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो निःशल्यो व्रतीत्युच्यते । ३५
अत्र कश्चिदाह–

---

१ गौणेन । २ सर्वदोषा–मु०, द०, ब० । ३ तथा सति । ४ विरक्तस्य ।

विरोधाद्विशेषणानुपपत्तिः ।४। निःशल्यत्वं व्रतित्वमित्येतदुभयं विरुद्धम्, ततो न निःशल्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति । न हि दण्डसंबन्धाच्छत्री स्यात्, तस्मात् व्रताभिसंबन्धादेव व्रतीति वक्तव्यम्, शल्याभावाच्च निःशल्य इति ।

आनर्थक्यं च, अन्यतरेण गतार्थत्वात् ।५। यदि व्रतित्वान्निःशल्यः, तस्मात् व्रतीत्येता-
५ वद्वाच्यम्, न निःशल्य इति । यदि च निःशल्यत्वात् व्रती, तस्मान्निःशल्य इत्येतावद्वाच्यम्, न व्रतीति ।

विकल्प इति चेत्; न; फलविशेषाभावात् ।६। स्यादेतत्–विकल्पोऽत्र गृह्यते निशल्यो वा व्रती वा इति, ततो न विशेषणविशेष्यसंबन्धाऽभावो दोष इति; तन्न; किं कारणम्? फलविशेषाभावात् । फलविशेषवतां हि लोके विकल्पो दृष्टः, यथा देवदत्तं घृतेन वा सूपेन वा दध्ना वा भोज-
१० येत् इति, न तथेह फलविशेषोऽस्ति निःशल्यो वा व्रती वेति उभयविशेषणविशिष्टस्यैकस्येष्टत्वात् ।

नवा, अङ्गाङ्गिभावस्य विवक्षितत्वात् ।७। न वा एष दोषः, किं कारणम्? अङ्गाङ्गिभावस्य विवक्षितत्वात् । न हिंसाद्युपरतिमात्रव्रतसंबन्धात् व्रती भवति अन्तरेण शल्याभावम्, सति शल्यापगमे व्रतसंबन्धात् व्रतीति विवक्षितः । यथा बहुक्षीरघृतो 'गोमान्' इति व्यपदिश्यते, बहुक्षीरघृताभावात् सतीष्वपि गोषु न गोमान् तथा सशल्यत्वात् सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती, यस्तु
१५ निःशल्यः स व्रती । [1]तत्रैतत् स्यात्[2]– कथमेतदेवं[3] भविष्यतीति? उच्यते—

प्रधानानुविधानात् अप्रधानस्य ।८। यथा तीक्ष्णेन परशुना छिनत्तीति तीक्ष्णगुणविशिष्टपरशुरप्रधानभूतः छेत्तुः प्रधानस्योपकारे वर्तते तथा निःशल्यत्वगुणविशिष्टानि व्रतानि गुणभूतानि तद्वतः प्रधानस्य विशेषकाणि ।

आह– किमेष व्रती व्यपगतशल्यत्रयो हिंसाद्यभावात् यथोक्तक्रियासमूहविजृम्भितपरि-
२० णामः परिग्रहनिरपेक्षः सर्व एव अगारसंबन्धं प्रति निवृत्तौत्सुक्यः प्रतिज्ञायते उत विरतोऽपि कश्चित् गृही निश्चीयत इति? अत्रोच्यते–अमीषामेव हिंसादीनां विरतिविशेषस्य भेदात् अधिकृतो व्रती द्वेधा—

## अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

प्रतिश्रयार्थितया अङ्गनादगारम् ।१। प्रतिश्रयार्थिभिः जनैरङ्ग्यते गम्यते तदित्यगारं वेश्म
२५ इत्यर्थः । अगारमस्यास्तीत्यगारी, न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः ।

अनियमप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावागारस्य विवक्षितत्वात् ।२। स्यान्मतम्–शून्यागारदेवकुलाद्यावासस्य मुनेरगारित्वं प्राप्तम्, अनिवृत्तविषयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणात् विमुच्यागारं वने वसतः अनगारत्वं चेत्यनियमप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? भावागारस्य विवक्षितत्वात् । चारित्रमोहोदये सति अगारसंबन्धं प्रत्यनिवृत्तपरिणामः अगारमित्युच्यते, स यस्यास्त्यसौ वने वसन्नपि
३० अगारीति व्यपदेशमर्हति । तदभावादनगार इति च भवति ।

[4]व्रतिकारणासाकल्यात् गृहस्थस्याव्रतित्वमिति चेत्; न; नैगमसंग्रहव्यवहारव्यापारात् नगरावासवत् ।३। यथा गृहापवरकादिनगरैकदेशे निवास्यपि नगरावास इति शब्द्यते, तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसंग्रहव्यवहारनयविवक्षापेक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते ।

राजवद्वा ।४ यथा द्वात्रिंशज्जनपदसहस्राधिपतिः सार्वभौमो[6] राजेति एकजनपदपतिः
३५ तदर्धेश्वरो वा न राजा न भवति? भवत्येव, तथा अष्टादशशीलसहस्रचतुरशीतिगुणशतसहस्रधरत्वादनगारः संपूर्णव्रत इति संयतासंयतोऽणुव्रतधरत्वात् न व्रतीति न भवति? भवत्येव ।

१ सूत्रे । २ उक्तार्थे । ३ निःशल्यो व्रतीति । ४ निःशल्यस्य । ५ व्रतिनः । ६ चक्रवर्ती ।

अत्राह–हिंसादीनामन्यतमस्मात् यः प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती नैवम्; किं तर्हि? पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इति, उच्यते—

## अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अणुशब्दः सूक्ष्मवचनो द्रष्टव्यः। अणूनि व्रतानि अस्य सोऽणुव्रतः। कथमणुत्वमिति चेत्? उच्यते–सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात्। कुतस्तर्हि असौ निवृत्तः? ५

द्वीन्द्रियादिव्यपरोपणान्निवृत्तः ।१। द्वीन्द्रियादीनां जङ्गमानां प्राणिनां व्यपरोपणात् त्रिधा निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुव्रतम्।

स्नेहद्वेषमोहावेशात् असत्याभिधानवर्जनप्रवणः ।२। स्नेहस्य द्वेषस्य मोहस्य चोद्रेकात् यदसत्याभिधानं ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्।

अन्यपीडाकरात्[1] पार्थिवभयाद्युत्पादितनिमित्तादप्यदत्तात् प्रतिनिवृत्तः ।३। अन्यपी- १० डाकरपार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्।

उपात्ताऽनुपात्तान्याङ्गनासङ्गाद्विरतरतिः ।४। उपात्ताया अनुपात्तायाश्च अन्याङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिः विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम्।

परिच्छिन्नधनधान्यक्षेत्राद्यवधिर्गृही ।५। धनधान्यक्षेत्रादीनाम् इच्छावशात् कृतपरिच्छेदः १५ गृहीति पञ्चममणुव्रतम्।

आह–किं स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य किमेतावानेव विशेषः आहोस्विदस्ति कश्चिदन्योऽपीति? अत्रोच्यते—

## दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ २१ ॥ २०

आकाशप्रदेशश्रेणी दिक् ।१। आकाशस्य प्रदेशाः परमाणुपरिच्छेदात् प्रविभक्ताः श्रेणीकृता दिग्व्यपदेशमर्हन्ति।

आदित्यादिगतिविसक्तस्तद्भेदः ।२। आदित्यादिगत्योदयास्तमयपरिच्छिन्नया विभक्तस्तद्भेदः–प्राची दिक् दक्षिणा प्रतीची उत्तरा ऊर्ध्वमधो विदिशश्चेति।

ग्रामादीनाम् अवधृतपरिमाणः प्रदेशो देशः ।३। ग्रामनगरगृहापवरकादीनामवधृतपरि- २५ माणानां प्रदेशो देश इत्युच्यते।

उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः ।४। असत्युपकारे पापादानहेतुः अनर्थदण्ड इत्यवध्रियते[3]। विरमणं विरतिः निवृत्तिरिति यावत्। दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः दिग्देशानर्थदण्डविरतिः। साधनं कृतेति वृत्तिः।

विरतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ।५। दिग्विरतिः देशविरतिरनर्थदण्डविरतिरिति। ३०

विरत्यग्रहणमधिकारादिति चेत्; न; उपसर्जनानभिसंबन्धात् ।६। स्यादेतत्–"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" [ ७।१ ] इत्यतः विरतिग्रहणमनुवर्तते, ततः पुनरिह विरतिग्रहण-

---

१–करं पा–मु०, मू०, ता०, श्र०। २–द्वक्षप–द०, मू०। –द्वस्यप–ता०, श्र०। ३ इति व्यवह्रियते मु०, द०, ब०।

मनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उपसर्जनानभिसंबन्धात्। तदनुवर्तमानं विरतिग्रहणं दिग्देशानर्थदण्डग्रहणेन उपसर्जनेन नाभिसम्बध्यते, ततः पुनर्विरतिग्रहणं क्रियते।

**एकत्वेन गमनं समयः ।७।** समेकीभावे वर्तते, तद्यथा 'संगतं घृतं संगतं तैलम्' इत्युक्ते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन गमनं समयः। प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मपर्यायार्थं प्रतिनिवृत्तत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्।

**उपेत्य तस्मिन् वसन्तीन्द्रियाणि इत्युपवासः ।८।** शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः। अशनपानभक्ष्यलेह्यलक्षणचतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। साधनं कृतेति- वृत्तिः, संज्ञायामिति वा।

**उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः ।९।** उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयत इत्युपभोगः। अशनपानगन्धमाल्यादिः।

**परित्यज्य भुज्यत इति परिभोगः ।१०।** सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते। आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः। उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोगपरिभोगौ, उपभोगपरिभोगयोः परिमाणम् उपभोगपरिभोगपरिमाणम्।

**संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः ।११।** चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयममविनाशयन् अततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्ति इत्यतिथिः, अनियतकालागमन इत्यर्थः।

**संविभजनं संविभागः ।१२।** अतिथये संविभागः अतिथिसंविभागः। अश्वघासादिवद् वृत्तिः।

**व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्; उक्तम् ।१३।** व्रतमित्यनुवर्तते, पुनर्व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्; उक्तम्; किमुक्तम् ? उपसर्जनानभिसंबन्धादिति।

**व्रतसंपन्नशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते ।१४।** दिग्विरतिव्रतसंपन्नः देशविरतिव्रतसंपन्न इत्यादि। अथ किमर्था दिङ्निवृत्तिः ?

**दुष्परिहरक्षुद्रजन्तुप्रायत्वाद्दिङ्निवृत्तिः ।१५।** दुष्परिहरैः क्षुद्रजन्तुभिराकुला दिश अतस्तन्निवृत्तिः कर्तव्या।

**तत्परिमाणं च योजनादिभिरभिज्ञानवद्भिः ।१६।** तासां परिमाणं योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैः कर्तव्यम्।

**अगमनेऽपि प्राणिवधाभ्यनुज्ञानमिति चेत्; न; निवृत्त्यर्थत्वात् ।१७।** स्यान्मतम्–दिक्परिमाणकरणात् अगमनेऽपि तदन्तरावस्थितप्राणिगणवधाभ्यनुज्ञानं प्रसक्तम्, अन्यथा वा दिक्परिमाणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? निवृत्त्यर्थत्वात्। कार्त्स्न्येन निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणयात्रा भवतु वा मा वा भूत्। सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमितदिगवधेर्बहिर्नास्कन्त्स्यामिति प्रणिधानान्न दोषः।

**तृष्णाप्राकाम्यनिरोधतन्त्रत्वाच्च ।१८।** प्रवृद्धेच्छस्य आत्मनस्तस्यां दिशि विना यत्नात् मणिरत्नादिलाभोऽस्तीत्येवम् अन्येन प्रोत्साहितस्यापि मणिरत्नादिसम्प्राप्तितृष्णाप्राकाम्यनिरोधः कथं तन्त्रितो भवेदिति दिग्विरतिः श्रेयसी।

**ततो बहिर्महाव्रतप्रसिद्धिः ।१९।** अहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिमिताद्दिगवधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैः हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिरिति महाव्रतत्वमवसेयम्।

तथैव देशनिवृत्तिः ।२०। यथा दिङ्निवृत्तिः कृता तथैव देशनिवृत्तिः कार्या। मदीयस्य गृहान्तरस्य तटाकस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशान्तरं नास्कन्त्स्यामि इति तन्निवृत्तौ पूर्ववत् प्रयोजनं वेदितव्यम्। महाव्रतत्वं च बहिर्व्यवस्थाप्यम्। अयमनयोर्विशेषः–दिग्विरतिः सार्वकालिकी देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति।

अनर्थदण्डः पञ्चधा अपध्यान-पापोपदेश-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदाना-ऽशुभश्रुतिभेदात् ।२१। अनर्थदण्डः पञ्चधा भिद्यते। कुतः? अपध्यान-पापोपदेश-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदाना-ऽशुभश्रुतिभेदात्। तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धाङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। तद्यथा अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीन् अमुत्र गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुस्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरम्भकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्यः इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः। इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।

प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितमिति कथ्यते।

विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते।

हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते। एतस्मादनर्थदण्डाद्विरतिः कार्या।

मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थम् ।२२। पूर्वयोः दिग्देशयोरुत्तरयोश्चोपभोगपरिभोगयोरवधृतपरिमाणयोरनर्थकं चङ्क्रमणादि विषयोपसेवनं च निष्प्रयोजनं न कर्तव्यमित्यतिरेकनिवृत्तिज्ञापनार्थं मध्येऽनर्थदण्डवचनं क्रियते।

सामायिके नियतदेशकाले महाव्रतत्वं पूर्ववत् ।२३। इयति देशे एतावति काल इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम्, अणुस्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः।

संयमप्रसङ्ग इति चेत्; न; तद्घातिकर्मोदयात् ।२४। स्यान्मतम्–सामायिके सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणे स्थितस्य तस्य संयमः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? तद्घातिकर्मोदयात्। तस्य हि संयमघातिकर्मोदयोऽस्तीति न संयतत्वम्।

महाव्रतत्वाभाव इति चेत्; न; उपचारात्, राजकुले सर्वगतचैत्रवत् ।२५। यद्यभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयोऽस्ति तदुदयेनावश्यमनिवृत्तपरिणामेन भवितव्यं ततश्च महाव्रतत्वमस्य नोपपद्यत इति मतम्; तन्न; किं कारणम्? उपचारात्, राजकुले सर्वगतचैत्रवत्। यथा पौरजनपदकोष्ठागारादिषु बाह्येषु व्यापारेषु सर्वेषु व्यापृतः स्नानानुलेपनशयनान्तःपुरादिव्यापारेषु अभ्यन्तरेषु केषुचित् व्यापृति[1]मननुगच्छन्नपि राजकुले सर्वगतश्चैत्र इत्युपचर्यते, तथा हिंसादिषु बाह्येषु सर्वेषु अनासक्तधिषणः अभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयापादितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यते। एवं च कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणः [2]एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालना देशसंयतसंयतभावस्यापि उपरिम्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति।

स्नानगन्धमाल्यादिविरहितोऽवकाशे शुचावुपवसेत् ।२६। स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिभिर्विरहितः शुचौ अवकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनावहितान्तःकरणः सन्नुपवसेत् निरारम्भः श्रावकः।

---

१–तिमनुग–श्र०। २–गव्यापिनो मु०, व०, द०।

भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् ।२७। भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं प्रत्येतव्यम् । कुतः ? त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । तत्र मधु मांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा । मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहायानुष्ठेयम् । केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि ५ शृङ्गवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि, एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् । यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम् । न हि असत्यभिसन्धिनियमे व्रतमिति । इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः यावज्जीवम् । अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम् ।

१० अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् ।२८। अतिथिसंविभागश्चतुर्धा भिद्यते । कुतः ? भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् । मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया, धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि, [1]औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्, प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति ।

१५ चशब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः । कः पुनरसौ ?

## मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम् ।१। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः ।

अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। मरणं द्विविधम्–नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति । २० तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः । तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम् । तत्रान्तग्रहणं क्रियते तद्भवमरणपरिग्रहार्थम् । मरणमन्तो मरणान्तः, मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी ।

सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना ।३। लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनूकरणमिति यावत् । कायस्य बाह्यस्य अभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यक् लेखना सल्लेखना, २५ तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता सेविता गृहीत्यभिसम्बन्धः ।

सेविताग्रहणं विस्पष्टार्थमिति चेत्; न; अर्थविशेषोपपत्तेः ।४। स्यान्मतम्–इह सेवितेत्येव विस्पष्टार्थं वक्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थविशेषोपपत्तेः । न केवलमिह सेवनं गृह्यते । किं तर्हि ? प्रीत्यर्थोऽपि, जुषि प्रीतिसेवनयोरिति । यस्मात् असत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते, सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति ।

३० सल्लेखनाया जोषितेति प्राप्नोतीति चेत्; न; तृनः प्रयोगात् ।५। स्यान्मतम्–यथा कटस्य कर्तेति विभक्तिनिर्देशः तथा सल्लेखनाया जोषितेति प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? तृनः प्रयोगात् ।

आत्मवधकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; अप्रमत्तत्वात् ।६। स्यान्मतम्–सल्लेखनामास्थितस्य स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेरात्मवधः प्राप्नोतीति ? तन्न; किं कारणम् ? अप्रमत्तत्वात् । ३५ प्रमत्तयोगाद्धि प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युक्तम् । न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति । कुतः ?

रागाद्यभावात् ।७। रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्यु[2]पकरणप्रयोगवशात् आत्मानं घ्नतः

१ औषधं प्रायोग्यं–मु०, द०, ब० । २–द्युत्तरकारणप्र–मु०, द० ब० ।

स्वघातो भवति । न तथा सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो [illegible]र्शः । उक्तञ्च—

> "रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये ।
> तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥ १ ॥" [          ]

किञ्च,

मरणस्याऽनिष्टत्वात् ।८। यथा वणिजः विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति दुष्परिहरे च पण्याविनाशो यथा भवति तथा यतते । एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्यसंचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाऽविरोधेन परिहरति, दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत् ? किञ्च,

उभयानभिसन्धानात् ।९। यथा तपस्थः शीतोष्णजसुखदुःखानभिसन्धानात् अनभिसंहितसुखदुःखसंवन्धेऽपि सुखदुःखकृतरागद्वेषाभावात् न सुखदुःखकृतकर्मवन्धभाक् तथा अर्हत्प्रणीतां सल्लेखनां कुर्वन् जीवितमरणानभिसन्धानात् अनभिसंहितात्मीयमरणसंवन्धेऽपि[1] रागद्वेषाभावात् नात्मवधकः । किञ्च,

स्वसमयविरोधात् ।१०। यथा क्षणिकवादिनः 'क्षणिकाः सर्वे भावाः' इति ब्रुवतः स्वसमयविरोधस्तथा 'यदा सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च भवति वधकश्च भवति वधचित्तं चास्योत्पन्नं भवति इत्येतां चतुर्विधां चेतनां प्राप्य हिंसा जयते' इति ब्रुवतोऽसत्यात्मवधकत्वचित्ते सल्लेखनां कुर्वतः आत्मवधकत्वं जायत इत्याचक्षाणस्यासंचेतितकर्मबन्धाभावः समयविरोधः । अथ स्वसमयविरोधो माभूदिति चतुर्विधयैव चेतनया कर्म वध्यते इतीष्टम् ; ननु सल्लेखनायाम् आत्मवधकचित्ताभावात् आत्माऽहिंसकत्वं सिद्धम् । अथवा, यथा सदा मौनव्रतिकस्य मौनव्रतिकोऽस्मीति वचनं स्ववचसा विरुध्यते, तथा सर्वानात्मकवादिनः आत्माभावादात्मनो वधकत्वमाचक्षाणस्य सर्वानात्मकाऽऽर्य[2]सत्यवचनविरोधः । अथ स्वसमयविरोधो माक्लृपदिति [3]सर्वानात्मकमिष्टम् ; नन्वात्माभावात् आत्मवधाभावः ।

योऽपि[4] ब्रूयात् निःक्रिय आत्मेति, तस्य पुनः साधुजनसेवितां सल्लेखनामातिष्ठमानस्यात्मवधकत्वं भवतीत्यभिलपतः[5] आत्मनो निष्क्रियत्वप्रतिज्ञाहानिः । निष्क्रियत्वाभ्युपगमे चात्मवधप्राप्त्युपालम्भनाभावः ।

आह–कदा अनेन सल्लेखनायां प्रयतितव्यमिति ? अत्रोच्यते—

जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षये ।११। जरसा शरीरदूषिण्या यदा प्रहतजङ्घाबलवीर्यो भवति रोगैश्च वातादिविकारजनितैरभिद्रुतः प्रक्षीणेन्द्रियबलश्च भवति तदा आवश्यकपरिक्षयमपेक्षमाणः स्मृतिमान् प्रासुकाशनपानकोपवाससेवनादिना क्रमेण प्रक्षीयमाणशरीरबलः आमरणाद्भावनानुप्रेक्षासमाधिबहुलः शास्त्रोक्तेन विधिना सल्लेखनां जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवति ।

एकयोगकरणं[6] न्याय इति चेत् ; न; कदाचित् कस्यचित्तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात् ।१२। स्यादेतत्–पूर्वसूत्रेण सह एक एव योगः कर्तव्यः लघ्वर्थ इति; तन्न; किं कारणम् ? कदाचित् कस्यचित् तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात् । सप्ततयशीलवतः कदाचित् कस्यचिदेव गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्यं न सर्वस्येति । किञ्च,

---

१–सम्बन्धे रा–मु०, द०, व० । २–सत्त्वव–मु०, व० । ३ सर्वात्मक–मु०, द०, व० । ४ नैयायिकः–सम्पा० । ५–लपतः–मु० । ६ न्याय्यमिति मु०, व० ।

वेश्मापरित्यागिनस्तदुपदेशात् ।१३। वेश्मापरित्यागिनः दिग्विरत्यादिसप्तत्रयशीलोपदेशः। वेश्मपरित्यागेन तु श्रावकत्वेनैव गृहिणः सल्लेखनेत्येवमर्थो भेदेनोपदेशः।

अविशेषविधिप्रतिपादनार्थत्वाद्वा ।१४। अयं सल्लेखनाविधिः न श्रावकस्यैव दिग्विरत्यादिशीलवतः। किं तर्हि ? संयतस्यापीति अविशेषज्ञापनार्थत्वाद्वा पृथगुपदेशः कृतः।

५ अत्राह–उक्तं भवता निःशल्यो व्रतीति, तत्र चोक्तानि शल्यानि मायानिदानमिथ्यादर्शनसंज्ञकानि। ततः सम्यग्दृष्टिना व्रतिना भवितव्यम्। तत्सम्यग्दर्शनं किं निरपवादमुत सापवादमिति ? उच्यते–कस्यचिन्मोहनीयावस्थाविशेषात् कदाचिदिमे भवन्त्यपवादाः—

## शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

१० निःशङ्कितत्वादयो व्याख्याताः दर्शनविशुद्धिरित्यत्र, तत्प्रतिपक्षभूताः शङ्कादयो वेदितव्याः। अथ प्रशंसासंस्तवयोः को विशेषः ?

वाङ्मानसविषयभेदात् प्रशंसासंस्तवभेदः ।१। मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा। भूताऽभूतगुणोद्भावनवचनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः।

प्रकरणादगार्यवधारणमिति चेत्; न; सम्यग्दृष्टिग्रहणस्य उभयार्थत्वात् ।२। स्यान्मतम्–
१५ अगारिव्रतशीलप्रकरणमिदम्, अतः तस्यैव सम्यग्दृष्टेः शङ्कादयोऽतिचाराः प्रसक्ता नानगारस्येति; तन्न; किं कारणम् ? सम्यग्दृष्टिग्रहणस्योभयार्थत्वात्। पुनः सम्यग्दृष्टिग्रहणमेवमर्थं सम्यग्दर्शनसामान्यस्येमेऽतिचारा इति। यद्येवमर्थं सम्यग्दृष्टिग्रहणं नार्थोऽनेन, अगारिग्रहणं निवृत्तमिति व्याख्येयम् ? नैवं शङ्क्यम्[1]; उत्तरत्राऽगारिग्रहणानुवर्तनस्येष्टत्वात्।

दर्शनमोहोदयादतिचरणमतीचारः ।३। दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानादतिचरणमतीचारः
२० अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्। एते शङ्कादयः पञ्च सम्यग्दर्शनस्यातिचाराः।

अष्टाङ्गत्वात् सम्यग्दर्शनस्यातिक्रमाणां तावत्त्वमेवेति चेत्; न; अत्रैवान्तर्भावात् ।४। स्यादेतत्–सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गं निःशङ्कितत्वादिलक्षणमुक्तम्, तस्यातिचारैरपि तावद्भिरेव भवितव्यमित्यष्टावतिचारा उपदेष्टव्या इति; तन्न; किं कारणम् ? अत्रैवान्तर्भावात्। व्रतशीलानां पञ्च पञ्चातिचारान् विवक्षुणा आचार्येण प्रशंसासंस्तवयोरित[2]रानन्तर्भाव्य सम्यग्दृष्टेरपि पञ्चैवाति-
२५ चारा उक्ता इति न दोषः।

आह–सम्यग्दर्शनस्याद्यस्य व्रतशीलपत्राञ्चितजिनधर्मकमलकर्णिकाकारस्य अगार्यनगारयोः साधारणाः शङ्कादयोऽतिचारा व्याख्याताः। इदानीं व्रतशीलानाम् अतिचारगणना कर्त्तव्येति। [3]तत्र गृहीतव्रतशीलातिक्रमेयत्ताख्यापनार्थमिदमुच्यते—

## व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

३० व्रतानि अहिंसादीनि। शीलानि दिग्विरत्यादीनि। व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि। तेषु व्रतशीलेषु।

व्रतग्रहणमेवास्त्विवति चेत्; न; शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्–व्रतग्रहणमेवास्तु, दिग्विरत्यादीनि अपि व्रतान्येव अतश्चैतदेवं यदाह–अतिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्चेति; तन्न;

१ शक्यम्–श्र०, मू०, द०। २–रितरेतरानन्त–मु०, द०। ३ तत्र व्रत–मु०, द०, ब०। तत्र गृहीत्र–मू०।

कारणम् ? शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् । अभिसन्धिपूर्वको नियमो व्रतमिति कृत्वा दिग्विरत्यादीन्यपि व्रतानि भवन्ति, किन्तु व्रतपरिरक्षणं शीलमित्यस्य विशेषस्य द्योतनार्थं शीलग्रहणम् । तेन दिग्विरत्यादीनि शीलग्रहणेन गृह्यन्ते ।

सामर्थ्याद् गृहिव्रतसंप्रत्ययः ।२। यद्यपि इदं सूत्रमविशेषेणोक्तं तथापि सामर्थ्याद् गृहिव्रतग्रहणमवसेयम् । किं सामर्थ्यम् ? वक्ष्यमाणवधबन्धच्छेदादिवचनम् । ते हि बन्धवधच्छेदादयो गृहस्थस्यैव नानगारस्येति । ५

पञ्च पञ्चेति वीप्सायां द्वित्वम् ।३। पञ्च पञ्चेत्येतत् वीप्सायां द्वित्वमवसेयम् । ततोऽनवयवाभिधानं वीप्सार्थमिति अनवयवेन व्रतशीलानि पञ्चसंख्यया व्याप्यन्ते । ननु च लघ्वर्थं पञ्चश इति शसा निर्देशः कर्तव्यः; सत्यमेवमेतत्; व्यक्त्यर्थं वाक्येन निर्देशः क्रियते ।

यथाक्रमवचनं वक्ष्यमाणातिचारक्रमसंबन्धनार्थम् ।४। वक्ष्यमाणा अतिचारा अहिंसादिभिः क्रमेणाभिसंबध्यन्तामित्येवमर्थं यथाक्रमवचनं क्रियते । यो यः क्रमो यथाक्रमं क्रमानतिवृत्त्येत्यर्थः । १०

आह–यद्येवं तस्मादुच्यतां तावदाद्यस्य प्राणव्यपरोपणनिवृत्तलक्षणस्याणुव्रतस्य केऽतिचाराः, [1]येभ्योऽयं निवृत्तौ निरपवादो भवतीति ? अत्रोच्यते—

## बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥ १५

अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बन्धः ।१। अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतुः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो बन्ध इत्युच्यते ।

प्राणिपीडाहेतुर्वधः ।२। दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वध इति गृह्यते न [2]प्राणव्यपरोपणम्, ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात् ।

छेदोऽङ्गापनयनम् ।३। कर्णनासिकादीनामवयवानाम् अपनयनं छेद इति कथ्यते । २०

न्याय्यभारादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणम् ।४। न्यायादनपेताद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनम्, अतिलोभाद्गवादीनामतिभारारोपणमिति गण्यते ।

क्षुत्पिपासाबाधनमन्नपाननिरोधः ।५। तेषामेव गवादीनां कुतश्चित् कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इत्याख्यायते । एते पञ्च अहिंसाणुव्रतस्यातिचाराः ।

## मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥ २५

मिथ्यान्यप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः ।१। अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेश इत्युच्यते ।

संवृतस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम् ।२। स्त्रीपुंसाभ्याम् एकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं यत् रहोऽभ्याख्यानं तद्वेदितव्यम् । ३०

परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया ।३। अन्येनानुक्तं किञ्चित् परप्रयोगवशात् एवं तेनोक्तम् अनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया ।

हिरण्यादिनिक्षेपेऽल्पसंख्यानुज्ञानवचनं न्यासापहारः ।४। हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पशः संख्यानमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहार इत्याख्यायते ।

---

१ येभ्यो निवृ–मु० । २ प्राणिव्य–मु०, मू०, द० ।

अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः ।५। अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते । त एते सत्यव्रतस्य पञ्चातिक्रमाः ।

## स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

५

मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः ।१। मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्ते, अन्येन वा प्रयोजयति, प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स स्तेनप्रयोगो वेदितव्यः ।

चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानम् ।२। अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानं प्रत्येतव्यम् । तत्र को दोषः ? परपीडाराजभयादयः प्रतीताः । एतेन विरुद्धराज्यातिक्रमादयो व्याख्याताः । १०

उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः ।३। उचितान्न्याय्यात् अन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रम इत्युच्यते । विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः । तत्राल्पमूल्यलभ्यानि महार्घाणि द्रव्याणिति प्रयत्नः ।

कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानः ।४। प्रस्थादि मानं तुलाद्युन्मानम् । एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयं अधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगः हीनाधिकमानोन्मानमित्याख्यायते । १५

कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः ।५। कृत्रिमैः हिरण्यादिभिः वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति व्यपदिश्यते । त एते पञ्च अदत्तादानविरतेरतीचाराः ।

## परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

२०

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः ।१। सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते । परस्य विवाहः परविवाहः परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम् ।

अयनशीलेत्वरी ।२। ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदयप्रकर्षादङ्गोपाङ्गनामोदयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी । ततः कुत्सायां कः, इत्वरिका । अपरिगृहीता च परिगृहीता च अपरिगृहीतापरिगृहीते । या गणिकात्वेन पुंश्चलित्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता । या पुनः एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता । इत्वरिके च ते अपरिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीते तयोर्गमनं इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनम् । २५ ३०

अनङ्गेषु क्रीडा अनङ्गक्रीडा ।३। अङ्गं प्रजननं योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा । अनेकविधप्रजननविकारेण जघनादन्यत्र चाङ्गे रतिरित्यर्थः ।

कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः ।४। कामस्य प्रवृद्धः परिणामः अनुपरतवृत्त्यादिः कामतीव्राभिनिवेश इत्युच्यते । एते पञ्च स्वदारसन्तोषव्रतस्यातिचाराः ।

दीक्षितातिबालातैर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेत्; न; कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः ।५। स्यान्मतम्–दीक्षिता अतिबाला तैर्यग्योनीत्येवमादीनामनुपसंग्रह इति; तन्न; किं ३५

कारणम्? कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः। दीक्षितादिषु हि परिहर्तव्यासु वृत्तिः कामतीव्राभिनिवेशाद्भवति। उक्तोऽत्र दोषः राजभयलोकापवादादिः।

## क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

**क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वः प्राक् कुप्यात् ।१।** क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोः द्वन्द्वो भवति। किमविशेषेण? इत्याह–प्राक्कुप्यात्। क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु, हिरण्यं च सुवर्णं च हिरण्यसुवर्णम्, धनं च धान्यं च धनधान्यम्, दासी च दासश्च दासीदासम्। क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यानि। दासीदासमिति गवाश्वादिषु निपातनात् एकशेषभावः। क्षेत्रं शस्याधिकरणम्। वास्तु अगारम्। हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारतन्त्रं सुवर्णं प्रतीतम्। धनं गवादि। धान्यं व्रीह्यादि। दासीदासं भृत्यस्त्रीपुंसवर्गः। कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेय[1]चन्दनादि।

**तीव्रलोभाभिनिवेशादतिरेकाः प्रमाणातिक्रमाः ।२।** एतावानेव परिग्रहो मम नातोऽन्य इति परिच्छिन्नात् क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेकाः अतिलोभवशात् प्रमाणातिक्रमा इति प्रत्याख्यायते। त एते पञ्च परिग्रहविरमणस्यातिक्रमाः।

उक्ता व्रतानामतिचाराः, शीलानामतिचारा वक्ष्यन्ते। तद्यथा—

## ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

**परिमितदिगवधिव्यतिलङ्घनमतिक्रमः ।१।** परिमितस्य दिगवधेरतिलङ्घनमतिक्रम इत्युच्यते। स समासतस्त्रिविधः—ऊर्ध्वातिक्रमः अधोऽतिक्रमः तिर्यगतिक्रमश्चेति।

**तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः ।२।** पर्वतमरुभूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमो भवति।

**कूपावतरणादेरधोऽतिवृत्तिः ।३।** कूपावतरणादेः अधो दिगवधेरतिवृत्तिर्वेदितव्या।

**बिलप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारः ।४।** भूमिबिलगिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारो द्रष्टव्यः।

**अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः ।५।** प्राग् दिशं योजनादिभिः परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽधिकाकाङ्क्षणं क्षेत्रवृद्धिरित्यध्यवसीयते।

**इच्छापरिमाणेऽन्तर्भावात् पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; तस्यान्याधिकरणत्वत् ।६।** स्यादेतत्–इच्छापरिमाणे पञ्चमेऽणुव्रते अस्यान्तर्भावात् पुनर्ग्रहणं पुनरुक्तमिति; तन्न; किं कारणम्? तस्यान्याधिकरणत्वात्। इच्छापरिमाणं क्षेत्रवास्त्वादिविषयम्, इदं पुनः दिग्विरमणमन्यार्थम्–अस्यां दिशि लाभे जीवितमलाभे च मरणमतोऽन्यत्र लाभेऽपि न गमनमिति, न तु दिशि क्षेत्रादिष्विव परिग्रहबुद्ध्यात्मसात्करणात् परिमाणकरणमस्ति, ततोऽर्थविशेषोऽस्यावसेयः।

**तदतिक्रमः प्रमादमोहव्यासङ्गादिभिः ।७।** तस्यैतस्य दिक्परिमाणस्यातिक्रमः प्रमादात् मोहाद् व्यासङ्गाद्वा भवतीत्यवसेयः।

**अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम् ।८।** अनुस्मरणम् परामर्शनं प्रत्यवेक्षणमित्यनर्थान्तरम्, इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति, तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। त एते पञ्च दिग्विरणस्यातिक्रमाः।

---

१ कृमिकोशोत्थ। २–मरुद्भूम्या–मु०। –तरुभू–मू०। सीमान्तस्थितानाम्।

## आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

[1]तमानयेत्याज्ञापनमानयनम् ।१। आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशात् यत्किञ्चिदानयेत्याज्ञापनम् आनयनमित्याख्यायते ।

एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः ।२। परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वा अन्यमप्यनानीय प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः ।

अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः ।३। व्यापारकरान् पुरुषान् उद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपात इति शब्द्यते ।

स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः ।४। मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्ति[2] इति स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपात इति निर्णीयते ।

लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः ।५। कर्मकरान् पुरुषानुद्दिश्य लोष्टपाषाणनिपातः पुद्गलक्षेप इति कथ्यते । त एते देशविरमणस्य पञ्चातिक्रमाः । कथं पुनरतिक्रम इति ? उच्यते—

स्वयमनाक्रामन्नन्येनाक्रामयतीत्यतिक्रमः ।६। यस्मात् स्वयमनतिक्रमन् अन्येनातिक्राम[3]यति ततोऽतिक्रम इति व्यपदिश्यते । यदि हि स्वयमतिक्रमेत् व्रतलोप एवास्य स्यात् ।

## कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगनार्थक्यानि ॥ ३२ ॥

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः ।१। चारित्रमोहोदयापादितात् रागोद्रेकात् प्रहाससंयुक्तो योऽशिष्टवाक्प्रयोगः स कन्दर्प इति निर्ध्रियते[4] ।

तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कुच्यम् ।२। रागस्य समावेशाद्धास्यवचनम् अशिष्टवचनम् इत्येतदुभयं परत्र दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यमिच्युते ।

धार्ष्ट्यप्रायमवद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम् ।३। अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपनं मौखर्यमिति प्रत्येतव्यम् ।

असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम् ।४। अधिरुपरिभावे वर्तते, करोतिश्चापूर्वप्रादुर्भावे, प्रयोजनमसमीक्ष्य आधिक्येन प्रवर्तनमधिकरणम् ।

तत्त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात् ।५। तदधिकरणं त्रेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? कायवाङ्मनोविषयभेदात् । तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्, वाग्गतं निष्प्रयोजनकथाख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किञ्चनवक्तृत्वम्, कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छँस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात् । अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेत इत्येवमादि, तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम् ।

यावताऽर्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थः, ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् ।६। यस्य यावताऽर्थेन उपभोगपरिभोगौ प्रकल्प्येते तस्य तावानर्थ इत्युच्यते, ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं भवति ।

उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भावात् पौनरुक्त्यप्रसङ्ग इति चेत्; न; तदर्थानवधारणात् ।७। स्यादेतत्–उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भवतीति पौनरुक्त्यमासज्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? तदर्थानवधारणात् । इच्छावशात् उपभोगपरिभोगपरिमाणावग्रहः सावद्यप्रत्याख्यानं चेति तदुक्तम्,

---

१ आत्ममान–द० । अन्यमान–मु०, व० । २–यति मु०, मू० । ३–नाक्रामय–ता०, श्र० । ४ निर्णीयते मु० । ५ परशरीरादौ । ६ चारभ्येत्येव द० । चारभेत्येव–मू०, ता०, श्र० ।

इह पुनः कल्प्यस्यैव आधिक्यमित्यतिक्रम इत्युच्यते। नन्वेवमपि तद्व्रतातिचारान्तर्भावात् इदं वचनमनर्थकम्? नानर्थकम्; सचित्ताद्यतिक्रमवचनात्। असमीक्ष्याधिकरणमित्यत्र सुप्सुपेति वृत्तिः, मयूरव्यंसकादित्वाद्वा। त एते पञ्च अनर्थदण्डविरतेरतीचाराः।

## योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ।१। अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थो द्रष्टव्यः। क्व? "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [६।१] इत्यत्र। ५

दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानम् ।२। प्रणिधानं प्रयोगः परिणाम इत्यनर्थान्तरम्। दुष्ठु पापं प्रणिधानं दुःप्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणिधानम्। तत्र क्रोधादिपरिणामवशात् दुष्ठु प्रणिधानं शरीरावयवानाम् अनिभृतमवस्थानम्, वर्णसंस्काराभावाऽर्थागमकत्वचापलादि वाग्गतम्, मनसोऽनर्पितत्वंचेत्यन्यथा प्रणिधानम्। १०

अनादरोऽनुत्साहः ।३। इतिकर्तव्यं प्रत्यसाकल्यात् यथाकथञ्चित् प्रवृत्तिरनुत्साहः अनादर इत्युच्यते।

अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानम् ।४। अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थानमित्याख्यायते।

मनोदुःप्रणिधानं तदिति चेत्; न; तत्रान्याचिन्तनात् ।५। स्यादेतत्–स्मृत्यनुपस्थानं तन्मनोदुःप्रणिधानमेवेति तस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? तत्रान्याचिन्तनात्। तत्र हि अन्यत् किञ्चित् अचिन्तयतश्चिन्तयत एव वा विषये क्रोधाद्यावेशः औदासीन्येन वाऽवस्थानं मनसः, इह पुनः परिस्पन्दनात् चिन्ताया एकाग्र्येणानवस्थानमिति विस्पष्टमन्यत्वम्[1]। [2]रात्रिन्दिवीयस्य वा प्रमादाधिकस्य सञ्चित्यानुपस्थानम्। त एते पञ्च सामायिकस्यातिक्रमाः। १५

## अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणाऽनादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥ २०

प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः ।१। जन्तवः सन्ति न सन्ति चेति प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः प्रतीयते।

प्रमार्जनमुपकरणोपकारः ।२। मृदुनोपकरणेन यत् क्रियते प्रयोजनं तत् प्रमार्जनं प्रत्येतव्यम्। २५

तस्य प्रतिषेधविशिष्टस्योत्सर्गादिभिः संबन्धः ।३। तस्योभयस्य प्रतिषेधविशिष्टस्य उत्सर्गादिभिस्त्रिभिः प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग इत्यादि। तत्राऽप्रत्यवेक्षितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गः, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य अर्हदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चाऽऽदानम्, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरस्योपक्रमणम्। ३०

आवश्यकेष्वनादरः ।४। आवश्यकेषु अनादरः अनुत्साहो भवति। कुतः? क्षुदभ्यर्दितत्वात्।

स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातम् ।५। त एते पञ्च प्रोषधोपवासस्यातिचाराः।

---

१–मन्यथात्वम् मू०, ता०, श्र०। भेदत्वम्। २ रात्रिदिवियस्य मु०, द०।

## सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः ।१। चित्तं विज्ञानं तेन सह वर्तत इति सचित्तः, चेतनावद्द्रव्यमित्यर्थः ।

तदुपश्लिष्टः संबन्धः ।२ तेन चित्तवता द्रव्येणोपश्लिष्टः संबन्ध इत्याख्यायते । संबध्यत ५ इति संबन्धः ।

तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः ।३। तेन सचित्तेन द्रव्येण व्यतिकीर्णः संमिश्र इति कथ्यते । संमिश्रयत इति संमिश्रः ।

पूर्वेणाविशिष्ट इति चेत्; न; तत्र संसर्गमात्रत्वात् ।४। स्यान्मतम्–संबन्धेनाविशिष्टः संमिश्र इति ? तन्न; किं कारणम् ?[1] तत्र संसर्गमात्रत्वात् । सचित्तसंबन्धे हि संसर्गमात्रं विव- १० क्षितम्, इह तु सूक्ष्मजन्तुव्याकुलत्वे विभागीकरणस्याशक्यत्वात् नानाजातीयद्रव्यसमाहारः सूक्ष्मजन्तुप्राय आहारः संमिश्र इष्टः । कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः ? प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिः । क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति ।

द्रवो वृष्यं वाऽभिषवः ।५। द्रवः सौवीरादिकः वृष्यं वा द्रव्यमभिषवः इत्यभिधीयते ।

१५ असम्यक्पक्वो दुष्पक्वः ।६। अन्तस्तण्डुलभावेनाऽतिविक्लेदनेन वा दुष्ठु पक्व आहारो दुष्पक्व इत्युच्यते । ननु दुष्पच इति प्राप्नोतीति; कृच्छ्रार्थविवक्षाभावात् न भवति । तस्याभ्यवहारे को दोषः ? इन्द्रियमदवृद्धिः स्यात्, सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा, तत्प्रतीकारविधाने स्यात् पापलेपः, अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति । त एते पञ्च उपभोगपरिभोगसंख्यानमर्यादाभेदाः[2] ।

## सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेश[3]मात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

२० सचित्ते निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः ।१। सचित्तो व्याख्यातः । सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं निक्षेप इत्युच्यते । "साधनं कृता" [जैनेन्द्र० १।३।२०] इति वा मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्तिः ।

प्रकरणात् सचित्तेनाऽपिधानम् ।२। अपिधानमावरणमित्यर्थः । प्रकरणवशात् सचित्तेनापिधानमिति विशेष्यते, इतरथा हि प्रागधिकरणत्वेन निर्दिष्टं सचित्तग्रहणं नाभिसंबध्येत ।

अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः ।३। अन्यत्र दातारः सन्ति दीयमानोऽप्यमन्यस्येति वा २५ अर्पणं परव्यपदेश इति प्रतिपाद्यते ।

प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यम् ।४। प्रयच्छतोऽपि सतः आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यमिति प्रतीयते ।

अकाले भोजनं कालातिक्रमः ।५। अनगाराणाम् अयोग्यकाले भोजनं कालातिक्रम इति कथ्यते । त एते पञ्च अतिथिसंविभागशीलभेदाः प्रणीताः ।

३० सप्तानामपि शीलानामतीचारा उक्ता[4] उच्चावचाः । अथ सल्लेखनाया मरणविशेषापादनसमर्थाया अनुपदिष्टचित्तेनारभ्यायाः केऽतीचाराः भवन्तीति ? अत आह—

## जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

आकाङ्क्षणमाशंसा ।१। आकाङ्क्षणमभिलाषः आशंसेत्युच्यते । जीवितं च मरणं च जीवितमरणम्[5], जीवितमरणस्य आशंसा जीवितमरणाशंसा ।

---

१–ति तन्न किं कारणम् कु–मु० । २–दाभेदाः–मू०, ता०, आ०, द० । अतिचारा इत्यर्थः–मु० टि० । ३–शकरणमा–श्र० । ४ अनेकप्रकाराः । ५–मरणे तयोराशं–मु० ।

अवश्यहेयत्वे शरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा ।३। शरीरमिदमवश्यं हेयं जलबुद्बुद्वदनित्यम्, अस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरो जीविताशंसा प्रत्येतव्या ।

[1]जीवनसंक्लेशात् मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा ।३।[2] रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तस्य प्रणिधानं मरणाशंसा इति व्यपदेशमर्हति ।

पूर्वकृतसहपांशुक्रीडनाद्यनुस्मरणान्मित्रानुरागः ।४। व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादिषु कृतं बाल्ये युगपत् क्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणात् मित्रेऽनुरागो भवति । ५

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः ।५। एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवमादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्ध इत्यभिधीयते ।

भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम् ।६। विषयसुखोत्कर्षाभिलाषो भोगाकाङ्क्षा तया नियतं चित्तं दीयते तस्मिंस्तेनेति वा निदानमिति व्यपदिश्यते । एते पञ्च सल्लेखनायाः व्यतिक्रमाः । १०

अत्राह–उक्तं भवता तीर्थकरत्वकारणकर्मास्रवनिर्देशे 'शक्तितस्त्यागतपसी' इति, पुनश्चोक्तं शीलव्रतविधाने 'अतिथिसंविभाग' इति, तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञातं तदुच्यतामिति ? अत आह—

## अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

स्वपरोपकारोऽनुग्रहः ।१। स्वस्य परस्य चोपकारः अनुग्रह इत्याख्यायते । स्वोपकारः पुण्यसंचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः । १५

स्वशब्दो धनपर्यायवचनः ।२। आत्मात्मीयज्ञातिधनपर्यायवाचित्वे स्वशब्दस्य धनपर्यावाचिनो ग्रहणमिह द्रष्टव्यम् । अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गः त्यागो दानं वेदितव्यम् ।

अत्राह–उक्तं दानं तत्किमविशिष्टफलमाहोस्वित् अस्ति कश्चित् प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते— २०

## विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः ।१। प्रतिग्रह उच्चदेशस्थापनं पादप्रक्षालनम् अर्चनं प्रणमनमित्येवमादिक्रियाविशेषाणां क्रमो विधिरित्याख्यायते ।

विशेषो गुणकृतस्तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः ।२। परस्परतो विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः, स गुणकृतः, तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–विधिविशेषः द्रव्यविशेषः दातृविशेषः पात्रविशेष इति । तत्र विधिविशेषः प्रतिग्रहादिषु आदरानादरकृतो भेदः । २५

तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः ।३। दीयमाने अन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपःस्वाध्यायपरिणामविवृद्धिकारणत्वादिर्द्रव्यविशेष इति भाष्यते ।

अनसूया[3]ऽविषादादिर्दातृविशेषः ।४। प्रतिग्रहीतरि अनसूया त्यागेऽविषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिः दातृविशेषोऽवसेयः । ३०

मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः ।५। मोक्षकारणैः सम्यग्दर्शनादिभिः गुणैः योगः पात्रविशेष इति प्रतीयते ।

ततश्च फलविशेषः क्षित्यादिविशेषाद् बीजफलविशेषवत् ।६। ततश्च विध्यादिविशेषाद्दानफलविशेषो भवति, यथा क्षित्यादिकारणविशेषसन्निपाते सति नानाविधबीजफलविशेष इति । ३५

---

१ जीवितसं–मु० । २ रागोप–ता०, श्र० । ३–याविशेषादिः श्र० ।

निरात्मकत्वे सर्वभावानां विध्यादिस्वरूपाभावः ।७। निरात्मकाः सर्वे भावा इत्यस्मिन् दर्शने विध्यादिस्वरूपाभावः स्यात् । अस्ति चेद्विध्यादिस्वरूपम्; 'निरात्मकाः सर्वे भावाः' इत्यमुष्य सङ्गरस्य व्याघातः ।

क्षणिकत्वाच्च विज्ञानस्य तदभिसन्धानाभावः ।८। क्षणमात्रावलम्बिनि विज्ञाने 'पात्रभूतोऽयमृषिस्तपःस्वाध्यायपरायणो मामनुगृहीष्यति, अस्मै च देयमिदं व्रतशीलभावनापरिबृंहणकरम्, अयं चात्र विधिः' इत्यभिसन्धिर्न स्यात्, पूर्वोत्तरक्षणविषयसंस्कारावग्रहसमर्थकज्ञानाभावात् ।

नित्यत्वाज्ञत्वनिष्क्रियत्वाच्च ।९। [1]यस्यापि दर्शनम्-सत आत्मनोऽकारणत्वान्नित्यत्वम्, ज्ञानगुणादर्थान्तरभूतत्वादज्ञत्वम्, सर्वगतत्वान्निष्क्रियत्वम्; तस्य तत एव विध्याद्यनुपपत्तिः ।

क्रियागुणसमवायादुपपत्तिरिति चेत्; न; तत्परिणामाभावात् ।१०। स्यादेतत्-अर्थान्तरत्वेऽपि इहेदं बुद्धिलक्षणात् समवायादेकत्वापत्ताविव तद्व्यपदेशोपपत्तेः विध्याद्युपपत्तिरिति; तन्न; किं कारणम्? तत्परिणामाभावात् । यथा देवदत्तस्य दण्डयोगाद्दण्डिव्यपदेशेऽपि न दण्डस्वभावापत्तिः तथा आत्मनोऽपि क्रियागुणवद्व्यपदेशेऽपि तत्स्वभावसंक्रमाभावः, ततश्चाधिकृतविध्याद्यभाव एव ।

क्षेत्रस्य वाऽचेतनत्वात् ।११। [2]यस्यापि दर्शनम्-चतुर्विंशतिविधं [3]क्षेत्रमचेतनम्, क्षेत्रज्ञश्चेतनः पुरुष इति; तस्यापि क्षेत्रस्याचेतनत्वाद्विध्याद्यभिसन्धानाभावो घटादिवत् । अथास्ति विध्याद्यभिसन्धिः; न तर्हि अचेतनं क्षेत्रम् । क्षेत्रज्ञस्य[4] च नित्यत्वात् शुद्धत्वात् निःक्रियत्वादेव विध्याद्यनुपपत्तिः ।

स्याद्वादिनस्तदुपपत्तिरनेकान्ताश्रयणात् ।१२। स्याद्वादिनस्तु तेषां विध्यादीनामुपपत्तिः । कुतः? अनेकान्ताश्रयणात्-स्यान्नित्य आत्मा स्यादनित्य इत्येवमाद्यनेकान्ताश्रयणादेकान्तदृष्टिदोषाभावः ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके[5] व्याख्यानालङ्कारे सप्तमोऽध्यायः[6] समाप्तः ॥ ७ ॥

---

१ नैयायिकस्य-स० टि० । २ सांख्यस्य-स० टि० । ३ शरीरम् । महदहङ्कारादिभेदात् चतुर्विंशतिविधप्रकृत्यात्मकं जडतत्त्वम्-स० टि० । ४ मा भवतु नाम चेत्रस्य आत्मनो भवतु को दोषः । ५-कव्या-मु० । ६-ध्यायः मु०, मू० ।

# अष्टमोऽध्यायः

आस्रवपदार्थ उक्तः। अवसरप्राप्तं बन्धं व्याचक्ष्महे। स पुनश्चेतनेतरद्रव्यपरिणामः नामादिचतुष्टयधर्मभागपि द्रव्यभावबन्धविशेषाद् द्वयीमवस्थां बिभर्ति। तत्र जतुकाष्ठरज्जुनिगलादिलक्षणं द्रव्यबन्धं बहुप्रकारं हित्वा प्रकरणसामर्थ्याद्भावबन्धं ब्रूमः। स द्वेधा–कर्म-नोकर्मबन्धभेदात्। मातापितृपुत्रस्नेहसंबन्धः नोकर्मबन्धः। यः पुनः अयमितरः कर्मबन्धः तं पौनर्भविककर्मबन्धसन्ततिसद्भावादादिमन्तमनादिमन्तं च प्रतिजानीमहे बीजाङ्कुरप्रादुर्भावसन्तानवत्। ५
आह–आस्तां तावद्[1]व्याख्यानम्, इदमेव तावदग्रे वक्तव्यम्–[के]इमे बन्धहेतवो यैरयं बन्धः प्रवर्तत इति? इतरथा हि बन्धपदार्थप्रक्लृप्तये पुनस्तद्धेतवः प्रणेतव्याः स्युः।

स्यादेतत्–कारणाभावाद् बन्धप्रसिद्धिसामर्थ्यमित्येतच्च वार्तम्[2], अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। अकस्माच्च तदभावात्। यद्यकस्माद्बन्धः; मोक्षः [3]कस्मान्नाकस्मात्? न चाकस्माद्बन्धमोक्षौ; तदर्थप्रक्रियाविरोधप्रसङ्गात्। अतो बन्धमुक्त्वा मा पुनर्वोचं[4] इति आदौ एव बन्धकारणनिर्देशोऽनुष्ठेयः। कार्य-कारणयोश्च पूर्वापरभावात् पूर्वं कारणं वाच्यं पश्चात् कार्यम्; उच्यते[5]–न वक्तव्याः पुनरिह, यस्मात् षष्ठसप्तमयोः[6] विविधफलानुग्रहतन्त्रास्रवप्रकरणवशात् सप्रपञ्चाः आत्मनः कर्मबन्धहेतवो व्याख्याताः। के पुनस्ते? १०

## मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥ १५

क्व पुनरेते उक्ताः?

मिथ्यादर्शनं क्रियास्वन्तर्भूतम् ।१। पञ्चविंशतिः क्रिया उक्ताः तास्वन्तर्भूतं मिथ्यादर्शनं द्रष्टव्यम्।

विरतिप्रतिपक्षभूताऽप्यविरतिः ।२। विरतिर्व्याख्याता, तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिरपि तत्रैव वर्णिता "इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः" [त० सू० ६।५] इत्यत्र। २०

अज्ञाव्यापादनानाकाङ्क्षक्रिययोरन्तर्भावः प्रमादस्य ।३। आज्ञाव्यापादनक्रियाऽनाकाङ्क्षक्रियेत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावो वेदितव्यः। स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः मनसोऽप्रणिधानम्।

कषायाः क्रोधादयः प्रोक्ताः ।४। क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः कषायाः प्रोक्ताः। क्व? "इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः" [त० सू० ६।५] इत्यत्रैव।

योगः कायादिविकल्पः प्रक्लृप्तः ।५। योगश्च कायादिविकल्पः प्रक्लृप्तः। क्व? "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [त० सू० ६।१] इत्यत्र। २५

मिथ्यादर्शनं द्वेधा–नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् ।६। मिथ्यादर्शनं द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः? नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात्।

तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकम् ।७। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्याकर्मोदयवशात् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकमिति व्यवसीयते। ३०

परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् ।८। परोपदेशनिमित्तं मिथ्यादर्शनं चतुर्विधमवगन्तव्यम्। कुतः? क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात्।

---

१ विशेषाख्यानं बन्धस्य। २ असारम्। ३ कुतः। ४ कारणम्। लुङि उत्तमपुरुषैकवचनमिदम्। ५ आचार्यवचनमिदम्। ६ अध्याययोः।

चतुरशीतिः क्रि(तिरक्रि)यावादाः इति कौक्लकाण्ठेविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात् इति ।९। कौकलकाण्ठेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमान्कपिलरोमशहारिताश्वमुण्डाश्वलायनादिमतविकल्पात् क्रिया(अक्रिया)वादाश्चतुरशीतिविधा द्रष्टव्याः ।

अशीतिशतमक्रि(तं क्रिया)वादानां मरीचिकुमारोलूककपिलादिदर्शनभेदात् ।१०। मरी-
५ चिकुमारोलूककपिलगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाद्वलिमाठरमौद्गल्यायनप्रभृतिदर्शनभेदात् अक्रिया(क्रिया)वादा अशीतिशतसंख्याः प्रत्येतव्याः ।

आज्ञानिकवादाः सप्तषष्टिसंख्याः साकल्यवाष्कलप्रभृतिदृष्टिभेदात् ।११। साकल्यवाष्कल[3]कुथुमिसात्यमुग्रिचारायणकाठमाध्यन्दिनीमौदपैप्पलादबादरायणस्विष्ठिकृदैतिकायनवसुजैमिनिप्रभृतिदृष्टिभेदात् सप्तषष्टिसंख्या आज्ञानिकवादा ज्ञेयाः ।

१० वैनयिकानां द्वात्रिंशद्वशिष्ठपाराशरादिमार्गभेदात् ।१२। वशिष्ठपाराशरजतुकर्णवाल्मीकिरोमहर्षिणिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवेन्द्रदत्तायस्थूलादिमार्गभेदात् वैनयिकाः द्वात्रिंशद्गणना भवन्ति । त एते मिथ्योपदेशभेदाः त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि ।

अत्र चोद्यते–बादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीनां श्रुतिविहितक्रियानुष्ठायिनां कथमाज्ञानिकत्वमिति ? उच्यते–प्राणिवधधर्मसाधनाभिप्रायात् । न हि प्राणिवधः पापहेतुर्धर्मसाधनत्वमापत्तुम-
१५ र्हति ।

आगमप्रामण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेत् ; न; तस्यागमत्वाऽसिद्धेः ।१३। स्यादेतत्–अपौरुषयो वेदागमोऽस्ति, तस्य कर्तृदोषानुषङ्गाशङ्काभावात् प्रामाण्यम् , अतस्तत्र प्रणीतः प्राणिवधो धर्महेतुरिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्यागमत्वासिद्धेः । सर्वप्राणिहितानुशासने हि प्रवृत्त आगमः, न हिंसाविधायि वचः आगमो भवितुमर्हति दस्युजनवचनवत् । किञ्च,

२० अनवस्थानात् ।१४। यथा 'आद्यः पुष्यः, आद्यः पुनर्वसू' इति विसंवादिवचोऽनवस्थानात् अप्रमाणं तथा वेद एव क्वचित् प्रदेशे धर्महेतुः पशुवध उक्तः–"पशुवधेन सर्वान् कामानवाप्नोति" [ ] "यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।" [ ] इति च, क्वचित् पुनरजैः त्रिवर्षपरमोषितैर्बीजैः "अजं पिष्टयं कृत्वा यष्टव्यम्" [ ] इति हिंसा परिहृता । अतोऽनवस्थानाच्च वेदागमस्याप्रामाण्यम् । किञ्च,

२५ परमागमे प्रतिषिद्धत्वात् ।१५। अर्हता भगवता प्रोक्ते परमागमे प्रतिषिद्धः प्राणिवधः, सर्वत्र हिंसाविरतिः श्रेयसीति । अतः परमागमे प्रतिषिद्धत्वात् न धर्महेतुः प्राणिवधः ।

तदसिद्धिरिति चेत् ; न; अतिशयज्ञानाकरत्वात् ।१६। स्यान्मतम्–आर्हतस्य प्रवचनस्य तत्त्वमसिद्धं तस्य पुरुषकृतित्वे सति अयुक्तेरिति; तन्न; किं कारणम् ? अतिशयज्ञानाकरत्वात् । यदिदं जीवादिपदार्थस्वरूपनिरूपणं नयप्रमाणाद्यधिगमोपायप्रापितयुक्ति बन्धमोक्षादिप्रतिपादन-
३० समर्थमित्येवमादीनामतिशयज्ञानानामाकर आर्हत आगमः, रत्नानामिवोदधिः, अतोऽस्य परमागमत्वम् ।

अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेत् ; न; अत एव तेषां संभवात् ।१७। स्यान्मतम्–अन्यत्रापि अतिशयज्ञानानि दृश्यन्ते कल्पव्याकरणछन्दोज्योतिपादीनि ततोऽनैकान्तिकत्वात् नायं हेतुरिति ; तन्न; किं कारणम् ? अत एवैतेषां संभवात् । आर्हतमेव प्रवचनं तेषां प्रभवः ।
३५ उक्तञ्च—

---

१–माडव्यकरोमसहारिता–मू० । –मानूकपिकरोम–मु०, ता० । २ वाद्धलिकमा–मु०, द० । ३ कुन्थुविसा–मु०, द० । कुंथुमिसा–मू०, ता० । ४–कठमा–श्र० । कुटमा–मु०, द० । ५ मत ।

"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥" [द्वात्रिं० १।३०] इति ।

श्रद्धामात्रमिति चेत् ; न; भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत् ।१८। स्यादेतत्-आर्हतमेव प्रवचनं सर्वेषामतिशयज्ञानानां प्रभव इति श्रद्धामात्रमेतत् न युक्तिक्षममिति; तन्न; किं कारणम् ? भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत् । यथा ग्रामनगरपत्तनादिषु दृश्यमानानामपि रत्नानां तत्प्रभवत्वमध्यवस्यति लोकः, भूयसामुपलब्धे रत्नाकर एव तेषां प्रभव इत्यध्यवसीयते, तथा सर्वातिशयज्ञाननिधानत्वात् जैनमेव प्रवचनम् आकर इत्यवगम्यते । ५

तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेत् ; न; निःसारत्वात् काचादिवत् ।१९। अथ मतमेतत्-यदि वेदव्याकरणादीनाम् अर्हत्प्रवचनोद्भवत्वमभ्युपगम्यते, तेषां प्रामाण्यात् तद्विहितहिंसाद्यनुष्ठानं दानादिवन्न दोषकरमिति; तन्न; किं कारणम् ? निःसारत्वात् । यथा काचमणिक्षारशम्बूकादीनां रत्नाकरसमुद्भवत्वेऽपि निःसारत्वं तथा वेदादीनां जिनशासनसमुद्रसमुद्भवत्वेऽपि न प्रामाण्यमित्यवसेयम् । किञ्च, १०

सर्वेषामविशेषप्रसङ्गात् ।२०। यदि हिंसा धर्मसाधनं मत्स्यबन्ध(वधक)शाकुनिकशौकरिकादीनां सर्वेषामविशिष्टा धर्मावाप्तिः स्यात् । ततश्चाऽहिंसालक्षणो धर्म इत्येवमादिवचनमयुक्तं स्यात् ।

यज्ञात्कर्मणोऽन्यत्र वधः पापायेति चेत् ; न; उभयत्र तुल्यत्वात् ।२१। स्यादेतत्-यज्ञे पशुवधः प्रत्यवायहेतुर्न भवति अन्यत्र पापहेतुरिति न अहिंसालक्षणधर्मविरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? उभयत्र तुल्यत्वात् । उभयत्र हि असौ दुःखहेतुत्वेन तुल्यः, अतः फलेनापि समेन भवितव्यम् । अन्तर्वेदिगतः पशुवधः प्रत्यवायहेतुः प्राणवियोगहेतुत्वात् बहिर्वेदिपशुवधवत्, विपर्ययो वा । १५

तादर्थ्यात् सर्गस्येति चेत् ; न; साध्यत्वात् ।२२। स्यादेतत्-"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।" [मनु० ५।३९] इति । अतः सर्गस्य यज्ञार्थत्वात् न तस्य विनियोक्तुः पापमिति, तन्न; किं कारणम् ? साध्यत्वात् । साध्यमेतत्-स्वयंभुवा यज्ञार्थं पशवः सृष्टा इति । किञ्च, २०

अन्यथोपयोगे दोषप्रसङ्गात् ।२३। यद्धि यदर्थं तस्यान्यथोपयोगे दोषो दृष्टः यथा श्लेष्मप्रशमनार्थम् औषधमन्यथा प्रयुज्यमानं दोषकरं तथा यज्ञार्थः पशुसर्ग इति कृत्वा क्रयविक्रयादिषु क्रियमाणेषु कर्तुरनिष्टफलावाप्तिः प्रसज्येत । २५

मन्त्रप्राधान्याददोष इति चेत् ; न; प्रत्यक्षविरोधात् ।२४। स्यान्मतम्-यथा विषं मन्त्रप्राधान्यादुपयुज्यमानं न मरणकारणम्, तथा पशुवधोऽपि मन्त्रसंस्कारपूर्वकः क्रियमाणो न पापहेतुरिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यक्षविरोधात् । यथा मन्त्रेण संक्रियमाणं विषं गौरवहीनं प्रत्यक्षत उपलभ्यते, यथा वा विना रज्जुनिगलादिबन्धेभ्यो जलमनुष्यादिं स्तम्भयन्तः प्रत्यक्षतः प्रतीताः मन्त्रबलादेव केवलात्, तथा यदि मन्त्रेभ्य एव केवलेभ्यो याज्ञे कर्मणि पशून्निपातयन्तः दृश्येरन् मन्त्रबलं श्रद्धीयेत । दृश्यते तु रज्वादिभिर्मारणम् । तस्मात् प्रत्यक्षविरोधात् मन्यामहे न मन्त्रसामर्थ्यमिति । ३०

हिंसादोषाविनिवृत्तेः ।२५। अभ्युपगम्योच्यते-यथा शस्त्रादिभिः प्राणिनो व्यापादयन्नशुभाभिसन्धिः पापेन बध्यते तथा मन्त्रैरपि पशून् मारयन् दुष्कर्मबन्धी भवेदेवेति हिंसादोषो न निवर्तते । ३५

---

१ सिद्धान्त । २ दोषकारणमिति-मु० । ३ सौकरिका-मु०, ता०, द० । ४ इत्यङ्गि सर्गस्य मु० । ५ सृष्टेः । ६-त् यथा-ता०, श्र०, मू० ।

नियतपरिणामनिमित्तस्यान्यथाविधिनिषेधासंभवात् ।२६। नियतं शुभाशुभलक्षणं परिणामं प्रतीत्य पुण्यपापकर्मबन्धो भवति । नासावन्यथा विधातुं निषेद्धुं वा शक्यते । यदि स्यात्; असद्वेतितकर्मबन्धाभ्युपगमे बन्धमोक्षप्रक्रियाविरोधः स्यात् ।

कर्तुरसंभवाच्च ।२७। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" [मैत्रा० ६।३६] अग्निहवनादिक्रियायाः
५ कर्ता पिण्डो वा स्यात् भौतिकः, पुरुषो वा ? यदि भौतिकः पिण्डः; तस्याचेतनत्वात् घटादिवत् पुण्यापुण्यलक्षणक्रियासंचेतनाभावात् कर्तृत्वाभावः । अथ पुरुषः; स नित्यो वा स्यात्, क्षणिको वा ? यदि क्षणिकः; मन्त्रार्थानुस्मरणतत्प्रयोगानुविधानचिन्तनाद्यभावात् न कर्तृत्वमुपपन्नम् । अथ हि नित्यः स्यात्; पूर्वापरकालतुल्यत्वात् विक्रियाविरहे दूरादेव कर्तृत्वं व्यावृत्तं ततः कर्तुरभावात् क्रियाफलानभिसंबन्धः । "पुरुष एवेदं सर्वं यच्च भूतं यच्च भाव्यम्" [ऋक्०
१० १०।९०] इत्येवमाद्युपनिषद्वाक्यप्रामाण्याच्च एकपुरुषैकान्तकल्पनायां वध्यघातकादिविवेकाभावः । चेतनाशक्तिपरिणाममात्राभ्युपगमे च दृश्यस्य [1]विश्वरूपस्याभावात् प्रत्यक्षविरोधः, प्रमाणतदाभासाविशेषप्रसङ्गोऽस्तु । निर्विकल्पपुरुषतत्त्वकल्पनायां च निर्विकल्पत्वादिविकल्पभावाभावयोः सङ्करवचनविरोधप्रसङ्गश्चेति विपर्यतृष्णातुरविकल्पितं वैदिकवचनं न प्रमाणीकर्तव्यम् ।

एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च संख्येया योज्याः ऊह्याः, परिणाम-
१५ विकल्पात् असंख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात् । यन्नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञितिर्यङ्म्लेच्छशबरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधम् ।

पञ्चविधं वा ।२८। अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनमवगन्तव्यम्–एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनम् आज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति । तत्रेदमेवेत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः, "पुरुष एवेदं सर्वम्" [ऋक् सं० १०।९०] इति वा, नित्य
२० एव वा अनित्य एवेति, सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिर्विपर्ययः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं स्याद्वा नवेति मतिद्वैधं[2] संशयः । सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकत्वम् । हिताहितपरीक्षाविरह[3] आज्ञानिकत्वम् ।

अविरतिकषाययोगा द्वादशपञ्चविंशतित्रयोदशभेदाः ।२९। अविरतिः कषायः योगः इत्येते द्वादश–पञ्चविंशति–त्रयोदशभेदाः द्रष्टव्याः । तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायचक्षुः-
२५ श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शननोइन्द्रियेषु हननासंयमनाविरतिभेदात् द्वादशविधा अविरतिः । षोडश कषायाः नव नोकषायाः ईषद्भेदो न[4] भेद इति पञ्चविंशतिः कषायाः । चत्वारो मनोयोगाः चत्वारो वाग्योगाः पञ्च काययोगाः इति त्रयोदशविकल्पो योगः, आहारककाययोगाऽऽहारकमिश्रयोगयोः प्रमत्तसंयते संभवात् पञ्चदशापि भवन्ति ।

प्रमादोऽनेकविधः ।३०। भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणा-
३० ष्टविधसंयम–उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यतपस्त्यागाऽऽकिञ्चन्यब्रह्मचर्यादिविषयानुत्साहभेदादनेकविधः प्रमादोऽवसेयः ।

समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् ।३१। मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं समुदायेऽवयवे च वेदितव्यम् । कुतः ? वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् । तत्र मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिताः बन्धहेतवः । सासादनसम्यग्दृष्टि–असंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः ।
३५ संयतासंयतस्याविरतिमिश्राः प्रमादकषाययोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः । अप्रमत्ता-

---

१ अचेतनरूपतया दृश्यमापृथ्व्यादि चिद्रूपतया विविधरूपस्य । विरूपस्य मु०, द० । विविधरूपस्य श्र० । २–द्वैतं सं–मु०, द०, ब० । ३–होऽज्ञा–ता०, श्र०, मू० । ४ नो भेद मु०, ब० । ५ मनः ।

दीनां चतुर्णां कषाययोगौ। [1]उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनाम् एक एव योगः। अयोगकेवली अवन्धहेतुः। तत्र च मिथ्यादर्शनादिविकल्पानां प्रत्येकं बन्धहेतुत्वमवगन्तव्यम्। न हि सर्वाणि मिथ्यादर्शनानि एकस्मिन्नात्मनि युगपत् संभवन्ति, नापि हिंसादयः सर्वे परिणामाः।

अविरतेः प्रमादस्य चाऽविशेष इति चेत्; न; विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्।३२। स्यादेतत्–प्रमादोऽपि अविरतिरेवेति पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्। ५ विरतस्यापि पञ्चदश प्रमादाः संभवन्ति–विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयलक्षणाः।

कषायाऽविरत्योरभेद इति चेत्; न; कार्यकारणभेदोपपत्तेः।३३। स्यादेतत्–कषायाविरत्योर्नास्ति भेदः उभयोरपि हिंसादिपरिणामरूपत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? कार्यकारणभेदोपपत्तेः। कारणभूता हि कषायाः कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति।

आह–प्रपञ्चेनोपपादितान् वन्धहेतून्निरचेष्म, इदं तु सन्दिह्मः–अमूर्तेरात्मनो हस्ताद्यसंभवे १० सत्यादानशक्तिविरहात् कथं बन्धो[2] भवतीति? [3]इमे ब्रूमहे–आत्मकर्म[4]वन्धसन्ततेः पूर्वापरीभावानवधारणात्। नैवमवधार्यते–'पूर्वमात्मा पश्चात् कर्माणि प्राक् वा कर्माण्यवर[5] आत्मा' इति ऐकान्तिकाऽमूर्तत्वनिवृत्तिः। ततः कर्मशरीरसंवन्धी[6] तप्तायःपिण्डोऽम्भ इव–

# सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः॥ २॥

पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेत्; न; कर्मविशेषाशयवाचित्वात् जठराग्निवत्।१। १५ यथा जठराग्न्याशयानुरूपमभ्यवहरणं तथा कषायेषु सत्सु तीव्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपे स्थित्यनुभवने भवत इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं बन्धहेतुविधाने कषायग्रहणं निर्दिष्टं पुनरनूद्यते।

जीवाभिधानं प्रचोदितत्वात्।२। य[7]च्चोदितम्–अमूर्तिरहस्तो जीवः कथं कर्मादत्त इति तस्य प्रतिवचनार्थं जीव इत्यभिधीयते।

जीवनाविनिर्मुक्तत्वाद्वा।३। जीवनमायुस्तदविनिर्मुक्तोऽयं कर्मादत्ते न विनिर्मुक्त इति, २० अतश्च जीववचनम्।

कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम्।४। कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात् सिद्धे कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थं क्रियते। किं पुनस्तद्वाक्यान्तरम्? 'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' इत्येकं वाक्यम्। एतदुक्तं भवति–कर्मण इति हेतुनिर्देशः, कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति, नाकर्मकस्य कषायलेपोऽस्ति, ततः जीवकर्म- २५ णोरनादिसंवन्ध इति। द्वितीयं वाक्यं[8]म्–'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति। एतदुक्तं भवति–अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति प्राक्कर्मण इति हेतुनिर्देश इह संवन्धनिर्देशः संपद्यते–सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति।

पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम्।५। पुद्गलात्मकं कर्मेत्येतस्य विशेषस्य ख्यापनार्थं[9] पुद्गलग्रहणं क्रियते। ३०

तदसिद्धमिति चेत्; न; अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात्।६। स्यादेतत्–पौद्गलिकं कर्मेत्येतदसिद्धम् आत्मगुणत्वात् तस्येति; तन्न; किं कारणम्? अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात्। यथा आकाशम-

---

१ शान्तक्षीण–मु०, द०। २ संबंधो मु०, द०। ३ प्रत्यक्षभूतां वयम्। ४–कर्मसंबंध–मु०, द०। ५–ण्यपर आ–मु०, ता०, श्र०। ६–न्धात्तप्तायः–मु०। ७ प्रचोदकेन। ८–लेशोऽस्ती–मु०। ९–म् योग्यान् मु०, द०।

मूर्ति दिगादीनाममूर्तानां नानुग्राहकमुपघातकं च तथैवामूर्ति कर्माऽमूर्तेरात्मनोऽनुग्रहोपघातयोर्हेतुर्न स्यात्।

**आदत्त इति प्रतिज्ञातोपसंहारार्थम्** ।७। यत्प्रतिज्ञातं सकषायत्वाज्जीवो बन्धमनुभवति तस्योपसंहारार्थमिदमुच्यते आदत्त इति ।

५ **अतस्तदुपश्लेषो बन्धः** ।८। अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात् तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनाम् अनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते ।

**तद्भावो मदिरापरिणामवत्** ।९। यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परि-
१० णामो वेदितव्यः ।

**'स' वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम्** ।१०। स एष बन्धो नान्योऽस्तीत्यन्यनिवृत्त्यर्थं 'स'वचनं क्रियते, तेन गुणगुणिबन्धो निवर्तितो भवति । यदि हि गुणगुणिबन्धः स्यात् मुक्त्यभावः प्रसज्येत, गुणस्वभावापरित्यागाद् गुणिनः, स्वभावपरित्यागे च गुणिनोऽप्यभाव इति मुक्ताभावः[1] ।

**करणादिसाधनो बन्धशब्दः** ।११। करणादिसाधनेष्वयं बन्धशब्दो द्रष्टव्यः । तत्र करणसा-
१५ धनस्तावत्–बध्यतेऽनेनात्मेति बन्धः । "हलः" [जैने० २।३।१०२] इति करणे घञ् । कः पुनसौ ? मिथ्यादर्शनादिः । ननु स बन्धहेतुरुक्तः कथं बन्धो भवितुमर्हति ? सत्यमेवमेतत्, अभिनवद्रव्यकर्मादाननिमित्तत्वाद् बन्धहेतुरपि सन् पूर्वोपात्तकर्महेतुकत्वात् कार्यतामास्कन्दन् तदनुविधानात् आत्मनोऽस्वतन्त्रीकरणत्वात् करणव्यपदेशमर्हतीति । [3]तद्रञ्जनेन आत्मना आत्मसात्क्रियते इति कर्मसाधनत्वमपि च युक्तिमत् । ज्ञानदर्शनाऽव्याबाधाऽनामाऽगोत्राऽनन्तरायत्वलक्षणं
२० पुरुषसामर्थ्यं प्रतिबध्नाति बन्धः इति कर्तृसाधनत्वमपि चोपपत्तिमत् । एवं बन्धनं बन्ध इति भावसाधनो वा अस्वतन्त्रीक्रियामात्रविवक्षायाम् । ननु भावसाधने सामानाधिकरण(ण्यं)नोपपद्यते ज्ञानावरणं बन्ध इत्यादि; नैष दोषः; तदव्यतिरेकात् भावस्य तद्वता सामानाधिकरण्यं भवति–यथा ज्ञानमेवात्मेति । एवमितरसाधनयोजना च कर्तव्या ।

**तस्योपचयापचयसद्भावः कर्माऽऽयव्ययदर्शनाद् व्रीहिकोष्ठागारवत्** ।१२। यथा कोष्ठागारे
२५ व्रीहीणामन्येषां निर्गमादपरेषां च प्रवेशनात् उपचयापचयौ दृष्टौ तथा अनादिकार्मणकोष्ठागारस्यान्येषां कर्मणां भोगात् आदानाच्चेतरेषामुपचयापचयौ स्तः ।

आह–किमयं बन्ध एकरूप एव आहोस्वित् प्रकारा अपि अस्य सन्तीति ? अत इदमाह—

## प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

**अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृतिः** ।१। "स्त्रियां क्तिः" [जैनेन्द्र० २।३।७५] इत्यत्र
३० अकर्तरीत्यनुवर्तते तस्मादपादाने प्रकृतिशब्दो व्युत्पाद्यते–प्रक्रियते अस्या ज्ञानावरणादेरर्थानवगमादिति प्रकृतिः ।

**भावसाधनौ स्थित्यनुभवौ** ।२। स्थानं स्थितिः अनुभवनमनुभव इति भावसाधनत्वमनयोरवगन्तव्यम् ।

**कर्मसाधनः प्रदेशशब्दः** ।३। प्रदिश्यतेऽसाविति प्रदेशः कर्मणि घञ् ।

---

१ मुक्त्यभावः मु०, द० । २ मिथ्यात्व । ३ तदजनेन मू० । तदनेन मु०, ब० । ४ इति नै– मु०, ब० । ५ बन्धस्य ।

प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम् ।४। यथा निम्बस्य का प्रकृतिः ? तिक्ततास्वभावः । गुडस्य का प्रकृतिः ? मधुरतास्वभावः । तथा ज्ञानावरणीयस्य का प्रकृतिः ? अर्थानवगमः । प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम् । एवं दर्शनावरणस्य अर्थानालोचनम् , वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम् , दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम् , चारित्रमोहस्य असंयमः परिणामः, आयुषो भवधारणम् , नाम्नो नारकादिनामकरणम् , गोत्रस्य उच्चैर्नीचैः स्थानसंशब्दनम् , अन्तरायस्य　५
दानादिविघ्नकरणम् । तदेवं लक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः ।

तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः ।५। तस्य स्वभावस्य अप्रच्युतिः स्थितिरित्युच्यते । यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः, तथा ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः ।

तद्रसविशेषोऽनुभवः ।६। यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः　१०
तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभव इति कथ्यते ।

इयत्ताऽवधारणं प्रदेशः ।७। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति व्यपदिश्यते ।

विधिशब्दः प्रकारवचनः ।८। अयं विधिशब्दः प्रकारवचनो द्रष्टव्यः-विधयः प्रकारा इति यावत् । तस्य विधयस्तद्विधय बन्धप्रकारा इत्यर्थः । त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारो बन्धप्रकाराः ।　१५

तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ ।९। तेषु बन्धविकल्पेषु प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध इत्येतौ द्वौ योगनिमित्तौ वेदितव्यौ ।

स्थित्यनुभवौ कषायहेतुकौ ।१०। स्थितिबन्धोऽनुभवबन्ध इत्येतौ द्वावपि कषायहेतुकौ प्रत्येतव्यौ । तत्प्रकर्षभेदात् तद्बन्धविचित्रभावः । कारणानुरूपं हि कार्यमिति ।

आद्यो द्वेधा मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ।११। [1]आद्यः प्रकृतिबन्धः द्वेधा विभज्यते । कुतः ?　२०
मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ।

यद्येवं कास्ता मूलप्रकृतय इति ? अत्रोच्यते—

## आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

सामानाधिकरण्ये सति पूर्वोत्तरवचनविरोध इति चेत् ; न; उभयनयधर्मविवक्षासद्भावात् ।१। स्यादेतत्–ज्ञानावरणादयोऽन्तरायान्ताः प्रकृतिबन्धो नान्य इति ज्ञानावरणादिभिः सामा-　२५
नाधिकरण्यात् आद्यशब्दस्य बहुवचनप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? उभयनयधर्मविवक्षासद्भावात् । द्रव्यार्थिकनयविषयस्य सामान्यस्य विवक्षातः प्रकृतिबन्ध एक इत्याद्यशब्दादेकवचनप्रयोगः । तस्य विशेषा ज्ञानावरणादयः पर्यायार्थिकनयविषयभूताः प्राधान्येन विवक्षिता इति तेभ्यो बहुवचनप्रयोगः कृतः । दृश्यते हि लोके सत्यपि सामानाधिकरण्ये वचनभेदः, यथा प्रमाणं श्रोतारः, गावो धनमिति ।　३०

यथासंभवं कर्त्रादिसाधनत्वं ज्ञानावरणादिशब्दानाम् ।२। ज्ञानावरणादयः शब्दाः कर्त्रादिषु यथासंभवं साधयितव्याः । तद्यथा–आवृणोति आव्रियतेऽनेन वा इत्यावरणम् । आवरणशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ज्ञानावरणं दर्शनावरणमिति । ननु "करणाधिकरणयोः[2]" [जैने० २।३।६६]

---

१ यः प्र– ता०, श्र० । २–योरनट् कथं मु०, व० । "करणाधिकरणयोः [ जैनेन्द्र० २।३।६६ ] इति सूत्रेण युटि तत्स्थाने अनादेशो भवति"–स० ।

अनः कथं कर्तरि ? बहुलापेक्षया । वेद्यत इति वेदनीयम् कर्मण्यनीयः । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहः । कथं ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयमिति ? बहुलापेक्षया कर्त्तर्यनीयः । एत्यनेन गच्छति नारकादिभवमित्यायुः, "जनेरुसिः" [उणादि०] इति प्रकृते[1], "एतेर्णिच्च" [उणादि०] इत्युसिः । नमयत्यात्मानं नारकादिभावेन नम्यतेऽनेनेति नाम, उणादिषु निपातितशब्दः । उच्चैर्नीचैश्च गूयते
५ शब्द्यतेऽनेनेति गोत्रम् । अन्तरं मध्यं दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वाऽनेनेत्यन्तरायः । बहिर्योगे वा, यस्मिन् मध्येऽवस्थिते दात्रादीनां दानादिक्रियाऽभावः, दानादीच्छाया बहिर्भावो वा सोऽन्तरायः ।

प्रयोगपरिणामादागच्छदेवाऽविशिष्टं कर्माऽऽवरणादिविशेषैर्विभज्यते अन्नादेर्वातादिविकारवत् ।३। यथा अन्नादेरभ्यवह्रियमाणस्यानेकविकारसमर्थवातपित्तश्लेष्मखलरसभावेन परि-
१० णामविभागः तथा प्रयोगापेक्षया अनन्तरमेव कर्माणि आवरणाऽनुभवन-मोहापादन-भवधारण-नानाजातिनाम-गोत्र-व्यवच्छेदकरणसामर्थ्यवैश्वरूप्येण आत्मनि सन्निधानं प्रतिपद्यन्ते ।

ज्ञानावरणमेव मोह इति चेत्; न; अर्थान्तरभावात् ।४। स्यादेतत्–सति मोहे हिताहितपरीक्षणाभावात् ज्ञानावरणादविशेषो मोहस्येति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थान्तरभावात् । याथात्म्यमर्थस्यावगम्यापि इदमेवेति सद्भूतार्थाश्रद्धानं यतः स मोहः । ज्ञानावरणेन ज्ञानं तथाऽन्यथा वा[3]
१५ न गृह्णाति ।

कार्यभेदे च कारणान्यत्वात् ।५। यथा भिन्नलक्षणाङ्कुरदर्शनात् बीजकारणान्यत्वं तथैव-अज्ञानचारित्रमोहकार्यान्तरदर्शनात् ज्ञानावरणमोहनीयकारणभेदोऽध्यवसीयते ।

ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं प्रत्युक्तम् ।६। ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं पुरस्ताद्विहितम् । अतः किम् ? ज्ञानदर्शनकार्यान्यत्वात् यत्क्षयक्षयोपशमकारणे ज्ञानदर्शने तयोरपि[4] ज्ञानदर्शनावरणयोर-
२० न्यत्वं सिद्धम् ।

ज्ञानावरणस्याविशेषेऽपि प्रत्यास्रवं मत्यादिविशेषो[5] जलवत् ।७। यथा अम्भो नभसः पतदेकरसं भाजनविशेषात्[6] विष्वगरसत्वेन विपरिणमते तथा ज्ञानशक्त्युपरोधस्वभावाऽविशेषात् उपनिपतत् कर्म प्रत्यास्रवं सामर्थ्यभेदात् मत्याद्यावरणभेदेन व्यवतिष्ठते ।

एतेनेतराणि व्याख्यातानि ।८। इतराणि दर्शनावरणादीनि मूलोत्तरप्रकृतिविकल्पवन्ति
२५ उक्तेनैव क्रमेण व्याख्यातानि भवन्ति । अत्र चोद्यते—

पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिर्विरोधात् ।९। एकस्य पुद्गलद्रव्यस्य आवरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वं नोपपद्यते । कुतः ? विरोधात् ।

न वा, तत्स्वाभाव्यादग्नेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत् ।१०। न वैष दोषः । किं कारणम् ? तत्स्वाभाव्यात् । यथा अग्नेरेकस्यापि दाहपाकप्रकाशसामर्थ्यं न विरुध्यते, तथैकस्यापि पुद्गलद्रव्य-
३० स्य आवरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वं न विरुध्यते । किञ्च,

अनेकान्तिकत्वात् ।११। एकानेकलक्षणत्वात् द्रव्यस्य स्यादनेकत्वं स्यादेकत्वम् । द्रव्यार्थादेशात् स्यादेकं पुद्गलद्रव्यम् । अनेकपरमाणुस्निग्धरूक्षबन्धापादितानेकात्मकस्कन्धपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकम् । ततश्च नास्ति विरोधः ।

---

१ अनुवर्तमाने । "जनेरुसिः"–उणादिवृ० २।११६ । "एतेर्णिच्च"–उणादिवृ० २।१२० । २ सद्भूतमसद्भूतम् । ३–था च गृ–ता०, श्र०, भा० १, भा०२, आ०, द०, व० । ४ आवरणयोः । ५ मत्यादीनामविशेषो मु०, द० । मत्यादीनां वि–भा० । ६°नाना ।

पराभिप्रायेणेन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीराद्युपयोगे[1] वृद्धिवत् ।१२। पराभिप्रायेणेदमुच्यते–यथा पृथिव्यप्तेजोवायुभिरारब्धानामिन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीरघृतादिष्वेकमप्युपयुज्यमानम् अनुग्राहकं दृष्टं तथेदमपि इति ।

वृद्धिरेकैवेति चेत्; न; प्रतीन्द्रियं वृद्धिभेदात् ।१३। स्यादेतत्–वृद्धिरेकैव, तस्या घृताद्यनुग्राहकमिति न विरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतीन्द्रियं वृद्धिभेदात् । यथैवेन्द्रियाणि भिन्नानि तथैवेन्द्रियवृद्धयोऽपि भिन्नाः ।

तथैवातुल्यजातीयेनानुग्रहसिद्धिः ।१४। यथा भिन्नजातीयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रहः, तथैव आत्मकर्मणोश्चेतनाऽचेतनत्वात् अतुल्यजातीयं कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम् । किमेतावानेव संख्याविकल्पः ? नेत्युच्यते–

एकादिसंख्येयविकल्पाः च शब्दतः ।१५। एकादयः संख्येया विकल्पा भवन्ति–शब्दतः । तत्रैकस्तावत्[2] सामान्यादेः(देकः)कर्मबन्धः विशेषाणामविवक्षितत्वात्, सेनावनवत् । यथा सैनिकानां तुरगादीनां भेदानामविवक्षायां समुदायादेशात् एका सेना, यथा वा अशोकतिलकवकुलादीनां भेदेनाविवक्षायां सामान्यादेशात् एकं वनम् । स एव पुण्यपापभेदाद् द्विविधः, यथा स्वामिभृत्यादेशात् द्विविधा सेना । त्रिविधो बन्धः–अनादिः सान्तः, अनादिरनन्तः, सादिः सान्तश्चेति, भुजाकाराऽल्पतरावस्थितभेदाद्वा । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाच्चतुर्विधः । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावनिमित्तभेदात् पञ्चविधः । षड्जीवनिकायविकल्पात् षोढा व्यपदिश्यते । रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभहेतुभेदात् सप्ततयीं वृत्तिमनुभवति । ज्ञानावरणादिविकल्पादष्टधा । एवं संख्येया विकल्पाः शब्दतो योज्याः । चशब्देनाध्यवसायस्थानविकल्पात् असंख्येयाः । अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धपरिणामविधिरनन्तः, ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदापेक्षया वा अनन्तः ।

क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात् ।१६। क्रमप्रयोजनमिदानीं वक्तव्यम् ? तदुच्यते–ज्ञानावरणं सर्वेषामादावुक्तम् । कुतः ? ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात् । ज्ञानं हि स्वाधिगमनिमित्तत्वात् प्रधानम् ।

ततो दर्शनावरणमनाकारोपलब्धेः ।१७। ततः पश्चात् दर्शनावरणमुच्यते । कुतः ? अनाकारोपलब्धेः । साकारोपयोगाद्धि अनाकारोपयोगो[3] निकृष्यते अनभिव्यक्तग्रहणात् । [4]उत्तरेभ्यस्तु प्रकृष्यते अर्थोपलब्धितन्त्रत्वात् ।

तदनन्तरं वेदनावचनं तदव्यभिचारात् ।१८। तदनन्तरं वेदना उच्यते । कुतः ? तदव्यभिचारात् । ज्ञानदर्शनाऽव्यभिचारिणी हि वेदना घटादिष्वप्रवृत्तेः ।

ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात् ।१९। ततः पश्चात् मोहोऽभिधीयते । कुतः ? तद्विरोधात्, तेषां ज्ञानदर्शनसुखदुःखानां विरोधात् । मूढो हि न जानाति न पश्यति न च सुखदुःखं वेदयते । ननु च मूढानामपि सुखदुःखज्ञानदर्शनानि उपलभ्यन्ते, यदि हि विरोधः स्यात् सुखदुःखज्ञानदर्शनानि मिथ्यादृष्ट्यसंयतानां न स्युः; नैष दोषः; क्वचिद्विरोधदर्शनात् 'विरोधात्' इत्युच्यते न सर्वत्र । मोहाभिभूतस्य हि कस्यचित् हिताहितविवेकादिर्नास्ति ।

आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबन्धनत्वात् ।२०। तत्समीपे आयुर्वचनं क्रियते । कुतः ? तन्निबन्धनत्वात् । आयुर्निबन्धनानि हि प्राणिनां सुखादीनि ।

---

१–द्युपभोगे मु०, द० । २ समानः क–ता०, श्र० । समादानकर्म–मु०, द०, मू०, ब० । ३ निकृष्टोऽनभि–मु०, द० । ४ वेदनादिभ्यः ।

तदनन्तरं नामवचनं तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य ।२१। तदनन्तरं नामवचनं क्रियते। कुतः? तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य। आयुरुदयापेक्षो हि प्रायेण गत्याद्युदयो लक्ष्यते।

ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्तेः ।२२। परिप्राप्तशरीरादिला-
५ भस्य हि पुंसः गोत्रोदयनिमित्तं शुभाशुभं संशब्दनमभिव्यज्यते, ततो नाम्नोऽनन्तरं गोत्राभिधानं क्रियते।

परिशेषादन्ते अन्तरायवचनम् ।२३। अन्यस्याभावात् परिशेषात् अन्ते अन्तरायवचनं क्रियते।

आह–उक्तो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः। अथ द्वितीयः पुनरुत्तरप्रकृतिबन्धः कतिविध इति?
१० अत्रोच्यते—

## पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदो यथाक्रमम् ।।५।।

पञ्चादीनां पञ्चान्तानां द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।१। पञ्च च नव च द्वौ च अष्टाविंशतिश्च चत्वारश्च द्विचत्वारिंशच्च द्वौ च पञ्च च पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च, ते भेदा यस्य स भवति पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदः, इति द्वन्द्वगर्भोऽन्यप-
१५ दार्थनिर्देशो वेदितव्यः।

द्वितीयग्रहणमिति चेत्; न; परिशेषात्सिद्धेः ।२। स्यादेतत्–द्वितीयग्रहणं कर्तव्यं द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्धः एवंभेद इति संप्रत्ययः कथं स्यात् इति? तन्न; किं कारणम्? परिशेषात् सिद्धेः। आद्यो मूलप्रकृतिबन्धो व्याख्यातः, ततः परिशेषात् उत्तरप्रकृतिबन्धसंप्रत्ययः सिद्ध्यति।

भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ।३। अयं भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते पञ्चभेदो नवभेद
२० इत्यादि।

यथाक्रमं यथानुपूर्वम् ।४। यो यः क्रमः यथाक्रमं यथानुपूर्वमित्यर्थः। पञ्चविधं ज्ञानावरणम्, नवविधं दर्शनावरणमित्यादि।

यद्येवमाद्यमावरणं केषां पञ्चानामिति? अत्रोच्यते—

## मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।। ६ ।।

२५ मत्यादीन्युक्तलक्षणानि ।१। मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तलक्षणानि वेदितव्यानि। क्व? आद्येऽध्याये।

मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेत्; न; प्रत्येकमभिसंबन्धार्थत्वात् ।२। स्यान्मतम्–मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तानि, तेषामिहादिशब्दोपलक्षितानां पाठो युक्तो लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? प्रत्येकमभिसंबन्धार्थत्वात्। प्रत्येकमभिसम्बन्धार्थं इह प्रतिपदं पाठः क्रियते–मते-
३० रावरणं श्रुतस्यावरणमित्यादि। इतरथा हि मत्यादीनामित्युच्यमाने तेषामेकमावरणमिति संप्रत्ययः स्यात्।

[1]वचनात् पञ्चसंख्याप्रतीतिरिति चेत्; न; प्रत्येकं पञ्चत्वप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्–पञ्च

१ बहुवचनात्।

ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः इत्युक्तम् , मत्यादीनि च ज्ञानानि पञ्चोक्तानि ततो वचनात् पञ्चसंख्या-संप्रत्यय इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्येकं पञ्चत्वप्रसङ्गात् । [बहु] वचनात् मत्यादीनां प्रत्येकं पञ्चावरणानीत्यनिष्टं प्रसज्येत । प्रतिपदग्रहणे पुनः सति सामर्थ्यादिष्टार्थसंप्रत्ययः शक्यते कर्तुम् । अत्र कश्चिदाह—

मत्यादीनां सत्त्वासत्त्वयोरावृत्यभावः ।४। इदमिह संप्रधार्यम्—सतां मत्यादीनां कर्म आवरणं भवेत् , असतां वेति ? किञ्चातः यदि सताम् ; परिप्राप्तात्मलाभत्वात् सत्त्वादेव आवृतिर्नोपपद्यते । अथाऽसताम् ; नन्वावरणाभावः । नहि खरविषाणवदसदाव्रियते । ५

न वा; आदेशवचनात् ।५। न वैष दोषः । किं कारणम् ? आदेशवचनात् । कथञ्चित् सतामावरणं कथञ्चिदसताम् । द्रव्यार्थादेशेन सतां मत्यादीनामावरणम् , पर्यायार्थादेशेनाऽसताम् । यद्येकान्तेन सतामावरणं क्षायोपशमिकत्वमेषां न स्यात् । अथैकान्तेनाऽसताम् ; एवमपि क्षायोपशमिकत्वं नोपपद्यते असत्त्वात् । सतश्चावरणदर्शनात् । [1]सतो हि नभसः मेघपटलादिना आवरणं दृश्यते, तथा सतां मत्यादीनामावरणमिति को विरोधः ? १०

अर्थान्तराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत् ।६। यथा न [2]कुटीभूतं प्रत्याख्यानं नाम कश्चित् पर्यायोऽस्ति यस्यावरणात् प्रत्याख्यानावरणत्वं भवेत् किन्तु प्रत्याख्यानावरणसान्निध्यात् आत्मा प्रत्याख्यानपर्यायेण नोत्पद्यत इत्यतः प्रत्याख्यानावरणस्य आवरणत्वम् , तथा न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् सन्ति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वं भवेत् किन्तु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वम् । अपर आह— १५

अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात् ।७। इदमिह संप्रधार्यम्—मनःपर्ययज्ञानगमनशक्तिः केवलप्राप्तिसामर्थ्यं चाऽभव्यस्य स्याद्वा, न वेति ? यदि स्यात् ; तस्याऽभव्यत्वानुपपत्तिः । अथ नास्ति; तदुभयसामर्थ्याभावात् तदावरणकल्पना व्यर्थेति उत्तरस्यावरणद्वयस्य नोपपत्तिः ? २०

नवा, उक्तत्वात् ।८। नवैष दोषः । किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्—'आदेशवचनात्' इति । द्रव्यार्थादेशेन सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञानयोरावरणम् , पर्यायार्थादेशेनाऽसतोः । अपि चोक्तम्—'अर्थान्तराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत्' इति । यदि द्रव्यार्थादेशेन मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं चास्त्यभव्यस्य; भव्यत्वमस्य प्राप्नोति । न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वं कल्प्यते । कथं तर्हि ? २५

सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाऽभावाभ्यां भव्याऽभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् ।९। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्य तद्विपरीतोऽभव्यः इति चोच्यते ।

ज्ञानावरणादज्ञोऽतिदुःखितः ।१०। ज्ञानावरणोदयेनोपरतज्ञानसामर्थ्यः लुप्तस्मृतिर्धर्मश्रवणनिरुत्सुकः[3] अज्ञानावमानकृतं च बहुदुःखमनुभवति । ३०

आह—उक्तो ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिविकल्पः । इदानीं दर्शनावरणस्य वक्तव्य इति । अत आह—

---

१ सतोपि न–ता०, श्र० । २ प्रत्यक्षीभूतम् । ३–कः ज्ञाना–मु०, द०, व०, मू० ।

# चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचला-प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

चक्षुरादीनां दर्शनावरणसंबन्धात् भेदनिर्देशः ।१। चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि तेषां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानाम् दर्शनावरणानीति भेदनिर्देशः दर्शनावरणसं-
५ बन्धाद्वेदितव्यः ।

मदखेदक्लमविनोदार्थः स्वापो निद्रा ।२। मदखेदक्लमानां विनोदाय यः स्वापः स निद्रा इत्युच्यते । कथम् ? निपूर्वस्य द्रातेः कुत्साक्रियस्याङि निद्राशब्दनिष्पत्तिः । यत्सन्निधानादात्मा निद्रायते कुत्स्यते सा निद्रा । द्रायतेर्वा स्वप्नक्रियस्य निद्रा ।

उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्रा ।३। तस्या निद्राया उपर्युपरि पुनः पुनर्वृत्तिः निद्रानिद्रा
१० इत्युच्यते ।

प्रचलयत्यात्मानमिति प्रचला ।४। या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचलेत्युच्यते, पचादिलक्षणे अचि । सा पुनः शोकश्रममदादिप्रभवा । विनिवृत्तेन्द्रियव्यापारस्यान्तःप्रीतिलवमात्रहेतुः आसीनस्यापि नेत्रगात्रक्रियासूचिता ।

पौनःपुन्येन सैवाहितावृत्तिः प्रचलाप्रचला ।५। सैव प्रचला पुनः पुनरावर्तमाना प्रचला-
१५ प्रचलेत्युच्यते ।

स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः ।६। यत्सन्निधानाद्रौद्रकर्मकरणं बहुकर्मकरणं च भवति सा स्त्यानगृद्धिः । कथम् ? स्त्यायतेरनेकार्थत्वात् स्वप्नार्थ इह गृह्यते । गृधेरपि दीप्तिः । स्त्याने स्वप्ने गृध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहु च कर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः ।

२० नानाधिकरणाभावात् वीप्सानुपपत्तिरिति चेत्; न; कालादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः ।७। स्यान्मतम्–नानाधिकरणविषया वीप्सा, न चेह नानाधिकरणत्वमस्ति एकात्मगोचरत्वात्, ततो वीप्साऽभावात् असति द्वित्वे निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलेति निर्देशो नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? कालादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः । इह एकस्यापि वस्तुनः कालकृताद् गुणभेदाद् भेदो दृश्यते–पटुर्भवान् परुदासीत् पटुतर ऐषम[3] इति । तथा देशकृतादपि–मथुरायां दृष्टः, पुनः पाटलिपुत्रे दृश्यमान
२५ उच्यते–अन्योऽत्र त्वमसि संपन्न इति । एवमिहापि कालादिभेदात् भेदोपपत्तेः वीप्सा युज्यते ।

आभीक्ष्ण्ये वा द्वित्वप्रसिद्धिः ।८। अथवा मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्ण्यं तस्य विवक्षायां द्वित्वं भवति यथा [4]गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्त इति ।

निद्रादिकर्मसद्वेद्योदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिः ।९। निद्रादिकर्मणः सद्वेद्यस्य चोदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिर्भवति । तत्र हि शोकक्लमादिविगमदर्शनात् सद्वेद्योदयः स्फुटोऽवगन्तव्यः,
३० असद्वेद्यस्य च मन्दोदयः ।

निद्रादीनामभेदेनाभिसंबन्धः ।१०। निद्रा च निद्रानिद्रा च प्रचला च प्रचलाप्रचला च स्त्यानगृद्धिश्च निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयः । अनुवर्तमानेन दर्शनावरणेनाभेदेनाभिसंबन्धः क्रियते ।

---

१ पटुर्भवान् पटुरासीत् पटुतर एव स–मु०, द०, व० । २ गतवर्षे–स० । परापरायैषमो वर्षे । ३ अस्मिन् वर्षे–स० । ४ गेहमनुप्रवेशमास्त इति मु०, द० ।

निद्रादीनामभेदेनाभिसंबन्धो(बन्ध)विरोध इति चेत्; न; विवक्षातः संबन्धात् ।११। स्यादेतत्–चक्षुरादीनां भेदनिर्देशः निद्रादीनामभेदनिर्देशः एकमेव दर्शनावरणमपेक्ष्य क्रियमाणो विरुद्ध इति; तन्न; किं कारणम्? विवक्षातः संबन्धात्। विवक्षावशाद्धि भेदेनाभेदेन च संबन्धो न विरुध्यते।

अथ चक्षुरादिदर्शनावरणोदयात् आत्मा किमवस्थो भवति? अत्रोच्यते— ५

चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयात् चक्षुरादीन्द्रियालोचनविकलः ।१२। चक्षुर्दर्शनावरणस्याचक्षुर्दर्शनावरणस्य चोदयात् आत्मा चक्षुरादीन्द्रियलोचनविकलो भवति एकेन्द्रियभावेन विकलेन्द्रियभावेन च, पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्युपहतेन्द्रियालोचनसामर्थ्यश्च भवति।

अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रमुक्तः ।१३। अवधिदर्शनावरणोदयाद् व्यपेतावधिदर्शनः संपद्यते। १०

केवलदर्शनावरणोदयादनाविर्भूतकेवलदर्शनः ।१४। केवलदर्शनावरणस्य कर्मण उदयात् अनाविर्भूतकेवलदर्शनः अप्रत्यवसितसंसारोऽवतिष्ठते।

निद्रा-निद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोऽवस्था ।१५। निद्राया उदयात् तमोऽवस्था निद्रानिद्राया उदयात् महातमोऽवस्था संजायते।

प्रचला-प्रचलाप्रचलोदयाच्चलनातिचलनभावः ।१६। प्रचलोदयादासीनो घूर्णमानश्चलन्नयनगात्रः पश्यन्नपि न पश्यति। प्रचलाप्रचलोदयादासीनोऽतिघूर्णमानः खन्यमानमपि शरनाराचादिभिः शिरोऽङ्गप्रत्यङ्गादि यत्किञ्चिन्न पश्यति। १५

आह–यत्तत्कर्म तृतीयगणनामवाप्तं तस्योत्तरप्रकृतिविकल्पो न निर्ज्ञात इति? अत्रोच्यते—

## सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम् ।१। देवादिषु गतिषु बहुप्रकारजातिविशिष्टासु यस्योदयात् अनुगृहीत(तृ)द्रव्यसंबन्धापेक्षात् प्राणिनां शारीरमानसानेकविधसुखपरिणामस्तत्सद्वेद्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यम्। २०

यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् ।२। नारकादिषु गतिषु नानाप्रकारजातिविशेषावकीर्णासु कायिकं बहुविधं मानसं वाऽतिदुःसहं जन्मजरामरणप्रियविप्रयोगाऽप्रियसंयोगव्याधिवधबन्धादिजनितं दुःखं यस्य फलं प्राणिनां तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्तं वेद्यम् असद्वेद्यम्। २५

आह–व्याख्यातो वेदनीयस्य प्रकृतिबन्धः। अथ खलु मोहनीयस्याष्टाविंशतिप्रभेदस्य किमाख्याः प्रकारा इति? अत्र ब्रूमः—

## दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥ ३०

दर्शनादिभिस्त्रिद्विनवषोडशभेदानां यथासंख्येन संबन्धः ।१। दर्शनादयश्चत्वारः त्र्यादयोऽपि, तेषां यथासंख्येन संबन्धो भवति–दर्शनमोहनीयं [1]त्रिभेदम्, चारित्रमोहनीयं द्विभेदम्, अकषायवेदनीयं नवविधम्, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति।

---

१ त्रिविधं मु०, द०, ब०।

तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानीति ।२। तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदमवगन्तव्यम् । कुतः ? सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि इति । तद्बन्धं प्रत्येकं भूत्वा सत्कर्मापेक्षया त्रैविध्यमास्कन्दति । तत्र यस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखः तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविभागाऽसमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम् । तदेव[1] सम्यक्त्वम् , शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मानं श्रद्धानं न निरुणद्धि । तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते । तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते, सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत् । यस्योदयादात्मनः अर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः ।

चारित्रमोहनीयं द्वेधा कषायाकषायभेदात् ।३। चारित्रमोहनीयं द्वेधा विभज्यते । कुतः ? अकषायकषायभेदात् । कषायप्रतिषेधप्रसङ्ग इति चेत् ; न; ईषदर्थत्वात् नञः । यथा 'अलोमिका एलका'[2] इति, नास्याः कच्छपवल्लोमाभावः किन्तु छेदयोग्यलोमाभावेऽपि ईषत्प्रतिषेधादलोमिकेत्युच्यते, तथा नेमे कषाया अकषायाः हास्यादय इति, नैषां सर्वथैवाऽकषायत्वं किन्तु परोपष्टम्भात् श्ववत्प्रवृत्तेरीषत्प्रतिषेधः । यथा श्वा स्वाम्युपष्टम्भात् प्रवृद्धबलः सत्त्वजिघांसां प्रति वर्तते स्वामिनिवर्तनाच्च निवर्तते; तथा क्रोधादिकषायावष्टम्भात् ईषत्प्रतिषेधे सति हास्यादीनां प्रवृत्तेः, क्रोधाद्यप्रवृत्तौ च निवृत्तेरकषायत्वम् । कथमीषत्प्रतिषेधगतिरिति चेत् ? व्याख्यानतः ।

अकषायवेदनीयं नवविधं हास्यादिभेदात् ।४। अकषायवेदनीयं नवविधम् । कुतः ? हास्यादिभेदात् । तत्र यस्योदयात् हास्याविर्भावस्तद्धास्यम् । यदुदयाद्देशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः । अरतिस्तद्विपरीता । यद्विपाकः शोचनं स शोकः । यदुदयादुद्वेगः तद्भयं सप्तविधम् । कुत्साप्रकारो जुगुप्सा । यद्येवं कुत्साग्रहणमेवास्तु लघुत्वात् ; न; अर्थविशेषोपपत्तेः । आत्मीयदोषसंवरणं जुगुप्सा, परकीयकुलशीलादिदोषाविष्करणावक्षेपण[3]भर्त्सनप्रवणा कुत्सा । यस्योदयात् स्त्रैणान् भावान् मार्दवास्फुटत्वक्लैव्यमदनावेशनेत्रविभ्रमास्फालनसुखपुंस्कामनादीन्[4] प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः । तस्योद्भूतवृत्तित्वमितरयोः[5] पुंनपुंसकयोः सत्कर्मद्रव्यावस्थानान्न्यग्भावः । ननु लोके प्रतीतं योनिमृदुस्तनादि(पृथुस्तनादि)स्त्रीवेदलिङ्गम् ; न; तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्, [6]अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदयः । कदाचिद्योषितोऽपि पुंवेदोदयोऽप्याभ्यन्तरविशेषात् । शरीराकारस्तु नामकर्मनिर्वर्तितः । एतेनेतरौ व्याख्यातौ । यस्योदयात् पौंस्नान् भावानास्कन्दति स पुंवेदः । यत्कर्मोदयात् नपुंसकान् भावानुपव्रजति[7] स नपुंसकवेदः ।

कषायवेदनीयं षोडशविधं अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् ।५। कषायवेदनीयं षोडशविधं द्रष्टव्यम् । कुतः ? अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् । तद्यथा कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । स्वपरोपघातनिरनुग्रहाहितक्रौर्यपरिणामोऽमर्षः क्रोधः । [8]स च चतुःप्रकारः–पर्वत-पृथ्वी-वालुका[9]-उदकराजितुल्यः । जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात् पराप्रणतिर्मानः शैलस्तम्भा-ऽस्थि-दारु-लतासमानश्चतुर्विधः । परातिसन्धानतयोपहितकौटिल्यप्रायः प्रणिधिर्माया प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचितमूल-मेषशृङ्ग-गोमूत्रिका-ऽवलेखनीसदृशी चतुर्विधा । अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकाङ्क्षावेशो लोभः कृमिराग-कज्जल-कर्दम-हरिद्रारागसदृशश्चतुर्विधः । तेषां क्रोधमानमायालोभानां चतस्रोऽवस्थाः अनन्तानुबन्धिनः अप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः सञ्ज्वलनाश्चेति । अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्

---

१ मिथ्यात्वद्रव्यम् । २–कांडका मु० । –काण्डलका–द०, ब० । मेषी इत्यर्थः । ३–पभ–मु०, ब० । ४–कामादीन् मु०, ब० । ५ श्र० प्रतौ 'इतरयोः' इति पदस्य टिप्पणभूतं 'पुंनपुंसकयोः' इति पदम् । ६ अन्तः पुंसो–श्र०, ता० । ७–न् प्रव्रज–मु०, द०, ब० । ८ स चतुः–मू०, मु०, द०, ब० । ९–वालिको–ता०, द०, मू० ।

तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्त [1]अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। समेकीभावे वर्तते, संयमेन सहावस्थानादेकीभूताः ज्वलन्ति, संयमो वा ज्वलति एतेषु सत्स्वपीति सञ्ज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः। त एते-समुदिताः षोडश कषाया भवन्ति। ५

आह-व्याख्यातमष्टाविंशत्युत्तरप्रकृतिभेदं मोहनीयम्, अथायुषश्चतुर्विधस्य को नामनिर्देश इति? अत्रोच्यते—

## नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

नारकादिषु भवसंबन्धेनायुर्व्यपदेशः ।१। नारकादिषु भवसंबन्धेनायुषो व्यपदेशो भवति- १० नरकेषु भवं नारकं तिर्यग्योनौ भवं तैर्यग्योनं मनुष्येषु भवं मानुषं देवेषु भवं दैवमिति।

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः ।२। यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते।

अन्नादि तन्निमित्तमिति चेत्; न; तस्योपग्राहकत्वात् ।३। स्यादेतत्-अन्नादि तन्निमित्त तल्लाभालाभयोर्जीवितमरणदर्शनादिति; तन्न; किं कारणम्? तस्यानुग्राहकत्वात्। यथा घटभवने १५ मृत्पिण्डो मूलकारणं तस्योपग्राहकं दण्डादि, तथाऽभ्यन्तरं भवधारणस्य कारणमायुः, अन्नादि तस्योपग्राहकम्, अतश्चैतदेवं यत् क्षीणायुषोऽन्नादिसन्निधानेऽपि मरणं दृश्यते।

देवनारकेषु चान्नाद्यभावात् ।४। देवेषु नारकेषु चान्नाद्यभावात् भवधारणमायुरधीनमेवेत्यवसेयम्। तेषां हि कादाचित्क आहारोऽनाभोगो व्याख्यातः।

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकायुः ।५। नरकेषु तीव्रशीतो- २० ष्णवेदनाकरेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं भवधारणं भवति तन्नारकायुः।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनम् ।६। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमकादिविविधव्यसनविधेयीकृतेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं भवति तत्तैर्यग्योनमायुरवगन्तव्यम्।

शारीरमानससुखदुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुषः ।७। शारीरेण मान- २५ सेन च सुखदुःखेन समाकुलेषु मनुष्येषु यस्योदयाज्जन्म भवति तन्मानुषमायुरवसेयम्।

शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुषः ।८। शारीरेण मानसेन च सुखेन प्रायः समाविष्टेषु देवेषु यस्योदयाज्जन्म भवति तद्दैवमायुरवगन्तव्यम्। कदाचित् [3]प्रियविप्रयोगात् महर्द्धिदेवनिरीक्षणात् च्यवनलिङ्गाज्ञाहानिमालाभूषाम्लानदर्शनाच्च मानसं दुःखमाविर्भवतीति ज्ञापनार्थं प्रायग्रहणम्। ३०

आह-व्याख्यातमायुश्चतुर्विधं तदनन्तरमुद्दिष्टं यन्नामकर्म तदुत्तरप्रकृतिसमाख्याः का इति? अत्रोच्यते—

---

१ आप्रत्या-श्र०। ईषत्प्रत्याख्यान। २ आयुषः। ३ प्रियावि-म०; द०, ब०।

# गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

५ यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः ।१। यस्य कर्मण उदयवशात् आत्मा भवान्तरं प्रत्यभिमुखो व्रज्यामास्कन्दति सा गतिः । गम्यत इति गतिरित्युच्यमानेऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिद्गतिविशेषे वर्तते गोशब्दप्रवृत्तिवत् ? इतरथा हि यदा आत्मा न गच्छति न तदा गतिर्भवेत्, सत्कर्मावस्थायां च गतिव्यपदेशो न स्यात् । सा चतुर्विधा–नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्चेति । यन्निमित्त आत्मनो नारकभावः तन्नरकगतिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् ।

१० तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः ।२। तासु नारकादिगतिषु अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति व्यपदेशमर्हति । तन्निमित्तं जातिनाम । तत्पञ्चविधम्–एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति । यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् ।

यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम ।३। यस्योदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिर्भवति १५ तच्छरीरनाम । तत्पञ्चविधम्–औदारिकशरीरनाम वैक्रियिकशरीरनाम आहारकशरीरनाम तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम चेति । तेषां विशेषो व्याख्यातः ।

यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम ।४। यस्योदयाच्छिरःपृष्ठोरुबाहूदरनलकपाणिपादानामष्टानामङ्गानां तद्भेदानां च ललाटनासिकादीनाम् उपाङ्गानां विवेको भवति तदङ्गोपाङ्गनाम । तत्त्रिविधम्–औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गो- २० पाङ्गनाम चेति ।

यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम् ।५। अङ्गोपाङ्गानां यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणमिति[2] विज्ञायते । तद्द्विविधम्–स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । जातिनामकर्मोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति । निर्मीयतेऽनेन इति हि निर्माणम् ।

शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोऽन्योन्यसंश्लेषणं तद्बन्धनम् ।६। शरीरनामकर्मोदय- २५ वशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धनमित्याख्यायते । तस्याभावे शरीरप्रदेशानां दारुनिचयवत् असंपर्कः स्यात् ।

अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनामकर्म ।७। यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत् संघातनाम ।

यद्धेतुका शरीराकृतिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम ।८। यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्ति- ३० र्भवति तत्संस्थाननाम प्रत्येतव्यम् । तत् षोढा प्रविभज्यते–समचतुरस्रसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, स्वातिसंस्थाननाम, [3]कुब्जसंस्थाननाम, वामनसंस्थाननाम, [4]हुण्डसंस्थाननाम चेति । तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितिचक्रवत् अवस्थानकरं समचतुरस्रसंस्थाननाम । नाभेरुपरिष्टाद् भूयसो देहसन्निवेशस्या-

---

१–बाहुरदनालक–मु० । २–ति ज्ञाय–मु०, द०, ब० । ३ कुब्जकसं–मु० । ४ हुण्डकसं–मु०, द०, ब० ।

धस्ताच्चाल्पीयसो जनकं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, न्यग्रोधाकारसमताप्रापितान्वर्थम्[1] । तद्विपरीतसन्निवेशकरं स्वातिसंस्थाननाम वल्मीकतुल्याकारम् । पृष्ठप्रदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जसंस्थाननाम । सर्वाङ्गोपाङ्गह्रस्वव्यवस्थाविशेषकारणं वामनसंस्थाननाम । सर्वाङ्गोपाङ्गानां हुण्डसंस्थितत्वात् हुण्डसंस्थाननाम ।

यदुदयादस्थिबन्धनविशेषस्तत्संहननम् ।६। यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहननम् । तत्षड्विधम्–वज्रर्षभनाराचसंहनननाम, वज्रनाराचसंहनननाम नाराचसंहनननाम, अर्धनाराचसंहनननाम, कीलिकासंहनननाम, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनननाम चेति । तत्र वज्राकारोभयास्थिसन्धि प्रत्येकं मध्ये वलयबन्धनं सनाराचं सुसंहतं वज्रर्षभनाराचसंहननम्[2] । तदेव वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननम् । तदेवोभयं वज्राकारबन्धनव्यपेतमवलयबन्धनं सनाराचं नाराचसंहननम् । तदेवैकपार्श्वे सनाराचम् इतरत्रानाराचम् अर्धनाराचसंहननम् । तदुभयमन्ते सकीलं[3] कीलिकासंहननम् । अन्तरसंप्राप्तपरस्परास्थिसन्धि[4] बहिःसिरास्नायुमांसघटितम् असंप्राप्तसृपाटिकासंहननम् ।

यदुदयात् स्पर्शरसगन्धवर्णविकल्पा अष्टपञ्चद्विपञ्चसंख्यास्तानि स्पर्शनामादीनि ।१०। यस्योदयात् स्पर्शप्रादुर्भावः तत् स्पर्शनाम । तदष्टविधम्–कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम चेति । यन्निमित्तो रसविकल्पः तद्रसनाम । तत्पञ्चविधम्–तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम चेति । यदुदयप्रभवो[5] गन्धस्तद्गन्धनाम । तद्द्विविधम्–सुरभि गन्धनाम, असुरभिगन्धनाम चेति । यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । तत्पञ्चविधम्–कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, हारिद्रवर्णनाम, शुक्लवर्णनाम चेति । अचेतनेषु स्पर्शादयः कथमिति चेत् ? न कर्मोदयकृतास्ते, पुद्गलस्वभावपरिणामाः ।

यदुदयात् पूर्वशरीराकाराऽविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम ।११। यत्पूर्वशरीराकाराऽविनाशः यस्योदयाद्भवति तदानुपूर्व्यं नाम । तच्चतुर्विधम्–नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम चेति । यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग्वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते तदैव नरकभवं प्रत्यभिमुखस्य तस्य पूर्वशरीरसंस्थानानिवृत्तिकारणं विग्रहगतावुदेति तन्नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । ननु च तन्निर्माणनामकर्मसाध्यं फलं नानुपूर्व्यनामोदयकृतम् ? नैष दोषः; पूर्वायुरुच्छेदसमकाल एव पूर्वशरीरनिवृत्तौ निर्माणनामोदयो निवर्तते, तस्मिन्निवृत्तेऽष्टविधकर्म[6] तैजसकार्मणशरीरसंबन्धिन आत्मनः पूर्वशरीरसंस्थानाविनाशकारणमानुपूर्व्यनामोदयमुपैति । तस्य कालो विग्रहगतौ जघन्येनैकः[7] समयः, उत्कर्षेण त्रयः समयाः । ऋजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सति उत्तरशरीरयोग्यपुद्गलग्रहणान्निर्माणनामकर्मोदयव्यापारः ।

यन्निमित्तमगुरुलघुत्वं तदगुरुलघुनाम ।१२। यस्योदयादयस्पिण्डवत् गुरुत्वान्नाधः पतति न वाऽर्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । धर्मादीनामजीवानां कथमगुरुलघुत्वमिति चेत् ? अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात् । मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।

---

१–प्रापितत्वादन्व–मु०, द०, ब० । २ वज्रऋ– ता०, मू०, श्र०, द० । ३ सकीलकंकी– मु० । ४ अन्तरप्राप्त–मू०, द०, श्र०, ब० । ५–प्रभवो–मु०, द० । ६–न प–मू०, ता०, श्र० । ७–नैकः स–ता०, श्र० ।

**यदुदयात् स्वयंकृतोद्बन्धनाद्युपघातस्तदुपघातनाम ।१३।** यस्योदयात् स्वयंकृतोद्बन्धनमरु[1]-त्प्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम ।

**यन्निमित्तः परशस्त्राद्याघातस्तत्परघातनाम ।१४।** परशब्दोऽन्यपर्यायवाची, फलकाद्या-वरणसन्निधानेऽपि यस्योदयात् परप्रयुक्तशस्त्राद्याघातो भवति तत्परघातनाम ।

५ **यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातप[2]नाम ।१५।** आतपति येन आतपनम् आतपतीति वातपः, तस्य निर्वर्तकं कर्म आतपनाम । तदादित्ये वर्तते ।

**यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम ।१६।** उद्योत्यते येन उद्योतनं वोद्योतः, तन्निमित्तं कर्म उद्योतनाम । तच्चन्द्रखद्योतादिषु वर्तते ।

**यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम ।१७।** उच्छ्वसनमुच्छ्वासः प्राणापानकर्म, तद्यद्धेतुकं १० तदुच्छ्वासनाम ।

**विहाय आकाशं तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम ।१८।** विहाय आकाशम्, तत्र गति-निर्वर्तकं विहायोगतिनाम । तद्द्विविधम्–प्रशस्ताऽप्रशस्तविकल्पात् । वरवृषभद्विरदादिप्रशस्तगति-कारणं प्रशस्तविहायोगतिनाम । उष्ट्रखराद्यप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायोगतिनाम चेति । सिद्ध्यज्जीवपुद्गलानां विहायोगतिः कुत इति चेत् ? सा स्वाभाविकी । ननु च विहायोगतिनाम-१५ कर्मोदयः पक्ष्यादिष्वेव प्राप्नोति न मनुष्यादिषु । कुतः ? विहायसि गत्यभावात्; नैष दोषः; सर्वेषां विहायस्येव गतिरवगाहनशक्तियोगात् ।

**एकात्मोपभोगकारणशरीरता यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम ।१९।** शरीरनामकर्मोदयात् निर्व-र्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनामकर्म । एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं प्रत्येकशरीरम् ।

२० **यतो बह्वात्मसाधारणोपभोगशरीरं तत्साधारणशरीरनाम ।२०।** बहूनामात्मनामुपभो-गहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम । तदुदयवर्तिनो जीवाः कीदृशा इति चेत् ? उच्यते–साधारणाऽऽहारादिपर्याप्तिचतुष्टयजन्ममरणप्राणापानानुग्रहोपघाताः साधारण-जीवाः । यदैकस्याहारशरीरेन्द्रियप्राणापानपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तदैवानन्तानामाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिः । यदैको जायते तदैवानन्ता[3]जायन्ते । य[4]दैको म्रियते तदैवानन्तानां मरणम् । यदैकस्य प्राणापान-२५ ग्रहणविसर्गौ तदैवानन्ताः प्राणापानग्रहणविसर्गौ कुर्वन्ति । यदैक आहारादिनाऽनुगृह्यते तदैवानन्ताः तेनाहारेणानुगृह्यन्ते । यदैकोऽग्निविषादिनोपहन्यते तदैवानन्तानामुपघातः ।

**यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम ।२१।** यस्योदयाद् द्वीन्द्रियादिषु प्राणिषु जङ्गमेषु जन्म लभते तत् त्रसनाम ।

**यन्निमित्त एकेन्द्रियेषु प्रादुर्भावः तत् स्थावरनाम ।२२।** एकेन्द्रियेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवन-३० स्पतिकायेषु प्रादुर्भावो यन्निमित्तो भवति तत् स्थावरनाम ।

**यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम ।२३।** य[5]दुदयात् रूपवानरूपो वा अन्येषां प्रीतिं जनयति तत् सुभगनाम ।

**यदुदयात् रूपादिगुणोपेतोऽपि अप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम ।२४।** रूपादिगुणोपेतोऽपि सन् यस्योदयात् परेषामप्रीतिहेतुर्भवति तद् दुर्भगनाम ।

---

१ पर्वत । २–तपननाम मु० । ३–न्तानां जन्म–मु०, द०, ब० । ४ यदैवैको मु० । ५ विरूपा-कृतिरपि सन् यदुदयात् परेषां प्रीतिहेतुर्भवति तत् मु० ।

यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम ।२५। मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं यन्निमित्तमुपजायते प्राणिनस्तत् सुस्वरनाम ।

तद्विपरीतं दुःस्वरनाम ।२६। तद्विपरीतफलत्वात् तद्विपरीतम् अमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनकरं दुःस्वरनाम ।

यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम ।२७। यदुदयाद् दृष्टः श्रुतो वा रमणीयो भवत्यात्मा तच्छुभनाम । ५

तद्विपरीतमशुभनाम ।२८। तद्विपरीतफलं द्रष्टुः श्रोतुश्चारमणीयकरम् अशुभनाम ।

सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम ।२९। यदुदयादन्यजीवानुपग्रहोपघाताऽयोग्यसूक्ष्मशरीरनिर्वृत्तिर्भवति तत्सूक्ष्मनाम ।

अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम ।३०। अन्यबाधानिमित्तं स्थूलं शरीरं यतो भवति तद् बादरनाम । १०

यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम ।३१। यस्योदयात् आहारादिपर्याप्तिभिरात्माऽन्तर्मुहूर्तं पर्याप्तिं प्राप्नोति तत्पर्याप्तिनाम । तत्षड्विधम्–आहारपर्याप्तिनाम, शरीरपर्याप्तिनाम, इन्द्रियपर्याप्तिनाम, प्राणापानपर्याप्तिनाम, भाषापर्याप्तिनाम, मनःपर्याप्तिनाम चेति ।

अत्राह–प्राणापानकर्मोदये वायोर्निष्क्रमणप्रवेशनात्मकं फलम्, उच्छ्वासकर्मोदयेऽपि तदेवेति नास्त्यनयोर्विशेष इति ? उच्यते— १५

ऐन्द्रियिकानिन्द्रियभेदात्तद्विशेषः ।३२। शीतोष्णसंबन्धजनितदुःखस्य पञ्चेन्द्रियस्य यावुच्छ्वासनिःश्वासौ दीर्घनादौ श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावुच्छ्वासनामोदयजौ, यौ तु प्राणापानपर्याप्तिनामोदयकृतौ[तौ]सर्वसंसारिणां श्रोत्रस्पर्शानुपलभ्यत्वादतीन्द्रियौ ।

षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम ।३३। यस्योदयात् षडपि पर्याप्तीः पर्यापयितुम् आत्मा असमर्थो भवति तदपर्याप्तिनाम । २०

स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम ।३४। यदुदयात् दुष्करोपवासादितपस्करणेऽपि अङ्गोपाङ्गानां स्थिरत्वं जायते तत् स्थिरनाम ।

तद्विपरीतमस्थिरनाम ।३५। यदुदयादीषदुपवासादिकरणात् स्वल्पशीतोष्णादिसंबन्धाच्च अङ्गोपाङ्गानि कृशीभवन्ति तदस्थिरनाम । २५

प्रभोपेतशरीरताकरणम् आदेयनाम ।३६। यस्योदयात् प्रभोपेतशरीरं दृष्टेष्टमुपजायते तदादेय नाम ।

निष्प्रभशरीरकरणमनादेयनाम ।३७। निष्प्रभं शरीरं यस्योदयादापद्यते तदनादेयनाम ।

अत्राह–तैजसं नाम सूक्ष्मशरीरमस्ति तन्निमित्ता शरीरप्रभा नादेयकर्मनिमित्तेति ? उच्यते–सर्वसंसारिजीवशरीरप्रभाऽविशेषप्रसङ्गः स्यात् तैजसस्य सर्वेषां साधारणत्वात्, तत आदेयकर्मोदयनिमित्ता प्रभेति युक्तम् । ३०

पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्तिनाम ।३८। पुण्यगुणानां ख्यापनं यदुदयाद्भवति तद्यशस्कीर्तिनाम प्रत्येतव्यम् । ननु यशःकीर्तिरित्यनयोर्नास्त्यर्थविशेष इति पुनरुक्तत्वसङ्गः; नैष दोषः; यशो नाम गुणः, कीर्तनं संशब्दनं कीर्तिः, यशसः कीर्तिः यशःकीर्त्तिरित्यस्त्यर्थभेदः ।

तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम ।३९। पापगुणख्यापनकारणम् अयशस्कीर्तिनाम वेदितव्यम् । ३५

आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वं नाम ।४०। यस्योदयादार्हन्त्यमचिन्त्यविभूतिविशेषयुक्तमुपजायते तत्तीर्थकरत्वनाम कर्म प्रतिपत्तव्यम् ।

गणधरत्वादीनामुपसंख्यानमिति चेत् ; न; अन्यनिमित्तत्वात् ।४१। यथा तीर्थकरत्वनाम कर्मोच्यते तथा गणधरत्वादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम् , गणधरचक्रधरवासुदेवबलदेवा अपि ५ विशिष्टर्द्धियुक्ता इति चेत् ; तन्न; किं कारणम् ? अन्यनिमित्तत्वात् । गणधरत्वं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम् , चक्रधरत्वादीनि उच्चैर्गोत्रविशेषहेतुकानि ।

तदेव तीर्थकरत्वस्यापीति चेत् ; न; तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् ।४२। स्यान्मतम्–तदेव उच्चैर्गोत्रं तीर्थकरत्वस्यापि निमित्तं भवतु किं तीर्थकरत्वनाम्नेति ? तन्न; किं कारणम् ? तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् । तीर्थप्रवर्तनफलं हि तीर्थकरनामेष्यते न चोच्चैर्गोत्रोदयात् तदवाप्यते चक्रधरादीनां १० तदभावात् ।

किमर्थं[1] विहायोगत्यन्तानां प्रत्येकशरीरादिभिरेकवाक्यत्वं न कृतम् ?

पूर्वेषां प्रतिपक्षविरहात् एकवाक्यत्वाभावः ।४३। पूर्वे गत्यादयो विहायोगत्यन्ताः प्रतिपक्षविरहिताः, प्रत्येकशरीरादयः सेतरग्रहणेन विशेषयितुमिष्टास्ततस्तेषाम् एकवाक्यभावो न कृतः ।

अथ किमर्थं तीर्थकरत्वस्य [2]पृथक्करणम् ?

१५ प्रधानत्वात्तीर्थकरत्वस्य ।४४। तीर्थकरत्वं हि प्रधानभूतं सर्वेषु शुभकर्मसु ततस्तस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

[3]अन्त्यत्वाच्च ।४५। [4]प्रत्यासन्ननिष्ठस्य तस्योदयो जायते ततश्चास्य पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

आह–उक्ताः सोत्तरप्रकृतिबन्धभेदा विविधभावनामनिर्वर्तनाहितान्वर्थसंज्ञा षष्ठी कर्मप्रकृतिः । अथ सप्तमी कियत्प्रकारेति ? अत्रोच्यते—

२० **उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥**

गोत्रं द्विविधमुच्चैर्नीचैरिति विशेषणात् ।१। गोत्रं द्विविधं द्रष्टव्यम्–उच्चैर्नीचैरिति विशेषणात् उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । तत्र कीदृशमुच्चैर्गोत्रं कीदृग्वा नीचैर्गोत्रम् ?

यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् ।२। लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येषु इक्ष्वाकूग्रकुरुहरिज्ञातिप्रभृतिषु[5] जन्म यस्योदयाद्भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम् ।

२५ गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम् ।३। गर्हितेषु दरिद्राप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रं प्रत्येतव्यम् ।

आह– व्याख्यातौ गोत्रभेदौ, तदनन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य किमाख्याः प्रकारा इति ? अत्रोच्यते–

**दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥**

३० दानादीनामन्तरायापेक्षयाऽर्थव्यतिरेकनिर्देशः ।१। अन्तराय इति वर्तते तदपेक्षया दानादीनामर्थव्यतिरेकः[6] क्रियते दानस्यान्तरायो लाभस्यान्तराय इत्यादि ।

दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात् तद्व्यपदेशः ।२। यदुदयाद्दातुकामो न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमिच्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते । त एते पञ्चान्तरायव्यपदेशा वेदितव्याः ।

---

१–भावात् ता० । २ पृथग्ग्रहणम् ब०, मु०, द० । ३ अन्यत्वाच्च श्र०, ता० । ४ प्रत्यासन्नविशिष्टस्य ता० । ५ इक्ष्वाकुयदुकुरुहरिजाति–मु०, द० । ६ भिन्नाधिकरण ।

भोगोपभोगयोरविशेष इति चेत्; न; गन्धादिशयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः ।३। स्यान्मतम्–भोगोपभोगयोरविशेषः । कुतः ? सुखानुभवननिमित्तत्वाभेदादिति; तन्न; किं कारणम् ? गन्धादि-शयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः । गन्धमाल्यशिरःस्नानवस्त्रान्नपानादिषु भोगव्यवहारः । शयनासनाङ्गनाहस्त्यश्वरथ्यादिषूपभोगव्यपदेशः । ता एता ज्ञानावरणादीनाम् उत्तरप्रकृतयः संख्येया उक्ताः । ज्ञानावरणस्य नाम्नश्चाऽसंख्येया अपि भवन्तीत्याप्तोपदेशः । व्याख्यातः प्रकृतिबन्धविकल्पः, अतः परं स्थितिबन्धविकल्पं व्याख्यास्यामः । ५

आह–व्याख्यास्यति भवान्[1] स्थितिबन्धम्, इदं तु संशेमहे किमसावभिहितलक्षणात् पूर्वस्मात् प्रकृतिबन्धात् विशिष्टात् अर्थान्तरभूतकर्मविषय आहोस्वित् तस्यैव प्राथमकल्पिकस्य कर्मणः प्रकृतिबन्धव्यपदेशवत् पर्यायान्तरनिर्देश इति ? अत्र ब्रूमहे–[3]अस्थानेऽयं संशयः । कुतः ? यस्मादेतासामेव प्रकृतीनाम् अनेकभेदानां यथास्वमनिर्जीर्णानां यावन्तं कालमवस्थानं आश्रयविनाशाभावात् तस्मिन् स्थितिबन्धविवक्षा, सा पुनः स्थितिरुभयथा–[4]परावरा च । प्रकृष्टात् प्रणिधानात् परा, निकृष्टात् प्रणिधानात् [5]अवरा । यद्येवम् उच्यतां कियत्कालेयं कर्मप्रकृतिरिति ? अत्रोच्यते सति वक्तव्ये— १०

## आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-कोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥ १५

आदित इति वचनं मध्यान्तनिवृत्त्यर्थम् ।१। मध्ये अन्ते वा तिसृणां ग्रहणं माभूदित्येवमर्थमादित इत्युच्यते, आदौ आदितः तस्प्रकरणे–"आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [ ] इति तस् ।

तिसृणामिति वचनम् अवधारणार्थम् ।२। आदित इत्युच्यमाने इयतीनां प्रकृतीनां ग्रहणमित्यवधारणं न स्यात्, अतोऽवधारणार्थं तिसृणामित्युच्यते । २०

अन्तरायस्य चेति क्रमभेदवचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् ।३। मूलप्रकृतिक्रममुल्लङ्घ्यान्तरायस्य चेत्युच्यते समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् । का पुनरसौ समानस्थितिः ? त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः । उक्तपरिमाणं सागरोपमम् ।

कोटीकोट्य इति द्वित्वे बहुत्वानुपपत्तिः इति चेत्; नः राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः ।४। स्यान्मतम्–यथा ग्रामो ग्रामो रमणीय इति वीप्सायां द्वित्वेनैव गतत्वात् बहुवचनं न प्रयुज्यते तथा कोटीकोट्य इत्यत्रापि वीप्सायां द्वित्वेन गतत्वात् बह्वर्थस्य बहुवचनं न प्राप्नोति ? तन्न; किं कारणम् ? राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः । यथा राज्ञः पुरुषः राजपुरुष इति, एवं कोटीनां कोट्यः कोटीकोट्यः इति वृत्तिर्द्रष्टव्या । २५

पराभिधानं जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थम् ।५। परेत्युच्यते । किमर्थम् ? जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थं परा उत्कृष्टा इत्यर्थः । सा कस्येति चेत् ? उच्यते— ३०

संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य परा स्थितिः ।६। संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिर्भवति ।

अन्येषामागमात् संप्रत्ययः ।७। अन्येषामेकेन्द्रियादीनामागमात् संप्रत्ययो भवति । तद्यथा एकेन्द्रियपर्याप्तकस्य एकसागरोपमसप्तभागास्त्रयः । द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमसप्त-

१ सूत्रकारः स्वयमेव । भगवान्–श्र० । २ स्थितिबन्धः । ३ अयुक्तः । ४ परापराच मु०, ता० । ५ अपरा मु० ।

भागाः त्रयः । त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागास्त्रयः । चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागास्त्रयः । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागास्त्रयः । संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्यान्तःसागरोपमकोटीकोट्यः । एकेन्द्रियापर्याप्तकस्य त एव भागाः पल्योपमस्यासंख्येयभागोनाः । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तसंज्ञिनां त एव भागाः पल्योपमा (म)
५ संख्येयभागोनाः ।

यस्य कर्मणः स्थितिमतिलङ्घ्यान्यकर्मस्थितिरभिहिता तस्य खलु वेदनीयानन्तरोद्देशभाजः–

## सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिरित्यनुवर्तते । इयमपि परा स्थितिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्यावसेया । इतरेषामेकेन्द्रियादीनां यथागमम् । तद्यथा–पर्याप्तकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामेक-
१० पञ्चविंशतिपञ्चाशच्छतसागरोपमाणि यथासंख्यम्, अपर्याप्तकैकेन्द्रियस्य पल्योपमासंख्येयभागोना सैव स्थितिः । द्वीन्द्रियादीनामपि सैव पल्योपमा(म)संख्येयभागोना पर्याप्तकासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्रम्, तस्यैवापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रं पल्योपमसंख्येयभागोनम्, अपर्याप्तकसंज्ञिनः अन्तःसागरोपमकोटीकोट्यः ।

आह–निर्दिष्टा पञ्चानां कर्मप्रकृतीनां स्थितिः, अथोपरिष्टयोः का परा स्थितिरिति ?
१५ अत्रोच्यते—

## विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिरित्यनुवर्तते । इयमप्युत्कृष्टा संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य । एकेन्द्रियादीनां यथागमम् । तद्यथा–एकेन्द्रियपर्याप्तकस्यैकसागरोपमसप्तभागौ द्वौ । द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमसप्तभागौ द्वौ । त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागौ द्वौ ।
२० चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागौ द्वौ । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागौ द्वौ । संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्य अन्तःसागरोपमकोटीकोट्यः । एकेन्द्रियापर्याप्तकस्य तावेव भागौ पल्योपमासंख्येयभागोनौ । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकासंज्ञिनां सैव स्थितिः पल्योपमा(म)संख्येयभागोना ।

आह–आयुषः कोत्कृष्टा स्थितिरिति ? अत्रोच्यते—

२५
## त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

पुनः सागरोपमग्रहणात् कोटीकोटीनिवृत्तिः ।१। सागरोपमग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनः सागरोपमग्रहणं कोटीकोटीनिवृत्त्यर्थम् । परा स्थितिरित्यनुवर्तते एव । अस्याप्युत्कृष्टा स्थितिः संज्ञिपर्याप्तकस्यैव । इतरेषां यथागमम् । तद्यथा असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य पल्योपमस्यासंख्येयभागः । शेषाणाम् उत्कृष्टा पूर्वकोटी ।

३० आह–अष्टानामपि कर्मप्रकृतीनां व्याख्याता परा स्थितिः । अथ तासामेव का जघन्या स्थितिरित्युपदिश्यते–अन्यकर्मस्थितिविशेषाधिकत्वात् । आनुपूर्व्योल्लङ्घनेन अमुष्यैव तावत् स्वसंवेद्यफलस्य वेद्यस्य वेदितव्या स्थितिः—

---

१ अन्तरायस्य । २ अपर्याप्तसं–मु०, मू०, द०, ब०, ता० ।

## अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः।

अथानुपूर्व्यविशेषात्यये सति मोहायुर्व्यवहितयोरन्त्ययोः का जघन्या स्थितिरिति ? उच्यते–

## नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अत्रापि सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः। मुहूर्ता इत्यनुवर्तते, अपरा स्थितिरिति च। ५

अथान्यासां कर्मप्रकृतीनां का जघन्या स्थितिरिति ? उच्यते—

## शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते। तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां सूक्ष्मसाम्पराये, मोहनीयस्यानिवृत्तिबादरसाम्पराये, आयुषः संख्येयवर्षायुष्षु तिर्यक्षु मनुष्येषु च।

आह–उभयी ज्ञानावरणादीनामभिहिता स्थितिः। अथानुभवः किंलक्षण इति ? अत्रोच्यते– १०

## विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

विशिष्टः पाको नानाविधो वा विपाकः।१। ज्ञानावरणादीनां कर्मप्रकृतीनाम् अनुग्रहोपघातात्मिकानां पूर्वास्रवतीव्रमन्दभावनिमित्तो विशिष्टः पाको विपाकः। द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधो वा पाको विपाकः। असावनुभव इत्याख्यायते। शुभपरिणामानां प्रकर्षभावात् शुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः। अशुभपरिणामानां १५ प्रकर्षभावात् अशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः शुभप्रकृतीनां निकृष्टः। स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते–स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तु तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नारकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते, नापि दर्शनमोहः चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन। २०

आह–अभ्युपेमः प्रागुपचितनानाप्रकारकर्मविपाकोऽनुभव इति, इदं तु न विजानीमः किमयं[3]प्रसंख्यातोऽप्रसंख्यातः इति ? अत्रोच्यते–प्रसंख्यातोऽनुभूयत इति ब्रूमहे। कुतः ? यतः–

## स यथानाम ॥ २२ ॥

ज्ञानावरणादीनां सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशादनुभवसंप्रत्ययः।१। ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावः, दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येवमाद्यन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशात् २५ सर्वासां कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानाम् अनुभवसंप्रत्ययो जायते।

आह–यदि विपाकोऽनुभवः प्रतिज्ञायते, तत्कर्मानुभूतं सत् किमावरणवदवतिष्ठते, आहोस्विन्निष्पीडितसारं[4] प्रच्यवते इति ? अत्रोच्यते–

## ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

पूर्वार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा।१। पीडानुग्रहावात्मने[5] प्रदायाभ्यवहृतोदनादिविकारवत् ३० व्यावर्तते स्थितिक्षयादवस्थानाभावात्।

---

१–रन्ययोः मु०। २ नानावा ता०, श्र०, मू०। ३ नाम्ना निर्ज्ञातः। संख्या–मु०। ४ वस्त्रमाल्यादिवत्। ५–नं प्र– मु०, द०, ब०।

सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च ।२। सा द्विप्रकारा वेदितव्या । कुतः ? विपाकजेतरा चेति । तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मण औदयिकभावोदीरितस्य क्रमेण विपाककालप्राप्तस्य[1] यस्य यथा । सदसद्वेद्यतान्यतरविकल्पवद्धस्य तस्य तेन प्रकारेण वेद्यमानस्य यथानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्ध[2]फलस्य स्थितिक्षयादुदयागतपरिभुक्तस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्र[3]मिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्य उदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकनिर्जरा ।

निमित्तान्तरसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।३। "तपसा निर्जरा [ ९।२ ] इति वक्ष्यते, तस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते–ततश्च भवति अन्यतश्चेति ।

संवरात्परत्र पाठ इति चेत्; न; अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात् ।४। स्यान्मतम्–संवरान्निर्जरा परत्र पठितव्या 'यथोद्देशः तथा निर्देशः' इति; तन्न; किं कारणम् ? अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात्, तत्र हि पाठे क्रियमाणे विपाकोऽनुभव इति पुनरनुवादः कर्तव्यः स्यात् ।

पृथङ् निर्जरावचनमनर्थकं बन्धेऽन्तर्भावादिति चेत्; न; अर्थापरिज्ञानात् ।५। स्यान्मतम्–यथा पुण्यपापयोः पृथग्ग्रहणं न कृतं बन्धेऽन्तर्भावात् तथा निर्जरा अपि उक्तेन क्रमेण अनुभवबन्धेऽन्तर्भवति इति पृथगस्या ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थापरिज्ञानात् । फलदानसामर्थ्यमनुभव इत्युच्यते । ततोऽनुभूतानामात्तवीर्य्याणां पुद्गलानां निवृत्तिर्निर्जरेत्ययमर्थभेदः । एवं च कृत्वा ततश्चेति अपादाननिर्देश उपपन्नो भवति, इतरथा हि भेदाभावान्नोपपद्यते[4] ।

लघ्वर्थमिहैव तपसेति वक्तव्यमिति चेत्; न; संवरानुग्रहतन्त्रत्वात् ।६। स्यादेतत्–लघ्वर्थमिहैव 'ततो निर्जरा तपसा च' इति वक्तव्यं पुनर्निर्जराग्रहणमाकर्ष(-णं व्यर्थ)मिति; तन्न; किं कारणम् ? संवरानुग्रहतन्त्रत्वात्–तपसा निर्जरा च भवति संवरश्चेति ।

धर्मेऽन्तर्भावात् संवरहेतुत्वमिति चेत्; न; पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् ।७। स्यान्मतम्–उत्तमक्षमामार्दवार्जवादियोगे उत्तमं तपः संवरहेतुरिति वक्ष्यते ततस्तत्रान्तर्भावात् संवरहेतुत्वसिद्धेः, इह वचनाच्च निर्जराहेतुत्वनिर्ज्ञानात् पृथक् तत्र तपोग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । सर्वेषु संवरनिर्जराहेतुषु तपः प्रधानभूतमित्येतस्य ज्ञापनार्थं पुनस्तपोग्रहणं क्रियते । उक्तं च—

"कायमणोवचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं ।
सो कम्मणिज्जराए विपुलाए वट्टदे[7] मणुस्सोत्ति ।।" [ ]

तत इह तपोवचनं गौरवं जनयति इति न कृतम् ।

ताः पुनः कर्मप्रकृतयो द्विविधाः–घातिका अघातिकाश्चेति । तत्र ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायाख्या घातिकाः । इतरा अघातिकाः । घातिकाश्चापि द्विविधा–सर्वघातिका देशघातिकाश्चेति । तत्र केवलज्ञानावरणनिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनिद्राप्रचलाकेवलदर्शनावरणद्वादशकषायदर्शनमोहाख्याः विंशतिप्रकृतयः सर्वघातिकाः । ज्ञानावरणचतुष्कदर्शनावरणत्रयान्तरायपञ्चकसञ्ज्वलननोकषायसंज्ञिकाः देशघातिकाः । अवशिष्टाः प्रकृतयः अघातिकाः । तथेदमपरमवसेयम्–शरीरनामादयः स्पर्शान्ता अगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतप्रत्येकशरीरसाधारणशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणनामाख्याश्च पुद्गलविपाकप्रदाः । आनुपूर्व्यनाम क्षेत्रविपाककरम् । आयुर्भवधारणफलम् । अवशिष्टाः प्रकृतयो जीवविपाकहेतव इति । एवमनुभवबन्धो व्याख्यातः ।

१–प्तस्य यथा मु०, द०, ब० । २–ब्धकर्मस्वस्थि–मु०, –ब्धकर्मस्यस्थि–द०, ब० । ३–मिकंक्रि–ता०, श्र० । ४ तपसा । ५ पृथग्ग्रहणम् । ६ कायमनोवचोगुप्तो यः तपसा चेष्टते अनेकविधम् । सः कर्मनिर्जराया विपुलाया वर्तते मनुष्यः ।। ७ वट्टदि मु०, द०, ब०, ता०, मू० ।

इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्यः, तस्मिंश्च वक्तव्ये सति इमे निर्देष्टव्याः–किंहेतवः कदा, कुतः, किंस्वभावाः, कस्मिन्, किंपरिमाणाश्चेति ? तदर्थमिदं यथासंख्यपरिगृहीततत्प्रश्नापेक्षाभेदं सूत्रं प्रणीयते–

## नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥ ५

नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्ययाः। नामेति सर्वाः कर्मप्रकृतयः अभिधीयन्ते, "स यथानाम" [त० सू० ८।२२] इति वचनात्।

**नामासां प्रत्यय इति चेत्; न; समयविरोधात्** ।१। अथ मतमेतत्–नाम प्रत्ययो यासां ताः नामप्रत्यया इति; तन्न; किं कारणम्? समयविरोधात्। एवं हि विग्रहे क्रियमाणे नामकर्म एव सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्यय इति प्राप्तम्, तच्च समयविरुद्धम्। अनेन हेतुभाव उक्तः। १०

**सर्वेषु भवेषु सर्वतः** ।२। "दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि" [ ] इति तसि कृते सर्वेषु भवेषु सर्वत इति भवति। अनेन कालोपादानं कृतम्, एकैकस्य जीवस्य अतिक्रान्ता अनन्ता भवा आगामिनः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा भवा भवन्ति, तेषु सर्वेष्वेवेति।

**योगविशेषादिति वचनं निमित्तनिर्देशार्थम्** ।३। योगो व्याख्यातः कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणः। परस्परतो विशिष्यते इति विशेषः। ततो योगविशेषान्निमित्तात् कर्मभावेन पुद्गला आदीयन्त इति योगविशेषादित्यनेन निमित्तनिर्देशः कृतो भवति। १५

**सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभावप्रतिपादनार्थम्** ।४। ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति प्रतिपादनार्थं सूक्ष्मग्रहणं क्रियते।

**एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम्** ।५। आत्मप्रदेशकर्मपुद्गलैकाधिकरणव्यतिरिक्तक्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थमेकक्षेत्रावगाह[1] इति वचनं क्रियते। २०

**स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम्** ।६। स्थिताः[2] कर्मभावमापद्यन्ते न गच्छन्त इति क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता इत्युच्यते। एवं सूक्ष्मादि[3]ग्रहणेन कर्मयोग्यस्वभावानुवर्णनं कृतं भवति।

**सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थम्** ।७। एकद्वित्रिचतुरादिप्रदेशेष्वात्मनः कर्मप्रदेशाः न प्रवर्तन्ते, [4]क्व तर्हि ? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्च सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति प्रदर्शनार्थं[5] सर्वात्मप्रदेशेष्वित्युच्यते। २५

**अनन्तानन्तप्रदेशवचनं प्रमाणान्तरव्यपोहार्थम्** ।८। न संख्येयाः नचाऽसंख्येयाः नाप्यनन्ताः इति प्रतिपादनार्थम् अनन्तानन्तप्रदेशा इत्युच्यन्ते। ते[6] खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशाः घनाङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः एकद्वित्रिचतुः[7]संख्येयासंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्णरसद्विगन्धचतुःस्पर्शभावाः अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्याः योगवशात् आत्मना आत्मसात्क्रियन्त इति प्रदेशबन्धः समासतो वेदितव्यः। ३०

---

१–गाढव–ता०, श्र०, द०, ब०। २ सन्तः। ३ त्रय। ४ किं तर्हि मु०, द०, ब०। ५ –र्थंनूर्ध्वमधस्तिर्यक्सर्वा–मु०, द० ब०। ६ परमाणवः, ते अनन्तानन्ता अपि पुद्गलस्कन्धा आगता अविशेषेण एतावन्मात्रसूक्ष्मशरीरं महामत्स्यादि स्थूलशरीरञ्च व्याप्य स्थिता इत्यर्थः। ७–तुः संख्येयसम–द०, ब०। तुः संख्येयानन्तसम–मु०।

आह–बन्धपदार्थान्तरं पुण्यपापोपसंख्यानं चोदितम्, तद्बन्धेऽन्तर्भूतमिति प्रत्याख्यातम्। तत्रेदं वक्तव्यं कोऽत्र पुण्यबन्धः कः पापबन्ध इति ? तत्र पुण्यप्रकृतिपरिगणनार्थमिदमुच्यते—

## सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

शुभग्रहणमायुरादीनां विशेषणम् ।१। शुभं प्रशस्तमित्यर्थः, तद्ग्रहणमायुरादीनां विशेषणं ५ द्रष्टव्यम्–शुभायुः, शुभनाम शुभगोत्रमिति।

शुभायुस्त्रिविधम् ।२। तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति एतत्त्रितयं शुभायुरित्युच्यते।

शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पम् ।३। शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पमवगन्तव्यम्। तद्यथा–मनुष्यगतिः, देवगतिः, पञ्चेन्द्रियजातिः, पञ्च शरीराणि, त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि, समचतुरस्रसंस्थानम्, वज्रर्षभनाराचसंहननम्, प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः, मनुष्यगति-देवगत्यानुपूर्व्यद्वयम्, अगुरु-१० लघु-परघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतप्रशस्तविहायोगतयः, त्रस-बादर-पर्याप्ति-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्तयः निर्माणं तीर्थकरनाम चेति। शुभमेकमुच्चैर्गोत्रम् सद्वेद्यमित्येता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुण्यसंज्ञा[1] इति।

## अतोऽन्यत् पापम् ॥ २६ ॥

अस्मात् पुण्यसंज्ञककर्मप्रकृतिसमूहादन्यत् कर्म पापमित्युच्यते। तद् द्व्यशीतिविधम्। १५ तद्यथा–ज्ञानावरणप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशतिः, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, चतस्रो जातयः, पञ्च संस्थानानि, पञ्च संहननानि, अप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः, नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयम्, उपघाता-ऽप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणशरीरा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशस्कीर्तयश्चेति नामप्रकृतयः चतुस्त्रिंशत्, असद्वेद्यम्, नरकायुः, नीचैर्गोत्रमिति।

२० एवं व्याख्यातः सप्रपञ्चो बन्धपदार्थः अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यः तदुपदिष्टागमानुमेयः।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारेऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

---

१–ज्ञाः ता०, द०, ब०, मु०। २ –त्तिसा–मु०, द०, ब०।

# अथ नवमोऽध्यायः

अत्राह–योऽयं अनादिसन्ततिः पौनर्भविकसुखदुःखहेतुः अष्टविधविशेषोपचितमूर्तिः नानाजातिविग्रहोत्पादनप्रवणः [1]पौरुषेयः सर्वात्मप्रदेशावेष्टनसमर्थः कर्मबन्धः स केनचिदुपायेनापि नाम कस्यचित् अनात्यन्तिकः स्यादिति? अत्रोच्यते–भवति हि केषाञ्चिदात्यन्तिकस्तद्विनाशः यस्मात्तदर्थमेव भगवद्भिरर्हद्भिरुपदिष्टः[2]—

## आस्रवनिरोधः [3]संवरः ॥ १ ॥

अथवा, आह–कथं पुनरेतदाहितवैचित्र्यं नानास्रवापादितं ज्ञानावरणादिकर्म सम्बन्धं नोपयादिति? अत्रोच्यते–संवरात्। कोऽसौ संवर इति? [4]अत आह–आस्रवनिरोधः संवर इति। अथवा, बन्धपदार्थो निर्दिष्टः। इदानीं तदनन्तरोद्देशभाजः संवरस्य निर्देशः प्राप्तकाल इति; अत इदमाह–आस्रवनिरोधः संवर इति।

अथ कोऽयमास्रवनिरोधः?

कर्मागमनिमित्ताऽप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः ।१। कर्मागमनिमित्तं बहुविकल्पं व्याख्यातम्, तस्य कायवाङ्मनःप्रयोगस्य स्वात्मलाभहे[5]त्वसन्निधानात् अप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोध इत्युच्यते।

आह–यदि अयमास्रवनिरोधः व्याख्या[6]यताम् इदानीं संवर इति? अत्राभिधीयते–स न व्याख्यातव्यः। किं कारणम्? यस्मात्–

तन्निरोधे सति तत्पूर्वककर्मादानाभावः संवरः ।२। कारणाभावात् कार्याभाव इति तस्मिन्नास्रवे निरुद्धे तत्पूर्वकस्यानेकदुःखबीज[7]जननस्य कर्मणः उपनिपाताभावो यः स संवरः। 'अभिमतः' इति वाक्यशेषः।

तथानिर्देशः कर्तव्य इति चेत्; न; कार्ये कारणोपचारात् ।३। स्यादेतत्–यद्ययमर्थ इष्टस्तथा निर्देशः कर्तव्यः यथा गमको भवति–आस्रवनिरोधे सति संवरः, आस्रवनिरोधादिति वा? तन्न; किं कारणम्? कार्ये कारणोपचारात्। यथा अन्नं वै प्राणा इति अन्नकार्येषु प्राणेषु अन्नोपचारः तथा आस्रवनिरोधकार्ये संवरे आस्रवनिरोधोपचारः कृतः।

निरुध्यतेऽनेनेति निरोध इति वा ।४। अथवा, नायं भावसाधनः निरुद्धिर्निरोध इति। किं तर्हि? करणसाधनः–निरुध्यते येन स निरोध इति। तथा संवरशब्दोऽपि करणसाधनः–संव्रियतेऽनेनेति। कः पुनरसौ? गुप्त्यादिः वक्ष्यमाणः। तेन [8]ह्युभयं क्रियते इति सामानाधिकरण्यमुपपद्यते।

योगविभागो वा ।५। अथवा, योगविभागोऽत्र द्रष्टव्यः, [9]आस्रवनिरोधः 'हितार्थिना कर्तव्यः' इति वाक्यशेषः। तस्य किं प्रयोजनमिति चेत्? अत आह–संवर इति। संवरः प्रयोजनमस्येत्यर्थः। कः पुनरसौ?

मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः ।६। मिथ्यादर्शनादयः प्रत्यया व्याख्याताः, तदुपादानस्य कर्मणः संवरणं संवर इति निर्ध्रियते।

---

१ पौरुषेण यः–मु०, द०, ब०। पुरुषकृतः। २ भगवद्भिरुप–मु०, द०, ब०। ३ त्रिरोधः–श्र०। ४ अत एवाह–मु०। अत एव अत आह–द०, ब०। ५–हेतुत्वस–मु०। ६–तामित्यत्रेदा–मु०, द०, ब०। ७–जनकस्य मु०, द०, ब०। ८ गुप्त्यादिकेन। ९ आस्रवनिरोधः संवर इति।

स द्वेधा द्रव्यभावभेदात् ।७। संवरो द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? द्रव्यभावभेदात् ।

संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः ।८। आत्मनो द्रव्यादिहेतुक[1]भवान्तरावाप्तिः संसारः, तन्निमित्तक्रियापरिणामस्य निवृत्तिर्भावसंवर इति व्यपदिश्यते ।

तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः ।९। तस्य संसारकारणस्य भाव[2]-
५ बन्धस्य निरोधे तत्पूर्वकस्य कर्मपुद्गलस्य निरासो द्रव्यसंवर इति निश्चीयते ।

तद्विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनम् ।१०। तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभाग-वचनं क्रियते । तद्यथा—

मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्त-संयता-ऽप्रमत्तसंयता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसाम्पराय-सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक-क्षपक-उपा-
१० शान्त-क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ-सयोगि-अयोगकेवलिभेदात् चतुर्दशगुणस्थानविकल्पः ।११। मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतः प्रमत्तसंयतः अप्रमत्तसंयतः अपूर्वकरणोपशमकक्षपकौ अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकक्षपकौ सूक्ष्मसाम्परा-योपशमकक्षपकौ उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः सयोगकेवली अयोग-केवली चैवं भेदात् चतुर्दशगुणस्थानविकल्पो वेदितव्यः ।

१५ तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः ।१२। तेषु मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टि[3]रित्यभिधीयते । यत्कृतं तत्त्वार्थानामश्रद्धानम् । तत्र ज्ञानावरणक्षयोपशमा-पादितानि त्रीण्यपि ज्ञानानि मिथ्याज्ञानव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । तस्य विकल्पाः प्राग्व्याख्याताः । ते सर्वे समासेन द्विधा व्यवतिष्ठन्ते–हिताहितपरीक्षाविरहिताः परीक्षकाश्चेति । तत्रैकेन्द्रियादयः सर्वे संज्ञिपर्याप्तकवर्जिताः हिताहितपरीक्षाविरहिताः, पर्याप्तका उभयेऽपि भवन्ति ।

२० यदुदयाभावेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः ।१३। तस्य मिथ्या-दर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीवः सासादनसम्यग्दृष्टि-रित्याख्यायते ।

मिथ्यादर्शनोदयनिवृत्तिः कथमिति चेत् ? उच्यते–अनादिमिथ्यादृष्टिर्भव्यः षड्विंश-तिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सादिमिथ्यादृष्टिर्वा षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सप्तविंशतिमो-
२५ हप्रकृतिसत्कर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा प्रथमसम्यक्त्वं गृहीतुमारभमाणः शुभपरिणामाभिमुखः अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्ध्या वर्धमानविशुद्धिः, चतुर्षु मनोयोगेषु अन्यतमेन मनोयोगेन, चतुर्षु वाग्योगेषु अन्यतमेन वाग्योगेन औदारिकवैक्रियिककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन वा समाविष्टः हीयमानान्यतमकषायः[4] साकारोपयोगः, त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेन संक्लेशविरहितः वर्धमानशुभपरिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीनां स्थितिं ह्रासयन् , अशुभप्रकृती-
३० नामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीनां रसमुद्वर्तयन् त्रीणि करणानि कर्तुमुपक्रमते–अथा-प्रवृत्तकरणम् , अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणं चेति । तानि त्रीण्यपि करणानि प्रत्येकमन्त-र्मुहूर्तकालानि । तत्र अन्तःकोटीकोटिस्थितिकानि कर्माणि कृत्वा अथाप्रवृत्तकरणस्य आदिसमयं कालादिलब्ध्युपेतः प्रविशति । इदं तु करणं प्राक् न कदाचिदपि प्रवृत्तम्, अत एवास्यान्वर्थ-संज्ञा–यथेदं[5] करणं न तथा प्राक् प्रवृत्तमित्यथाप्रवृत्तिर्मिति । तत्राद्ये समये जघन्या
३५ विशुद्धिरल्पा, द्वितीये समये जघन्या[6]ऽनन्तगुणा, तृतीये समये जघन्या अनन्तानन्तगुणा एवमादि अन्तमुहूर्तपरिसमाप्तेः, ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा अनन्तगुणा, [7]द्वितीयसमये उत्कृष्टा अन-

१ पर्याय । भावान्त–ता०, श्र० । २ भावसंवरस्य मु० । भावसंसारस्य द०, ब० । ३–ष्टिरभि–मु०, द०, ब० । ४–माननूतनक–मु० । –मानन्यूनतमक–द० । ५ अथेदं मु० । ६–न्याऽनन्तगुणा–ता०, श्र०, मू० । ७ द्वितीये मु०, द०, ब० । द्वितीयसमयेनुत्कृ–ता० ।

न्तगुणा एवमादि अथाप्रवृत्तकरणचरमसमयान्नेतव्या । एवमेते नानाजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणाः परिणामविकल्पाः समा विषमाश्च भवति । [1]तेषां समुदायरूपमथाप्रवृत्तकरणम् । अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये जघन्या विशुद्धिरल्पा, तस्यैवोत्कृष्टा अनन्तगुणा, द्वितीयसमये जघन्या अनन्तगुणा तस्यैव उत्कृष्टा अनन्तगुणा, एवमा अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः । त एते नानाजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणाः परिणामविकल्पा नियमेन विषमा एव परस्परतः । तेषां समुदायरूपमपूर्वकरणम्, अतएवास्यात्यन्तापूर्वत्वादन्वर्थसंज्ञा । अनिवृत्तिकरणकाले नानाजीवानां प्रथमसमये परिणामा एकरूपा एव, द्वितीयसमये ततोऽनन्तगुणा एकरूपा एव, एवम् आ अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः । तेषां समुदायरूपमनिवृत्तिकरणम् । अत एवास्यान्वर्थनाम परस्परतो निवृत्त्यभावादनिवृत्तिकरणमिति ।

[2]तत्राथाप्रवृत्तकरणे[3] स्थितिखण्डनमनुभागखण्डनं गुणश्रेणी गुणसंक्रमो वा नास्ति केवलमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्यन् अप्रशस्तप्रकृतीरनन्तगुणानुभागहीना बध्नाति, प्रशस्तप्रकृतीश्चानन्तगुणरसवृद्धाः[4], स्थितिमपि पल्योपमसंख्येयभागहीनाम् । अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणयोः स्थितिखण्डनादीनि संभवन्ति स्थितिबन्धश्च क्रमेण हीयते । अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धोऽनन्तगुणहान्या शुभप्रकृतीनां चानन्तगुणवृद्ध्या वर्तते । तत्रानिवृत्तिकरणकालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वन्तरकरणमारभते, येन मिथ्यादर्शनकर्मण उदयघातः क्रियते । ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्तं करोति-सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं [6]सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति । एतासां तिसृणां प्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकालं प्रथमसम्यक्त्वं भवति । तदन्ते जघन्येन एकसमये उत्कर्षेणावलिकाषट्केऽवशिष्टे यदा अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामन्यतमस्योदयो भवति तदा सासादनसम्यग्दृष्टिरित्युच्यते । अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा-आसादनं विराधनम्, सहासादनेन वर्तत इति सासादना, सासादना सम्यग्दृष्टिर्यस्य सोऽयं सासादनसम्यग्दृष्टिरिति । तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबन्ध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानान्येव भवन्ति । अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा-अनन्तं मिथ्यादर्शनं तदनुबन्धनादनन्तानुबन्धीति । स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति ।

सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः ।१४। सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूपः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते । अत एवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि इत्युच्यन्ते ।

सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमोहोदयादिपा(यादापा)दिताऽविरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः ।१५। औपशमिकेन क्षायोपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन समन्वितः चारित्रमोहोदयात् अत्यन्तमविरतिपरिणामप्रवणोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरिति व्यपदिश्यते । तस्य त्रीण्यपि ज्ञानानि सम्यग्ज्ञानव्यपदेशमर्हन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानसमावेशात् । इत ऊर्ध्वं गुणस्थानेषु नियमेन सम्यक्त्वम् ।

द्विविषयविरत्यविरतिपरिणतः संयतासंयतः ।१६। एतदादीनि गुणस्थानानि चारित्रमोहस्य क्षयोपशमादुपशमात् क्षयाच्च भवन्ति । तत्रानन्तानुबन्धिकषायाः क्षीणाः स्युरक्षीणा वा, [7]ते च अप्रत्याख्यानावरणकषायाश्च सर्वघातिन एव, तेषामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च, प्रत्याख्यानावरणकषायाः सर्वघातिन एव तेषामुदये सति संयमलब्ध्यावसत्याम्, सञ्ज्वलनकषायाः नव नोकषायाश्च देशघातिन एव, तेषामुदये सति संयमासंयमलब्धिर्भवति । तद्योग्यया प्राणीन्द्रियविषयया विरताविरतवृत्त्या परिणतः संयतासंयत इत्याख्यायते ।

---

१ एषां मु०, ता० । २ अत्राथा-मु०, द०, ब० । ३-णेपिस्थि-मु०, द०, ब० । ४-वृद्धया मु० । ५-नुभवबं-मु० । ६ सम्यक्त्वनि-ता०, श्र०, मू० । ७ तथा मु०, ब० ।

परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयतः ।१७। अनन्तानुबन्धिकषायेषु क्षीणेष्वक्षीणेषु वा प्राप्तोदयक्षयेषु अष्टानां च कषायाणां उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् सञ्ज्वलननोकषायाणाम् उदये संयमलब्धिर्भवति । तन्मूलसाधनोपपादितोपजननं[1] बाह्यसाधनसन्निधानाविर्भावमापद्यमानं प्राणेन्द्रियविषयभेदात् द्वितयीं वृत्तिमास्कन्दन्तं संयमोपयोगमात्मसात्कुर्वन् पञ्चदशविधप्रमाद- ५ वशात् किञ्चित्प्रस्खलितचारित्रपरिणामः प्रमत्तसंयत इत्याख्यायते ।

प्रमादविरहितोऽप्रमत्तसंयतः ।१८। पूर्ववत् संयममास्कन्दन् पूर्वोक्तप्रमादविरहात् अविचलितसंयमवृत्तिः अप्रमत्तसंयतः समाख्यायते । इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवतः- उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति । यत्र मोहनीयं कर्मोपशमयन्नात्मा आरोहति सोपशमकश्रेणी । यत्र तत्क्षयमुपगमयन्नुद्गच्छति सा क्षपकश्रेणी ।

१० अपूर्वकरणपरिणाम उपशमकः क्षपकश्चोपचारात् ।१९। प्राग्व्याख्यातोऽपूर्वकरणपरिणामः, तद्विशुद्धिवशेन श्रेणीमारोहयन्नपूर्वकरण इति व्यपदेशमश्नुते । तत्र कर्मप्रकृतीनां नोपशमो नापि क्षयः किन्तु पूर्वत्रोत्तरत्र च उपशमं क्षयं[2] वाऽपेक्ष्य उपशमकः क्षपक इति च घृतघटवदुपचर्यते ।

अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायौ ।२०। १५ पूर्वोक्तोऽनिवृत्तिपरिणामः, तद्वशात् कर्मप्रकृतीनां स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायाविति भाष्येते । तत्र उपशमनीयाः क्षपणीयाश्च प्रकृतय उत्तरत्र वक्ष्यन्ते ।

सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसाम्परायौ ।२१। साम्परायः कषायः, स यत्र सूक्ष्मभावेनोपशान्तिं क्षयं च आपद्यते तौ सूक्ष्मसाम्परायौ वेदितव्यौ ।

सर्वस्योपशमात् क्षपणाच्च उपशान्तकषायः क्षीणकषायश्च ।२२। सर्वस्य मोहस्योप- २० शमात् क्षपणाच्च उपशान्तकषायः क्षीणकषाय इति च व्यपदेशमर्हतः ।

घातिकर्मक्षयादाविर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली ।२३। घातिकर्मणामत्यन्तक्षयात् आविर्भूतस्वभावाऽचिन्त्यकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतिर्भगवान् केवलीत्यभिलप्यते ।

स द्विविधो योगभावाभावभेदात् ।२४। स केवली द्विधा भिद्यते । कुतः ? योगभावाभावभेदात्-योगवान् सयोगीति गीयते तदभावादयोगीति च ।

२५ तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरः शेषे ।२५। तत्र मिथ्यात्वप्राधान्येन यत्कर्मास्रवति तन्निरोधात् शेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति । किं पुनस्तत् ? मिथ्यात्वनपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्ड[3]संस्थानाऽसंप्राप्तसृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपस्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तकसाधारणशरीरसंज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम् ।

असंयमस्त्रिविधोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् ।२६। असंयमस्त्रि- ३० विधो वेदितव्यः । कुतः ? अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानविकल्पात् ।

तत्प्रत्ययस्य तदभावे संवरः ।२७। तत्प्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरोऽवसेयः । तद्यथा- निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगायुस्तिर्यग्गतिचतुः - संस्थानचतुःसंहननतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताऽप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयनीचैर्गोत्र - संज्ञकानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिकषायोदयकृतासंयमप्रधानास्रवाणाम् एकेन्द्रियादयः ३५ सासादनसम्यग्दृष्ट्यन्ताः बन्धकाः, तदभावे तासामुत्तरत्र संवरः । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमान-

१-पजनं-मु०, श्र०, द०, मू० । २ चापे-ता०, श्र०, मू० । ३ -ण्डकसं-मु० । ४-स्रास्-मु० । ५-नविक-श्र० ।

मायालोभमनुष्यायुर्मनुष्यगत्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामकानां दशानां प्रकृतीनाम् अप्रत्याख्यानकषायोदयकृतासंयमहेतुकानाम् एकेन्द्रियादयः असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ता बन्धकाः, तदभावादूर्ध्वं तासां संवरः। सम्यङ्मिथ्यात्वगुणेनायुर्न बध्यते। प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्याख्यानकषायोदयकारणासंयमास्रवाणाम् एकेन्द्रियप्रभृतयः संयतासंयतावसाना बन्धकाः, तदभावात् उपरिष्टात् तासां संवरः। ५

**प्रमादोपनीतस्य तदभावे निरोधः** ।२८। प्रमादोपनीतस्य कर्मणः प्रमत्तसंयतादूर्ध्वं तदभावान्निरोधः प्रत्येतव्यः। किं पुनस्तत् ? असद्वेद्याऽरतिशोकाऽस्थिराऽशुभाऽयशस्कीर्तिविकल्पम्। देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुः, अप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः, तत ऊर्ध्वं तस्य संवरः।

**कषायास्रवस्य तन्निरोधे निरासः** ।२९। कषाय एवास्रवो यस्य कर्मणः न प्रमादादिस्तस्य तन्निरोधे तन्निरासोऽवसेयः। स एव कषायः प्रमादादिविरहितः तीव्रमध्यमजघन्यभावेन त्रिषु गुणस्थानेषु व्यवस्थितः। तत्राऽपूर्वकरणस्यादौ संख्येयभागे द्वे कर्मप्रकृती निद्राप्रचले बध्येते। तत ऊर्ध्वं संख्येयभागे त्रिंशत्प्रकृतयः–देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गवर्णगन्धरसस्पर्शदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघात–परघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थकरनामाख्याः बध्यन्ते। तस्यैव चरमसमये चतस्रः प्रकृतयः हास्यरतिभयजुगुप्सासंज्ञा बन्धमुपयान्ति। ता एताः तीव्रकषायास्रवाः, तदभावान्निर्दिष्टाद्भागादूर्ध्वं संव्रियन्ते। अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्यादिसमयादारभ्य संख्येयेषु भागेषु पुंवेदक्रोधसंज्वलनौ बध्येते। तत ऊर्ध्वं शेषे शेषे(शेषेषु)संख्येयेषुभागेषु मानसंज्वलनमायासंज्वलनौ बन्धमुपगच्छतः। तस्यैव चरमसमये लोभसञ्ज्वलनो बन्धमेति। ता एताः प्रकृतयः मध्यमकषायास्रवाः, तदभावे निर्दिष्टस्य भागस्योपरिष्टात् संवरमवाप्नुवन्ति। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां यशस्कीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायास्रवाणां सूक्ष्मसाम्परायो बन्धकः। तदभावादुत्तरत्र तेषां संवरः। १० १५ २०

**केवलयोगनिमित्तं सद्वेद्यं तदभावात्तस्य निरोधः** ।३०। केवलेनैव योगेन सद्वेद्यस्योपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगिनां बन्धो भवति। तदभावादयोगकेवलिनस्तस्य संवरो भवति।

अत्राह–आस्रवनिरोधः संवर इत्याख्यातम्। तत्रेदमनिर्ज्ञातम्–आत्मलाभहेतुसन्निधाने सत्यास्रवतां कर्मणां केन निरोधो भवतीति ? तत्र वक्तव्यम्–अनेनास्रवनिरोधः इति ? अत्रोच्यते— २५

## स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

**संसारकारणगोपनाद् गुप्तिः** ।१। यतः संसारकारणात् आत्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः। भावे क्तिः। अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिरिति। कर्तृसाधनो वा क्तिन् गोपयतीति गुप्तिरिति।

**सम्यगयनं समितिः** ।२। परप्राणिपीडापरिहारेच्छया सम्यगयनं समितिः। संपूर्वादिणो भावे क्तिः। कर्तरि वा क्तिन्। ३०

**इष्टे स्थाने धत्त इति धर्मः** ।३। आत्मानमिष्टे नरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रादिस्थाने धत्त इति धर्मः। उणादिषु निष्पादितः।

**स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा** ।४। शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा वेदितव्याः।

---

१ इति व्याख्या–मु०, भू०, ता०, द०, ब०।

अनुप्रपूर्वादीक्षेः भावादिसाधनः अकारः ।५। अनुप्रपूर्वादीक्षेर्भावसाधनोऽकारः ।

परिषह्यत इति परीषहः ।६। परिपूर्वात्सहेः कर्मण्यकारः, परिषह्यत इति परीषहः । कथमकारः ? पचादिलक्षणोऽच् । ननु स कर्तरि विहितः । घञ् तर्हि; स करणाधिकरणयोर्विहितः । घञ् तर्हि कर्मणि; एवमपि परीषाह इति प्राप्नोति, "अनुबन्धकृतमनित्यम्" [ ] यथा ज्योतिषमिति । अथवा बहुलवचनात् कर्मण्यकारः, "अन्यस्यापि" [ ] इति दीर्घः । परीषहस्य जयः परीषहजयः ।

चारित्रशब्दो व्याख्यातः ।७। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १।१] इत्यत्र चारित्रशब्दो व्याख्यातः । चर्यते तच्चारित्रमिति ।

संवृण्वतो गुप्त्यादयः करणम् ।८। संवरितुः संवरणक्रियायाः साधकतमत्वविवक्षायां गुप्त्यादीनां करणभावः प्रत्येतव्यः ।

गुप्तिश्च समितिश्च धर्मश्चानुप्रेक्षा च परीषहजयश्च चारित्रं च गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि तैर्गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैरिति ।

संवर एव गुप्त्यादय इति चेत् ; न; आस्रवनिमित्तकर्मसंवरणात् ।८। स्यान्मतम्-संव्रियतेऽनेनेति संवरः, गुप्त्यादिभिश्च कर्म संव्रियते, ततो गुप्त्यादय एव संवर इति [1]भेदेन निर्देशो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? आस्रवनिमित्तकर्मसंवरणात् । संवरणमिह संवर इति भावसाधनः, तस्य गुप्त्यादयः करणत्वेन निर्दिश्यन्ते । संव्रियते संवर इति कर्मसाधनो वा, गुप्त्यादिभिर्हि कर्म संव्रियत इति ।

स इति वचनं गुप्त्यादिभिः साक्षात् संबन्धनार्थम् ।९। संवरोऽधिकृतोऽपि पुनः स इति परामृश्यते । किमर्थम् ? गुप्त्यादिभिः साक्षात् संबन्धनार्थम् । तेन किं लब्धम् ? नियमः कृतो भवति-स एष संवरो गुप्त्यादिभिरेव नान्येनोपायेनेति । तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोपहारदेवताराधनादयो निवर्तिता भवन्ति, रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्मणः अन्यथा निवृत्त्यसंभवात् । यदि हि स्यात् ; मत्स्यादीनामपि अतिसुलभो मोक्षः स्यात् , रक्तद्विष्टमूढानां च । एषां तत्त्वभेदकथनम् उत्तरत्र करिष्यते ।

आह-किमेतैरेव गुप्त्यादिभिः अयं संवरो निष्पाद्यते ? न । किं तर्हि ? अन्येन च । यद्येवम् ; उच्यतां केन ?

## तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

धर्मे अन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेत् ; न; निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्-धर्मविकल्पेषु उत्तमक्षमादिषु तपो वक्ष्यते, ततः संवरहेतुत्वे सिद्धे पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात्-तपो निर्जराकारणमपि भवतीति ।

प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं च ।२। सर्वेषु संवरहेतुषु प्रधानं तप इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं च पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

संवरनिमित्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।३। संवरहेतुरपि तपो भवतीति एतस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते । तपसा हि अभिनवकर्मसंबन्धाभावः पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च, अविपाकनिर्जराप्रतिज्ञानात् । तस्मात्तपोजातीयत्वात् ध्यानानां निर्जराकारणत्वप्रसिद्धिः ।

---

[1] भेदनिर्दे-मु०, ता०, द०, ब० ।

तपसोऽभ्युदयहेतुत्वान्निर्जराङ्गत्वाभाव इति चेत्; न; एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् ।४। स्यादेतत्–तपोऽभ्युदयकारणमिष्टम् देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, ततोऽस्य निर्जराङ्गत्वमनुपपन्नमिति; तन्न; किं कारणम्? एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात्। यथा अग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मसाद्भवनादिप्रयोजन उपलभ्यते, तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः?

गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत् ।५। अथवा, यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुणप्रधानफलाभिसम्बन्धः तथा मुनेरपि तपस्क्रियायां प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनिःश्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्वेदितव्यः।

आह–गुप्त्यादय उद्दिष्टाः संवरहेतवः। ते किंविषयाः कियत्प्रकाराः प्रत्येकं च किंसामर्थ्याः इति? अत्रोच्यते–सति बहुवक्तव्ये आदावुद्देशभाजो गुप्तेरेव तावन्निर्धारणं क्रियते–

## सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ।१। अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थो द्रष्टव्यः। क्व? "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [त० सू० ६।१] इत्यत्र।

प्राकाम्याऽभावो निग्रहः ।२। प्राकाम्यं यथेष्टं चरित्रं तस्याभावो निग्रह इत्याख्यायते, योगस्य निग्रहो योगनिग्रहः।

सम्यगिति विशेषणं सत्कारलोकपङ्क्त्याद्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम् ।३। पूजापुरस्सरा क्रिया सत्कारः। संयतो महानिति लोके प्रकाशः लोकपङ्क्तिः। एवमाद्यैहलौकिकफलमनुद्दिश्य पारलौकिकं च विषयसुखमनपेक्ष्य क्रियमाणो निग्रहो गुप्तिरिह परिगृहीतेति प्रतिपत्त्यर्थं सम्यगिति विशेषणमुपादीयते।

तस्मात् कायादिनिरोधात्तन्निमित्तकर्मानास्रवणे संवरप्रसिद्धिः ।४। तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशाप्रादुर्भावपरात् कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति कृत्वा संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या। तद्यथा तिस्रो गुप्तयः–कायगुप्तिः वाग्गुप्तिः मनोगुप्तिरिति। तत्र यत् कायिकमनिभृतस्य अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितधरणिप्रदेशाचङ्क्रमणद्रव्यान्तराधाननिक्षेपशयनासनादिनिमित्तं कर्म सम्मूर्च्छति न तन्निगृहीतकायप्रचारस्याप्रमत्तस्य आस्रोतुमर्हति। यच्च वाचिकमसंवृतस्य असत्प्रलापिनोऽप्रियवचनादिहेतुकं कर्म निपतति न तद्विनिवृत्तवाक्प्रयोगस्यास्रवति। यदपि मानसैः प्रदोषैः रागद्वेषाभिभूतस्यातीतानागतविषयाभिलाषिण आस्रवति न तदात्मीकृतमनसः कदाचिदप्युपनिपतति।

आह–यदि मूर्तिपरित्यागं कार्त्स्न्येन कर्तुमशक्नुवतः संक्लेशनिवृत्तये योगनिरोधः प्रतिज्ञायते स यावन्न भवति तावदनेनावश्यं प्राणयात्रानिमित्तं तत्प्रत्यनीकभावात् परिस्पन्दः कर्तव्यः, वाक्प्रयोगो वा प्रश्नापेक्षः, शरीरमलनिर्हरणार्थश्च, तस्मिन् सति कथमस्य संवरः स्यादिति? अत्रोच्यते–

## ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

सम्यग्ग्रहणेनाधिकृतेन प्रत्येकमभिसम्बन्धः ।१। सम्यगित्यनुवर्तते। तेन प्रत्येकमिहाभिसम्बन्धः क्रियते–सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपौ सम्यगुत्सर्ग इति।

समितिरित्यन्वर्थसंज्ञा तान्त्रिकी[3] पञ्चानाम् ।२। समितिरितीमन्वर्थसंज्ञा सम्यगितिः समितिरिति। क्व प्रसिद्धा? तान्त्रिकी। केषाम्? पञ्चानामीर्यादीनाम्।

---

१ यत्तुका– श्र०, ता०,। २ पुरुषेण। ३ सिद्धान्तानुसारिणी।

तत्र व्रज्यायां जीवबधपरिहार ईर्यासमितिः ।३। विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेः धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्ये उपजाते मनुष्यादिचरणपातोपहतावश्याय-प्रायमार्गे अनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य सङ्कुचितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईर्यासमितिरित्याख्यायते ।

५ अत्राह–विदितजीवस्थानादिविधेरित्युक्तम्, तत्र न ज्ञायते कति जीवस्थानानि इति ? अत्रोच्यते—

सूक्ष्मबादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दशजीवस्थानानि ।४। एकेन्द्रियादयः प्राक् व्याख्यातलक्षणाः । तत्रैकेन्द्रिया द्विविधाः–सूक्ष्मा बादराश्चेति[1] । सूक्ष्मा द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । बादरा द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तका इति । द्वीन्द्रिया १० द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । त्रीन्द्रिया द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । चतुरिन्द्रिया द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । पञ्चेन्द्रिया द्विविधाः–संज्ञिनोऽसंज्ञिनः । संज्ञिनो द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । असंज्ञिनो द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । एवं जीवस्थानानि वेदितव्यानि । तानि नामकर्मोदयापादितविशेषाणि एकेन्द्रियजातिसूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकनामोदयजनितानि चत्वारि जीवस्थानानि एकेन्द्रियेषु । द्वीन्द्रियादिषु बादरनामोदय एव । १५ विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयनिर्वर्तितानि । पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयलब्धभेदानि चत्वारि जीवस्थानानि ।

हितमितासन्दिग्धाभिधानं भाषासमितिः ।५। मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम् । तद्द्विविधम्–स्वहितं परहितं चेति । मितमनर्थकबहुप्रलपनरहितम् । स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं चाऽसन्दिग्धम् । एवंविधमभिधानं भाषासमितिः । तत्प्रपञ्चः–मिथ्याभिधानासूयाप्रियसंभेदाल्पसारशङ्कितसंभ्रान्तकषा-२० यपरिहासाऽयुक्ताऽसभ्यनिष्ठुरधर्मविरोध्यदेशकालालक्षणातिसंस्तवादिवाग्दोषविरहिताभिधानम् ।

अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः ।६। अनगारस्य गुणरत्नसंचयसंवाहिशरीरशकटिं समाधिपत्तनं निनीषतोऽक्षम्रक्षणमिव शरीरधारणमौषधमिव जाठराग्निदाहोपशमनिमित्तमन्नाद्यनास्वादयतो देशकालसामर्थ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरतः उद्गमोत्पादनैषणासंयोजनप्रमाणकारणाङ्गारधूमप्रत्ययनवकोटिपरिवर्जनमेषणासमितिरिति समाख्यायते ।

धर्मोपकरणानां ग्रहणविसर्जनं प्रति प्रयतनमादाननिक्षेपणासमितिः ।७। धर्माविरो-२५ धिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनमादाननिक्षेपणा समितिः ।

जीवाविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणमुत्सर्गसमितिः ।८। स्थावराणां जङ्गमानां च जीवादीनाम् अविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनम् उत्सर्गसमितिरवगन्तव्या ।

३० वाक्कायगुप्तिरियमपीति चेत्; न; तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः ।९। स्यान्मतम्–ईर्यासमित्यादिलक्षणा वृत्तिः वाक्कायगुप्तिरेव, गोपनं गुप्तिः रक्षणं प्राणिपीडापरिहार इत्यनर्थान्तरमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः । परिमितकालविषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्तिः । तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्तिः समितिः । अतो गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणसमितिविधावप्रमत्तानां तत्प्रणालिकाप्रसृतकर्माभावान्निभृतानां प्रासीदत् संवरः ।

पात्राभावात् पाणिपुटाहाराणां संवराभाव इति चेत्; न; परिग्रहदोषात् ।१०। स्यादे-३५ तत्–असति पात्रे पाणिपुटेन भुञ्जानस्य भिक्षोः पतिताहारनिमित्तप्राणातिपातदर्शनादेषणासमित्य-

---

१–राः० तत्र सू–मु०, द०, ब० । २–विरता–मु०, द०, ब०, श्र०, ।

भावात् संवराभाव इति; तन्न; किं कारणम्? परिग्रहदोषात्, नैस्सङ्गीं चर्यामातिष्ठमानस्य पात्रग्रहणे सति तत्संरक्षणादिकृतो दोषः प्रसज्यते। तस्मात् स्वायत्तेन पाणिपुटेन निराबाधे देशे स्थित्वा परीक्ष्य भुञ्जानस्य निभृतस्य तद्गतदोषाभावः। किञ्च,

दैन्यप्रसङ्गात् ।११। कपालमन्यद्वा भाजनमादाय पर्यटतो भिक्षोर्दैन्यमासज्यते। गृहिजनानीतमपि भाजनं [न]सर्वत्र सुलभम्, तत्प्रक्षालनादिविधौ च दुःपरिहारः पापलेपः, स्वभाजनेन देशान्तरं नीत्वा भोजने च आशानुबन्धनं स्यात्, स्वपूर्वविशिष्टभाजनादिकगुणासंभवाच्च येन केनचित् भुञ्जानस्य दैन्यं स्यात्। ततः स्वकरपुटभाजनान्नान्यद्विशिष्टमस्ति भिक्षोः।

अन्नवत्तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; विनाऽभावात् ।१२। स्यादेतत्–यथा प्रोच्यमन्नं संस्कृतं परमरसं परित्यज्य परगृहे यत्किञ्चित् असंस्कृतमन्नम् अरसमनुभूयते भिक्षुणा तथा कपालाद्यादानमपि स्यादिति; तन्न; किं कारणम्? तेन विनाऽभावात्। चिरकालं तपः संचिचीषतः संयतस्य शरीरयात्रा आहारमन्तरेण न संभवतीति यत्किञ्चित्प्रासुकं कादाचित्कमभ्युपगम्यते न तथा भाजनमिति असमञ्जसो दृष्टान्तः।

आह–उक्तं गुप्तिसमित्योः संवरहेतुत्वम्, इदानीं तदनन्तरमुद्दिष्टस्य धर्मस्य संवरहेतुत्वं संवर्णयितव्यमिति। अत्रेदमुच्यते—

## उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

किमर्थमिदमुच्यते?

प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचनम् ।१। आद्यं गुप्त्यादि प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्। तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयमेषणादि। इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम्।

क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्योपरमः क्षमा ।२। शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपयतो[2] भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रसहना(प्रहसना)वज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमेत्युच्यते।

जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम् ।३। उत्तमजातिकुलरूपविज्ञानैश्वर्यश्रुतलाभवीर्यस्यापि सतस्तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणमवगन्तव्यम्।

योगस्यावक्रता आर्जवम् ।४। योगस्य कायवाङ्मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जवमित्युच्यते।

प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचम् ।५। लोभस्य निवृत्तिः प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भावः कर्म वा शौचमिति निश्चीयते।

गुप्तावन्तर्भाव इति चेत्; न; तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात् ।६। स्यादेतत्–मनोगुप्तौ शौचमन्तर्भवतीति पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात्। मनोगुप्तौ हि मानसः परिस्पन्दः सकलः प्रतिषिध्यते, तत्राऽसमर्थेषु परकीयेषु वस्तुषु अनिष्टप्रणिधानोपरमार्थमिदमुच्यते।

---

१ प्रासत्यमन्नं परमं प–मु, ब०। प्राशमन्नं परमं प–द०। २–परगच्छतो मु०, ब०।

आकिञ्चन्येऽवरोध इति चेत्; न; तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात् ।७। स्यादेतत्–आकिञ्चन्यं वक्ष्यते, तत्रास्यावरोधात् शौचग्रहणं पुनरुक्तमिति ; तन्न ; किं कारणम् ? तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात् । स्वशरीरादिषु संस्काराद्यपोहार्थमाकिञ्चन्यमिष्यते ।

तच्चतुर्विधं जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात् ।८। लोभश्चतुःप्रकारः–जीवनलोभ आरो-
५ ग्यलोभ इन्द्रियलोभ उपभोगलोभश्चेति, स प्रत्येक द्विधा भिद्यते स्वपरविषयत्वात्, अतस्तन्निवृत्ति-लक्षणं शौचं चतुर्विधमवसेयम् ।

सत्सु साधुवचनं सत्यम् ।९। सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते । तद्दश-प्रकारं व्याख्यातम् ।

भाषासमितावन्तर्भाव इति चेत्; न; तत्र साध्वसाधुभाषाव्यवहारे हितमितार्थत्वात् ।१०।
१० स्यादेतत्–सत्यग्रहणमनर्थकम्, कुतः ? भाषासमितावन्तर्भावादिति ; तन्न; किं कारणम् ? तत्र साध्वसाधुभाषाव्यवहारे हितमितार्थत्वात् । संयतो हि साधुषु असाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात्, अन्यथा रागानर्थदण्डादिदोषानुषङ्गः स्यादिति समितिलक्षणमुक्तम् । इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्रशिक्षणादिषु बह्वपि [1]वक्तव्यमित्यनु-ज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम् ।

१५ अथ कः संयमः ? कश्चिदाह–भाषादिनिवृत्तिरिति ।

न भाषादिनिवृत्तिः संयमः; गुप्त्यन्तर्भावात् ।११। गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा, अतोऽत्रान्त-र्भावात् संयमाभावः स्यात् ।

अपर आह–कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा संयम इति ।

नापि कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा; समितिप्रसङ्गात् ।१२। समितयो हि कायादिप्रवृत्तिदोष-
२० निवृत्तयः, अतस्तत्रान्तर्भावः [2]प्रसज्येत ।

त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति चेत्; न; परिहारविशुद्धिचारित्रान्त-र्भावात् ।१३। अथ मतम्–द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां पृथिवीकायिकादीनां स्थावराणां च प्राणिनां वधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति; तदपि नोपपद्यते ; कुतः ? परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् । वक्ष्यते हि चारित्रभेदेषु परिहारविशुद्धिलक्षणं चारित्रमिति, तत्रान्तर्भावात् पृथक् संयमग्रहणम-
२५ नर्थकं स्यात् । कस्तर्हि संयमः ?

समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः ।१४। ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्त[3]त्प्रतिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते । एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणि-संयमः । शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयमः ।

अतोऽपहृतसंयमभेदसिद्धिः ।१५। एवं च कृत्वा अपहृतसंयमभेदसिद्धिर्भवति । संयमो
३० हि द्विविधः–उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति । देशकालविधानज्ञस्य [4]परानुपरोधेन उत्सृष्टकायस्य त्रिधा गुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वङ्गलक्षण उपेक्षासंयमः । अपहृतसंयमस्त्रिविधः–उत्कृष्टो मध्यमो जघ-न्यश्चेति । तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य [5]जन्तून् परिहरतो मध्यमः, उप-करणान्तरेच्छया जघन्यः ।

---

१ कर्तव्यमि–ता०, श्र०, द० । २ प्रसज्यते मु०, द०, ब० । ३–त्परिपा–मु०, द०, ब०, श्र० । ४ परोपरोधने मु० । परोपरोधेन द०, ब० । ५ जीवान् मु०, द०, ब० ।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशः ।१६। तस्यापहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशो द्रष्टव्यः। तद्यथा, अष्टौ शुद्धयः–भावशुद्धिः कायशुद्धिः विनयशुद्धिः ईर्यापथशुद्धिः भिक्षाशुद्धिः प्रतिष्ठापनशुद्धिः शयनासनशुद्धिः वाक्यशुद्धिश्चेति ।

तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता। तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत् । ५

कायशुद्धिर्निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तिमिव प्रदर्शयन्तीति। तस्यां सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतस्तस्य ।

विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजाप्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधि भक्तियुक्ता, गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः, प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञप्त्यादिषु प्रतिपत्तिकुशला, देशकालभावावबोधनिपुणा, आचार्यानुमतचारिणी । तन्मूलाः सर्वसंपदः, सैषा[1] भूषा पुरुषस्य, सैव नौः संसारसमुद्रतरणे । १०

ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसंभ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगन्तरावलोकनादिदोषविरहित[2]गमना। तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ । १५

भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्टपूर्वापरस्वाङ्गदेशविधाना आचारसूत्रोक्तकालदेश-[3]प्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थाना, दीनानाथदानशालाविवाहयजनगेहादिपरिवर्जनोपलक्षिता दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगमविहितनिरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला। तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपत् गुणसंपदिव साधुजनसेवानिबन्धना। सा लाभालाभयोः सुरसविरसयोश्च समसन्तोषाद्भिक्षेति भाष्यते। यथा सलीलसालङ्कारवरयुवतिभिरुपनीयमानघासो गौर्न तदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवात्ति, यथा वा तृणोलूपं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासावलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्षमाणः यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च। यथा शकटं रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचित् स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभिलषितदेशान्तरं वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेन अभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्यक्षम्रक्षणमिति च [4]नाम निरूढम्। यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपि उदराग्निं प्रशमयतीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केनचित्प्रकारेण स्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते। २०, २५, ३०

प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतः नखरोमसिङ्घाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते ।

संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः, शृङ्गारविकारभूषणोज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयश्च परिहर्तव्याः, अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारम्भाः सेव्याः । ३५

१ सैव भू–ता०, श्र० । २–परहित–मु०, द०, व० । ३–प्रवृत्तिप्रति–मु०, द०, व० । ४ नामरूढं मु०, द०, व० ।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिता:(ता)परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला हितमितमधुरमनोहरा संयतस्य योग्या। तदधिष्ठाना हि सर्वसंपदः।

**तपो वक्ष्यमाणभेदम्** ।१७। कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः। तदुत्तरत्र वक्ष्यमाणं द्वादशविकल्पमवसेयम्।

५ **परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः** ।१८। परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते।

**अभ्यन्तरतपोविशेषोत्सर्गग्रहणात्सिद्धिरिति चेत्; न; तस्या[1]न्यार्थत्वात्** ।१९। स्यान्मतम्–वक्ष्यते तपोऽभ्यन्तरं षड्विधम्, तत्रोत्सर्गलक्षणेन तपसा ग्रहणमस्य सिद्धमित्यनर्थकं त्यागग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? तस्यान्यार्थत्वात्। तद्धि नियतकालं सर्वोत्सर्गलक्षणम्, अयं पुनस्त्यागः यथाशक्ति अनियतकालः क्रियते इत्यस्ति भेदः।

१० **शौचवचनात्सिद्धिरिति चेत्; न; तत्रासत्यपि गर्द्धोत्पत्तेः** ।२०। अथ [2]मतमेतत्–व्याख्यातं शौचम्, तत्रास्यान्तर्भावात् त्यागग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? तत्रासत्यपि गर्द्धोत्पत्तेः। असन्निहिते परिग्रहे कर्मोदयवशात् गर्द्धं उत्पद्यते, तन्निवृत्त्यर्थं शौचमुक्तम्। त्यागः पुनः सन्निहितस्यापायः दानं वा स्वयोग्यम्, अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते।

**ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम्** ।२१। उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय

१५ ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यमित्याख्यायते। नास्य किञ्चनास्ति इत्यकिञ्चनः, तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्।

**अनुभूताङ्गनास्मरणतत्कथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यम्** ।२२। मया अनुभूताङ्गना कलागुणविशारदा इति स्मरणं तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलादिवासितं स्त्रीसंसक्तशयनासनमित्येवमादिवर्जनात् परिपूर्णं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते।

२० **[3]अस्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा** ।२३। अथवा ब्रह्मा गुरुस्तस्मिंश्चरणं तदनुविधान[4]मस्य अस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मचर्यमित्याचर्यते।

**अन्वर्थसंज्ञाप्रतिपादनार्थत्वाद्वा अपौनरुक्त्यम्** ।२४। अथवा सर्वेषामेव परिहारः। यद्यपि गुप्तिसमित्यादिष्वन्तर्भूताः केचन इहोपदिश्यन्ते तथापि तेषां संवरणधारणसामर्थ्याद्धर्म इत्येषा संज्ञा अन्वर्थेति प्रतिपादनार्थं पुनर्वचनमिति नास्ति पौनरुक्त्यम्।

२५ **तद्भावनाप्रवणत्वाद्वा सप्तप्रकारप्रतिक्रमणवत्** ।२५। अथवा, यथा ऐर्यापथिक-रात्रिन्दिवीय-पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिक-उत्तमस्थानिकलक्षणं सप्तप्रकारं प्रतिक्रमणं गुप्त्यादिप्रतिष्ठानार्थं भाव्यते, तथोत्तमक्षमादिदशविधधर्मभावना गुप्त्यादिपरिपालनार्थैवेति तत्रान्तर्भूतानामपि पृथगुपदेशो युक्तः।

**उत्तमविशेषणं दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थम्** ।२६। यत्किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य क्रिय-

३० माणानि क्षमादीनि संवरणकारणानि भवन्तीत्यस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थमुत्तमविशेषणमुपादीयते–उत्तमक्षमा उत्तममार्दवमित्यादि। कथं पुनरेषां संवरहेतुत्वमिति चेत्? अत्रोच्यते—

**सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्षदोषभावनात् संवरहेतुत्वम्** ।२७। सर्वेषामेवैषाम् उत्तमक्षमादीनां स्वगुणस्य प्रतिपक्षदोषस्य च भावनात् संवरहेतुत्वमवसेयम्। तद्यथा, उत्तमक्षमायास्तावत्–व्रतशीलपरिरक्षणम्, इहामुत्र च दुःखानभिष्वङ्गः, सर्वस्य जगतः सम्मानसत्कारभावपरिपक्वत्यादि

३५ गुणः, तत्प्रतिपक्षस्य क्रोधस्य धर्मार्थकाममोक्षप्राणनाशनं दोष इति विचिन्त्य क्षमितव्यम्। किञ्च, क्रोधनिमित्तस्य [7]स्वात्मनि भावाभावानुचिन्तनात्–

---

१–स्यान्वर्थ–मु०, द०, ब०। २ मतं व्या–मु०, द०, ब०। ३ स्वा–मु०, द०, ब०। ४ –धानमस्वा–मु०, द०, ब०। –नमस्वा–ता०। ५ प्रदर्शनार्थं ता०, श्र०। ६ –तिस्थाव–मू०, ता०। ७ स्वात्मभावानुचि–मु०, द०, ब०।

परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्य आत्मनि भावचिन्तनं तावत्-विद्यन्ते मय्येते दोषाः, किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीतीति क्षमितव्यम्। अभावचिन्तनादपि, नैते मयि विद्यन्ते दोषाः, अज्ञानादसौ ब्रवीतीति क्षमा कार्या।

अपि च, बालस्वभावचिन्तनं परोक्षप्रत्यक्षाक्रोशताडनमारणधर्मभ्रंशनानामुत्तरोत्तररक्षार्थम्। तद्यथा-परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यम्। एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति। दिष्ट्या च मां परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षम्। एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। प्रत्यक्षमाक्रोशति सोढव्यम्। विद्यत एतत् बालेषु, दिष्ट्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयति। एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। ताडयत्यपि च मर्षितव्यम्। दिष्ट्या च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयतीति। एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। प्राणैर्वियोजयत्यपि तितिक्षा कर्तव्या दिष्ट्या च मां प्राणैर्वियोजयति न धर्माद् भ्रंशयति इति। किञ्चान्यत्, ममैवापराधोऽयम्। यत्पुराचरितं[1] तन्महद् दुष्कर्म तत्फलमिदमाक्रोशवचनादि निमित्तमात्रं परोऽत्रेति सहितव्यम्।

मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति, साधवोऽपि साधुमामन्यन्ते। ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्रीभवति। [2]ततः स्वर्गापवर्गफलावाप्तिः। मलिने मनसि व्रतशीलानि नावतिष्ठन्ते। साधवश्चैनं परित्यजन्ति। तन्मूलाः सर्वा विपदः।

ऋजुहृदयमधिवसन्ति गुणाः, मायाचारं नाश्रयन्ते। गर्हिता च गतिर्भवति।

शुच्याचारमिहापि सन्मानयन्ति सर्वे। विश्रम्भादयश्च गुणाः तमधितिष्ठन्ति। लोभभावनाक्रान्तहृदये नावकाशं लभन्ते गुणाः, इह चामुत्र चाऽचिन्त्यं व्यसनमसाश्नुते।

सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वा गुणसंपदः। अनृतभाषिणं बन्धवोऽपि अवमन्यते(न्ते)मित्राणि च परित्यजन्ति, जिह्वाछेदनसर्वस्वहरणादिव्यसनभागपि भवति। संयमो ह्यात्महितः। तमनुतिष्ठन्निहैव पूज्यते परत्र किमस्ति वाच्यम्। असंयतः प्राणवधविषयरागेषु नित्यप्रवृत्तः कर्माशुभं संचिनुते।

तपः सर्वार्थसाधनम्। तत एव ऋद्धयः संजायन्ते। तपस्विभिरध्युषितान्येव क्षेत्राणि लोके तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते स तृणाल्लघुर्लक्ष्यते। मुञ्चन्ति तं सर्वे गुणाः। नासौ मुञ्चति संसारम्।

उपधित्यागः पुरुषहितः। यतो यतः परिग्रहादपेतः ततस्ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति। निरवद्ये मनःप्रणिधानं [3]पुण्यविधानम्। परिग्रहाशा बलवती सर्वदोषप्रसवयोनिः। न तस्या उपधिभिः तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेरिह वडवायाः। अपि च, कः पूरयति दुःपूरमाशागर्तम्। दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते। शरीरादिषु निर्ममत्वः परमनिर्वृत्तिमवाप्नोति। शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालमभिष्वङ्ग एव संसारे।

ब्रह्मचर्यमनुपालयन्तं हिंसादयो दोषा न स्पृशन्ति। नित्याभिरतगुरुकुलावासमधिवसन्ति गुणसंपदः। वराङ्गनाविलासविभ्रमविधेयीकृतः पापैरपि विधेयीक्रियते। अजितेन्द्रियता हि लोके प्राणिनामवमानदात्रीति। एवमुत्तमक्षमादिषु तत्प्रतिपक्षेषु च गुणदोषविचारपूर्विकायां क्रोधादिनिवृत्तौ सत्यां तन्निबन्धनकर्मास्रवाभावात् महान् संवरो भवति।

व्यक्तिवचनभेदात् निर्देशवैलक्षण्यमिति चेत्; नः सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकस्यैकत्वादाविष्टलिङ्गत्वा ।२८। स्यान्मतम्-यथा शुक्लः पटः शुक्ला शाटी शुक्लं वस्त्रं शुक्लौ कंबलौ शुक्लाः कंबला [4]इति सति सामानाधिकरण्ये व्यक्तिवचनयोरभेदो दृश्यते, न च तथेहाभेदः, ततो निर्देशो विलक्षण इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकैकत्वात्। सर्वेषूत्तमक्षमादिषु संव-

१-तं दु-श्र०, मू०। २ अतः ता०, श्र०। ३ पुण्यनिदानं ता०, श्र०। ४ इति सा-मु०, द०, ब०।

रणलक्षणो धर्मभाव: अस्ति, स च एक:, तस्य विवक्षितत्वात् एकवचननिर्देश: । आविष्टलिङ्गश्च धर्मशब्द: नान्यसम्बन्धे स्वलिङ्गं जहाति ।

आह–क्रोधाद्यनुत्पत्ति: क्षमादिविशेषप्रत्यनीकालम्बनादित्युक्तम् , तत्र कस्मात् क्षमादीनयमवलम्बते नान्यथा वर्तते इति ? उच्यते–यस्मात्तप्तायस्पिण्डवत् क्षमादिपरिणतेनात्महितैषिणा कर्तव्या:–

५ **अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा: ॥ ७ ॥**

उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वम् ।१। आत्मना रागादिपरिणामात्मना कर्मनोकर्मभावेन गृहीतानि उपात्तानि पुद्गलद्रव्याणि, अनुपात्तानि परमाण्वादीनि, तेषां सर्वेषां द्रव्यात्मना नित्यत्वं पर्यायात्मना सततमनुपरतभेदसंसर्गवृत्तित्वादनित्यत्वम् । इमानि[1] हि शरीरेन्द्रि-
१० यविषयोपभोग[2]परिभोगद्रव्याणि समुदयरूपाणि जलबुद्बुदवदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिषु अवस्थाविशेषेषु सहोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि । मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते । न किञ्चित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यत्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयतस्तेषु. अभिष्वङ्गाभावात् भुक्तोज्झितगन्धमाल्यादिषु इव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते ।

क्षुधितव्याघ्राभिद्रुतमृगशावकवज्जन्तोर्जरामृत्युरुजान्तरे[3] परित्राणाभावोऽशरणत्वम्[4] ।२।
१५ शरणं द्विविधम्–लौकिकं लोकोत्तरं चेति । तत्रत्येकं त्रिधा–जीवाजीवमिश्रकभेदात् । तत्र राजा देवता वा लौकिकं जीवशरणम् , [5]प्राकारादि अजीवशरणम् , ग्रामनगरादि मिश्रकम् । पञ्च गुरवो लोकोत्तरं जीवशरणम् , तत्प्रतिविम्वाद्यजीवशरणम् , सधर्मोपकरणसाधुवर्गो मिश्रकशरणम् । तत्र यथा मृगशावस्य एकान्ते बलवता क्षुधितेन आमिषैषिणा व्याघ्रेणाभिद्रुतस्य न किञ्चित् शरणमस्ति तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिस-
२० मुत्थितेन दु:खेनाभिभूतस्य जन्तो: शरणं न विद्यते । परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते । यत्नेन संचिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति । संविभक्तसुखदु:खा: सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते । बन्धव: समुदिताश्च रुजा परीतं न परियान्ति । अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति । मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम् । तस्माद्भवव्यसनसंकटे धर्म[8] एव शरणम् । सुहृदर्थोऽपि[न]अनपायी, नान्य-
२५ त्किञ्चिच्छरणमिति भावनमशरणानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्याध्यवस्यत: नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो भवति । भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रतीते(प्रणीते)एव वचसि [7]प्रतियत्नो भवेत् ।

द्रव्यादिनिमित्ता आत्मनो भवान्तरावाप्ति: संसार: ।३। चतुर्विधा आत्मावस्था:–संसार: असंसार: नोसंसार: तत्त्रितयव्यपायश्चेति । तत्र संसारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परि-
३० भ्रमणम् । अनागतिरसंसार: शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठा । नोसंसार: सयोगकेवलिन: चतुर्गतिभ्रमणाभावात् [9]असंसारप्राप्त्यभावाच्च ईषत्संसारो नोसंसार: इति । अयोगकेवलिन: तत्त्रितयव्यपाय:, भवभ्रमणाभावात् सयोगकेवलिवत् प्रदेशपरिस्पन्दविगमात् असंसारावाप्त्यभावाच्च । देहपरिस्पन्दाभावेऽपि देहिन: सततं प्रदेशचलनमस्ति तत: सदा संसार एव । सिद्धानामयोगकेव-

१–निश–मु०, द०, ब०, ज० । २–गद्रव्या–मु०, द०, ब० ज० । ३–न्तके प–मु०, ब०, ज०, श्र० । ४–शरणम् मु०, द०, ब०, ज० । ५ दुर्गादिकं लौकिकमजी–मु० । हर्म्यप्राकारपरिखादय: अ–मा० २ । ६ पञ्चपरमेष्ठिरूप:–मू० टि० । ७ प्रतिपन्नो मु०, द०, ब०, ज० । ८ भावा–ता०, मू० । ९ मोक्ष–ता० टि० ।

लिनां च नास्ति प्रदेशचलनम्, इतरेषां त्रिधाऽवसीयते। स पुनः संसारः क्वचिदनादिनिधनः अभव्यापेक्षया भव्यसामान्यार्पणया च, क्वचित् अनादिरुच्छेदवान् भव्यविशेषापेक्षया। सादिः सनिधनो नोसंसारः[1]। अनिधनः सादिरसंसारः[2]। [3]तत्त्रितयव्यपायोऽन्तर्मुहूर्तकालः।

तत्र द्रव्यनिमित्तः संसारश्चतुर्विधः कर्मनोकर्मवस्तुविषयाश्रयभेदात्। तत्र क्षेत्रहेतुको द्विविधः–स्वक्षेत्रपरक्षेत्रविकल्पात्। लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यात्मनः कर्मोदयवशात् संहरणविसर्पणधर्मणः हीनाधिकप्रदेशपरिणामावगाहित्वं स्वक्षेत्रसंसारः। सम्मूर्च्छनगर्भोपपादजन्मनवयोनिविकल्पाद्यालम्बनः परक्षेत्रसंसारः। कालो द्विविधः–परमार्थरूपो व्यवहाररूपश्चेति। तयोर्लक्षणं प्राग्व्याख्यातम्। तत्र परमार्थकालवर्तितपरिस्पन्देतरपरिणामविकल्पः [4]तत्पूर्वककालव्यपदेशौपचारिककालत्रयवृत्तिः कालसंसारः। भवनिमित्तः संसारः द्वात्रिंशद्विधः–पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः प्रत्येकं चतुर्विधाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदात्। वनस्पतिकायिकाः द्वेधा–प्रत्येकशरीराः साधारणशरीराश्चेति। प्रत्येकशरीरा द्वेधा–पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। साधारणशरीराश्चतुर्धा–सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात्। विकलेन्द्रियाः प्रत्येकं द्विधा पर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात्। पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्धा संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकापेक्षयेति। भावनिमित्तः संसारो द्वेधा स्वभावपरभावाश्रयात्। स्वभावो मिथ्यादर्शनादिः, परभावो ज्ञानावरणादिकर्मरसादिः। एवमेतस्मिन्ननेक[5]योनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः पिता[6] भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति, माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति, किं बहुना स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय[7] प्रतियतते।

जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति सहायानपेक्षत्वमेकत्वम्।४। एकत्वमनेकत्वमित्येतदुभयं द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पम्। तत्र द्रव्यैकत्वं जीवादिष्वन्यतमद्रव्यविषयत्वेनाऽभेदकल्पनम्। क्षेत्रैकत्वं परमाण्ववगाह्यप्रदेशः। कालैकत्वमभेदः समयः। भावैकत्वं मोक्षमार्गः[8]। तथा अनेकत्वमपि भेदविषयम्। नहि किञ्चिदेकमेव निश्चितमस्ति अनेकमेव वा। एकमपि सामान्यार्पणया विशेषार्पणया अनेकमपि। तत्र परिप्राप्तबाह्याभ्यन्तरोपधित्यागस्य सम्यग्ज्ञानादेकत्वनिश्चयमास्कन्दतः यथाख्यातचारित्रैकवृत्तिः मोक्षमार्गो भावैकत्वम्। तत्प्राप्तये एक एवाहम्, न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते, एक एव जाये एक एव म्रिये, न कश्चिन्मे स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति[9]। बन्धुमित्राणि श्मशानं नातिवर्तन्ते। धर्म एव मे सहायः सदानपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति परजनेषु च द्वेषानुबन्धो [10]नोपजायते, ततो निस्सङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।

शरीराद् व्यतिरेको लक्षणभेदादन्यत्वम्।५। अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते–नामस्थापनाद्रव्यभावालम्बनेन। आत्मा जीव इति नामभेदः, काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः, जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः, एकस्मिन्नपि द्रव्ये बालो युवा मनुष्यो देव इति भावभेदः। तत्र बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वम्। ततः कुशलपुरुषप्रयोगसन्निधौ शरीरादत्यन्तव्यतिरेकेण आत्मनो ज्ञानादिभिरनन्तैरहेयैरवस्थानं मुक्तिरन्यत्वं शिवपदमिति चोच्यते। तदवाप्तये च ऐन्द्रियिकं शरीरम् अतीन्द्रियोऽहम्, अज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम्, अनित्यं शरीरं नित्योऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरम्

१ सयोगकेवलिनः–श्र० टि०। २ मोक्ष–श्र० टि०। ३ अयोगकेवलिनः–श्र० टि०। ४ व्यवहार–श्र० टि०। ५–नेकानेककुयो–मु०। –नेककुयो–ज०। ६ पिता पितामहोभू–मु०, द०, ब०। पितामहोभू–ज०। ७–प्रहरणाय मु०, द०, ब०, ज०। ८ निश्चयेन–मू०, टि०। ९–नि परिहरति मु०, द०, ब०, ज०। १० नैव जा–मु०, द०, ब०, ज०।

अनाद्यन्तोऽहम् , बहूनि मे शरीरशतसहस्राणि अतीतानि संसारे परिभ्रमतः, स एवाहम् अन्यस्तेभ्यः इत्येवं शरीरादन्यत्वं मे, किमङ्ग पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्य इति चिन्तनम् अन्यत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य मनस्समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोपपद्यते, ततश्च श्रेयसि वर्तते।

**शरीरस्याद्युत्तराशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वम् ।६।** शुचित्वं द्विविधम्–लौकिकं लोकोत्तरं ५ चेति। तत्रात्मनः प्रक्षालितकर्ममलकलङ्कस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरं शुचित्वम् , तत्साधनं च सम्यग्दर्शनादि तद्वन्तश्च साधवः तदधिष्ठानानि च निर्वाणभूम्यादीनि तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिकं शुचित्वमष्टविधम्–कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदात्। तदिदं शरीरं शुचीकर्तुं नालम्। कुतः ? अत्यन्ताशुचित्वात्। शरीरमिदमाद्युत्तराशुभकारणादिभिरशुचि लक्ष्यते। तद्यथा–आद्यं तावत्कारणं शरीरस्य शुक्रं शोणितं च, तदुभय-
१० मत्यन्ताशुचि। उत्तरकारणमाहारपरिणामादि, कवलाहारो हि ग्रस्तमात्रः श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतः अधिकमशुचि भवति, ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमान आम्लीकृतः अशुचिरेव भवति, पक्वो वाताशयमवाप्य वायुना विभज्यमानः खलरसभावेन भिद्यते। खलभागो मूत्रपुरीपादिमलविकारेण विविच्यते। रसभागः शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रभावेन परिणमते। सर्वेषां चैषामशुचीनां भाजनं शरीरमवस्करवत्। अशक्यप्रतीकारं खल्विदं शरीरम्, स्नानानु-
१५ लेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुम्, अङ्गारवत्। आश्रितमपि द्रव्यमाश्वेवात्मभावमापादयतीति न जलादीनामपि[1] शुचिहेतुत्वम्। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते।

**आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेत्; न; तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात् ।७।**
२० स्यान्मतम्–आस्रवसंवरनिर्जरा वर्णिताः, अतस्तासामिह पुनर्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात्। आस्रवदोषानुचिन्तनमुद्वेगार्थमास्रवोपक्षेपः। आस्रवा हि इहामुत्र चापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियादयः। तद्यथा–प्रभूतयवसोदकप्रमाथावगाहनादिगुणसंपन्नवनविचारिणः मदान्धाः बलवन्तोऽपि वारणाः हस्तिबन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रिय[3]प्रसंसक्तचित्ताः मनुष्यविधेयतामुपगत्य वधबन्धनवाहनाङ्कुशताडनपार्ष्णिघातादिजनितं तीव्रदुःखमनु-
२५ भवन्ति, नित्यमेव च स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रवीचारसुखस्य च वनवासस्यानुस्मरन्तो महान्तं खेदमवाप्नुवन्ति। तथैव च जिह्वेन्द्रियविषयलोलाः मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगावगाहिवायसवत् व्यसनमुपनिपतन्ति। घ्राणेन्द्रियवशंगताश्च औषधगन्धलुब्धपन्नगवद्विनिपातमिच्छन्ति। चक्षुरिन्द्रियविधेयीकृताश्च दीपालोकनलोलपतङ्गवद् व्यसनप्रपाताभिमुखा भवन्ति। श्रोत्रेन्द्रियविषयसङ्गाकृष्टमनसोऽपि गीतध्वनिविषङ्गविस्मृततृणग्रसनहरिणवत् अनर्थोन्मुखा भवन्ति। परत्र च नानाजातिषु
३० बहुविधदुःखप्रज्वालितासु पर्यटन्ति इति। एवमाद्यास्रवदोषदर्शनमास्रवानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः क्षमादिधर्मश्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते।

सर्व एते आस्रवदोषाः कूर्मवत् संवृतात्मनो न भवन्ति यथा महार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमाश्रितजलविस्रवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्ध इति संवरणगुणानुचिन्तनं
३५ संवरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति।

---

१–नामशु–मु०, ता०, मू०, द०, ब०, ज०। २ परस्पर–श्र० टि०। ३–प्रसक्तचि–मु०, मू०, ता०, द०, ब०, ज०। ४ तथा आस्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा, संवरणगुणा–भा० १।

निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम्। सा द्वेधा–अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा, सा अकुशलानुबन्धा। परीषहजये कृते कुशलमूला, सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। एवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्यानुस्मरतः कर्मनिर्जरायै वृत्तिर्भवति।

लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः ।८। समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः, तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतः तत्त्वज्ञानादिविशुद्धिर्भवति। ५

त्रसंभावादिलाभस्य[1] कृच्छ्रप्रतिपत्तिः बोधिदुर्लभत्वम् ।९। उक्तं च—

"एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥"[2] [ पंचसं० १।८४ ] १०

इत्यागमप्रामाण्यादेकस्मिन्निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको [3]निरन्तरनिचितः स्थावरैः, अतस्तत्र त्रसता वालुका[4]समुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात् पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यवे पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावापत्तिवत् दुर्लभा। तल्लाभे च कुदेशानां हिताहितविचारणाविरहितपशुसमानमानवाकीर्णानां बहुत्वात् सुदेशः पाषाणेषु मणिरिवासुलभः। लब्धेऽपि सुदेशे सुकुले[5] जन्म [6]कृच्छ्रलभ्यं पापकर्मजीवकुलाकुलत्वात् लोकस्य। कुले हि जातिः प्रायेण शीलविनयाचारसंपत्तिकरी भवति। सत्यामपि कुलसंपदि दीर्घायुरिन्द्रियबलरूपनीरोगत्वादीनि दुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलाभो यदि न स्यात् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेवं कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थं[7] चन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवापः। तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः बोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति। १५ २०

जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणालक्षणो धर्मः स्वाख्यातः ।१०। उक्तानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि च, तेषां गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणो धर्मः जिनशासने स्वाख्यातः। अत्राह–गत्यादय इत्युच्यन्ते, के पुनर्गत्यादय इति ? अत्रोच्यते— २५

गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारकेषु मार्गणाः ।११। गम्यत इति गतिः। सा द्वेधा–कर्मोदयकृता क्षायिकी चेति। कर्मोदयकृता चतुर्विधा व्याख्याता–नरकगतिः तिर्यग्गतिः मनुष्यगतिः देवगतिश्चेति। क्षायिकी मोक्षगतिः। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्। तद् द्रव्यभावभेदेन द्विविधं सत् पञ्चधा वर्णितम्–एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदेन, तत्कर्मकृतम्। अतीन्द्रियत्वमात्मनः क्षायिकम्। आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः। तत्संबन्धिजीवः षड्विधः–पृथिवीकायिकः अप्कायिकः तेजस्कायिकः[9] वायुकायिकः वनस्पतिकायिकः त्रसकायिकश्चेति। त्रसस्थावरनामकर्मविशेषोदयापादिता एते भावाः। नामकर्मात्यन्तोच्छेदादकायाः सिद्धाः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमलब्धवृत्तिवीर्यलब्धिर्योगः। तद्वत आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पन्दः उपयोगो योगः। स पञ्चदशप्रकारः–चत्वारो मनोयोगाः चत्वारो वाग्योगाः सप्त काययोगाश्चेति। योगसम्बन्धाऽभावः आत्मनः ३० ३५

---

१ रत्नत्रयस्वभावादिलाभस्य कृच्छ्रा प्र–मु०, द०, ब०। २ गो० जी० गा० १९४। मूलाचार० गा० १२०४। ३ निरन्तरं नि–मु० द०, ब०। ४ बालिका–मू०, द०, ब०, ज०, श्र०। ५ कुले ता०, श्र०, मू०, द०, ब०, ज०। ६ कृच्छ्राल्लभ्यते मु०, द०, ब०, ज०। ७–न्द्रियत्वादात्म–मु०, द०, ब०। ८–त्युपचरितपु–मु०, द०, ब०, ज०। ९–कः वनस्पतिकायिकः वायुकायिकः त्र–ता०।

क्षायिकः। तत्र सत्यमनोयोगः मृषामनोयोगः सत्यमृषामनोयोगः असत्यमृषामनोयोगश्चेति चतुर्विधो मनोयोगः। सत्यवाग्योगः मृषावाग्योगः सत्यमृषावाग्योगः असत्यमृषावाग्योगश्चेति चतुर्विधो वाग्योगः। औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रककाययोगः वैक्रियिककाययोगः वैक्रियिकमिश्रककाययोगः आहारककाययोगः आहारकमिश्रककाययोगः कार्मणकाययोगश्चेति सप्तविधः
५ काययोगः। आत्मप्रवृत्तिसंमोहोत्पादो वेदः। स नोकषायविशेषोदयनिमित्तः त्रिविधः–स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेदश्चेति। आत्मन[1] औपशमिकं क्षायिकं वा[2] अपगतवेदत्वम्। चारित्रपरिणामकषणात् कषायः। स चतुर्विधः क्रोधमानमायालोभलक्षणो व्याख्यातः। अकषायत्वमात्मन[3] औपशमिकं क्षायिकं वा। तत्त्वार्थावबोधो ज्ञानम्, तत्पञ्चविधमुद्दिष्टम्। मिथ्यादर्शनोदयापादितकालुष्यमज्ञानं त्रिविधम्। व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रिय-धारणानुवर्तननिग्रहत्यागजयलक्षणः संयमः पञ्चविधो
१० वक्ष्यते। संयमः संयमासंयमश्चोक्तौ। स[4] सर्वश्चारित्रमोहस्योदयोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाच्च भवति। तत्परिणामत्रयविरहितं सिद्धत्वं क्षायिकम्। दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमाविर्भूतवृत्तिरालोचनं दर्शनम्। तच्चतुर्विधमुद्दिष्टं[5] चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात्। कषायश्लेषप्रकर्षाप्रकर्षयुक्ता योगवृत्तिर्लेश्या। सा षड्विधा कृष्णनीलकपोततेजःपद्मशुक्लविकल्पात्। शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या। अलेश्यत्वं क्षायिकम्। निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः, तद्विपरीतोऽभव्यः, तदुभयं पारिणा-
१५ मिकम्। विरहितभव्यत्वाभव्यत्वविकल्पो मुक्तः। तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वमुक्तम्। तत् दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाच्च भवति। सासादनसम्यक्त्वम्–अनन्तानुबन्धिकषायोदयाद्भवतीत्यौदयिकम्। सम्यङ्मिथ्यात्वं क्षायोपशमिकम्। मिथ्यात्वमौदयिकम्। शिक्षाक्रियालापग्राही संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी। तत्र संज्ञित्वं क्षायोपशमिकम्, असंज्ञित्वमौदयिकम्। [6]तदुभयाभावः क्षायिकः। उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारः, तद्विपरीतोऽनाहारः। तत्राहारः शरीरनामो-
२० दयात् विग्रहगतिनामोदयाभावाच्च भवति। अनाहारः शरीरनामत्रयोदयाभावात् विग्रहगतिनामोदयाच्च भवति।

तान्येतानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि। तेषु जीवस्थानानां सत्ता [7]चिन्त्यते–तिर्यग्गतौ चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। इतरासु तिसृषु द्वे द्वे पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। एकेन्द्रियेषु चत्वारि जीवस्थानानि। विकलेन्द्रियेषु द्वे द्वे। पञ्चेन्द्रियेषु चत्वारि। पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकेषु प्रत्येकं
२५ चत्वारि। वनस्पति[8]कायिकेषु षट्। त्रसकायिकेषु दश। मनोयोगे एकं जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकः। वाग्योगे पञ्च जीवस्थानानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियपर्याप्तकसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकनामानि। काययोगे चतुर्दश सन्ति। स्त्रीवेदपुंवेदयोः प्रत्येकं चत्वारि जीवस्थानानि संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकाख्यानि। नपुंसकवेदे चतुर्दशापि सन्ति। अवेदे एकं जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकसंज्ञम्। चतुर्ष्वपि कषायेषु चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। अकषाये एकमेव संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोश्च-
३० तुर्दशापि सन्ति। विभङ्गमनःपर्ययज्ञानयोरेकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मतिश्रुतावधिज्ञानेषु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकाख्ये। केवलज्ञाने एकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातसंयमसंयमासंयमेषु एकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकनामकम्। असंयमे चतुर्दशापि सन्ति। अचक्षुर्दर्शने चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। चक्षुर्दर्शने त्रीणि जीवस्थानानि चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकाख्यानि।
३५ [9]तेषामेवाऽपर्याप्तका [10]लब्धाः सन्ति न निर्वृत्ताः[11]। अवधिदर्शने द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्त-

---

१ आत्मनि मु०, द०, ब०, ज०। २ वापि गत–द०, ब०, ज०। चापिगत–मु०। ३–नश्चौप–मु०, द०, ब०, ज०। ४ स च सर्व–मु०, द०, ब०, ज०। ५–मुपदिष्टं मु०, द०, ब०, ज०। ६ तदुदया–ता० श्र०। ७ विचिन्त्यते मु०, द०, ब०, ज०। ८–कायेषु ता०। ९ चतुरिन्द्रियादीनाम्–श्र० टि०। १० लब्धौ सन्ति न निर्वृत्तौ मू०, मु०, द०, ब०, ज०। लब्ध्यपर्याप्तक–श्र० टि०। ११ निर्वृत्त्यपर्याप्तक–श्र० टि०।

कसंज्ञे। केवलदर्शने संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। आद्यासु तिसृषु लेश्यासु चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। तेजःपद्मशुक्ललेश्यासु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकनामनी। अलेश्यत्वे एकं जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। भव्येषु अभव्येषु च चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वसासादनसम्यक्त्वेषु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञे। सम्यङ्मिथ्यात्वे एकमेव संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मिथ्यात्वे चतुर्दशापि सन्ति। संज्ञिषु द्वे जीवस्थाने ५ पर्याप्तकापर्याप्तकनामनी। असंज्ञिषु द्वादशावशिष्टानि। संज्ञ्यसंज्ञित्वाऽभावे एकं जीवस्थानं पर्याप्तकाख्यम्। कर्मोदयापेक्षया आहारे चतुर्दशापि सन्ति। अनाहारे सप्ताऽपर्याप्तकस्थानानि। पर्याप्तकं च केवलिसमुद्घाते अयोगकेवलिनि च कर्मोदयार्पणात्। सिद्धाः सर्वत्रातीतजीवस्थानाः।

गुणस्थानानामपि तेष्वेव सत्ता विचार्यते–नरकगतौ नारकेषु पर्याप्तकेषु चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि सप्तसु पृथिवीसु। प्रथमायां पृथिव्यामपर्याप्तकेषु द्वे गुणस्थाने मिथ्यादृष्ट्यसंयत- १० सम्यग्दृष्टी। इतरासु पृथिवीषु अपर्याप्तके एकमेव मिथ्यात्वम्। तिर्यग्गतौ तिर्यक्षु पर्याप्तकेषु पञ्च गुणस्थानान्याद्यानि। तेषामपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंज्ञानि। तिरश्चीषु पर्याप्तिकासु पञ्च गुणस्थानानि आद्यानि, अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, स्त्रीत्वेन प्रवेशाभावात् असंयतसम्यग्दृष्ट्यभावः। मनुष्यगतौ मनुष्येषु पर्याप्तकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति। अपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयत- १५ सम्यग्दृष्ट्याख्यानि। मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया न द्रव्यलिङ्गापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्। तिर्यङ्मनुष्येषु भवापर्याप्तकेषु एकमेव गुणस्थानमाद्यम्। देवगतौ भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कदेवेषु पर्याप्तकेषु चत्वारि गुणस्थानान्याद्यानि, अपर्याप्तकेषु द्वे आद्ये। तद्देवीषु सौधर्मैशानकल्पवासिदेवीषु च स एव क्रमः। सौधर्मैशानादिषु उपरिमग्रैवेयकान्तेषु २० चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि, अपर्याप्तकेषु त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिनामानि। अनुदिशानुत्तरविमानवासिषु पर्याप्तापर्याप्तकेषु च एकमेव गुणस्थानम् असंयतसम्यग्दृष्टिसंज्ञम्।

एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु एकमेव गुणस्थानमाद्यम्। पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञिषु चतुर्दशापि सन्ति। २५

पृथिवीकायादिषु वनस्पत्यन्तेषु एकमेव प्रथमम्। त्रसकायिकेषु चतुर्दशापि सन्ति।

सत्यमनोयोगेऽसत्यमृषामनोयोगे च संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सयोगिकेवल्यन्ताः। मृषामनोयोगे सत्यमृषामनोयोगे च संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। असत्यमृषावाग्योगे द्वीन्द्रियादयः सयोगकेवल्यन्ताः? सत्यवाग्योगे संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादयः सयोगिकेवल्यन्ताः। मृषावाग्योगे सत्यमृषावाग्योगे च संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः क्षीणकषायवीत- ३० रागछद्मस्थान्ताः। औदारिककाययोगे त्रयोदश गुणस्थानानि सयोगिकेवल्यन्तानि। औदारिकमिश्रकाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसयोगिकेवलिसंज्ञानि। वैक्रियिककाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि। वैक्रियिकमिश्रकाययोगे त्रीणि तान्येव सम्यङ्मिथ्यात्ववर्जितानि। आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोरेकमेव गुणस्थानं प्रमत्तसंयताख्यम्। कार्मणकाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्य- ३५ संयतसम्यग्दृष्टिसयोगिकेवल्याख्यानि। [1]अयोगे गुणस्थानमेकम्।

---

१ अयोगिगुण–ता०।

स्त्रीवेदपुंवेदयोरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः। नपुंसकवेदे एकेन्द्रियप्रभृतयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः। नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु शुद्धे नपुंसकवेदे। तिर्यञ्च एकेन्द्रियादयः चतुरिन्द्रियान्ताः शुद्धे नपुंसकवेदे। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादयः संयतासंयतान्ताः तिर्यञ्चस्त्रिषु वेदेषु। मनुष्याः त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्यादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकावसानाः। ५ ततः परे मनुष्या अवेदाः। देवाश्चतुर्षु स्थानेषु स्त्रीपुंवेदयोः ज्ञेयाः।

क्रोधमानमायासु एकेन्द्रियादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः। लोभकषाये त एव सूक्ष्मसाम्परायिकान्ताः। ततः परे अकषायाः।

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोरेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्ट्यन्ताः, विभङ्गज्ञाने संज्ञिमिथ्यादृष्टयो वा सासादनसम्यग्दृष्टयो वा पर्याप्तका भवन्ति नाऽपर्याप्तकाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः त्रिषु १० ज्ञानेषु अज्ञानमिश्रेषु वर्तन्ते, कारणसदृशत्वात् कार्यस्य। मतिश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्टिप्रभृतयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। केवलज्ञाने द्वे गुणस्थाने सयोगायोगिसंज्ञे।

सामायिकछेदोपस्थापनशुद्धिसंयमयोः प्रमत्तसंयतादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः।

परिहार[1]शुद्धिसंयमे द्वे गुणस्थाने प्रमत्ताप्रमत्तलक्षणे। सूक्ष्मसाम्परायसंयमे एकमेव गुण- १५ स्थानं सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयमाख्यम्। यथाख्यातविहारशुद्धिसंयमे चत्वारि गुणस्थानानि उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोग्ययोगसंज्ञानि। संयमासंयमे एकमेव गुणस्थानं संयतासंयताख्यम्। असंयमे चत्वारि गुणस्थानान्याद्यानि।

चक्षुर्दर्शने चतुरिन्द्रियादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। अचक्षुर्दर्शने एकेन्द्रियादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः। २० केवलदर्शने द्वे गुणस्थाने अन्ते।

आद्यासु तिसृषु लेश्यासु एकेन्द्रियादयः असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः। तेजःपद्मलेश्ययोः संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः अप्रमत्तावसानाः। शुक्ललेश्यायां संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सयोगिकेवल्यन्ताः। अलेश्या अयोगकेवलिनः।

भव्यत्वे चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति। अभव्यत्वे प्रथममेव।

२५ क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः अयोगकेवल्यन्ताः। वेदकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः अप्रमत्तान्ताः। औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः उपशान्तकषायान्ताः। सासादनसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वमिथ्यात्वेषु एकमेव प्रत्येकम्। नारकेषु प्रथमायां पृथिव्यां क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वा असंयतसम्यग्दृष्टयः। इतरासु भूमिषु वेदकौपशमिकसम्यक्त्वाः। तिर्यक्षु असंयतसम्यग्दृष्टिस्थाने क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि ३० सन्ति। संयतासंयतस्थाने क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति इतरद् द्वयमस्ति भोगभूमावेवोत्पादात्। तिरश्चीषु उभयोरपि स्थानयोः क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति, मनुष्यस्य क्षपणामारब्धवतः पुरुषलिङ्गेनैव वृत्तेः, इतरद् द्वितयमस्ति। मनुष्येषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतसंयतस्थानेषु क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति। भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कदेवेषु तद्देवीषु सौधर्मैशानकल्पवासिदेवीषु चाऽसंयतसम्यग्दृष्टिस्थाने क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति इतरद् द्वितयमस्ति। सौधर्मादिषु उपरिमग्रैवे- ३५ यकान्तेषु क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति। अनुदिशानुत्तरविमानवासिदेवेषु क्षायिकवेदकसम्यक्त्वे स्तः, औपशमिकं चास्ति उपशमश्रेण्यां मृतानां तत्संभवात्।

संज्ञित्वे संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः। असंज्ञित्वे एकेन्द्रियादयः असंज्ञिपञ्चेन्द्रियान्ताः। तदुभयाभावे द्वे गुणस्थाने अन्त्ये।

---

१-रविशु-मु०, द०, ब०, ज०।

आहारे एकेन्द्रियादयः सयोगिकेवलिपर्यन्ताः। अनाहारे पञ्च गुणस्थानानि–विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः; प्रतरलोकपूरणयोः सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च। सिद्धा व्यतीतगुणस्थाना इति। एवमादिलक्षणो धर्मो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरहो भगवद्भिरर्हद्भिः स्वाख्यात इति चिन्तनं धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः धर्मानुरागात् सदा प्रतियत्नो भवति। एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासन्निधाने उत्तमक्षमादिधारणात् महान् संवरो भवति। ५

**स्वाख्यात इति युच्प्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रादिवृत्तेः ।१२।** स्यान्मतम्–सुना योगे अकृच्छ्रार्थे युचा भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? प्रादिवृत्तेः। शोभन आख्यातः स्वाख्यातः इति प्रादिलक्षणा वृत्तिर्भवति।

**अनुप्रेक्षा इति भावसाधनत्वे बहुवचनविरोधः ।१३।** अयमनुप्रेक्षाशब्दो यदि भावसाधनः, बहुवचनं नोपपद्यते तस्यैकत्वात्। १०

**कर्मसाधनत्वे सामानाधिकरण्याभावः ।१४।** स्यात् कर्मसाधनत्वमेवमपि युज्यते बहुवचनं सामानाधिकरण्यं तु नोपपद्यते; अन्या ह्यनुप्रेक्षा अन्यदनुचिन्तनमिति। अथानुचिन्तनमेवानुप्रेक्षा; एवमपि लिङ्गवचनभेदविरोधः।

**न वा; कृदभिहितस्य द्रव्यवद्भावात् ।१५।** नैष दोषः। किं कारणम्? कृदभिहितस्य द्रव्यवद्भावात्। कृदभिहितो भावो हि [1]द्रव्यवद्भवति यथा पाकः पाकौ पाका इति। तथाऽनुप्रेक्षितव्यार्थभेदात् भावस्य भेदे विवक्षिते बहुवचनं [2]न्यायप्राप्तम्। १५

**सामानाधिकरण्यसिद्धि[3]श्चोभयोः कर्मसाधनत्वात् ।१६।** सामानाधिकरण्यं च सिद्ध्यति। कुतः? उभयोः कर्मसाधनत्वात्। अनुप्रेक्ष्यन्ते इत्यनुप्रेक्षाः, अनुचिन्त्यते इत्यनुचिन्तनम्। अनित्यादिस्वतत्त्वं ह्यनुचिन्त्यमानमनुप्रेक्षाव्यपदेशभाग् भवति। कथम्? कर्मण्यनः "युड्व्या बहुलम्" [जैने० २।३।९४] इति, यथा निरदनं[4]मवसेचनमिति। एवमपि लिङ्गसंख्याभेदो नोपपद्यते, उपात्तलिङ्गसंख्यानां परस्पराभिसम्बन्धो युज्यते यथा गावो धनमिति। अथ धर्मोपदेशात् प्रागनुप्रेक्षाः किमर्थं[5] नोक्ताः? २०

**मध्येऽनुप्रेक्षावचनम् उभयनिमित्तत्वात् ।१७।** अनुप्रेक्षावचनं मध्ये क्रियते। कुतः? उभयनिमित्तत्वात्। अनुप्रेक्षा हि भावयन् उत्तमक्षमादींश्च परिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते। २५

व्याख्याता अनुप्रेक्षाः। संवरहेतुः परीषहजय इत्युक्तम्, अतस्तान् व्याचक्ष्महे। आह–व्याख्यास्यति भवान्, इदमेव तावद्वक्तव्यं किमर्थमेते सह्यन्ते? [6]किञ्च, एषां पारिभाषिकी संज्ञा, उतान्वर्था इति? अत्रोच्यते—

## मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥ ३०

[7]**महत्त्वादन्वर्थसंज्ञा ।१।** संज्ञा च नाम यतो न लघीयसी[8]। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणमिति, तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञाः परीषहा इति[9] यथा विज्ञायते तद्विभाव्यते[1]।

१ यथा पच्यमानौदनादिवत् द्रव्यमेकवचनादिषु भवति तथा तदाश्रितभावमपि……श्र० टि०। २ अशरणाद्यर्थादाहरति–यथा पाक इत्यादिना। अयमत्राशयः–कृजभिहितस्य भावस्य यथैकत्वं तेन भूयते ताभ्यां तैर्वेति तथा कृदभिहितस्य भावस्य नियमो न भवतीति धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते इति वचनात्–श्र० टि०। ३–द्धेश्चो–मु०, द०, ब०, ज०। ४ यथा निरदन्ति तदिति निरदनं कर्मसाधनः–श्र० टि०। ५ किमेषां मु०, द०, ब०, ज०। ६ परीषहाऽमहत्त्वाद–मु०, द०, ब०, ज०। ७ तस्मात् महत्त्वादन्वर्थसंज्ञा। ८ इति यावत् यथा मु०, द०, ब०, ज०। इतीयं यथा ता०। ९ परीषहा इति–श्र० टि०।

प्रकरणात् संवरमार्गसंप्रतिपत्तिः ।२। संवरो हि प्रकृतः, अतस्तदभिसम्बन्धात् मोक्षपदप्रापकसंवरमार्गसंप्रतिपत्तिरिह वेदितव्या ।

तदच्यवनार्थो निर्जरार्थश्च परीषहजयः ।३। कर्मागमद्वाराणि संवृण्वतो [1]जैनेन्द्रमार्गान्माच्योष्महीति पूर्वमेव परीषहान् विजयन्ते । जितपरीषहाः सन्तः तैरनभिभूयमानाः प्रधानसंवरमा-
५ श्रित्याऽप्रतिबन्धेन क्षपकश्रेण्यारोहणसामर्थ्यं प्रतिपद्याभिन्नोत्साहाः सकलसाम्परायि[2]कग्रंध्वसनशक्तयो ज्ञानध्यानपरशुभिः छिन्नमूलानि कर्माणि विधूय प्रस्फोटितपक्षरेणव इव पतत्रिणः ऊर्ध्वं व्रजन्ति इत्येवमर्थं परिसोढव्याः परीषहाः । "सोढः" [जैने०५।४।८१] इति षत्वप्रतिषेधः ।

यद्येवमुच्यतां के परीषहाः कियन्तो वेति ? अत इदमाह—

**क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-**
१० **याचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥**

क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः ।१। त एते बाह्याभ्यन्तरद्रव्यपरिणामाः शारीरमानसप्रकृष्टपीडाहेतवः क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः प्रत्येतव्याः । तद्विजये विदुषा संयतेन मोक्षार्थिना प्रतियत्नः कार्यः । तद्यथा–

प्रकृष्टक्षुदग्निप्रज्वलने धृत्यम्भसोपशमः क्षुज्जयः ।२। निवृत्तसर्वसंस्कारविशेषस्य शरीरमा-
१५ त्रोपकरणसन्तुष्टस्य तपःसंयमविलोपं परिहरतः कृतकारितानुमतसंकल्पितोद्दिष्टसंक्लिष्टक्रयागतप्रत्यात्तपूर्वकर्मपश्चात्कर्मदशविधदोषविप्रमुक्तैषणस्य देशकालजनपदव्यवस्थापेक्षस्य अनशनाध्वरोगतपःस्वाध्यायश्रमवेलातिक्रमावमोदर्यासद्वेद्योदयादिभ्यः नानाहारेन्धनोपरमे जठराग्निदाहिनी मारुतालोलिताग्निशिखेव समन्ताच्छरीरेन्द्रियहृदयसंक्षोभकरी क्षुदुत्पद्यते । तस्याः प्रतीकारं त्रिप्रकारम् अकाले संयमविरोधिभिर्वा द्रव्यैः स्वयमकुर्वतोऽन्येन क्रियमाणमसेवमानस्य मनसा चाऽनभिस-
२० न्दधतः दुस्तरेयं वेदना महाँश्च कालो दीर्घाह इति दीर्घाह इति विषादमनापद्यमानस्य त्वगस्थिसिरावतानमात्रकलेवरस्यापि सतः आवश्यकक्रियादिषु नित्योद्यतस्य क्षुद्वशप्राप्तानर्थकारावन्धनस्थमनुष्यान् पञ्जरगततिर्यक्प्राणिनः क्षुदभ्यर्दितान् परतन्त्रानपेक्षमाणस्य ज्ञानिनो धृत्यम्भसा संयमकुम्भधारितेन क्षुदग्निं शमयतः तत्कृतपीडां प्रत्यवगणयन् क्षुज्जय इत्युच्यते ।

उदन्योदीरणहेतूपनिपाते तद्वशाप्राप्तिः पिपासासहनम् ।३। स्नानावगाहनपरिषेकत्यागिनः
२५ पतत्रिवदध्रुवासनावसथस्य अतिलवणस्निग्धरूक्षविरुद्धाहारग्रैष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारमनसः निदाघे पटुतपनकिरणसंतापिते अटव्यामासन्नेष्वपि ह्रदेषु अप्कायिकजीवपरिहारेच्छया जलमनाददानस्य सलिलसेकविवेकम्लानां[3] लतामिव ग्लानिमुपगतां गात्रयष्टिमवगणय्य तपःपरिपालनपरस्य भिक्षाकालेऽपि इङ्गिताकारादिभिः योग्यमपि पानमचोदयतो धैर्यकुम्भावधारित[4]शीलसुगन्धिप्रज्ञातोयेन विध्यापयतः तृष्णाग्निशिखां
३० संयमपरत्वं पिपासासहनमित्यवसीयते ।

पृथगवचनमैकार्थ्यादिति चेत्; न; सामर्थ्यभेदात् ।४। स्यादेतत्–क्षुत्पिपासयोः पृथग्वचनमनर्थकम् । कुतः ? ऐकार्थ्यादिति; तन्न; किं कारणम् ? सामर्थ्यभेदात् । अन्यद्धि क्षुधः सामर्थ्यमन्यत्पिपासायाः ।

---

१ जैनेन्द्रान्मा–मु०, द०, ब०, ज० । २ कषाय । ३–ना लतेव मु०, द०, ब०, ज० । ४–तशील मु०, द०, ब०, ज० ।

अभ्यवहारसामान्यादिति चेत्; न; अधिकरणभेदात् ।५। स्यान्मतम्–अभ्यवहारसामान्यात् एकार्थमिति; तदपि न युक्तम्; कुतः ? अधिकरणभेदात् । अन्यद्धि क्षुधः प्रतीकाराधिकरणम्, अन्यत्पिपासायाः ।

शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा ।६। परित्यक्तवाससः पक्षिवदनवधारितालयस्य शरीरमात्राधिकरणस्य शिशिरवसन्तजलदागमादिवशात् वृक्षमूल- ५ पथिगुहादिषु पतितप्रालेयलेशतुषारलवव्यतिकरशिशिरपवनाभ्याहतमूर्तेः तत्प्रतिक्रियासमर्थद्रव्यान्तराग्न्याद्यनभिसन्धानात् नारकदुःसहशीतवेदनानुस्मरणात् तत्प्रतीकारचिकीर्षायां परमार्थविलोपभयात् विद्यामन्त्रौषधपर्णवल्कलत्वक्तृणाजिनादिसंबन्धाद् व्यावृत्तमनसः परकीयमिव देहं मन्यमानस्य धृतिविशेषप्रावरणस्य गर्भागारेषु धूपप्रवेकप्रकरप्रकल्पितप्रदीपप्रभवेषु वराङ्गनानवयौवनोष्णघनस्तननितम्वभुजान्तरतर्जितशीतेषु निवासं सुरतसुखरसाकरमनुभूतमसारत्वाववोधाद्- १० स्मरतः विषादविरहितस्य संयमपरिपालनं शीतक्षमेति भाष्यते ।

दाहप्रतीकारकाङ्क्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनम् ।७। ग्रैष्मेण पटीयसा भास्करकिरणसमूहेन संतापितशरीरस्य तृष्णानशनपित्तरोगघर्मश्रमप्रादुर्भूतोष्णस्य स्वेदशोपदाहाभ्यर्दितस्य जलभवनजलावगाहनानुलेपनपरिषेकार्द्रावनीतलनीलोत्पलकदलीपत्रोत्क्षेपमारुतजलतूलिकाचन्दनचन्द्रपादकमलकल्हारमुक्ताहारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रार्थनापेतचेतसः उष्णवेदना अतितीव्रा वहु- १५ कृत्वः परवशादवाप्ता, इदं पुनस्तपो मम कर्मक्षयकारणमिति तद्विरोधिनीं क्रियां प्रत्यनादराच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमिति समाम्नायते ।

दंशमशकादिवाधासहनमप्रतीकारम् ।८। प्रत्याख्यातशरीराच्छादनस्य क्वचिदपि अप्रतिबद्धचेतसः परकृतायतनगुहागह्वरादिषु रात्रौ दिवा वा दंशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकायूकमत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादिभिः तीक्ष्णपातैर्भक्ष्यमाणस्यातितीव्रवेदनोत्पादकैः अव्यथितमनसः २० स्वकर्मविपाकमनुचिन्तयतो विद्यामन्त्रौषधादिभिः तन्निवृत्तिं प्रति निरुत्सुकस्य आशरीरपतनादपि निश्चितात्मनः परवलप्रमर्दनं प्रति प्रवर्तमानस्य मदान्धगन्धसिन्धुरस्य रिपुजनप्रेरितविविधशस्त्रप्रतिघातादपराङ्मुखस्य निःप्रत्यूहविजयोपलम्भनमिव कर्मागतिपृतनापराभवं प्रति प्रयतनं दंशमशकादिवाधासहनमप्रतीकारमित्याख्यायते ।

दंशमशकमात्रप्रसङ्ग इति चेत्; न; उपलक्षणार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–दंशमशकस्यैव २५ वाधाकारणस्य ग्रहणं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्; उपलक्षणार्थत्वात् । दशनपरितापकारणस्य सर्वस्यैवेदं उपलक्षणं यथा 'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः' इत्युपघातकोपलक्षणम् । यद्येवमन्यतरग्रहणमेव कर्तव्यम्; अन्यतरोपादाने स्वरूपग्रहणप्रसङ्गात् द्वितीयवचनमुपलक्षणं संपद्यते ।

जातरूपधारणं नाग्न्यम् ।१०। गुप्तिसमित्यविरोधिपरिग्रहनिवृत्तिपरिपूर्णब्रह्मचर्यमप्रार्थितमोक्षसाधनचारित्रानुष्ठानं यथाजातरूपम् असंस्कृतमविकारं मिथ्यादर्शनाविष्टविद्विष्टं परम- ३० माङ्गल्यं नाग्न्यमभ्युपगतस्य स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिवीभत्सकुणपभावेन पश्यतो वैराग्यभावनावरुद्धमनोविक्रियस्याऽसंभावितमनुष्यत्वस्य नाग्न्यदोषासंस्पर्शनात् परीषहजयसिद्धिरिति जातरूपधारणमुत्तमं श्रेयःप्राप्तिकारणमित्युच्यते । इतरे पुनर्मनोविक्रियां निरोद्धुमसमर्थास्तत्पूर्विकाङ्गविकृतिं निगूहितकामाः कौपीनफलकचीवराद्यावरणमातिष्ठन्ते अङ्गसंवरणार्थमेव तन्न कर्मसंवरणकारणम् । ३५

संयमे रतिभावादरतिपरीषहजयः ।११। संयतस्य क्षुधाद्यावाधासंयमपरिरक्षणेन्द्रियदुर्जयत्वव्रतपरिपालनभारगौरवसर्वदाप्रमत्तत्वदेशभाषान्तरानभिज्ञत्वविषमचपलसत्त्वप्रचुरभीमदुर्गनि-

---

१ यद्येवमन्यतरग्रहणं ॥१०॥ यद्येवं–मु०, द०, ब०, ज० । २ अन्ते अङ्ग–मु०, द०, ब०, ज० ।

यतैकविहारत्वादिभिररतिं प्रादुष्यतीं धृतिविशेषान्निवारयतः संयमरतिभावनात् विषयसुखरतिर्विषाहारसेवेव विपाककटुकेति चिन्तयतः रतिपरिबाधाभावादरतिपरीषहजय इति निश्चीयते।

**सर्वेषामरतिकारणत्वात् पृथगरतिग्रहणानर्थक्यमिति चेत्; न; क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः** ।१२। स्यादेतत्–क्षुधादीनां सर्वेषामरतिहेतुत्वात् पृथगरतिग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; ५ किं कारणम्? क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः। मोहोदयाकुलितचेतसो हि क्षुधादिवेदनाऽभावेऽपि संयमेऽरतिरुपजायते।

**वराङ्गनारूपदर्शनस्पर्शनादिविनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजयः** ।१३। एकान्ते आरामभवनादिप्रदेशे रागद्वेषयौवनदर्परूपमदविभ्रमोन्मादमद्यपानावेशादिभिः प्रमदासु बाधमानासु तदक्षिवक्त्रभ्रूविकारशृङ्गाराकारविहारहावविलासहासलीलाविजृम्भितकटाक्षविक्षेपसुकुमारस्निग्धमृदुपीनोन्नत- १० स्तनकलशनितान्तताम्रोदरपृथुजघनरूपगुणाभरणगन्धवस्त्रमाल्यादिप्रतिनिगृहीतमनोविप्लुतेः दर्शनस्पर्शनाभिलापनिरुत्सुकस्य स्निग्धमृदुविशदसुकुमाराभिधानतन्त्रीवंशमिश्रातिमधुरगीतश्रवणनिवृत्तादरश्रोत्रस्य संसारार्णवव्यसनपातालावगाढदुःखरौद्रावर्तकुटिलध्यायिनः स्त्रैणानर्थविनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजय इति कथ्यते। अन्यवादिपरिकल्पिता देवताविशेषाः ब्रह्मादयः तिलोत्तमादेवगणिकारूपसंदर्शनलोललोचनविकाराः स्त्रीपरीषहपङ्कान्नोद्धर्तुमात्मानं समर्थाः।

१५ **व्रज्यादोषनिग्रहश्चर्याविजयः** ।१४। दीर्घकालाभ्यस्तगुरुकुलब्रह्मचर्यस्य अधिगतबन्धमोक्षपदार्थतत्त्वस्य कषायनिग्रहपरस्य भावनार्पितमतेः संयमायतनभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेः गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य नानाजनपदव्याहारव्यवहाराभिज्ञस्य ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्येवं संयतस्य वायोरिव निःसङ्गतामुपगतस्य देशकालप्रमाणोपेतमध्वगमनमनुभवतः क्लेशक्षमस्य भीमाटवीप्रदेशेषु निर्भयत्वात् सिंहस्येव सहायकृत्यमनपेक्षमाणस्य [1]परुषशर्कराकण्टकादिव्यधनजा- २० तपादखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतः सम्यग्व्रज्यादोषं परिहरतः चर्यापरीषहजयो वेदितव्यः।

**संकल्पितासनादविचलनं निषद्यातितिक्षा** ।१५। श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागह्वरादिषु अनभ्यस्तपूर्वेषु विदितसंयमक्रियस्य धैर्यसहायस्योत्साहवतो निषद्यामधिरूढस्य प्रादुर्भूतोपसर्गरोगविकारस्यापि सतः तत्प्रदेशादविचलतः मन्त्रविद्यादिलक्षणप्रतीकारानपेक्षमाणस्य क्षुद्रजन्तु- २५ प्रायविषमदेशाश्रयात् काष्ठोपलवन्निश्चलस्य अनुभूतमृदुकुथास्तरणादिस्पर्शसुखमविगणयतः प्राणिपीडापरिहारोद्यतस्य ज्ञानध्यानभावनाधीनधियः संकल्पितवीरासनोत्कुटिकासनादिरतेरासनदोषजयान्निषद्यातितिक्षेत्याख्यायते।

**आगमोदितशयनात् अप्रच्यवः शय्यासहनम्** ।१६। स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसङ्कटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतः यथाकृत्यै- ३० कपार्श्वदण्डायतादिशायिनः सञ्जातबाधाविशेषस्य संयमार्थमस्पन्दमानस्यानुतिष्ठतः व्यन्तरादिभिर्वा वित्रास्यमानस्य पलायनं प्रति निरुत्सुकस्य मरणभयनिर्विशङ्कस्य निपतितदारुवत् व्यपगतासुवच्चा[2]ऽपरिवर्तमानस्य द्वीपिशार्दूलमहोरगादिदुष्टसत्त्वप्रचरितोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमनं श्रेयः [3]कदा नु रात्रीर्विवसतीति विषादमनादधानस्य सुखप्राप्तावप्यपरितुष्यतः पूर्वानुभूतनवनीतमृदुशयनरतिमनुस्मरतः सम्यगागमोदितशयनादप्रच्यवः शय्यासहनमिति प्रत्येतव्यम्।

३५ **अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः** ।१७। तीव्रमोहाविष्टमिथ्यादृष्ट्यार्यम्लेच्छखलपापाचारमत्तोद्दृप्तशङ्कितप्रयुक्त-माशब्दधिक्कारपरुषावज्ञानाक्रोशादीन् कर्णविरेचनान् हृदयशूलोद्भावकान्

---

१ पुरुषकर्कशक–मु०, द०, ब०, ज०। स्पर्शशकराक–श्र०। २–वच्चपरि श्र०, ता०, ज०। ३ कदा तु ता०, श्र०।

क्रोधज्वलनशिखाप्रवर्धनकरानप्रियान् शृण्वतोऽपि दृढमनसः भस्मसात्कर्तुमपि समर्थस्य परमार्था-वगाहितचेतसः, शब्दमात्रश्राविणस्तदर्थान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्वकृताशुभकर्मोदयो ममैष यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिभिरुपायैरनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णीयते।

मारकेष्वमर्षापोहभावनं वधमर्षणम् ।१८। ग्रामोद्यानाटवीनगरेषु नक्तं दिवा चैकाकिनो निरावरणमूर्तेः समन्तात्पर्यटद्भिश्चौरारक्षिकम्लेच्छशवरपरुषवधिरपूर्वापकारिद्विषत्परलिङ्गिभिराहित-क्रोधैः ताडनाकर्षणबन्धनशस्त्राभिघातादिभिर्मार्यमाणस्याप्यनुत्पन्नवैरस्य अवश्यप्रपातुकमेवेदं शरीरं कुशलद्वारेणानेनापनीयते न मम व्रतशीलभावनाभ्रंशनमिति भावशुद्धस्य दह्यमानस्यापि सुगन्ध-मुत्सृजतश्चन्दनस्येव शुभपरिणामस्य स्वकर्मनिर्जरामभिसन्दधानस्य दृढमतेः क्षमौषधिबलस्य मारकेषु सुहृत्स्विवामर्षापोहभावनं वधमर्षणमित्याम्नायते।

प्राणात्ययेऽप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः ।१९। क्षुदध्वपरिश्रमतपो-रोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्य शुष्कपादपस्येव निरार्द्रमूर्तेरुन्नतास्थिस्नायुजालस्य निम्नाक्षिपुटपरि-शुष्काधरौष्ठक्षामपाण्डुकपोलस्य चर्मवत्सङ्कुचिताङ्गोपाङ्गत्वचः शिथिलजानुगुल्फकटिबाहुयन्त्रस्य देशकालक्रमोपपन्नकल्पादायिनः वाचंयमस्य मौनिसमस्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्य [2]ऊर्जि-तसत्त्वस्य प्रज्ञाप्यायितमनसः प्राणात्ययेऽप्याहारवसतिभेषजानि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञा-दिभिरयाचमानस्य रत्नवणिजो मणिसंदर्शनमिव स्वशरीरप्रकाशनमकृपणं मन्यमानस्य वन्दमानं प्रति स्वकरविकसनमिव पाणिपुटधारणमदीनमिति गणयतः याचनासहनमवसीयते। अद्यत्वे पुनः कालदोषादीनानाथपाखण्डिबहुले जगत्यमार्गज्ञैरनात्मविद्भिर्याचनमनुष्ठीयते।

अलाभेऽपि लाभवत् सन्तुष्टस्यालाभविजयः ।२०। वायुवदनेकदेशचारिणः अप्रकाशितवी-र्यस्याभ्युपगतैककालभोजनस्य सकृन्मूर्तिसंदर्शनव्रतकालस्य देहीति असभ्यवाक्प्रयोगादुपरतस्या-नुपात्तविग्रहप्रतिक्रियस्याद्येदं श्वश्चेदमिति व्यपेतसंकल्पस्य एकस्मिन् ग्रामे अलब्ध्वा ग्रामान्तरान्वे-षणनिरुत्सुकस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसः नायं दाता तत्रान्यो वदान्योऽस्तीति व्यपगतपरीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तपः इति सन्तु-ष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः।

नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनम् ।२१। दुःखादिकरणमशुचिभाजनं जीर्णवस्त्र-वत्परिहेयं... पित्तमारुतकफसन्निपातनिमित्तानेकामयवेदनाभ्यर्दितमन्यदीयमिव विग्रहं मन्यमा-नस्य उपेक्षितृत्वात्प्रच्युतेश्चिकित्साव्यावृत्तचेष्टस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणालेपनवद्यथोक्तमाहारमा-चरतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात् प्रतीकारानपेक्षिणः पूर्वकृतपापकर्मणः फलमिदमनेनोपायेनानृणीभवामीति चिन्तयतो रोगसहनं संपद्यते।

तृणादिनिमित्तवेदनायां मनसोऽप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः ।२२। यथाभिनिर्वृत्ताधिकरण-शायिनः शुष्कतृणपत्रभूमिकण्टकफलकशिलातलादिषु प्रासुकेष्वसंस्कृतेषु व्याधिमार्गगमनशीतोष्ण-जनितश्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य तृणादिबाधितमूर्तेरुत्पन्नकण्डुविकारस्य दुःख-मनभिचिन्तयतः तृणादिस्पर्शबाधाऽवशीकृतत्वात्तृणस्पर्शसहनमवगन्तव्यम्।

स्वपरमलापचयोपचयसंकल्पाभावो मलधारणम् ।२३। जलजन्तुपीडापरिहारायाऽस्नान-प्रतिज्ञस्य, स्वेदपङ्कदिग्धसर्वाङ्गस्य, सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णकायस्य नखरोमश्मश्रुकेशविकृतसहजबाह्य-मलसंपर्ककारणानेकत्वग्विकारस्य स्वगतमलापचये [3]परमलोपचये चाऽप्रणिहितमनसः कर्ममलप-ङ्कापनोदायैवोद्यतस्य पूर्वानुभूतस्नानानुपलेनादिस्मरणपराङ्मुखचित्तवृत्तेर्मलधारणमाख्यायते।

---

१-श्चौरारक्षम्ले-मु०, द०, ब०। २ उज्झितमदस्य मु०, द०, ब०। ३ परमलापचये चाप्र-मु०, द०, ब०।

[1]केशलुञ्चनखेदसहनोपसंख्यानमिति चेत्; न; मलपरीषहावरोधात् ।२४। स्यादेतत्–केशलुञ्चने तत्संस्काराकरणे वा महान् खेदः संजायते, तत्सहनमपरमुपसंख्यातव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? मलपरीषहावरोधात्। मलसामान्यसंग्रहे हि तदन्तर्भवति।

मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारानभिलापः ।२५। चिरोपितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिश्चयज्ञस्य हितोपदेशपरस्य कथामार्गकुशलस्य[2] बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोतीत्येवमविचिन्तयतः मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारनिराकाङ्क्षस्य श्रेयोध्यायिनः सत्कारपुरस्कारपरीषहजयो वेदितव्यः। सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामन्त्रणं वा।

प्रज्ञाप्रकर्षावलेपनिरासः प्रज्ञाविजयः ।२६। अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य कृत्स्नग्रन्थार्थावधारिणः अनुत्तरवादिनस्त्रिकालविषयार्थविदः शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवत् नितरामवभासन्ते इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरीषहजयः प्रत्येतव्यः।

अज्ञानावमानज्ञानाभिलापसहनमज्ञानपरीषहजयः ।२७। अज्ञोऽयं न किञ्चिदपि वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्याध्ययनार्थग्रहणपराभिभवादिष्वसक्तबुद्धेश्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपोविशेषभाराक्रान्तमूर्तेः सकलसामर्थ्याप्रमत्तस्य विनिवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इत्यनभिसन्दधतः अज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्यः।

प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वासमाधानमदर्शनसहनम् ।२८। संयमप्रधानस्य दुःखकरतपोऽनुष्ठायिनः परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्याऽर्हदायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनस्य अद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते, महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमिदम्, अनर्थिकेयं प्रव्रज्या विफलं व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य, दर्शनशुद्धियोगाददर्शनपरीषहसहनमवसातव्यम्। एवं परीषहान् असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसः रागादिपरिणामास्रवाभावात् महान् संवरो भवति।

श्रद्धानालोचनग्रहणमविशेषादिति चेत्; न; अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात् ।२९। स्यादेतत्–श्रद्धानमालोचनमिति द्विविधं दर्शनम्, तस्याविशेषेण ग्रहणमिह प्राप्नोति, कुतः? अविशेषात्। न हि किञ्चिद्विशेषलिङ्गमिहाश्रितमस्तीति; तन्न; किं कारणम्? अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात्। मत्यादिज्ञानपञ्चकाव्यभिचारिश्रद्धानं[3] दर्शनम्। आलोचनं[4] तु न, श्रुतमनःपर्यययोरप्रवृत्तेरतोऽस्याव्यभिचारिणः श्रद्धानस्य ग्रहणमिहोपपद्यते।

मनोरथपरिकल्पनामात्रमिति चेत्; न; वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् ।३०। स्यादेतत्–श्रद्धानदर्शनग्रहणमिदमिति स्वमनोरथपरिकल्पनामात्रमिति; तन्न; किं कारणम्? वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात्। वक्ष्यते हि कारणम्–"दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ" [त० सू० ९।१४] इति।

अवध्यादिदर्शनपरीषहोपसंख्यानमिति चेत्; न; अवधिज्ञानाद्यभावे सहचरितदर्शनाभावादज्ञानपरीषहावरोधात् ।३१। स्यान्मतम्–"अवध्यादिदर्शनोपेताः सुष्ठु पश्यन्ति नास्य किञ्चिदतिशयवदस्ति दर्शनम्, गुणप्रत्ययं च तत्" [ ] इत्युक्तम् आगमे, नूनमस्मिंस्तद्योग्या गुणा न सन्तीत्येवमादिवचनसहनमवध्यादिदर्शनपरीषहजयः, तस्योपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? अज्ञानपरीषहावरोधात्। तत्कथमिति चेत्? उच्यते–अवध्यादिज्ञानाभावे तत्सह-

---

१ केशलुञ्चने तत्संस्काराकरणे वा महत्खेद–मु०, द०, ब०, ज०। २ तथामार्गकु–मु०, द०, ब०, ज०। ३ लक्षणम्–श्र० टि०। ४ विषयविषयिसम्बन्धे सति श्वेतत्वादिविशेषणरहितवस्तुसत्तावभासि लक्षणम्–श्र० टि०।

चरितदर्शनाभावः, आदित्यस्य प्रकाशाभावे प्रतापाभाववत्, तस्मादज्ञानपरीषहेऽवरोधः। यद्येवं श्रद्धानदर्शनमपि ज्ञानाविनाभावीति प्रज्ञापरीषहे तस्यान्तर्भावः प्राप्नोतीति; नैष दोषः; प्रज्ञायां सत्यामपि क्वचित्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावाद् व्यभिचारोपलब्धेः।

आह–उपपादितं परीषहजयात् संवरो भवतीति। इदमुच्यतां किमेते सर्वे संसारमहार्णवादुत्तितीर्षन्तममुं प्रव्रज्यामभ्युपगतमभिद्रवन्ति उत कश्चित्प्रतिविशेष इति? अत्रोच्यते–अमी व्याख्यातलक्षणाः क्षुधादयश्चारित्रान्तराणि प्रति भाज्याः, नियमेन पुनरनयोः प्रत्येतव्याः— ५

## सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

चतुर्दशवचनादन्याभावः ।१। चतुर्दशेति वचनादन्येषां परीषहाणामभावो वेदितव्यः। कुतः? संख्याविशेषपरिग्रहस्य नियमार्थत्वात्–चतुर्दशैव नान्ये इति।

सूक्ष्मसाम्पराये[1] नियमानुपपत्तिर्मोहोदयादिति चेत्; न; सन्मात्रत्वात् ।२। स्यान्मतम्–युज्यते वीतरागछद्मस्थे निरवशेषमोहनीयस्योपशमात् क्षयाच्च तत्कृतवक्ष्यमाणपरीषहाष्टकाभावाच्चतुर्दशसंख्यानियमः सूक्ष्मसाम्पराये तु मोहोदयसद्भावाच्चतुर्दशेति नियमो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? सन्मात्रत्वात्। तत्र हि केवलो लोभसञ्ज्वलनकषायोदयः, स चात्यन्तसूक्ष्मस्ततो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वाच्चतुर्दशेति नियमस्तत्रापि युज्यते। १०

तत एव परीषहाभाव इति चेत्; न; बाधाविशेषोपरमेऽपि [3]तद्भावस्याचिख्यासितत्वात् सर्वार्थसिद्धस्य सप्तमीगमनसामर्थ्यवत् ।३। अथ मतम्–तत एव तयोः परीषहाभावः। कुत एव? मोहोदयाभावात्, मन्दोदयाच्च। यस्य हि क्षुधादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात् परीषहजयो भवति। न च मोहोदयबलाधानाभावे वेदनाप्रभवोऽस्ति, तदभावात् सहनवचनं भक्तिमात्रकृतमिति; तन्न; किं कारणम्? तद्भावस्याचिख्यासितत्वात्। यथा सर्वार्थसिद्धदेवस्यानुपरतसद्वेद्योदयप्रकर्षस्यापि सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यं न हीयते तथा वीतरागछद्मस्थस्य कर्मोदयसद्भावकृतपरीषहव्यपदेशो युक्तिमवतरति। १५ २०

आह–यदि शरीरवत्यात्मनि परीषहसन्निधानं प्रतिज्ञायते, अथ भगवत्युत्पन्नकेवलज्ञाने कर्मचतुष्टयफलानुभवनवशवर्तिनि कियन्त उपनिपतन्तीति? अत्रोच्यते– तस्मिन्पुनः—

## एकादश जिने ॥ ११ ॥

'कैश्चित्कल्प्यन्ते' इति वाक्यशेषः। २५

वेदनीयोदयभावात् क्षुधादिप्रसङ्ग इति चेत्; न; घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् ।१। स्यान्मतम्–घातिकर्मप्रक्षयान्निमित्तोपरमे सति नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनालाभसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि मा भूवन्, अमी पुनर्वेदनीयाश्रयाः[5] खलु परीषहाः प्राप्नुवन्ति भगवति जिने इति; तन्न; किं कारणम्? घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात्। यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभावः, तत्सद्भावोपचाराद् ध्यानकल्पनवत्। अथवा, नायं वाक्यशेषः 'एका- ३०

१–येति नि–मु०, द०, ब०, ज०। २ दर्शनमोहनीये अदर्शनं चारित्रमोहे सत–श्र० टि०। ३–स्याविरध्यासि–मु०, द०, ब०। –स्याविरन्यासि–ज०। ४ अघाति–श्र० टि०। ५ वेदनीये शेषा इत्यत्र वक्ष्यमाणाः क्षुदादयः–ता० टि०।

दश जिने कैश्चित्कल्प्यन्ते' इति । किं तर्हि ? एकादश सन्तीति । कथम् ? उपचारात् । यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिन्तानिरोधाभावेऽपि कर्मरजोविधूननफलसंभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादिवेदनाभावपरीषहाभावेऽपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादश जिने सन्तीति उपचारो युक्तः[1] ।

५ आह–यदि सूक्ष्मसाम्परायादिषु व्यस्ताः परीषहा अथ समस्ताः क्वेति ?

## बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

बादरसाम्परायग्रहणात् प्रमत्तादिनिर्देशः ।१। बादरसाम्पराय इति नायं गुणस्थानविशेषपरिग्रहः । किं तर्हि ? [2]अर्थनिर्देशः, ततः प्रमत्तादीनां संयतानां सामान्यग्रहणम्–बादरः साम्परायो यस्य सोऽयं बादरसाम्पराय इति । तत्र हि–

१० निमित्तविशेषस्यानुपक्षीणत्वात् सर्वे ।२। ज्ञानावरणादिनिमित्तविशेषो वक्ष्यते । तस्यानुपक्षीणत्वात् सर्वे संभवन्ति । कस्मिन् पुनश्चारित्रे सर्वेषां संभवः ?

[3]सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसंयमेषु सर्वसंभवः ।३। एतेषां त्रयाणां चारित्राणामन्यतमे सर्वे क्षुत्परीषहादयो द्रष्टव्याः ।

आह–गृहीतमेतत् परीषहाणां स्थानविशेषावधारणम्, इदं तु न विद्मः–कस्याः प्रकृते कः
१५ कार्य इति ? अत्रोच्यते–

## ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति चेत्; न; अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् ।१। स्यादेतत्–ज्ञानावरणे सति अज्ञानमनवबोधो भवति न प्रज्ञा ज्ञानस्वभावत्वादात्मन इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् । प्रज्ञा हि क्षायोपशमिकी अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं
२० जनयति न सकलावरणक्षय इति प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावरणे सति प्रादुःस्त इत्यभिसम्बध्यते ।

मोहादिति चेत्; न; तद्भेदानां परिगणितत्वात् ।२। स्यान्मतम्–मोहोदयादहं महाप्राज्ञो नान्य इति मन्यते न ज्ञानावरणादिति; तन्न; किं कारणम् ? तद्भेदानां परिगणितत्वात् । मोहभेदा हि परिगणिता दर्शनचारित्रव्याघातहेतुभावेन, तत्र नायमन्तर्भवति, चारित्रवतोऽपि प्रज्ञापरीषहसद्भावात्, ततो ज्ञानावरण एवेति निश्चयः कर्तव्यः ।

२५ आह–यद्यनयोरेककर्महेतुत्वमात्मलाभेऽवसीयते, अदर्शनाऽलाभयोः को हेतुरिति[4] ?

## दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

विशिष्टकारणनिर्देशादवध्यादिदर्शनसन्देहाभावः ।१। दर्शनमोह इति विशिष्टमिह कारणं निर्दिश्यते, ततोऽवध्यादिदर्शनविषयः सन्देहो न भवति[5] ।

अन्तराय इति सामान्यनिर्देशेऽपि सामर्थ्याद्विशेषसंप्रत्ययः ।२। यद्यप्ययमन्तराय इति
३० सामान्यनिर्देशः तथापि [6]सामर्थ्याल्लाभान्तरायविशेषसंप्रत्ययो भवति ।

---

१ उपचारतोऽप्यस्य एकादश परीषहा न सम्भाव्यन्ते तत्र निःशेषपरत्वात् सूत्रस्य । एकेन अधिका न दश परीषहा जिने एकादश जिने इति व्युत्पत्तेः । प्रयोगश्च–भगवान् क्षुदादिपरीषहरहितः अनन्तसुखत्वात् सिद्धवत् इति मार्तण्डे प्रोक्तम्–श्र० टि० । २ उत्कृष्टलोभादिगुणस्य–श्र० टि० । ३ सूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रयोरुक्ताः परीषहाः सूत्रकृता, शेषेषु कति भवन्तीत्येतदाह–श्र० टि० । ४–ति चेद् द–मु०, द०, व०, ज० । ५ अवध्यादिदर्शनं न भवतीत्यर्थः–श्र० टि० । ६ सूत्रे अलाभग्रहणादित्यर्थः–श्र० टि० ।

आह–यद्याद्ये मोहनीयभेदे सत्यदर्शनपरीषहो भवति, अथ द्वितीयस्मिन् केषां जन्मेति ? अत्रोच्यते–

## चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

मोहोदयहेतुत्वं नाग्न्यादीनां प्रतिपद्यामहे पुंवेदोदयादि[1] निमित्तत्वात्, निषद्यापरीषहस्तु (स्य तु) कथमिति चेत् ? उच्यते– ५

निषद्यापरीषहस्य मोहोदयहेतुत्वं प्राणिपीडार्थत्वात् ।१। मोहोदये सति प्राणिपीडापरिणामः संजायते, तत्परिपालनार्थत्वात् निषद्यापरीषहोदयहेतुरित्यवसीयते ।[2]

आह–अभ्युपेमः कर्मप्रकृतिविशेषत्रय अमी परीषहा उक्ता इति । अथान्ये कस्मिन् सति निमित्ते भवन्तीति ? अत्राभिधीयते– १०

## [3]वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

उक्तादन्यनिर्देशो शेषा इति ।१। उक्ताः प्रज्ञापरीषहादयः, तेभ्योऽन्ये शेषा इति निर्दिश्यन्ते । के पुनस्ते ? क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहाः ।

निमित्तात् कर्मसंयोग इति चेत्; न; तद्योगाभावात् ।२। स्यान्मतम्–यथा "चर्मणि द्वीपिनं हन्ति" [ ] निमित्तात्कर्मसंयोग इति विभक्तिविशेषविधानं तथा वेदनीये इत्येवमादिनिर्देशो भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? तद्योगाभावात् । कर्मसंयोगे हि तद्विभक्तिविधानम् । न चात्र कर्मसंयोगोऽस्तीति तदभावः । कथं तर्हि निर्देशः ? १५

सन्निर्देशस्तदुपलक्षणत्वात् ।३। यथा "गोषु दुह्यमानासु गतः, दुग्धास्वागतः" [ ] इति सन्निर्देशः तथा वेदनीये सतीत्येवमादिः सन्निर्देशोऽवसेयः । कुतः ? तदुपलक्षणत्वात् ।

आह–व्याख्यातनिमित्तलक्षणविकल्पाः प्रत्यात्म प्रादुर्भवन्तः कति युगपदवतिष्ठन्त इति ? अत्रोच्यते– २०

## एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

आङभिविध्यर्थः ।१। आङयमभिविध्यर्थो द्रष्टव्यः, तेन एकान्नविंशतिरपि क्वचिद्युगपद्भवन्तीत्यवगम्यते । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

शीतोष्णशय्यानिषद्याचर्याणामसहभावादेकान्नविंशतिसंभवः ।२। शीतोष्णपरीषहयोरेकः, शय्यानिषद्याचर्याणां चान्यतम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि । कुतः ? सहानवस्थानात् । तत्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनीतरेषां संभवादेकान्नविंशतिविकल्पो बोद्धव्यः । २५

प्रज्ञाऽज्ञानयोर्विरोधादन्यतराभावेऽष्टादशप्रसङ्ग इति चेत्; न; अपेक्षातो विरोधाभावात् ।३। स्यान्मतम्–प्रज्ञाऽज्ञाने अपि विरुद्धे तयोरन्यतराभावेऽष्टादशसंख्याप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? अपेक्षातो विरोधाभावात् । श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञाप्रकर्षे सति अवध्याद्यभावापेक्षया अज्ञानोपपत्तेः । ३०

---

१ मानकषाये क्रोधे चाक्रोशः, लोभे याचना, माने सत्कारपुरस्काराभिनिवेश इति–श्र० टि० । २ प्रत्याख्यानकषाये निषद्यापरीषह इत्यर्थः–श्र० टि० । ३ वेदनीये इति निमित्तसप्तमी, तत्र द्वीपिनं हन्तीत्यादिवत् केनचित् कर्मणा–श्र० टि० ।

[1]दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प इति चेत्; न; प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य ।४। स्यादेतत्–प्रज्ञाऽज्ञानयोर्विरोधाद्युगपदसंभवे दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प[2] इति; तन्न; किं कारणम्? प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य, एक एव ह्ययं परीषहः।

दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्यय इति चेत्; न; श्रुतिविरोधात् ।५। अथ मतमेतत्–दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्ययस्ततो मशकशब्दस्य न प्रकारार्थत्वमिति; तन्न; किं कारणम्? [3]श्रुतिविरोधात्। यच्छब्द आह तन्नः[4] प्रमाणम्, न च दंशशब्दः प्रकारमभिधत्ते,[5] ततोऽस्य विरोधः स्यात्।

तत्तुल्यमिति चेत्; न; अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात् ।६। यदि श्रुतिविरोधादन्यार्थकल्पनमयुक्तमित्युच्यते; ननु मशकशब्देऽपि तत्तुल्यमिति प्रकारार्थत्वमस्य नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात्। दंशग्रहणेनैव परीषहे निरूपिते मशकग्रहणसामर्थ्यात्प्रकारार्थो विज्ञायते[6]।

चर्याद्यविशेषादेकान्नविंशतिवचनमिति चेत्; न; अरतौ परीषहजयाभावात् ।७। स्यान्मतम्–चर्यादीनां त्रयाणां परीषहाणामविशेषादेकत्र नियमाभावादेकत्वमित्येकान्नविंशतिवचनं क्रियते इति; तन्न; किं कारणम्? अरतौ परीषहजयाभावात्। यद्यत्र रतिर्नास्ति परीषहजय एवास्य व्युच्छिद्यते[7]। तस्माद्यथोक्तप्रतिद्वन्द्विसान्निध्यात् परीषहस्वभावाश्रयपरिणामात्मलाभनिमित्तविचक्षणस्य तत्परित्यागाया[8] दरप्रवृत्त्यर्थमौपोद्घातिकं प्रकरणमुक्तम्।

निर्दिष्टाः परीषहाः, यैरनाविष्टा विपश्चितोऽभिनवानि कर्माणि[9] नोपचिन्वन्ति, पूर्वप्रचितानि च निर्जरयन्ति। तदनन्तरं खलु कर्मनिर्हरणार्थमाहितसामर्थ्यं पुरुषसाध्यं यदवोचाम चारित्रम्, तच्चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणात्मविशुद्धिलब्धिसामान्यापेक्षया एकम्। प्राणिपीडापरिहारेन्द्रियदर्पनिग्रहशक्तिभेदाद् द्विविधम्। उत्कृष्टमध्यमजघन्यविशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षयोगात्तृतीयमवस्थानमनुभवति। विकलज्ञानविषयसरागवीतराग-सकलावबोधगोचरसयोगायोगविकल्पाच्चातुर्विध्यमश्नुते। पञ्चतयीं च वृत्तिमास्कन्दति। तद्यथा—

## सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

सामायिकशब्दोऽतीतार्थः ।१। अयं सामायिकशब्दोऽतीतार्थो द्रष्टव्यः। क्व? "दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक" [७।२१] इत्यत्र। सामायिकमिति वा समासविषयत्वात्। अथवा [10]"आयन्तीत्यायाः अनर्थाः सत्त्वव्यपरोपणहेतवः, संगताः आयाः समायाः, सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकमवस्थानम्।

[11]सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानपरम् ।२। सर्वस्य सावद्ययोगस्याऽभेदेन प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमवधृतकालं वा सामायिकमित्याख्यायते।

---

१ शय्यानिषद्याचर्याणामविशेषादेकः परीषहः। यथा निषद्यायां परीषहे साधुः शय्यायां प्रवर्तते शय्यायां च परीषहे चर्यायामिति एकत्र नियमाभावात् एकत्वं दंशमशकौ द्वाविति कृत्वा एकान्नविंशतिवचनं क्रियते तदिति पुनरपि चोदयति–श्र० टि०। २ दंशमशकौ द्वौ परीषहौ एकस्मिन् काले युगपत्प्रवृत्तेः प्रज्ञाऽज्ञानयोरन्यतरः सहानवस्थानादिति कृत्वा एकान्नविंशतिविकल्पो भवत्विति आह–तटस्थः–श्र० टि०। ३ शब्दश्रवणविरोधः–श्र० टि०। ४ अस्माकम्–श्र० टि०। ५ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूत्रयन्तीत्याचार्यस्येति न्यायात्–श्र० टि०। ६ परीषहजये–श्र० टि०। ७ परीषहानहं जयामीति–श्र० टि०। ८ अन्यत्रोपद्रवे अन्यत्रावस्थानात्–श्र० टि०। ९–यापरम–मु०, द०, ब०, ज०। १० आगच्छन्ति–श्र० टि०। ११ सामायिकस्य वाक्यार्थमाह–श्र० टि०।

गुप्तिप्रसङ्ग इति चेत् ; न; इह मानसप्रवृत्तिभावात् ।३। स्यादेतत्–निवृत्तिपरत्वात् सामायिकस्य गुप्तिप्रसङ्ग इति ? तन्न; किं कारणम् ? मानसप्रवृत्तिभावात् । अत्र मानसी प्रवृत्तिरस्ति निवृत्तिलक्षणत्वाद् गुप्तेरित्यस्ति भेदः ।

समितिप्रसङ्ग इति चेत् ; नः तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात् ।४। स्यान्मतम्–यदि प्रवृत्तिरूपं सामायिकं समितिलक्षणं प्राप्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात् । सामायिके हि चारित्रे यतस्य समितिषु प्रवृत्तिरुपदिश्यते । अतः कार्यकारणभेदादस्ति विशेषः । ५

धर्मप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात् ।५। स्यादेतत्–दशविधो धर्मो व्याख्यातः, तत्र संयमेऽन्तर्भावोऽस्य प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अन्ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात् । धर्मे अन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनाय । १०

प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना ।६। त्रसस्थावरजन्तुदेशकाल[1]प्रादुर्भावनिरोधाप्रत्यक्षत्वात् प्रमादवशादभ्युपगतनिरवद्यक्रियाप्रबन्धविलोपे सति तदुपात्तस्य कर्मणः सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विज्ञेया ।

विकल्पनिवृ(वृ)त्तिर्वा ।७। अथवा, सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृ[वृ]त्तिः छेदोपस्थापना । १५

परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् ।८। परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिस्तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रं प्रत्येतव्यम् । तत्पुनस्त्रिंशद्वर्षजातस्य संवत्सरपृथक्त्वं तीर्थकरपादमूलसेविनः प्रत्याख्याननामधेयपूर्वापर(पूर्वपार)ग[2]तस्य जन्तुनिरोधप्रादुर्भावकालपरिमाणजन्मयोनिदेशद्रव्यस्वभावविधानज्ञस्य प्रमादरहितस्य महावीर्यस्य परमनिर्जरस्य अतिदुष्करचर्यानुष्ठायिनः, तिस्रः संध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतगामिनः संपद्यते, नान्यस्य । २०

अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसाम्परायम् ।९। सूक्ष्मस्थूलसत्त्ववधपरिहाराप्रमत्तत्वात् अनुपहतोत्साहस्य अखण्डितक्रियाविशेषस्य सम्यग्दर्शनज्ञानमहामारुतसन्धुक्षितप्रशस्ताध्यवसायाग्निशिखोपश्लुष्टकर्मेन्धनस्य ध्यानविशेषविशिखीकृतकषायविपाङ्कुरस्य अपचयाभिमुखालीनस्तोकमोहबीजस्य तत एव परिप्राप्तान्वर्थसूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतस्य सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमाख्यायते ।

गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रान्तर्भाव इति चेत्; न; तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रणात् ।१०। स्यान्मतम्–गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रान्तर्भवतीदं चारित्रं प्रवृत्तिनिरोधात् [3]सम्यगयनाच्चेति; तन्न; किं कारणम् ? तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रयणात् । लोभसंज्वलनाख्यः साम्परायः सूक्ष्मो भवतीत्ययं विशेष आश्रितः । २५

निरवशेषशान्तक्षीणमोहत्वादथाख्यातचारित्रम् ।११। चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्चात्मस्वभावावस्थापेक्षलक्षणमथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते । पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तु [4]परिप्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम् । अथशब्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः । ३०

यथाख्यातमिति वा ।१२। अथवा, यथा आत्मस्वभावोऽवस्थितः तथैवाख्यातत्वात् यथाख्यातमित्याख्यायते ।

इतेरुपादानं ततः कर्मसमाप्तिज्ञापनार्थत्वात् ।१३। हेत्वेवंप्रकारव्यवस्थाविपर्यासादिष ३५

---

१ उत्पत्तिविनाश–श्र० टि० । २ अन्त–श्र० टि० । ३ एकीभावात्–श्र० टि० । ४ धातूनामनेकार्थत्वात् गत्यर्थं प्राप्तम्–श्र० टि० ।

दृष्टप्रयोग इतिरिह विवक्षातः समाप्तिद्योतनो द्रष्टव्यः। ततो यथाख्यातचारित्रात् सकलकर्मक्षय-समाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते।

उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थमानुपूर्व्यवचनम् ।१४। सामायिकादीनामानुपूर्व्यवचनमुत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थं क्रियते। तद्यथा-सामायिकच्छेदोपस्थापनासंयमजघन्यविशुद्धिलब्धि-
५ रल्पा। ततः परिहारविशुद्धिचारित्रस्य जघन्या लब्धिरनन्तगुणा, तस्यैवोत्कृष्टा लब्धिरनन्तगुणा। ततः सामायिकच्छेदोपस्थापनासंयमोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा। ततः सूक्ष्मसाम्परायचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा। तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा। ततो यथाख्यातचारित्रस्य विशुद्धिः संपूर्णा प्रकर्षाप्रकर्षविरहिता अनन्तगुणा। एवमेते पञ्च चारित्रोपयोगाः शब्दविषयत्वेन संख्येयभेदाः, बुद्ध्यध्यवसानभेदादसंख्येयाः, अर्थतो[1]ऽनन्तभेदाश्च[2] भवन्ति। तदेतच्चारित्रं पूर्वास्रवनिरो-
१० धकारणत्वात्परमसंवरहेतुरवसेयः।

आह-उक्तं चारित्रम्, तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् "तपसा निर्जरा च" [९।३] इति, तस्येदानीं तपसो विधानं कर्त्तव्यमिति; अत्रोच्यते-तद् द्विविधं बाह्यमभ्यन्तरं च, तत्प्रत्येकं षड्विधम्, तत्र बाह्यस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

## अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-
१५ ## कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनवचनम् ।१। यत्किञ्चिद् दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। तत्किमर्थम्? संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमवसेयम्।

तद् द्विविधम्-अवधृतानवधृतकालभेदात् ।२। तदनशनं द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः? अवधृ-
२० ताऽनवधृतकालभेदात्। तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनं चतुर्थभक्तादि[3], अनवधृतकालमादेहोपरमात्।

संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थमवमोदर्यम् ।३। अशितंभवो[4] य ओदनः तस्य चतुर्भागेनार्द्धग्रासेन वा अवममूनं उदरमस्यासाववमोदरः, अवमोदरस्य भावः कर्म वा अवमोदर्यम्। तत्किमर्थम्? संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्ध्यर्थम्।

एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम् ।४। भिक्षार्थिनो
२५ मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पश्चिन्तावरोधः वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्।

दान्तेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः ।५। दान्तेन्द्रियत्वं तेजोऽहानिः संयमोपरोधनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थं घृतदधिगुडतैलादिरसत्यजनं रसपरित्याग इत्युच्यते।

रसवत्परित्याग इति चेत्; न; मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् ।६। स्यान्मतम्-रसशब्दोऽयं गुण-
३० वाची, तद्वतश्चात्र परित्याग इष्ट इति तस्माद्रसवत्परित्याग इति निर्देशः कर्त्तव्य इति; तन्न; किं कारणम्? मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात्। लुप्तनिर्दिष्टोऽत्र मतुः यथा शुक्लः पट इति।

अव्यतिरेकाद्वा तद्वत्संप्रत्ययः ।७। अथवा, न गुणं व्यतिरिच्य गुणी वर्तते, ततः सामर्थ्यात्तद्वन्निर्देशः प्रतिपत्तव्यः। द्रव्यत्यागमुखेन रसपरित्यागो नान्यथेति।

सर्वत्यागप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रकर्षगतेः ।८। स्यादेतत्-सर्वमुपभोगार्हं पुद्गलद्रव्यं रसवत्,
३५ अतः सर्वत्यागः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? प्रकर्षगतेः। यथा अभिरूपाय कन्या देयेति

---

१ कोऽर्थः-श्र० टि०। २ द्रव्याश्रयादतीतानागतनानाजीवापेक्षयेत्यर्थः-श्र० टि०। ३ चतुर्थषष्ठवेलाभक्तादि-श्र० टि०। ४ तृप्तिनिमित्तः-श्र० टि०।

अभिरूपतमे संप्रत्ययो भवति तथा सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य रसवत्त्वात् प्रकृष्टरसत्यागसंप्रत्ययो भवति । कश्चिदाह—

**अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां वृत्तिपरिसंख्यानावरोधात् पृथगनिर्देशः ।९।** वृत्तिपरिसंख्यानमिदं सामान्यभिक्षाचरणे नियमकारित्वात् । अतः अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां तेनैवावरुद्धत्वात् पृथङ् निर्देशोऽनर्थकः । ५

**तद्विकल्पनिर्देश इति चेत्; न; अनवस्थानात् ।१०।** अथ मतम्–तस्य वृत्तिपरिसंख्यानस्य विकल्पा निर्देष्टव्या इति पृथगुपदेशः कर्तव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्थानात्[1] ।

**न वा, कायचेष्टाविषयगणनार्थत्वाद् वृत्तिपरिसंख्यानस्य ।११।** न वा एष दोषः; किं कारणम् ? भिक्षाचरणे प्रवर्तमानः साधुः एतावद्भिरत्रविषयां कायचेष्टां कुर्वीत कदाचिद्यथाशक्तीति विषयगणनार्थं वृत्तिपरिसंख्यानं क्रियते, [2]अनशनमभ्यवहर्त्तव्यनिवृत्तिः, एवम् अवमोदर्यरसपरित्यागौ अभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपराविति महान् भेदः । १०

**आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं विविक्तशय्यासनम् ।१२।** शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनं वेदितव्यम् । तत्किमर्थम् ? [3]आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थम् ।

**कायपरिक्लेशः स्थानमौनातपनादिरनेकधा ।१३।** नानाविधप्रतिमास्थानं वाचंयमत्वम् आतापनम् वृक्षमूल [वासः] इत्येवमादिना शरीरपरिखेदः कायक्लेश इत्युच्यते । स किमर्थः ? १५

**देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभावनार्थम् ।१४।** दुःखोपनिपाते सति तितिक्षार्थं विषयसुखे चानभिष्वङ्गार्थं प्रवचनप्रभावनाद्यर्थं च कायक्लेशानुष्ठानं क्रियते । इतरथा हि ध्यानप्रवेशकाले सुखोचितस्य द्वन्द्वोपनिपाते सति समाधानं न स्यात् ।

**परीषहजातीयत्वात् पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; स्वकृतक्लेशापेक्षत्वात् ।१५।** स्यान्मतम्–अयं कायक्लेशः स्थानमौनादिः परीषहजातीयस्ततः पुनरुपदेशः पौनरुक्त्यं जनयतीति; तन्न; किं कारणम् ? स्वकृतकायक्लेशापेक्षत्वात् । बुद्धिपूर्वो हि कायक्लेश इत्युच्यते, यदृच्छयोपनिपाते परीषहः । दृष्टफलानपेक्षमित्येतत् सर्वत्रानुवर्त्तते । तर्हि कर्तव्यम्— २०

**सम्यगित्यनुवृत्तेर्दृष्टफलनिवृत्तिः ।१६।** "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" [ ९।२ ] इत्यतः सम्यग्ग्रहणमनुवर्त्तते, तेन दृष्टफलनिवृत्तिः कृता भवति सर्वत्र । बाह्यत्वमस्य कुतः ? २५

**बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम् ।१७।** बाह्यमशनादिद्रव्यमपेक्ष्य क्रियत इति बाह्यत्वमस्य ग्राह्यम् ।

**परप्रत्यक्षत्वात् ।१८।** परेषां खल्वप्यनशनादि प्रत्यक्षं भवति, ततश्चास्य बाह्यत्वम् ।

**तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च ।१९।** अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम् । कथं तर्ह्येतदनशनादि तप इत्युच्यते ? ३०

**कर्मनिर्दहनात्तपः ।२०।** यथाऽग्निः सञ्चितं तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निर्दहतीति तप इति निरुच्यते ।

**देहेन्द्रियतापाद्वा ।२१।** अथवा देहस्येन्द्रियाणां च तापं करोतीत्यनशनादि [अतः] तप इत्युच्यते । तत्तापादिन्द्रियनिग्रहः सुकरो भवति ।

उक्तं बाह्यं तपः, अथाभ्यन्तरस्य के भेदा इति ? अत्रोच्यते– ३५

---

१ अनशनादीनीयन्त्येवेति नियमाभावादनवस्था–श्र० टि० । २ अनशनादीनां परस्परतः को भेद इत्यत आह–श्र० टि० । ३ जन्तुबाधा–श्र० टि० । ४ इति व्यपदिश्यते ता० ।

## प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

कुतः पुनरुत्तरत्वम्[1] ?

अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम् ।१। यतोऽन्यैस्तीर्थ्यैरनभ्यस्तमनालीढं ततोऽस्योत्तरत्वम्, अभ्यन्तरमिति यावत् ।

५ अन्तःकरणव्यापारात् ।२। प्रायश्चित्तादितपः अन्तःकरणव्यापारालम्बनं ततोऽस्याभ्यन्तरत्वम् ।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च ।३। न हि बाह्यद्रव्यमपेक्ष्य वर्तते प्रायश्चित्तादि, ततश्चास्याभ्यन्तरत्वमवसेयम् ।

तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

१० ## नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

नवादीनां भेदशब्दोपसंहितानामन्यपदार्थे वृत्तिः ।१। नवादीनां संख्यापदानां भेदशब्दोपसंहितानामन्यपदार्थे वृत्तिर्भवति-नव च चत्वारश्च दश च पञ्च च द्वौ च भेदा अस्य नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदमिति ।

द्विशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसङ्ग इति चेत्; न; पूर्वसूत्रापेक्षत्वात् ।२। स्यादेतत्-द्विशब्दस्य १५ पूर्वनिपातः प्राप्नोति[2], "द्वन्द्वे सुः" [१।३।९८], "अल्पाच्तरम् ।" [१।३।१००] इति सूत्रप्रामाण्यात् "संख्यायाः अल्पीयस्याः" [१।३।१०० वा०] इत्युपसंख्यानाच्चेति[3]; तन्न; किं कारणम् ? पूर्वसूत्रापेक्षत्वात् । पूर्वसूत्रे विहितानां नवादिभिर्यथाक्रममभिसंबन्धः कथं स्यादिति ? नैतद्युक्तम्, न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यमिति[4] । न च प्रयोजनेन लक्षणमुल्लङ्घनीयम्; नैष दोषः; राजदन्तादिषु पाठः करिष्यते, लक्ष्यानुविधानाल्लक्षणस्य ।

२० प्राग्ध्यानादिति वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम् ।३। प्राग्ध्यानादित्युच्यते यथासंख्यप्रतिपत्तिः कथं स्यादिति, इतरथा हि वैषम्याद्यथासंख्यं न स्यात् ।

तत्राभ्यन्तरतपोभेदस्याद्यस्य निर्दिष्टविकल्पसंख्यस्य भेदाख्यविशेषप्रक्लृप्त्यर्थमिदमुच्यते—

## आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

२५ किमर्थमिदमुच्यते ?

प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैःशल्यानवस्थाव्यावृत्तिमर्यादाऽत्यागसंयमदार्ढ्याराधनादिसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तम् ।१। प्रमाददोषव्युदासः भावप्रसादो नैःशल्यम् अनवस्थावृत्तिः मर्यादाऽत्यागः संयमदार्ढ्यमाराधनमित्येवमादीनां सिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते । प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम् । "प्रायाच्चित्तिचित्तयोः" [४।३।११७] इति ३० सुट् । अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्, अपराधविशुद्धिरित्यर्थः ।

तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषवर्जितमालोचनम् ।२। तेषु नवसु प्रायश्चित्तविकल्पेषु गुरवे एकान्ते निषण्णाय प्रसन्नमनसे विदितदेशकालस्य शिष्यस्य सविनयेनात्मप्रमादनिवेदनं दशभिर्दोषैर्विवर्जितमालोचनमित्याख्यायते । के पुनस्ते दश दोषा इति चेत् ? उच्यते—

---

१ अधिकत्वमिति ध्वनिः-श्र० टि० । २-ति शाब्दान्न्यासात् द्वन्द्वे सुरल्पा-मु० शुद्धिपत्रे । ३ कारणाश्रयात्-श्र० टि० । ४-वर्त्यं न च मु०, द०, ब०, ज०, श्र० । ५-दमूलपरि-ता०, श्र०, ज० । ६-दविनि-मु०, द०, ब०, ज० ।

उपकरणेषु दत्तेषु प्रायश्चित्तं मे लघु कुर्वन्तीति विचिन्त्य दानं प्रथममालोचनदोषः ।१। प्रकृत्या दुर्बलो ग्लानोऽहं उपवासादि न कर्तुमलं यदि लघु दीयेत ततो दोषनिवेदनं करिष्ये इति वचनं द्वितीयो दोषः ।२। अन्यादृष्टदोषगूहनं कृत्वा प्रकाशदोषनिवेदनं मायाचारस्तृतीयो दोषः ।३। आलस्यात् प्रमादाद्वा अल्पापराधावबोधनिरुत्सुकस्य स्थूलदोषप्रतिपादनं चतुर्थः ।४। महादुश्चरप्रायश्चित्तभयान्महादोषसंवरणं कृत्वा तनुप्रमादाचारनिवेधनं पञ्चमः ।५। ईदृशे व्रतातिचारे सति किन्नः स्यात्प्रायश्चित्तमित्युपायेन गुरूपासना षष्ठः ।६। पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकेषु कर्मसु महति यतिसमवाये आलोचनशब्दाकुले पूर्वदोषकथनं सप्तमः ।७। गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं किमिदं युक्तम् आगमे स्यान्नवेति शङ्कमानस्यान्यसाधुपरिप्रश्नोऽष्टमः ।८। यत्किञ्चित्प्रयोजनमुद्दिश्यात्मना समानायैव प्रमादाचरितमावेद्य महदपि गृहीतं प्रायश्चित्तं न फलकरमिति नवमः ।९। अस्यापराधेन ममातिचारः समानः तमयमेव वेत्ति अस्मै यद्दत्तं तदेव मे युक्तं लघूकर्त्तव्यमिति स्वदुश्चरितसंवरणं दशमो दोषः ।१०।

आत्मन्यपराधं चिरमनवस्थाप्य निकृतिभावमन्तरेण बालवदृजुबुद्ध्या दोषं निवेदयतः न ते दोषा भवन्त्यन्ये च । संयतालोचनं द्विविषयमिष्टमेकान्ते, संयतिकालोचनं त्र्याश्रयं प्रकाशे । लज्जापरपरिभवादिगणनया निवेद्यातिचारं यदि न शोधयेद् अपरीक्षितायव्ययाधमर्णवदवसीदति । महदपि तपस्कर्म अनालोचनपूर्वकम् नाभिप्रेतफलप्रदम् [2]आविरिक्तकायगतौषधवत् कृतालोचनस्यापि [3]गुरुमतप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवत् महाफलं न स्यात् । कृतालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते ।

**मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणम्** ।३। कर्मवशप्रमादोदयजनितं मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमाद्यभिव्यक्तः प्रतीकारः प्रतिक्रमणमित्युच्यते ।

**तदुभयसंसर्गे सति शोधनात्तदुभयम्** ।४। किञ्चित्कर्म आलोचनमात्रादेव शुद्ध्यति, अपरं प्रतिक्रमणेन, इतरत्पुनस्तदुभयसंसर्गे सति शुद्धिमुपयातीति तदुभयमित्युपदिश्यते ।

इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? 'अनालोचयतः न किञ्चिदपि प्रायश्चित्तम्' इत्युक्तम्, पुनरुपदिष्टम्–'प्रतिक्रमणमात्रमेव शुद्धिकरम्' इति, एतदयुक्तम् । अथ तत्राप्यालोचनपूर्वकत्वमभ्युपगम्यते, तदुभयोपदेशो व्यर्थः; नैष दोषः; सर्वं प्रतिक्रमणमालोचनपूर्वकमेव, किन्तु पूर्वं गुरुणाभ्यनुज्ञातं शिष्येणैव कर्त्तव्यम्, इदं पुनर्गुरुणैवानुष्ठेयम् ।

**संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः** ।५। संसक्तानामन्नपानोपकरणादीनां विभजनं विवेक इत्युच्यते ।

**व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणम्** ।६। कालनियमेन कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्ग इत्युच्यते ।

**तपोऽनशनादि** ।७। अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानादि तपोऽवगन्तव्यम् ।

**दिवसपक्षमासादिना प्रव्रज्याहापनं छेदः** ।८। चिरप्रव्रजितस्य दिवसमासादिविभागेन प्रव्रज्याहापनं छेद इति प्रत्येतव्यम् ।

**पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः** ।९। पक्षमासादिकालविभागेन संसर्गमन्तरेण दूरतः परिवर्जनं परिहार इत्यवध्रियते ।

**पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना** ।१०। महाव्रतानां मूलच्छेदं कृत्वा पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापनेत्याख्यायते ।

विद्यायोगोपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनयमन्तरेण प्रवृत्तिरेव दोष इति तस्य प्रायश्चित्तमालोचनमात्रम् । देशकालनियमेनावश्यं कर्त्तव्यमित्यास्थितानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतु-

१ प्रसिद्धेसति दोषे–श्र० टि० । २ विरेचनकृतः–श्र० टि० । अतिक्तकाय–मु०, द०, ब०, ज० । आसमन्तात् विरक्तीकृतः विरेचनौषधिना निर्मलीकृतः इत्यर्थः । ३ गुरुदत्तप्रा–मु०, द०, ब० ।

सन्निधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठाने प्रतिक्रमणं तस्य प्रायश्चित्तम्। भयत्वरणविस्मरणाऽनवबोधाशक्तिव्यसनादिभिर्महाव्रतातिचारे सति प्राक्छेदात् षड्विधं प्रायश्चित्तं विधेयम्। शक्त्यनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं[1] प्रायश्चित्तम्। दुःस्वप्नदुश्चिन्तनमलोत्सर्जनमू[2]त्रातिचारमहानदीमहाटवीतरणादिषु व्युत्सर्गः प्रायश्चित्तम्। बहुकृत्वः प्रमादबहु[3]दृष्टापराध[4]प्रत्यनीकवृत्तिविरुद्धदृष्टीनां[5] यथाक्रमं [6]छेदमूलभूम्यनुपस्थापनपारञ्चिकविधानं क्रियते[7]। [8]अपकृष्ट्याचार्यमूले प्रायश्चित्तग्रहणमनुपस्थापनम्। आचार्यादाचार्यान्तरप्रापणमातृतीयं [9]पारञ्चिकम्। तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेनापराधानुरूपं दोषप्रशमनं चिकित्सितवद्विधेयम्। जीवस्यासंख्येयलोकपरिमाणाः परिणामविकल्पाः, अपराधाश्च तावन्त एव, न तेषां तावद्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति। व्यवहारनयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तम्।

आह–व्याख्यातं प्रायश्चित्तम्, इदानीं तदनन्तरमुद्दिष्टस्य विनयस्य विकल्पा वक्तव्याः? अत्रोच्यते—

## ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

**विनय इत्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसंबन्धः** ।१। विनय इत्यनुवर्त्तते, तेन प्रत्येकमभिसंवन्धो भवति–ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति।

**तत्र सबहुमानज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः** ।२। अनलसेन शुद्धमनसा देशकालादिविशुद्धिविधानविचक्षणेन सबहुमानो यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयो वेदितव्यः।

**पदार्थश्रद्धाने निशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः** ।३। सामायिकादौ लोकविन्दुसारपर्यन्ते श्रुतसमुद्रे ये यथा भगवद्भिरुपदिष्टाः पदार्थाः[10] तेषां तथाश्रद्धाने निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयो वेदितव्यः।

**तद्वतश्चरित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः** ।४। तद्वतो ज्ञानदर्शनवतः पञ्चविधदुश्चरचरणश्रवणानन्तरमुद्भिन्नरोमाञ्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परप्रसादो मस्तकाञ्जलिकरणादिभिर्भावतश्चानुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः प्रत्येतव्यः।

**प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः** ।५। प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेषु अभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणवन्दनानुगमनादिरात्मानुरूप उपचारविनयोऽवगन्तव्यः।

**परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः** ।६। परोक्षेष्वाचार्यादिष्वञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणज्ञानानुष्ठायित्वादिः कायवाङ्मनोभिरवगन्तव्यः। किमर्थमिदं विनयभावनम्?

**ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनम्** ।७। ज्ञानलाभः आचारविशुद्धिः

---

१–दुज्झनं प्रा–मु०, द०, व०, ज०। २–सूत्राति–ता०, श्र०, ज०। ३ बहुभिः पुरुषैः–श्र० टि०। ४ आचार्यादीनाम्–श्र० टि०। ५ विराधितसम्यक्त्वानाम्–श्र० टि०। ६ छेदः मूलभूम्यनुपस्थानं पारंचिक–मु०, द०, व०। ७ गृहस्थताप्रापणमित्यर्थः–श्र० टि०। ८ अपरकृष्ट्या–मु०, द०, व०। ९ परानञ्चतीति तस्य भावः–श्र० टि०। १०–र्थाः यथालक्षणा वर्तन्ते नान्यथा वादिनो जिनाः इति निःसंशयोपेतता दर्शनविनय इत्याख्यायते तद्वत–मु०। –र्थाः तद्वत–ज०, द०, व०।

सम्यगाराधनमित्येवमादीनां सिद्धिर्भवति विनयभावनेन, ततश्च निर्वृत्तिसुखमिति विनयभावनं क्रियते।

आह–विनयो वर्णितः, तदनन्तरोद्देशभाजो वैयावृत्त्यस्येदानीं विवरणं कर्तव्यमिति, अत इदमुच्यते—

## आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घ-साधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥　५

वैयावृत्त्यमित्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसम्बन्धः ।१। वैयावृत्त्यमित्यनुवर्त्तते तेन प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–आचार्यवैयावृत्त्यमुपाध्यायवैयावृत्त्यमित्यादि।

व्यावृत्तस्य भावः कर्म च वैयावृत्त्यम् ।२। कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यमित्युच्यते।　१०

आचरन्ति यस्माद् व्रतानीत्याचार्यः ।३। यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिगुणाधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखामृतबीजानि भव्या हितार्थमाचरन्ति स आचार्यः।

उपेत्य [1]यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः ।४। विनेयेनोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते स उपाध्यायः।

महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी ।५। महोपवासादिलक्षणं तपोऽनुतिष्ठति यः स तपस्वीत्युच्यते। कुत एतत्? अतिशयार्थे मत्वर्थीयप्रयोगात्।　१५

शिक्षाशीलः शैक्ष्यः[2] ।६। श्रुतज्ञानशिक्षणपरः अनुपरतव्रतभावनानिपुणः [3]शैक्षक इति लक्ष्यते।

रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः ।७। रुजादिभिः क्लिष्टशरीरो ग्लान इत्युच्यते।

गणः स्थविरसन्ततिः ।८। स्थविराणां सन्ततिर्गण इत्युच्यते।　२०

दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम् ।९। दीक्षकस्याचार्यस्य शिष्यसंस्त्यायः कुलव्यपदेशमर्हति।

चतुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः ।१०। चतुर्वर्णानां श्रमणानां निवहः सङ्घ इति समाख्यायते।

चिरप्रव्रजितः साधुः ।११। चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुरित्याम्नायते।

मनोज्ञोऽभिरूपः ।१२। अभिरूपो मनोज्ञ इत्यभिधीयते।　२५

सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्तावक्तृत्वमहाकुलत्वादिभिः ।१३। अथवा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य सम्मतः स मनोज्ञः, तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वात्।

असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा ।१४। अथवा, असंयतसम्यग्दृष्टिर्मनोज्ञ इति गृह्यते संस्कारोपेतरूपत्वात्।　३०

तेषां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यम् ।१५। तेषामाचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते प्रासुकौषधिभक्तपानप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तरणादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्त्यम्।

वाह्यद्रव्यासंभवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च ।१६। वाह्यस्यौषधभक्तपानादेरसंभवेऽपि स्वकायेन श्लेष्मसिङ्घाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्त्यमिति कथ्यते।　३५

तत्पुनः किमर्थमिति चेत्? उच्यते—

---

१ तस्मा–मू०, ता०, ध० । २ शैक्षः आ० १, २ । ३ शैक्ष इ–ध० ।

समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम् ।१७। समाध्याधानं विचिकित्साभावः प्रवचनवात्सल्यं सनाथता चेत्येवमाद्यभिव्यक्त्यर्थं वैयावृत्त्यमिष्यते । किमर्थं बहूनामुपक्षेपः क्रियते, ननु सङ्घवैयावृत्त्यं गणवैयावृत्त्यमिति वा वक्तव्यम् ?

बहूपदेशात् क्वचिन्नियमेन प्रवृत्तिज्ञापनाय भूयसामुपन्यासः ।१८। बहुषु वैयावृत्त्यार्हेषूपदिष्टेषु क्वचित् कस्यचित् प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमाद्यर्थं भूयसामुपन्यासः क्रियते ।

आह–व्याख्यातं वैयावृत्त्यम्, तत्समीपोद्देशभाजः स्वाध्यायस्येदानीं निर्देशः करणीय इति ? अत्राभिधीयते–

## वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः ॥ २५ ॥

निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना ।१। अनपेक्षात्मना विदितवेदितव्येन निरवद्यग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा पात्रे प्रतिपादनं वाचनेत्युच्यते ।

संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छनम् ।२। आत्मोन्नतिपरातिसन्धानोपहाससंघर्षप्रहसनादिविवर्जितः संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा परं प्रत्यनुयोगः पृच्छनमिति भाष्यते ।

अधिगतार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा ।३। अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तप्तायस्पिण्डवदर्पितचेतसो मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा वेदितव्याः ।

घोषविशुद्धपरिवर्तनमाम्नायः ।४। व्रतिनो वेदितसमाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुतविलम्बितादिघोषविशुद्धं परिवर्तनमाम्नाय इत्युपदिश्यते ।

धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः ।५। दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं सन्देहव्यावर्त्तनापूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते । किमर्थोऽयं स्वाध्यायः ?

प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः स्वाध्यायः ।६। प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः प्रवचनस्थितिः संशयोच्छेदः परवादिशङ्काभावः परमसंवेगः तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः स्वाध्यायोऽनुष्ठेयः ।

आह–वर्णितः पञ्चविधः स्वाध्यायः, तदनन्तरमुद्दिष्टो यो व्युत्सर्गस्तस्य भेद इदानीं वक्तव्य इति ? अत्राभिधीयते–

## बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

व्युत्सर्ग इत्यनुवृत्तेर्व्यतिरेकनिर्देशः ।१। व्युत्सर्जनं व्युत्सर्ग इति भावसाधनः शब्दोऽनुवर्त्तते, तदपेक्षोऽयं व्यतिरेकनिर्देशः ।

उपधीयते बलाधानार्थमित्युपधिः ।२। योऽर्थोऽन्यस्य बलाधानार्थमुपधीयते स उपधिरित्युच्यते ।

अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः ।३। आत्मनाऽनुपात्तस्य एकत्वमनापन्नस्य वस्तुनस्त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गोऽवगन्तव्यः ।

क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः ।४। क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वहास्यरत्यरतिशोकभयादिदोषनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इति निश्चीयते ।

कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा ।५। कायत्यागश्चाभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इत्युच्यते । स पुनर्द्विविधः–नियतकालो यावज्जीवं चेति ।

---

१–संघोपग्र–मु०, द०, ब० ।

परिग्रहनिवृत्तेरवचनमिति चेत्; न; तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ।६। स्यादेतत्–महाव्रतोपदेशकाले परिग्रहनिवृत्तिरुक्ता, ततः पुनरिदं वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ।

धर्माभ्यन्तरे भावादिति चेत्; न; प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् ।७। स्यादेतत्–दशविधधर्मेऽन्तरीभूतस्त्याग इति पुनरिदं वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् तस्य । ५

प्रायश्चित्ताभ्यन्तरत्वादिति चेत्; न; तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात् ।८। अथमतमेतत्–प्रायश्चित्ताभ्यन्तरो व्युत्सर्गस्ततः पुनस्तस्य वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात्, तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचारः प्रतिद्वन्द्वी विद्यते, अयं पुनरनपेक्षः क्रियते इत्यस्ति विशेषः ।

अनेकत्रावचनमनेनैव गतत्वादिति चेत्; न; शक्त्यपेक्षत्वात् ।९। अनेकत्र वचनमनर्थकम्, इदमेवास्तु पर्याप्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? शक्त्यपेक्षत्वात् । क्वचित् सावद्यं प्रत्याख्यायते क्वचित् [निरवद्यम्]निरवद्यमपि नियतकालं क्वचिदनियतकालं पुरुषशक्त्यपेक्षत्वान्निवृत्तिधर्मस्य, उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षादुत्साहोत्पादनार्थत्वाच्च न पौनरुक्त्यम् । किमर्थं पुनर्व्युत्सर्गः ? १०

निःसङ्गनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः ।१०। निःसङ्गत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदासः दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविधः । १५

आह–अभ्यन्तरतपः षोढा प्रतिज्ञाय प्राग्ध्यानादिति यत्सन्न्यस्तं तपो ध्यानाभिधानं तदनाविष्कृतार्थं प्राप्तविचारकालमिति, अत्रोच्यते–

## उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥ २७ ॥

आद्यं संहननत्रयमुत्तमम् ।१। वज्रवृषभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमित्येतत्त्रितयं संहननमुत्तमम् । कुतः ? ध्यानादिवृत्तिविशेषहेतुत्वात् । तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव । ध्यानस्य त्रितयमपि । उत्तमं संहननं यस्य स उत्तमसंहननः तस्य उत्तमसंहननस्य । २०

एकशब्दः संख्यापदम् ।२। अन्यासहायाद्यनेकार्थसंभवे एकशब्दोऽत्र संख्यावाची गृह्यते ।

अङ्ग्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाग्रं मुखम् ।३। अङ्गेर्गत्यर्थस्य कर्मण्यधिकरणे वा उणादौ रगुनिपातितः "वज्रेन्द्राग्रे" इति [ ] अत्र अग्रं मुखमित्यर्थः ।

चिन्ता अन्तःकरणवृत्तिः ।४। अन्तकरणस्य वृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते । २५

अनियतक्रियार्थस्य नियतक्रियाकर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः ।५। गमनभोजनशयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते । एकमग्रं मुखं यस्य सोऽयमेकाग्रः, चिन्ताया निरोधः चिन्तानिरोधः, एकाग्रे चिन्तानिरोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः । कुतः पुनरसौ[2] एकाग्रत्वेन चिन्तानिरोधः ?

वीर्यविशेषात् प्रदीपशिखावत् ।६। यथा प्रदीपशिखा निराबाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते तथा निराकुले देशे वीर्यविशेषादवरुध्यमाना चिन्ता विना व्याक्षेपेण एकाग्रेणावतिष्ठते । ३०

अर्थपर्यायवाचो वा अग्रशब्दः ।७। अथवा अङ्ग्यते इत्यग्रः अर्थ इत्यर्थः, एकमग्रं एकाग्रम्, एकाग्रे[3] चिन्ताया निरोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः । [4]योगविभागान्मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्तिः । एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वाऽर्थे चिन्तानियम इत्यर्थः ।

---

१ पूर्वप्रयोगं दर्शयति–श्र० टि० । २ निरोधः–श्र० टि० । ३ एकाग्रे इत्यत्र चाधारसप्तमी आधाराधेयत्वयोगात् नतु निमित्तसप्तमी कर्माभावात् । एवमादि सप्तम्याप्रतीतौ कथमेकाग्रे । ४ स्वमनन्तूद्रव्यादि सप्तमी शौण्डादिभिः इत्यत्र द्रष्टव्यम्–श्र० टि० ।

ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ।८। अयं ध्यानशब्दः भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशाद्वेदितव्यः । तत्र ध्येयं प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनो ध्यानशब्दः, ध्यायतीति ध्यानमिति बहुलापेक्षया कर्तृसाधनश्च युज्यते । करणप्रशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ समीक्षितायां यथा साध्वसिश्छिनत्तीति प्रयोक्तृनिर्वर्त्त्ययोः सतोरप्युद्यमननिपातनयोरविशेषतन्त्रत्वाच्छेदनस्य कर्तृधर्माध्यारोपः क्रियते तथा दिध्यासोरप्यात्मनः ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषतन्त्रत्वात् ध्यानपरिणामस्य युज्यते कर्तृत्वम् । करणत्वमपि चास्य पर्यायपर्यायिणोर्भेदपरिकल्पनासद्भावात् युज्यते अग्नेर्दाहपाकस्वेदादिक्रियाप्रवृत्तस्यात्मभूतोऽप्यकरणपरिकल्पनवत् ।

एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तम् ।९। अर्थान्तरभावोऽनर्थान्तरभाव एवेत्येकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तम् । क्व ? आदिसूत्रे ।

प्रतीतपरिमाणो मुहूर्त्तः ।१०। मुहूर्त्त इति कालविशेषवाचिशब्दः, तस्य परिमाणं प्राग्विहितम् ।

उत्तमसंहननाभिधानम् अन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणाऽसामर्थ्यात् ।११। अन्यत्संहननमेतावन्तं कालं चिन्तानिरोधधारणे साधनभावं प्रत्यसमर्थमिति उत्तमसंहननग्रहणं क्रियते ।

एकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम् ।१२। एकाग्रवचनं क्रियते वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम् । व्यग्रं हि ज्ञानमेव न ध्यानमिति ।

चिन्तानिरोधग्रहणं तत्स्वाभाव्यप्रदर्शनार्थम् ।१३। यथा पृथिव्याः कस्मिंश्चित् परिणामविशेषे घटशब्दो वर्तते एवं चिन्तायाः ज्ञानात्मिकायाः वृत्तिविशेषे ध्यानशब्दो वर्त्तते इति प्रदर्शनार्थं चिन्तानिरोध इति विशेष्यते ।

ध्यानमित्यधिकृतस्वरूपनिर्देशार्थम् ।१४। यत्तदधिकृतमुत्तमं (रं) तपः, तत्स्वरूपनिर्देशार्थं ध्यानवचनं क्रियते ।

मुहूर्त्तवचनादाहरादिव्यावृत्तिः ।१५। आहरादिकालान्तरव्यावृत्त्यर्थं मुहूर्त्तवचनं क्रियते । अतः परं दुर्धरत्वात् ।

अभावो निरोध इति चेत्; न; केनचित् पर्यायेणेष्टत्वात् ।१६। स्यान्मतम्–अभावो निरोध इत्यनर्थान्तरम्, स चेत् ध्यानशब्दार्थः खरविषाणवत् ध्यानमसत्प्रसजतीति; तन्न, किं कारणम् ? केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात् । अन्यचिन्ताऽभावविवक्षायामसदेव ध्यानम्, विवक्षितार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति चोच्यते ।

अभावस्य च वस्तुत्वाद्धेत्वङ्गत्वादिति ।१७। अभावोऽप्ययं वस्तुधर्मः । कुतः ? हेत्वङ्गत्वादिभिः, ततश्चोपालम्भाभावः ।

एकार्थवचनं विस्पष्टत्वादिति चेत् ; न; अनिष्टप्रसङ्गात् ।१८। स्यान्मतम्–एकार्थचिन्तानिरोध इत्यस्तु विस्पष्टत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टप्रसङ्गात् । किमनिष्टम् ? "वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः" [९।४४] इति वक्ष्यते, तेनार्थसंक्रम इष्यते–द्रव्यात्पर्याये पर्यायाच्च द्रव्ये । यद्येकार्थे निरोध इह गृह्येत; तद्विरोधः स्यात् ।

एकाग्रवचनेऽपि तुल्यमिति चेत्; न आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि[3] प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात् ।१९। अथ मतमेतत्–एकाग्रवचनेऽपि तस्यानिष्टस्य प्रसङ्गः तुल्य इति; तन्न; किं कारणम् ? आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात् । अग्रं मुखमिति ह्युच्यमानेऽनेकमुखत्वं निवर्तितं एकमुखे[4] तु संक्रमोऽभ्युपगत एवेति नानिष्टप्राप्तिः ।

---

१ –दिविनिवृ–मु०, द०, ब० । दिनपर्यन्तमित्यर्थः–सं० । २ विपक्षाद् व्यावृत्तिलक्षण–श्र० टि० । ३ –पिवृत्तिविज्ञानार्थत्वात् मु०, ज०, द०, ब० । –पि वृत्तिज्ञा–श्र० भा, १ । ४ द्रव्यपर्यायादीनामन्यतमे –श्र० टि० ।

प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणम् ।२०। अथवा, प्राधान्यवचने एकशब्द इह गृह्यते, प्रधानस्य पुंस आभिमुख्येन चिन्तानिरोध इत्यर्थः, अस्मिन्पक्षेऽर्थो गृहीतः।

[2]अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा ।२१। अथवा, अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्, ततः स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्त्तिता भवति।

दिवसमासाद्यवस्थानमुपयुक्तस्येति चेत्; न; इन्द्रियोपघातप्रसङ्गात् ।२२। स्यादेतत्-ध्यानोपयोगेन दिवसमासाद्यवस्थानं नान्तमुहूर्तादिति; तन्न; किं कारणम् ? इन्द्रियोपघातप्रसङ्गात्[4]।  ५

प्राणापाननिग्रहो ध्यानमिति चेत्; न; शरीरपातप्रसङ्गात् ।२३। स्यादेतत्-प्राणापानकर्मणो निग्रहो ध्यानमिति; तन्न; किं कारणम् ? शरीरपातप्रसङ्गात्। प्राणापाननिग्रहे सति तदुद्भूतवेदनाप्रकर्षात् आश्वेव शरीरस्य पातः प्रसज्येत। तस्मान्मन्दमन्दप्राणापानप्रचारस्य ध्यानं युज्यते।

मात्राकालपरिगणनमिति चेत्; न; ध्यानातिक्रमात् ।२४। स्यान्मतम्-मात्राकालपरिगणनं ध्यानमिति; तन्न; किं कारणम् ? ध्यानातिक्रमात्। मात्राभिर्यदि कालगणनं क्रियेत ध्यानमेव न स्याद्वैयग्र्यात्।  १०

विध्युपायनिर्देशः कर्तव्य इति चेत्; न; गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात् ।२५। स्यान्मतम्-एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्येतद्युक्तं किन्तु तदुत्पत्तये विध्युपायनिर्देशः कर्तव्यः-अनेन विधिना अनेनोपायेन ध्यानं भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात्। ध्यानविधानभावनार्थमेव हि गुप्त्यादिप्रकरणं प्रक्रान्तम्।  १५

संवरार्थं तदिति चेत्; न; प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात् ।२६। स्यान्मतम्-संवरप्रतिपत्त्यर्थं तद्गुप्त्यादि प्रकरणमुक्तं न ध्यानोपायप्रतिपत्त्यर्थम्, न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात्। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति, तद्यथा-शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते[7] च, शालयश्च भाव्यन्ते।  २०

सकलध्यानधर्मासंग्रह इति चेत्; न; ध्यानप्राभृते प्रणीतत्वात् ।२७। स्यान्मतम्-सकलो ध्यानधर्मो नास्मिन्सूत्रे संगृहीत इत्यपरिपूर्णं लक्षणमिति; तन्न; किं कारणम् ? ध्यानप्राभृते प्रणीतत्वात्। तत्र हि ध्यानलक्षणं सकलं प्राधान्येनोक्तम्, इह त्वानुषङ्गिकमिति।

तस्य ध्यानस्य सामान्येनोक्तस्य विकल्पप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते-

## आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥  २५

ऋतमर्दनमार्त्तिर्वा तत्र भवमार्त्तम् ।१। ऋतं दुःखम्, अथवा अर्दनमार्त्तिर्वा, तत्र भवमार्त्तम्।

रुद्रः क्रूरस्तत्कर्म रौद्रम् ।२। रोदयतीति रुद्रः क्रूर इत्यर्थः, तस्येदं कर्म तत्र भवं वा रौद्रमित्युच्यते।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् ।३। धर्मो वर्णितः, ततोऽनपेतं ध्यानं धर्म्यमित्याख्यायते।  ३०

शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् ।४। यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते।

तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः ? प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तम् अपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात् प्रशस्तम्। किं पुनस्तदिति चेत् ? उच्यते-

---

१ आत्मनः-श्र० टि०। २ जानाति-श्र० टि०। ३ लोके दृश्यते-श्र० टि०। ४ यदि नान्यादिपर्यन्तमिन्द्रियोपरोधः स्यात्तर्हि विषयव्यापृति(त्य)भावात् इन्द्रियाणामप्यभावः-श्र० टि०। ५-नविनि-मु० द०, ब०, ज०। ६-नानित-मु०, द० ब०। ७ उपस्पर्शस्तु आचमनम्-श्र० टि०।

## परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

एकस्यैव परत्वमिति चेत्; न; व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात् ।१। स्यान्मतम्–एकस्यैव परत्वमुपपद्यते न द्वयोरिति; तन्न; किं कारणम् ? व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात्, तद्यथा परा मथुरा पाटलिपुत्रादिति ।

५ द्विवचननिर्देशाद्वा गौणस्यापि संप्रत्ययः ।२। अथवा, परमन्त्यं तत्समीपवर्त्यपि परमित्युपचर्यते, द्विवचननिर्देशात्तस्यापि ग्रहणं भवति ।

परयोर्मोक्षहेतुत्वात्, पूर्वयोः संसारहेतुत्वप्रसिद्धिः ।३। 'परे मोक्षहेतू' इति वचनात् परिशेषात् 'पूर्वे संसारहेतू' इति विज्ञायते, तृतीयस्य साध्यस्याभावात् ।

आह–किमेषां लक्षणमिति । तत्रानेकस्य वक्तव्यसंभवे वाचः क्रमवृत्तेराद्यस्य लक्षणप्रति-
१० पादनार्थमिदमुच्यते—

## आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अप्रियममनोज्ञं बाधाकारणत्वात् ।१। यदप्रियं वस्तु विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि तद्बाधाकारणत्वादमनोज्ञमित्युच्यते ।

भृशमर्थान्तरचिन्तनादाहरणं समन्वाहारः ।२। अर्थान्तरचिन्तनादाधिक्येनाहरणमेकत्रा-
१५ वरोधः समन्वाहारः । स्मृतेः समन्वाहारः स्मृतिसमन्वाहारः । अमनोज्ञस्योपनिपाते स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः आर्तमित्याख्यायते ।

आह–किमिदमनभिमतचेतनाऽचेतनद्रव्यपर्यायसम्प्रयोगहेतुकमेवार्थं निर्ध्रियते ? न; किं तर्हि ? अन्यथाप्येतत् प्रत्येतव्यमित्युच्यते—

## विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

२० प्रागुक्तनिमित्तविपर्ययाद्विपरीतम् ।१। प्रागुक्तं यन्निमित्तं ततो विपर्ययाद्विपरीतमित्यभिधीयते । तद्यथा मनोज्ञस्य विषयस्य विप्रयोगे संप्रयुयुक्षां प्रति या परिध्यातिः स्मृतिसमन्वाहारशब्दचोदिता असावप्यार्तं ध्यानमिति निश्चीयते ।

यथा च प्रियसमवाये तदभावादाहितकालुष्यस्यार्तं प्रतिज्ञायते तथा ज्वरादिसन्तापाभ्याहतमूर्तेः–

## वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

२५ प्रकरणाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययः ।१। यद्यपि वेदनाशब्दः सुखदुःखानुभवनविषयसामान्यस्तथापि आर्त्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययो भवति । तत्प्रतिचिकीर्षा प्रत्यागूर्णस्यानवस्थितमनसो धैर्योपरमात् स्मृतिसमन्वाहार आर्त्तध्यानमवगन्तव्यम् ।

अङ्गविक्षेपशोकाक्रन्दनाश्रुपाताभिव्यक्तं तृतीयम् ।२। यथा अनिष्टसंप्रयोगेष्टविप्रयोगाऽशुभवेदनासमवायनिबन्धनमार्त्तं तथा चेदमपि प्रीतिविशेषाभिष्वङ्गमन्थरकामातुरमतेः पौन-
३० र्भविकविषयसुखरसगृद्धस्य तत्संस्कारपरायणस्य कायादिखेदहेतुकम् ।

## निदानं च ॥ ३३ ॥

'विपरीतं मनोज्ञस्य' इत्येव सिद्धमिति[2] चेत्; न; अप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य ।१। स्यादेतत्–विपरीतं मनोज्ञस्येत्यनेनैव निदानं संगृहीतमिति; तन्न; किं कारणम् ? अप्राप्तपूर्वविषयत्वा-

---

१ बाधाकर–ज०, श्र० । २ –मिति चेदप्रा–ता० ।

न्निदानस्य । सुखमात्रया प्रलम्भितस्याप्राप्तपूर्वप्रार्थनाभिमुख्यादनागतार्थप्राप्तिनिबन्धनं निदानमित्यस्ति विशेषः ।

तदेतच्चतुर्विधमार्तं कृष्णनीलकापोतलेश्याबलाधानम् अज्ञानप्रभवं पौरुषेयपरिणामसमुत्थं पापप्रयोगाधिष्ठानं परिभोगप्रसङ्गं नानासंकल्पासङ्गं धर्माश्रयपरित्यागिकषायाश्रयोपस्थानम् अनुपशमप्रवर्द्धनं प्रमादमूलमकुशलकर्मादानं कटुकविपाकासद्वेद्यं तिर्यग्भवगमनपर्यवसानम् ।

तदेतत् किं स्वामिकमिति चेत्? उच्यते—

## तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अविरताः असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः, [1]देशविरताः संयतासंयताः, प्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमादोपेताः क्रियानुष्ठायिनः ।

कदाचित् प्राच्यमार्तध्यानत्रयं प्रमत्तानाम्[2] ।१। निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित्प्रमत्तसंयतानां भवति ।

आह–व्याख्यातमाद्यमप्रशस्तं संज्ञादिभिः, अथ द्वितीयं किंस्वभावसंज्ञाप्रभवस्वामिकमिति ? अत उच्यते—

## हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

ध्यानोत्पत्तेर्हिंसादीनां निमित्तभावाद्धेतुनिर्देशः ।१। हिंसादीन्युक्तलक्षणानि, तानि रौद्रध्यानोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति हेतुनिर्देशो विज्ञायते ।

तेन स्मृतिसमन्वाहाराभिसम्बन्धः ।२। तेन हेतुनिर्देशेनानुवर्तमानः स्मृतिसमन्वाहारोऽभिसम्बध्यते–हिंसायाः स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि । अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं देशविरतस्य कथम् ?

देशविरतस्यापि हिंसाद्यावेशाद् वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च ।३। देशविरतस्यापि रौद्रध्यानं भवति । कुतः ? हिंसाद्यावेशात् वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद्भवितुमर्हति । तत्पुनर्नारकादीनामकारणं [3]सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् । अथ[4] कथमिदं रौद्रध्यानं संयतस्य न भवति ?

तदयुक्तम् ; संयते तदावेशे संयमप्रच्युतेः ।४। संयते रौद्रध्यानं न युज्यते । कुतः ? तदावेशे संयमप्रच्युतेः । यदा रौद्रध्यानाविशिष्टो(नाविष्टो)भवत्यात्मा न तदा संयमोऽत्रावतिष्ठते । तदेतच्चतुर्विधं रौद्रध्यानम् अतिकृष्णनीलकापोतलेश्याबलाधानं प्रमादाधिष्ठानं नरकगतिफलावसानम् । एवमुक्ताप्रशस्तध्यानपरिणत आत्मा तप्तायस्पिण्ड इवोदकं कर्मादत्ते ।

आह–परे मोक्षहेतू इति ये उपदिष्टे[5]ऽनिर्दिष्टसंज्ञाभेदस्वभावे, तयोस्तावदाद्यं किमभिधानप्रकारस्वभावविषयमिति ? अत्रोच्यते–तत्खलु सम्यग्ज्ञानवीजमुपशमोत्थमप्रमादसन्धितं मोह्[6]-प्रश्नं धर्मानुबन्धि सुखफलं त्रिविष्टपावसानम् ।

---

१ तेषामार्तं चतुर्विधमपि संभवति–श्र० टि० । २ तेषां प्रमत्तसंयतानां च निदानं च संभवति, सति निदाने सशल्यत्वेन व्रतित्वायोगात् । व्यवहारतो देशविरतस्य चतुर्विधमपि भवति, स्वल्पनिदानेन अणुव्रतित्वस्याविरोधात्–श्र० टि० । ३ अत्राप्यकारणत्वं भवतु इति चेत् अधिकृतसम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् सम्यग्दृष्टीनामेतद्ग्रहणम्–श्र० टि० । ४ तर्हि–श्र० टि० । ५–शनार्थनम–मु०, द०, ब० । ६ मोहकर्मेन्धन-मित्यर्थः–श्र० टि० ।

# आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

[1]विचितिर्विवेको विचारणा विचयः ।१। विचितिर्विचयो विवेको विचारणेत्यनर्थान्तरम् ।

तदपेक्षया आज्ञादीनां कर्मनिर्देशः ।२। तं विचयभावमपेक्ष्याज्ञादीनां कर्मनिर्देशः क्रियते । आज्ञा चापायश्च विपाकश्च संस्थानं च आज्ञापायविपाकसंस्थानानि, तेषां विचय आज्ञापायविपा-
५ कसंस्थानविचयः, तदर्थमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय ।

अधिकारात् स्मृतिसमन्वाहारसंबन्धः ।३। स्मृतिसमन्वाहार इत्यनुवर्तते, तेन प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–आज्ञाविचयाय स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि ।

तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः ।४। उपदेष्टुरभावात् मन्दबुद्धित्वात् कर्मोदयात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य 'इत्थमेवेदं नान्यथा वादिनो
१० जिनाः' इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः ।

आज्ञाप्रकाशनार्थो वा ।५। अथवा, सम्यग्दर्शनविशुद्धपरिणामस्य विदितस्वपरसमयपदार्थनिर्णयस्य सर्वज्ञप्रणीतानाहितसौक्ष्म्यान् अस्तिकायादीनर्थानवधार्य एवमेते इत्यन्यं प्रति पिपादयिषतः कथामार्गे श्रुतज्ञानसामर्थ्यात् स्वसिद्धान्ताविरोधेन हेतुनयप्रमाणविमर्दकर्मणा ग्रहणसहिष्णून्[2] कृत्वा प्रभापयतः तत्समर्थनार्थस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादा-
१५ ज्ञाविचय इत्युच्यते ।

सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः ।६। मिथ्यादर्शनपिहितचक्षुषाम् आचारविनयाप्रमादविधयः[3] संसारविवृद्धये भवत्यविद्याबाहुल्यात् अन्धवत् । तद्यथा जात्यन्धा बलवन्तोऽपि सत्पथात्प्रच्युताः कुशलमार्गादेशकेनाननुष्ठिताः नीचोन्नतशैलविषमोपलकठिनस्थाणु[4]निहितकण्टकाकुलाटवीदुर्गपतिताः परिस्पन्दवन्तोऽपि न [5]तत्त्वमार्गमनुसर्तुमर्हन्ति देशकाभावात् तथा सर्वज्ञप्रणी-
२० तमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः ।

[6]असन्मार्गापायसमाधानं वा ।७। अथवा, मिथ्यादर्शनाकुलितचेतोभिः प्रवादिभिः प्रणीतादुन्मार्गात् कथन्नाम इमे प्राणिनोऽपेयुः, अनायतनसेवापायो वा कथं स्यात् पापकरणवचनभावनाविनिवृत्तिर्वा कथमुपजायते इत्यपायार्पितचिन्तनमपायविचयः ।

२५ कर्मफलानुभवविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः ।८। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः । तद्यथा मिथ्यादर्शनैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणाख्यानां दशानां कर्मप्रकृतीनां प्रथमगुणस्थाने उदयो नोर्ध्वम् । अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां प्रथमद्वितीयगुणस्थानयोरुदयो नोर्ध्वम् । सम्यङ्मिथ्यात्वस्य सम्यङ्मिथ्यादृष्टौ उदयो नोर्ध्वं नाधः । अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभनरक-
३० देवायुर्नरकदेवगतिवैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गानुपूर्व्यचतुष्कदुर्भगानादेयायशस्कीर्तिसंज्ञानां सप्तदशानां कर्मप्रकृतीनामुदयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तेषु नोपरि । [7]चतुर्णामानुपूर्व्याणां सम्यङ्मिथ्यादृष्टावुदयो नास्ति शेषाणामस्ति । प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभतिर्यगायुस्तिर्यग्गत्युद्योतनीचैर्गोत्रसंज्ञानामष्टानां कर्मप्रकृतीनां विपाकः संयतासंयतान्तेषु नोपरि । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धि-

१ प्रमत्ताप्रमत्तसंयतस्य वि–मु०, ता०, श्र०, मू०, आ०, द०, ब०, ज० । भा० १ प्रतावेव नास्ति । २ पदार्थान् अस्तिकायादीनित्यर्थः–श्र० टि० । ३ गुणाः–श्र० टि० । ४–निचितक–ता०, श्र० ५ न च मा–मु०, द०, ब० ज० । न नीचोन्नतशैलमार्गं–मु० शुद्धिपत्रे । ६ असन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः अस–मु० । ७ उत्सर्गेण प्राप्तानपवादविधिमाह–श्र० टि० ।

नामिकानां तिसृणां कर्मप्रकृतीनां फलानुभवनमनुत्तरशरीरप्रमत्तसंयतेषु नोपरि। आहारशरीराहारशरीराङ्गोपाङ्गनाम्नोऽप्रमत्तसंयते उदयः नोर्ध्वं नाधः। वेदकसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतान्तेषु नोर्ध्वं नाप्यधः। अर्धनाराचसंहननकीलिकासंहननासंप्राप्तासृपाटिकासंहननाख्यानां तिसृणां प्रकृतीनामुदयोऽप्रमत्तसंयतान्तेषु नोपरि। हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यानां षण्णां कर्मप्रकृतीनामपूर्वकरणचरमसमयान्तेषु फलानुभवनं नोर्ध्वम्। त्रयाणां वेदानां त्रयाणां संज्वलनानां चोदयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायेषु। तत्र अनिवृत्तिबादरसाम्परायकालस्य शेषे[2] शेषे संख्येयान् भागान् गत्वोदयच्छेदः। लोभसंज्वलनस्य विपाकः सूक्ष्मसाम्परायचरमसमयान्तेषु नोपरि। वज्रनाराचसंहनननाराचसंहननयोरुदयः उपशान्तकषायान्तेषु नोर्ध्वम्। निद्राप्रचलयोरुदयः क्षीणकषायोपान्तसमयान्तेषु नोपरि। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां चोदयः क्षीणकषायचरमसमयान्तेषु नोपरि। अन्यतरवेदनीयौदारिकतैजसकार्मणशरीरसंस्थानषट्[3]कौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गवज्रवृषभनाराच संहननवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरनिर्माणनामिकानां त्रिंशत्प्रकृतीनामुदयः सयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम्। अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययशस्कीर्त्युच्चैर्गोत्रसंज्ञकानामेकादशानां प्रकृतीनामुदयः अयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम्। तीर्थकरनामोदयो[4] द्वयोः केवलिनोर्नोपरि नाप्यधः।

[5]अयथाकालविपाक उदीरणोदयः।६। तत्र मिथ्यादर्शनस्य उदीरणोदयो मिथ्यादृष्टौ उपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्य चरमावलीमुत्सृज्येतरत्र भवति। एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणसंज्ञिकानां नवानां प्रकृतीनामुदीरणोदयः मिथ्यादृष्टौ भवति नोर्ध्वम्। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामुदीरणोदयो मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्योर्नोपरि। सम्यङ्मिथ्यात्वस्योदीरणोदयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टौ नोपरि नाप्यधः। अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभनरकगतिदेवगतिवैक्रियिकशरीरवैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गदुर्भगानादेयायशस्कीर्तिसंज्ञका एकादशप्रकृतय असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तेषूदीर्यन्ते नोर्ध्वम्। नरकायुषो देवायुषश्च मरणकाले चरमावलिं मुक्त्वा असंयतसम्यग्दृष्टावुदीरणोदयो भवत्यधश्च नोर्ध्वम्। चतुर्णामानुपूर्व्याणां विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिषूदीरणोदयो नेतरत्र। प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभतिर्यगत्युद्योतनीचैर्गोत्राणां सप्तानां प्रकृतीनामुदीरणोदयः संयतासंयतान्तेषु नोपरि। तिर्यगायुषो मरणकाले चरमावलिं मुक्त्वा संयतासंयतान्तेषूदीरणोदयो नोर्ध्वम्। निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिसदसद्वेद्यानां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रमत्तसंयतान्तेषूदीरणोदयो नोपरिष्टात्। उत्तरशरीरवर्तिपूर्व[6]चरमावल्या सह उदीरणोदयो नास्ति। आहारशरीराहारशरीराङ्गोपाङ्गनाम्नोः प्रमत्तसंयते[7] उदीरणोदयो नोर्ध्वं नाप्यधः। मनुष्यायुष उदीरणोदयो मरणकाले चरमावलिं मुक्त्वा प्रमत्तसंयतान्तेषु सम्यङ्मिथ्यादृष्टिवर्जितेषूदीरणोदयो भवति नोपरि। वेदकसम्यक्त्वस्योदीरणोदयः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतान्तेषु भवति नोर्ध्वं नाप्यधः। अर्धनाराचकीलिकासंप्राप्तासृपाटिकासंहननानामुदीरणोदयः अप्रमत्तसंयतान्तेषु भवति नोर्ध्वम्। हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सानां षण्णां प्रकृतीनामपूर्वकरणचरमसमयान्तेषूदीरणोदयो भवति नोर्ध्वम्। त्रयाणां वेदानां त्रयाणां संज्वलनानां चोदीरणोदयोऽनिवृत्तिबादरसम्परायेषूपान्तेषु भवति नोर्ध्वम्। तस्मिंश्चानिवृत्तिकाले शेषे शेषे ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं संख्येयभागान् गत्वा उदीरणोदयोच्छेदः। लोभसंज्वलनस्योदीरणोदयः सूक्ष्मसाम्परायचरमावली-

---

१ आहारकशरीरनिर्वर्तनरहित–श्र० टि०। २ सप्तभागेषु प्रत्येकमेकैकभागे–श्र० टि०। ३ केवलिनां हुण्डसंस्थानरूपताप्यस्तीत्युपदेशः। हुण्डकसंस्थानोदयः कश्चन मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वमासाद्य दीक्षित्वा केवलज्ञानमवाप्नोतीति–श्र० टि०। ४ नामकर्मोदयः मु०, द०, ब०, ज०। ५ अथ प्रसङ्गागतमुदीरणोदयमप्याह–श्र० टि०। ६ आहारकशरीरवर्ति–श्र० टि०। ७ सातिशये–श्र० टि०।

वर्जितेषु पूर्वेषु नोपरि। वज्रनाराचसंहनननाराचसंहननयोरुपशान्तकषायान्तेषूदीरणोदयो नोपरिष्टात्। समयोत्तरचरमावलीवर्जितक्षीणकषायान्तेषु निद्राप्रचलयोरुदीरणोदयो नोपरि। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां च चरमावलीवर्जितक्षीणकषायान्तेषूदीरणोदयो नोर्ध्वम्। मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्मणशरीरषट्संस्थानौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गवज्रवृषभनाराचसंहननवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगसुस्वरदुःस्वरादेययशस्कीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रसंज्ञिकानामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां सयोगकेवलिचरमसमयान्तेषूदीरणोदयो नोपरि। तीर्थकरनाम्न उदीरणोदयः सयोगिकेवलिन्येव नोपरि नाप्यधः।

लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः ।१०। लोकसंस्थानं प्राग्वर्णितम्। तदवयवानां च द्वीपादीनां तत्स्वभावावधानं संस्थानविचयः।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् ।११। धर्म उत्तमक्षमादिदशविकल्पः, ततोऽनपेतं धर्म्यं ध्यानम्। उत्तमक्षमादिभावनावतः प्रवृत्तेः।

अनुप्रेक्षाणां धर्म्यध्यानजातीयत्वात्पृथगनुपदेश इति चेत्; न; ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात् ।१२। स्यादेतत्–अनुप्रेक्षा अपि धर्म्यध्यानेऽन्तर्भवन्तीति पृथगासामुपदेशोऽनर्थक इति; तन्न; किं कारणम्? ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात्। अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षाव्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधस्तदा धर्म्यध्यानम्।

[1]धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेत्; न; पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसङ्गात् ।१३। कश्चिदाह–धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्यैवेति; तन्न; किं कारणम्? पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसङ्गात्। असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयतानामपि धर्म्यध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात्। [2]यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत तर्हि; तेषां निवृत्तिः प्रसज्येत।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्चेति चेत्; न; शुक्लाभावप्रसङ्गात् ।१४। कश्चिदाह–उपशान्तक्षीणकषाययोश्च धर्म्यं ध्यानं भवति न पूर्वेषामेवेति; तन्न; किं कारणम्? शुक्लाभावप्रसङ्गात्। उपशान्तक्षीणकषाययोर्हि शुक्लध्यानमिष्यते तस्याभावः प्रसज्येत।

तदुभयं तत्रेति चेत्; न; पूर्वस्यानिष्टत्वात् ।१५। स्यादेतत्–उभयं धर्म्यं शुक्लं चोपशान्तक्षीणकषाययोरस्तीति? तन्न; किं कारणम्? पूर्वस्यानिष्टत्वात्। पूर्वं हि धर्म्यं ध्यानं श्रेण्योर्नेष्यते आर्षे, पूर्वेषु चेष्यते।

आह–यदि धर्म्यध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतान्तानां भवति, अथ शुक्लध्यानं कस्येति? अत्रोच्यते–तद्वक्ष्यमाणं चतुर्विकल्पम्, तत्र प्रथमयोर्विकल्पयोः [3]स्वामिनिर्देशः क्रियते–

## शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

पूर्वविद्विशेषणं श्रुतकेवलिनस्तदुभयप्रणिधानसामर्थ्यात् ।१। सकलश्रुतधरस्याद्यशुक्लध्यानद्वयप्रणिधानसामर्थ्यं नेतरस्येति प्रतिपत्त्यर्थं [4]पूर्वविद्विशेषणमुपादीयते।

चशब्दः पूर्वध्यानसमुच्चयार्थः ।२। चशब्दः क्रियते पूर्वस्य धर्म्यध्यानस्य समुच्चयार्थः। शुक्ले चाद्ये पूर्वविदो भवतः धर्म्यं चेति।

---

१ "आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्ममप्रमत्तसंयतस्य"–तत्त्वार्थाधि० सू० ९।३७। २ 'यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत' इति पाठो नास्ति ता०, मू०, श्र०, द०, ब०, ज०, भा० १, भा० २। ३ स्वामिनो नि–मु०, द०, ब०, ज०। ४ पूर्ववद्वि–मु०, द०, ब०, ज०, ता०।

विपयविवेकापरिज्ञानमिति चेत्; न; व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः ।३। स्यादेतत्–चशब्देन पूर्वस्य ध्यानस्य समुच्चये क्रियमाणे विपयविवेको न ज्ञायते इति; तन्न; किं कारणम्? व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः । श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्यध्यानं श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति व्याख्यास्यामः ।

आह–यद्याद्ये शुक्ले उपशान्तनिर्दग्धमोहयोर्नियमेन प्रतिज्ञायेते अवशिष्टे कस्य[1] भवत इति? अत्रोच्यते—

## परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

केवलिशब्दसामान्यनिर्देशात्तद्वतोरुभयोर्ग्रहणम् ।१। केवलीत्ययं शब्दः सामान्यविषयः, ततोऽचिन्त्यविभूतिविशेषकेवलज्ञानसाम्राज्यमनुभवतोरुभयोः सयोग्ययोगिकेवलिनोर्ग्रहणम्। परे शुक्लध्याने तयोर्भवतो न छद्मस्थस्येति ।

आह–अन्धकारमुष्ट्यभिघातसादृश्यादमुं शुक्लध्यानाधिष्ठातृप्रक्रियां प्रति न व्याप्रियामहे । कुतः? [2]तल्लक्षणविशेषनिर्देशानुपलम्भात् । उच्यते–स्यादेतदेवं यद्यमूनि तस्य परस्परविशिष्टानि पर्यायान्तराणि न स्युः[3]—

## पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

वक्ष्यमाणलक्षणापेक्षया सर्वेषामन्वर्थत्वम् ।१। वक्ष्यमाणलक्षणमपेक्ष्य सर्वेषामन्वर्थत्वमवसेयम् । यदिदमुपात्तचातुर्विध्यं शुक्लध्यानं तत्किमालम्बनमिति चेत्? उच्यते—

## त्र्येकयोगकाययोगाऽयोगानाम् ॥ ४० ॥

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ।१। अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थः "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [ ६।१ ] इत्यत्र ।

यथासंख्यं चतुर्णामभिसम्बधः ।२। चतुर्णां त्रियोगादीनामुक्तैश्चतुर्भिः शुक्लध्यानविकल्पैः सह यथासंख्यमभिसम्बन्धो भवति । त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम्, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कम्, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति ।

तत्राद्यस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

## एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

पूर्वविदारभ्यत्वादेकाश्रयसिद्धिः ।१। उभे अपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते इत्येकाश्रये इत्युच्यते ।

सवितर्कवीचार इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।२। वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ सह वितर्कवीचाराभ्यां वर्तते सवितर्कवीचारः ।

पूर्वत्वमेकस्यैवेति चेत्; नः उक्तत्वात् ।३। किमुक्तम्? तत्समीपवर्तिनस्तद्व्यपदेश इति । द्विवचनसामर्थ्यादुभयोर्ग्रहणम् ।

तत्र यथासंख्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते—

---

१ कस्यां श्रेण्यां कतमं ध्यानमिति–श्र० टि० । २ तल्लक्षणविशे–ता० । तल्लक्षणविशेषानुप–श्र० । ३ तर्हि–श्र० टि० ।

## अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

पूर्वयोर्यद् द्वितीयं तदवीचारं प्रत्येतव्यम्–अर्थात् आद्यं सवितर्कं सवीचारं च भवति, द्वितीयं सवितर्कमवीचारमिति ।

अथ वितर्कवीचारयोः क प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते—

५ ## वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः ।

यदि श्रुतज्ञाने वितर्कशब्दो वर्तते, जायसे तर्हि पुनरपि प्रष्टव्यः–अथ वीचारः किंलक्षणः इति ? अत्रोच्यते—

## वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

१० अर्थो ध्येयः द्रव्यं पर्यायो वा, व्यञ्जनं वचनम्, योगः कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणः, संक्रान्तिः परिवर्त्तनम् । द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति, पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः । एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः । काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति योगान्तरं च त्यक्त्वा[1] काययोगमिति योगसंक्रान्तिः, एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते । तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टचतुर्विधं शुक्लं धर्म्यं च पूर्वोदितगुप्त्यादिवहुप्रकारोपायं संसारविनिवृत्तये १५ मुनिर्ध्यातुमर्हति । तदारम्भे च परिकर्म भवति । यदोत्तमशरीरसंहननतया परीषहबाधासहनशक्तिमन्तमात्मानमवगच्छति तदा ध्यानयोगपरिचयायोपक्रमते । कथमिति चेत् ?

उच्यते–पर्वतगुहाकन्दरदरीद्रुमकोटरनदीपुलिनपितृवनजीर्णोद्यानशून्यागारादीनामन्यतमस्मिन्नवकाशे व्यालमृगपशुपक्षिमनुष्याणामगोचरे तत्रत्यैरागन्तुभिश्च जन्तुभिः परिवर्जिते नात्युष्णे नातिशीते नातिवाते वार्षातपवर्जिते समन्तात् वाह्यान्तःकरणविक्षेपकारणविरहिते भूमितले २० शुचावनुकूलस्पर्शे यथासुखमुपविष्टो वद्धपल्यङ्कासनः समृजुं प्रणिधाय शरीरयष्टिमस्तब्धां स्वाङ्के वामपाणितलस्योपरि दक्षिणपाणितलमुत्तानं[2] समुपादाय नात्युन्मीलन्नातिनिमीलन् दन्तैर्दन्ताग्राणि संदधानः ईषदुन्नतमुखः प्रगुणमध्योऽस्तब्धमूर्तिः प्रणिधानगम्भीरशिरोधरः प्रसन्नवक्त्रवर्णः अनिमिषस्थिरसौम्यदृष्टिः विनिहितनिद्रालस्यकामरागरत्यरतिशोकहास्यभयद्वेषविचिकित्सः मन्दमन्दप्राणापानप्रचार इत्येवमादिकृतपरिकर्मा साधुः, नाभेरूर्ध्वं हृदये मस्तकेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं २५ प्रणिधाय मुमुक्षुः प्रशस्तध्यानं ध्यायेत् । तत्रैकाग्रमना उपशान्तरागद्वेषमोहो नैपुण्यान्निगृहीतशरीरक्रियो मन्दोच्छ्वासनिःश्वासः सुनिश्चिताभिनिवेषः क्षमावान् वाह्याभ्यन्तरान् द्रव्यपर्यायान् ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः अर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता मनसाऽपर्याप्तवालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशामयन् क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति । पुनर्वीर्यविशेषहानेर्योगाद्योगान्तरं व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरमर्थादर्थान्तर- ३० माश्रयन् ध्यानविधूतमोहरजाः ध्यानयोगान्निवर्तते इति । उक्तं पृथक्त्ववितर्कवीचारम् ।

अनेनैव विधिना सतूलमूलं मोहनीयं निर्दिधिक्षन्ननन्तगुणविशुद्धं योगविशेषमाश्रित्य वहुतराणां ज्ञानावरणसहायिभूतानां[3] प्रकृतीनां वन्धं निरुन्धन् स्थितेः ह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगवान्निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः अविचलितमना क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इति ? उक्तमेकत्ववितर्कम् ।

१ त्यक्त्वाऽन्ययो–मु०, द०, ब०, । २ समुपदाय–ता०, श्र० । ३ मोहनीयानामित्यर्थः–श्र० टि ।

एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनः[1] प्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलः मेघपञ्जरनिरोधनिर्गत इव घर्मरश्मिर्वाभास्यमानो भगवांस्तीर्थकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायुःपूर्वकोटिं देशोनां विहरति। स यदा अन्तमुहूर्त्तशेषायुष्कः तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्ववाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हति। यदा पुनरन्तर्मुहूर्त्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिविशेषकर्मत्रयो भवति योगी तदा आत्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्य शेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्यात् दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिविशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायति।

तदस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते। समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते। तस्मिन् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशातनसामर्थ्योपपत्तेरयोगिनः केवलिनः संपूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते। स पुनरयोगिकेवली भगवांस्तदा ध्यानानलनिर्दग्धसर्वमलकलङ्कबन्धो निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनकवल्लब्धात्मा परिनिर्वाति। तदेतद् द्विविधं तपः अभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात् संवरणकारणं प्राक्तनकर्मरजोविधूननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि।

अत्राह–उक्तं परीषहजयात्तपसश्च कर्मनिर्जरा भवतीति, तत्रेदं न ज्ञायते सर्वे सम्यग्दृष्टयः समनिर्जराः आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति? अस्तीत्याह—

## सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥

प्रथमसम्यक्त्वादिप्रतिलम्भे अध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षादसंख्येयगुणनिर्जरात्वं दशानाम्। मद्यपानाविष्टस्य मदैकदेशविगमादव्यक्तावगमशक्तिवत्, प्रकृष्टनिद्रस्य वा तदेकदेशक्षयादल्पस्मृतिजन्मवत्, विषमोहितमूर्तेर्वा एकदेशविषप्रच्युतेश्चेतनाप्रतिलम्भवत्, पित्तादिविकारोपजातमूर्च्छस्य वा मोहैकदेशनिवृत्तेरव्यक्तचैतन्यवत् एकेन्द्रियेष्वनन्तकायादिषु अनन्तकालमुत्पद्योत्पद्य परिभ्रमतः विशेषलब्ध्या द्वीन्द्रियादिजन्म यावत्पञ्चेन्द्रिय इति कदाचित्पुनः प्रतिनिवर्तते। तदेवं बहुकृत्वो निवर्तनारोहणबहुशतसहस्रेषु कदाचित् पञ्चेन्द्रियत्वं नरकादिषु दीर्घकालमनुभूय घुणोत्कीर्णाक्षरसमानजातीयमानवेषु जन्मावाप्नुयात्। भ्रान्त्वा पुनरपि ततो दुर्लभानि देशकुलादीन्यवाप्य संक्लेशस्य प्रदिम्ना विशुद्धव्यवसायः प्रतिभाशक्तियुक्तः भव्यः परिणामशुद्ध्या प्रक्षालितान्तरात्माप्युपदेशासंभवात् सन्मार्गमलभमानः कुतीर्थप्रतिपादितमिथ्यादर्शनो भूत्वा पुनरपि संसारमहाजनपदातिथिर्भवति। अभिहितक्रमेणैव भूयो ज्ञानावरणकर्मैकदेशप्रशमोपजातविशुद्धिरूपदेशलब्धिसम्पन्नः अथवा मौनीन्द्रं दर्शनं कदाचिच्छृणुयात् प्रतिबन्धिनश्च कर्मणः न्यग्भावात् श्रद्दध्यात् कतकसम्पर्कोपजनितकलुषतोयप्रसादवत् असद्भूतार्थोपदेशमलीमसः मिथ्यात्वोपशमात् परिणतप्रसादः श्रद्धानाभिमुखोऽभिलाषाभि[3]मुख्यादसंख्येयगुणनिर्जरः अभूतपूर्वकरणात् प्रथमसम्यक्त्वाभिमुखो रुचितजिनवचन उपशमसम्यग्दृष्टित्वमनुभवति। ततः सम्यक्त्वभावना-

१–बन्धनो अ०, ता० । २ प्रगलितप्र–मु०, द०, ब०, ज० । ३ तत्त्वार्थ–अ० टि० ।

मृतरसविवर्द्धितविशुद्धिः मिथ्यात्वविघातिवीर्याविर्भावे क्षुद्यमानव्रीहितुपकणतन्दुलविवेकवत्, मिथ्यादर्शनकर्म मिथ्यात्वसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वविभागेन त्रिधा विभज्य सम्यक्त्वं वेदयमानः सद्भूतपदार्थश्रद्धानफलं वेदकसम्यग्दृष्टिर्भवति। ततः प्रशमसंवेगादिमान् जिनेन्द्रभक्तिप्रवर्द्धित-विपुलभावनाविशेषसंभारो यत्र केवलिनः सन्ति भगवन्तस्तत्र मोहं क्षपयितुमारभते; निष्ठापकः
५ पुनश्चतसृषु गतिषु भवति। स निराकृतमिथ्यात्वः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। अथवा पूर्वोदित एव शङ्कादिदोषविनिर्मुक्तः कुसमयैरक्षोभितमतिः उपलब्धसद्भावो मोहतिमिरपटलवि-प्रमुक्तदृष्टिः जैनेन्द्रपूजाप्रवचनवात्सल्यसंयमादिप्रशंसादिपरतया क्षपितोपशमितदेशघातिकर्मा संयमासंयमप्राप्त्या श्रावकोऽपि स्यात्। पूर्वनिर्दिष्टः ततो विशुद्धिप्रकर्षात् पुनरपि सर्वगृहस्थसङ्ग-विप्रमुक्तो निर्ग्रन्थतामनुभवन् विरत इत्यभिलप्यते। एवमुत्तरोत्तरक्रमो वेदितव्योऽन्वर्थः। त एते
१० दशाप्युपर्युपरि असंख्येयगुणनिर्जरा वेदितव्याः।

क्षपक इत्यसाधुरन्वाख्यानाभावादिति चेत्; न; चशब्देन मित्संज्ञोपलब्धेः।१। स्यान्मतम्–क्षपक इत्ययमसाधुः। कुतः? अन्वाख्यानाभावादिति[3][4]; तन्न; किं कारणम्? चशब्देन मित्संज्ञोपलब्धेः। क्षै जै पै क्षय इत्यस्य कृतात्वस्य "णिचियुक्तिजविजृष्टुसुरजोमताश्च" [ ] इति चशब्देन मित्संज्ञायां सत्यां ह्रस्वत्वात् साधुर्भवति। प्रयुक्तानामन्वाख्यानात् प्रयोगदर्शनाच्च।
१५ आह–सम्यग्दर्शनसन्निधानेऽपि यद्यसंख्येयगुणनिर्जरात्वात् परस्परतो न साम्यमेषां हन्त तर्हि श्रावकवदमी पूर्वसूत्रचोदिता न सर्वे विरतादयो गुणभेदात् निर्ग्रन्थतामर्हन्तीति? उच्यते–नैतदेवम्। कुतः? यस्माद् गुणभेदादन्योन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात् सर्वेऽपि भवन्ति–

## पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः।१। उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्
२० कदाचित् परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तः अविशुद्धपुलाकसादृश्यात्[5] पुलाकव्यपदेशमर्हन्ति।

अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा वकुशाः।२। नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिताः अविविक्तपरि-वाराः छेदशबलयुक्ताः वकुशाः। शबलपर्यायवाची वकुशशब्दः।

कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्।३। कुशीला द्विविधा भवन्ति। कुतः?
२५ प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथञ्चिदुत्तरगुणविराधिनः प्रति-सेवनाकुशीलाः। ग्रीष्मे जङ्घाप्रक्षालनादि[7]सेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्रत्वात् कषायकुशीलाः।

उदके दण्डराजिवत्सन्निरस्तकर्माणोऽन्तर्मुहूर्तकेवलज्ञानदर्शनप्रापिणो निर्ग्रन्थाः।४। उदके दण्डराजिर्यथा आश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादुद्भिद्यमान-
३० केवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः

प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनः स्नातकाः।५। ज्ञानावरणादिघातिकर्मक्षयादाविर्भूतकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतयः सयोगिशैलेशिनो लब्धास्पदाः[8] केवलिनः स्नातकाः। "स्नातवेदसमाप्तौ" [ ] इति स्वार्थिके के निष्पन्नः शब्दः। त एते पञ्चनिर्ग्रन्थाः। कश्चिदाह—

---

१ बद्धायुष्कापेक्षया–श्र० टि०। २ वेदकसम्यग्दृष्टिः–श्र० टि०। ३ लक्षणानुसारेण–श्र० टि०। ४ पुटाच्–इत्यादि सूत्रे चि धातोरपरे पठितत्वात् ह्रस्वाभावः तस्मात् क्षापक इति प्राप्नोति, क्षपक इति अपगतलक्षण इत्याह चोदकः–श्र० टि०। ५ तृणधान्यविशेषः–श्र० टि०। ६–सायाजुव–ता०, श्र०। ७ मस्तकप्रक्षालन–मु० टि०। ८ कृतकृत्या इत्यर्थः, प्रतिष्ठाकृत्यमास्पदमित्यभिधानात्–श्र० टि०।

**प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यानां निर्ग्रन्थाभावश्चारित्रभेदाद् गृहस्थवत्** ।६। यथा गृहस्थश्चारित्रभेदान्निर्ग्रन्थव्यपदेशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यमचारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते ।

**न वा, दृष्टत्वात् ब्राह्मणशब्दवत्** ।७। न वैष दोषः । कुतः ? दृष्टत्वात् ब्राह्मणशब्दवत् । यथा जात्या चारित्राध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दोऽविशिष्टो वर्त्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोऽपि इति । किञ्च,

**संग्रहव्यवहारापेक्षत्वात्** ।८। यद्यपि निश्चयनयापेक्षया गुणहीनेषु न प्रवर्त्तते तथापि संग्रहव्यवहारनयविवक्षावशात् सकलविशेषसंग्रहो भवति । किञ्च,

**दृष्टिरूपसामान्यात्** ।९। सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः ।

**भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; रूपाभावात्** ।१०। यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रन्थशब्दो वर्त्तते श्रावकेऽपि स्यादिति अतिप्रसङ्गः; नैष दोषः; कुतः ? रूपाभावात्, निर्ग्रन्थरूपाभावात् । निर्ग्रन्थरूपमत्र नः प्रमाणम् । न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसङ्गः ।

**अन्यस्मिन् सरूपे[1]ऽतिप्रसङ्ग इति चेत्, न; दृष्ट्यभावात्** ।११। स्यादेतत्–यदि रूपं प्रमाणमन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्ट्यभावात् । दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः न रूपमात्र इति । अथ किमर्थः पुलाकादिव्यपदेशः ?

**गुणप्रकर्षवृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेशः** ।१२। चारित्रगुणस्योत्तरोत्तरप्रकर्षे वृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेशः क्रियते ।

तेषां पुलाकादीनां भूयो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

## संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

**तसोऽलक्षणत्वादनिर्देश इति चेत्; न; अन्यतोऽपीति वचनात्सिद्धेः** ।१। स्यादेतत्–तसो नोत्पत्तेर्लक्षणमस्ति । ततो निर्देशो न युक्त इति; तन्न; किं कारणम् ? "अन्यतोऽपि" [ ] इति वचनात्सिद्धेः ।

**भवदादि[2]योग इति चेत्; न; अन्यत्रापि दर्शनात्** ।२। स्यान्मतम्–भवदादियोगे "अन्यतोऽपि" [ ] इति लक्षणं व्याक्रियते, नान्यत्रेति तसो नोत्पत्तिरिति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यत्रापि दर्शनात् । अन्यत्र तसः प्रयोगो दृश्यते–नार्थतो न शब्दतो नाभिधानतः सु[3]मध्यम इति ।

**प्रतिसेवनेति षत्वाभावः क्रियान्तराभिसंबन्धात्** ।३। यथा विगताः सेवका अस्माद् ग्रामाद्विसेवको ग्राम इति षत्वं न भवति तथा प्रतिगता सेवना प्रतिसेवनेति क्रियान्तराभिसंबन्धात् षत्वं न भवति ।

**पुलाकादयः संयमादिभिः साध्याः** ।४। एते पुलाकादयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषाः संयमादिभिरष्टाभिरनुयोगैः साध्या व्याख्येया इत्यर्थः । तद्यथा, कः कस्मिन् संयमे भवति ? पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवन्ति । कषायकुशीला द्वयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययोः पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातकाः एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे ।

---

१–पे सति प्र–ता० । –पे प्र–श्र० । २ आद्यादिभ्य इति संभवद्भिनसप्तम्यन्तेभ्यः तस् भवति–श्र० टि० । ३ सम–मु०, द०, ज० ।

श्रुतम्–पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतम् आचारवस्तु। वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतम् अष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातका अपगतश्रुता केवलिनः।

प्रतिसेवना–पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतमं
५ प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। वकुशो द्विविधः–उपकरणवकुशः शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तः बहुविशेषयुक्तोपकरणकाङ्क्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणवकुशो भवति। शरीरसंस्कारसेवी शरीरवकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तरगुणेषु काञ्चिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति।

तीर्थमिति सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु भवन्ति।

१० लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च। भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्थलिङ्गिनो भवन्तीति। द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य[1] भाज्याः।

लेश्याः–पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र(श्च चतस्र)[2] उत्तराः। सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अयोगशैले प्रतिपन्ना अलेश्याः।

१५ उपपादः–पुलाकस्य उत्कृष्ट उपपादः उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे, वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयोः, कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रायस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्वे सागरोपमस्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।

स्थानम्–असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि
२० लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः, तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानीष्टस्थानानि गच्छति एकाकी। ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशाः युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो वकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयानि
२५ स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीत्येतेषां संयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

१ आश्रित्य–श्र० टि०। २–श्च तिस्र मू०, ता०, श्र०। "कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तराः"–सर्वार्थसि० ९।४७।

# अथ दशमोऽध्यायः

आह–आस्रवदोषानवलिप्तत्वं परिस्पन्दवतोऽपि कुशलस्य कर्मागमद्वारसंवरणादित्युपपादितः संवरपदार्थः, तदनन्तरनिर्देशभाविनी निर्जराऽभिधीयतामिति ? अत्र ब्रूमः–नासाविह पुनर्वक्तव्या। कुतः ? तपोऽनुभवसंबन्धेन[1] यस्मात्पुरैव[2] व्याख्याता। यथानामोपभुक्तविचित्रफलकर्मनिवृत्तिर्निर्जरा। तत्रानवसरप्राप्तेति[3] चेत्; न; अर्थवशाच्छास्त्रगरीयस्त्वपरिहारार्थत्वाच्च[4]। संवरानन्तरनिर्देशार्हेति[5] चेत्; तथैवाभिहिता "तपसा निर्जरा च" [ ९।३ ] इति। अत एव गुप्त्याद्यवसानम्, इतरथा हि उभयहेतुत्वविपर्ययेण यत्र क्वचनाभिधानं स्यात्।

आह–प्रक्लृप्ता निर्जरा, मोक्षोऽभिधातव्यः। स चानुपसम्प्राप्तकेवलज्ञानावस्थस्य नोपपद्यते इति अतः केवलज्ञानमेव तावद्यथा भवति तथोपदेष्टव्यमिति ? उच्यते; नैतदपि भूयो निर्देशार्हं वेदितव्यम्। कुतः ? यस्माद्ध्यानप्रकरणे व्याख्यातम्—

## मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥ इति।

अथवा, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [ १।१ ] इत्युपक्षिप्य लक्षणोत्पत्तिविषयनिबन्धनादिभिर्विशेषैर्दर्शनचारित्रे समर्थिते, ज्ञानं च प्रमाणस्वभावं पञ्चविधमभ्युपेत्य तत्र चतुष्टयस्य लक्षणोत्पत्तिहेतुविषयनिबन्धाः प्रक्रान्ताः, अतः परमिदं वक्तव्यम्–एवमुत्पद्यते केवलमिति ? अत्र ब्रूमः–न वक्तव्यं पुनः, यस्मात् पुरस्तदेव व्याख्यातम्, संवरनिरुपादानीकृतसन्ततिचारित्रध्यानाग्निप्रज्वलितेन्धनमोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। किम् ? उत्पद्यत इत्युपदिष्टमिति[6] वाक्यशेषः।

वृत्तिप्रसङ्गो लघ्वर्थमिति चेत्; न; क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्–इह वृत्त्या निर्देशः कर्तव्यः मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलमिति। किमर्थः ? लघ्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम् ? क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात्। प्रागेव मोहक्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपद् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति।

तत्क्षयहेतुः केवलोत्पत्तिरिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः ।२। तत्क्षयः केवलज्ञानोत्पत्तेर्हेतुरिति कृत्वा तदभिसंबन्धावद्योतिकया हेतुलक्षणया विभक्त्या निर्देशः क्रियते।

तत्क्षयः[7] प्रणिधानविशेषात् ।३। तेषां मोहादीनां क्षयो भवति। कुतः ? प्रणिधानविशेषात्, परिणामविशेषादिति यावत्। तद्यथा–पूर्वाहितेन[8] विधिना परमतपोविशेषैः प्रशस्ताध्यवसायप्रकर्षात् विशुद्ध्यतः[9] शुभाभिमताः प्रकृतयः स्फीतीभवन्ति, अप्रशस्ताश्च तनूभूय विलीयन्ते। तत्र कश्चिद्वेदकसम्यग्दृष्टिरप्रमत्तगुणस्थाने सप्तप्रकृत्युपशमात् श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहमुपशमयितुमारभते। अपरः असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतगुणस्थानेषु[10] कस्मिंश्चित्

---

१ तपःसम्बन्धेन अनुभवसम्बन्धेन चेत्यर्थः। अनुभवसम्बन्धेन–ध्र० टि०। २ तपसा निर्जरा चेत्यत्र विपाकोऽनुभवः स यथानाम ततश्च निर्जरेत्यत्र च व्याख्याता–ध्र० टि०। ३ तत्रानुभवः संप्राप्त इति मु०, द०, ब०। तत्रा नुभवं संप्राप्त इति–ज०। ४ प्रयोजन–ध्र० टि०। ५ यत एव संवरानन्तरं निर्देशार्हं तस्मादेव गुप्त्यादिसूत्रावसाने व्याख्याता सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः तपसा निर्जरा चेति वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिरिति सूत्रव्याख्यानावसरे द्रष्टव्यम्–ध्र० टि०। ६ ध्यानप्रकरणे–ध्र० टि०। ७ 'सम्यग्दृष्टिश्रावक' इत्यादिसूत्रस्य व्याख्यानावसरे दुर्लभपरम्पराविधानेन–ध्र० टि०। ८ अनुक्रमेण–ध्र० टि०। ९ पुंसः–ध्र० टि०। १० गुणस्थाने–ध्र० टि०।

सप्तकर्मप्रकृतीः क्षयमुपनीय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा चारित्रमोहमुपशमयितुमुपक्रमते । ततोऽथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च कृत्वा उपशमकश्रेणिमारुह्यापूर्वकरणोपशमकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूय तत्राभिनवशुभाभिसन्धितनूकृतपापकर्मप्रकृतिस्थित्यनुभागः विवर्द्धितशुभकर्मानुभवः अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकगुणस्थानमधिरुह्य नपुंसकवेदस्त्रीवेदनोकषायषट्कपुंवेदाप्रत्याख्यानक्रोधद्वयमायाद्वयलोभद्वयक्रोधमानसंज्वलनसंज्ञिकाः प्रकृतीः क्रमेणोपशमय्य ततः सूक्ष्मसाम्परायप्रथमसमये मायासंज्वलनमुपशमं नीत्वा लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायोपशमकाख्यामास्कन्द्य ततः उपशान्तकषायप्रथमसमये लोभसंज्वलने चोपशमं गते सर्वमोहप्रकृत्युपशमात् उपशान्तकषायव्यपदेशभाग्भवति । आयुषः क्षयात् म्रियते । अथवा पुनरपि कषायानुदीरयन् प्रतिनिवर्त्तते । स एव वाऽन्यो वा विशुद्धाध्यवसायानुपरतोत्साहः पूर्ववत् क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा कर्मविशुद्ध्या महत्या विशुद्ध्यन् क्षपकश्रेणीमनुप्रपद्य[2] तैरेव करणैस्त्रिभिः पूर्ववदपूर्वकरणक्षपकतामाश्लिष्य तत ऊर्ध्वं कषायाष्टकं नष्टं कृत्वा नपुंसकवेदं नाशमापाद्य स्त्रीवेदमुन्मूल्य नोकषायषट्कं [3]पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने मानसंज्वलनं मायासंज्वलने मायासंज्वलनं च लोभसंज्वलने क्रमेण क्रमेण बादरकृष्टिविभागेन विलयमुपनीय अनिवृत्तिबादरसाम्परायक्षपकभावमवाप्य लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायक्षपकमनुभूय निरवशेषं मोहनीयं निर्मूलकाषं कषित्वा क्षीणकषायतामधिरुह्य अवतारितमोहनीयभारः उपान्तिमे समये निद्राप्रचले प्रलयमुपनीय पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां [5]चान्तमन्ते समुपगम्य तदनन्तरं ज्ञानदर्शनस्वभावं केवलपर्यायमप्रतर्क्यविभूतिविशेषं निःसपत्नमवाप्य निरुपलेपः कमलमिवामलः साक्षात्त्रिकालसर्वद्रव्यपर्यायस्वभावज्ञः सर्वत्राप्रतिहतदर्शनः अवाप्तनिरवशेषपुरुषार्थः जलधरनिरोधकालातीतस्वकिरणकलापसौम्यदर्शनस्तारकाधिपतिरिव ज्वलितमूर्तिः केवली भवति ।

आह–व्याख्यातं प्रतिबन्धविनिर्मुक्तसम्यक्त्वदर्शनानन्तवीर्यसमन्वितं केवलम्, तदात्मलाभश्च सकलकर्मोच्छेदहेतुरभ्युपगतः[6] । अथ किंलक्षणः कस्माच्च हेतोर्मोक्षो भवतीत्युभयमभिधीयतामिति ? अत्रोच्यते–तस्य खलु भगवतः केवलपर्यायलब्धात्मलाभस्य विग्रहवतः स्वप्रभावार्जितानन्तैश्वर्यभाजः पूर्वं दग्धकर्मचतुष्टयस्याऽप्रच्युतवेद्यनामगोत्रायुषश्च—

## बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां[7] कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः[8] ॥ २ ॥

मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः ।१। मिथ्यादर्शनादीनां पूर्वोक्तानां कर्मास्रवहेतूनां निरोधे[9] कारणाभावात् कार्याभाव इत्यभिनवकर्मादानाभावः ।

पूर्वोदितनिर्जराहेतुसन्निधाने चार्जितकर्मनिरासः ।२। पूर्वोदितानां निर्जराहेतूनां सन्निधानेऽर्जितस्य च कर्मणो निरासो भवति । ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः, ततो भवस्थितिहेतुसमीकृतशेषकर्मावस्थस्य युगपदात्यन्तिकः प्रत्येतव्यः [10]कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।

---

१ वेदकसम्यग्दृष्टिः उपशमश्रेण्यनारोहको वा क्षपकश्रेण्यारूढ इत्यर्थः–श्र० टि० । २ अभिमुखो भूत्वा–श्र० टि० । ३ पुंवेदरूपेण कृत्वेत्यर्थः–श्र० टि० । ४ स्थूलकर्षण–श्र० टि० । ५ चान्तसमये स–मु०, द०, ब०, ज०, ता०, श्र, । ६ अङ्गीकृतः–श्र० टि० । ७ मोक्षः–श्र० टि० । ८ 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इति नास्ति–ता०, श्र०, मू०, ज०, ब०, द०, भा० १, २ । केवलं मुद्रितप्रतावेव विद्यते । ९ विरोधिका–मु०, द०, ब०, ज० । १० ता०, श्र०, मू०, ज०, द० प्रतिषु अस्य पृथक् सूत्रत्वेनोल्लेखः ।

आद्यभावादन्ताभाव[1] इति चेत्; न; दृष्टत्वादन्त्यवीजवत् ।३। स्यान्मतम्–कर्मवन्धसन्तानस्याद्यभावादन्तेनाप्यस्य न भवितव्यम्, दृष्टविपरीतकल्पनायां प्रमाणाभावादिति; तन्न; किं कारणम्? दृष्टत्वादन्त्यवीजवत्। यथा वीजाङ्कुरसन्तानेऽनादौ प्रवर्त्तमाने अन्त्यवीजमग्निनोपहताङ्कुरशक्तिकमित्यन्तोऽस्य दृष्टस्तथा मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसाम्परायिकसन्ततावनादौ ध्यानानलनिर्दग्धे कर्मवीजे भवाङ्कुरोत्पादाभावान्मोक्ष इति दृष्टमिदमपह्नोतुमशक्यम्। उक्तं च—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥" [ ] इति[3]।

कृत्स्नस्य[4] कर्मत्वेन क्षयः कर्मक्षयः, सतो[5] द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन विनाशो नास्ति। कथं तर्हि? पर्यायेण, तस्योत्पत्तिमत्त्वाद्विनाशेन भवितव्यम्, तन्मुखेन द्रव्यमपि व्ययमुपयातीति व्यपदिश्यते। ततः पुद्गलद्रव्यस्य कारणवशात् कर्मत्वपर्यायमापन्नस्य तत्प्रत्यनीकहेतुसन्निधाने तत्पर्यायनिवृत्तौ तस्य क्षयः इत्युपदेशो भवतीति युक्तमेतत्–कृत्स्नकर्मक्षय इति।

भावसाधनो मोक्षशब्दो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः ।४। मोक्ष असने इत्यस्य मोक्षणं मोक्ष इति भावसाधनः शब्दो द्विविषयः मोक्तव्यमोचकापेक्षत्वात्। कुतः? विप्रयोगक्रियामात्रगतेः। कृत्स्नशब्देन कर्माष्टविधं सद्बन्धोदयोदीरणचतुर्विधव्यवस्थं परिगृहीतम्। तत्र बन्धोदयोदीरणानां क्षयविभागो गुणस्थानभेदेन निर्दिष्टः। सत्कर्मोच्छेदस्तु न प्रतिपादितः, स विव्रियते–

कर्माभावो द्विविधः–यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नरकतिर्यग्देवायुषामभावोऽयत्नसाध्यः असत्त्वात्। यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते–असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वाख्यप्रकृतिसप्तकविषतरुवनं शुभाध्यवसायनिशितपरशुपातेन निर्मूलं निच्छिद्यते। निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनरकगतितिर्यग्गत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योत-स्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञकानां षोडशानां कर्मप्रकृति पृतनासेनान्या युगपदनिवृत्तिबादरसाम्परायःस्वेन समाधिचक्रेण विजयमवाप्नोति। ततः परं कषायाष्टकं नष्टं करोति स एव युगपत्। नपुंसकवेदः स्त्रीवेदश्च क्रमेण तत्रैव क्षयमुपयाति, नोकषायषट्कं चैकेनैव प्रहारेण निपातयति। ततः पुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमायाः क्रमेण तत्रैवात्यन्तिकं ध्वंसनमास्कन्दन्ति। लोभसंज्वलनः सूक्ष्मसाम्परायान्ते यात्यन्तम्। निद्राप्रचले क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थस्योपान्तिमे समये प्रलयमुपव्रजतः। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां च तस्यैवान्तसमये प्रक्षयो भवति। अन्यतरवेदनीयदेवगत्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीर[8]संस्थानषडौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गषट्संहननपञ्चप्रशस्तवर्णपञ्चाऽप्रशस्तवर्णगन्धद्वय-पञ्चप्रशस्तरसपञ्चाऽप्रशस्तरसस्पर्शाष्टकदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेयायशस्कीर्तिनिर्माणनामनीचैर्गोत्राख्या द्वासप्ततिप्रकृतयः अयोगिकेवलिन उपान्त्यसमये विनाशमुपयान्ति। अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यत्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययश-

---

१ अन्तं नास्तीत्यर्थः–श्र० टि०। २ यथा अनादीनामपि धर्मादिद्रव्याणामाद्यन्तकल्पनायां प्रमाणस्याभावस्तथा अनाद्यनिधनतया अदृष्टस्य कर्मबन्ध......–श्र० टि०। ३ तुलना–त० भा० का० १०।७।८। ४ कृत्स्नस्य कर्मणो विप्रमोक्षो मोक्ष इत्युक्तं तर्हि नैवासतो जन्म सतो न नाश इति या प्रतिज्ञा सा हीयते इत्याशङ्कायामाह–श्र० टि०। ५ सतो द्रव्यत्वेन–ता०। ६ मिथ्यादर्शनादि०–श्र० टि०। ७ कर्मक्षये–श्र० टि०। ८–९ बन्धनपञ्चसंघातसंस्था–मु०, द०, ब०।

स्कीर्त्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रसंज्ञिकानां त्रयोदशानां प्रकृतीनामयोगिकेवलिनश्चरमसमये व्युच्छेदो भवति।

आह–किमासां पौद्गलिकीनामेव द्रव्यकर्मप्रकृतीनां निरासान्मोक्षोऽवसीयत उत भावकर्मणोऽपीति ? अत्रोच्यते—

## ५ औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

किम् ? मोक्ष इत्यनुवर्तते।

भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकाऽनिवृत्त्यर्थम् ।१। अन्येषां जीवत्वादीनां पारिणामिकानां मोक्षावस्थायामनिवृत्तिज्ञापनार्थं भव्यत्वग्रहणं क्रियते। तेन पारिणामिकेषु भव्यत्वस्य औपशमिकादीनां च भावानामभावान्मोक्षो भवतीत्यवगम्यते। ननु च द्रव्यनिरासेऽभिहिते तन्नि- १० मित्तानां भावानां निवृत्तिरर्थादवगम्यत इति नार्थोऽनेन योगेन ? नैष दोषः; नायमेकान्तः– "निमित्तापाये नैमित्तिकानां निवृत्तिः' इति। अपि च, अर्थादवगमेऽपि सिद्धे साक्षात्प्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–विस्पष्टार्थं वक्ष्यमाणसूत्रनिर्देशार्थम्।

आह–यद्यपवर्गो भावोपरतेः प्रतिज्ञायते, ननु चौपशमिकादिभावनिवृत्तिवत् सर्वक्षायिकनिवृत्तौ अव्यपदेशो मुक्तस्य प्राप्नोतीति; स्यादेतदेवं यदि विशेषो नोच्येत, अस्ति तु विशेष इति १५ अपवादविधानार्थमिदमुच्यते—

## अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

अन्यत्रशब्दो वर्जनार्थः ।१। अन्यत्रशब्दोऽयं वर्जनार्थो द्रष्टव्यः, तन्निमित्तः सिद्धत्वेभ्य इति विभक्तिनिर्देशः, यथा–"अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां सर्वे योद्धाः पराङ्मुखाः" [ ] इति।

अन्यशब्दप्रयोगे तद्विज्ञानमिति चेत्; न; स्वार्थिकत्वात् ।२। स्यान्मतम्–अन्यशब्दप्रयोगे २० कां विभक्तिर्विज्ञायते यथाऽन्यो देवदत्तादिति, अन्यत्र शब्दोऽयं तस्मान्निर्देशो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? स्वार्थिकत्वात्। स्वार्थिकोऽयं त्रः, केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यस्मिन्नयं विधिरिति।

अनन्तवीर्यादिनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अत्रैवान्तर्भावात् ।३। स्यादेतत्–सम्यक्त्वादीनां चतुर्णां क्षायिकाणां संग्रहादितरेषां निवृत्तिरनन्तवीर्यादीनां प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? २५ अत्रैवान्तर्भावात्। ज्ञानदर्शनाविनाभाविनो ह्यनन्तवीर्यादयः अत्रैवान्तर्भवन्ति। अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावात्, ज्ञानमयत्वाच्च सुखस्येति।

बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत्; न; मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः ।४। स्यादेतत्–यथा अश्वादीनामेकस्मिन् बन्ध उच्छिन्नेऽपि पुनर्बन्धान्तरसंभवादव्यवस्था तथा जीवस्यापि कस्मिंश्चिद् बन्धेऽपगतेऽपि बन्धान्तरप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे ३० कार्यकारणनिवृत्तेः। पुनर्बन्धहेत्वभावाद्बन्धाभावः।

---

१ द्रव्यकर्मभावकर्म–श्र० टि०। २ द्रव्य–श्र० टि०। ३ भाव। चक्रभ्रमणनिमित्तदण्डापाये न चक्रभ्रमणाभावः, कुलालचक्रचीवराद्यभावे वा न घटाभावः। अपि तर्हि भाव एव–श्र० टि०। ४ पञ्चमी विभक्तिरित्यर्थः।

**पुनर्बन्धप्रसङ्गो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्; न; सर्वास्रवपरिक्षयात्** ।५। स्यादेतत्–व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेषं जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते ततश्च बन्ध इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वास्रवपरिक्षयात्। भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति।

**अकस्मादिति चेत्; अनिर्मोक्षप्रसङ्गः** ।६। यदि कारणमन्तरेणैव मुक्तस्य बन्धः कल्प्यते ननु अनिर्मोक्षः स्यात्। मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमेव बन्धोपपत्तेः[1]।

**स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्; न; अनास्रवत्वात्** ।७। स्यादेतत्–स्थानव[2]त्त्वात् मुक्तस्य पातः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अनास्रवत्वात्। आस्रववतो हि यानपात्रस्याधःपतनं दृश्यते, न चास्रवो मुक्तस्यास्ति।

**गौरवाभावाच्च** ।८। गौरववतो हि तालफलस्य तत्प्रतिबद्धवृन्तसंयोगाभावे पतनं दृष्टं नागौरवस्याकाशप्रदेशस्य, न च गौरवमस्ति मुक्तस्येति पाताभावः। यस्य हि स्थानवत्त्वं पातकारणं तस्य सर्वेषां [3]पदार्थानां पातः स्यात् स्थानवत्त्वाविशेषात्।

**परस्परोपरोध इति चेत्; न; अवगाहनशक्तियोगात्** ।९। स्यान्मतम्–अल्पः सिद्धावगाह्य आकाशप्रदेश आधारः, आधेयाः सिद्धा अनन्ताः, ततः परस्परोपरोध[4] इति; तन्न; किं कारणम्? अवगाहनशक्तियोगात्। मूर्त्तिमत्स्वपि नामानेकमणिप्रदीपप्रकाशेषु अल्पेऽप्यवकाशे न विरोधः किमङ्ग पुनरमूर्तिषु अवगाहनशक्तियुक्तेषु मुक्तेषु?

**तत एव जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपातव्याबाधाविरहात् परमसुखिनः** ।१०। तत एव अमूर्त्तत्वाच्चेत्यर्थः। यस्य हि मूर्त्तिरस्ति तस्य तत्पूर्वकः प्रीतिपरितापसम्बन्धः स्यात्, न चामूर्तानां मुक्तानां जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपातव्याबाधाऽस्ति, अतो निर्व्याबाधत्वात् परमसुखिनस्ते।

**न तस्यास्त्युपमानम्, आकाशपरिमाणवत्** ।११। यथा परमाण्ववगाहक्षेत्रमारभ्य एकैकप्रदेशवृद्ध्या कल्प्यमानं सातिशयं क्षेत्रमाकाशपरिमाणं पुनरिदं[5]मिवेत्युपमार्थकल्पनाभावादनुपमानं तथा सुखशब्दार्थोऽपि प्रकर्षाप्रकर्षयोगात् संसारगतः [6]सान्तरः, मुक्तानां पुनः परमानन्तपरिमाणयोगान्निरतिशय इत्यनुपमानः।

**अनाकारत्वादभाव इति चेत्; न; अतीतानन्तरशरीराकारानुविधायित्वात्** ।१२। स्यादेतत्–मुक्तानां परित्यक्तमूर्त्तीनामाकाराभावादभावः [7]प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अतीतानन्तरशरीराकारानुविधायित्वात्।

**शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत्; न; कारणाभावात्** ।१३। स्यान्मतम्–यदि शरीरानुविधायी जीवः, तदभावात् स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति; तन्न; कुतः? कारणाभावात्, पुनर्विसर्पणकारणाभावान्न विसर्पति[8]।

**नामकर्मसंबन्धात् संहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत्** ।१४। यथा प्रदीपप्रकाशोऽवधृतपरिमाणः शरावमानिकापवरकादिद्रव्योपष्टम्भान्महानल्पश्च भवति तथा नामकर्मसंबन्धात् परिच्छिन्नपरिमाणोऽपि जीवः संहरति विसर्पति च, तदभावान्न संहारो विसर्पणं वा मुक्तजीवस्य।

---

१–त्तेः कस्मादिति चेत्? अनिर्मोक्षप्रसङ्गः भा० १। २–नवन्नु–ता०, श्र०, ज०। ३ स्थानवतां धर्मादीनाम्–श्र० टि०। ४ परस्परोपरोधे सति दुःखं जायते ततः क्रोधादिः, ततः पुनरपि बन्धः ततः दुःखसद्भावात् बन्धश्च प्राप्नोति–श्र० टि०। ५–रिदमेवे–मू०, मु०, ता०, ज०, द०, ब०। ६ सान्तः–मु०, द०, ब०, ज०। ७ अभावत्वे बन्धमोक्षाभावः–श्र० टि०। ८ विसर्पणत्वे सति नामकर्मसंबन्धादिसद्भावात् बन्धप्रसङ्गः–श्र० टि०।

मूर्त्तिमद्वैधर्म्यादिति चेत्; न; उभयलक्षणप्राप्तत्वात्[1] ।१५। स्यान्मतम्–मूर्त्तः प्रदीपप्रकाशः अमूर्त्तस्यात्मनः संहरणविसर्पणधर्मत्वे साध्ये दृष्टान्तो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? उभयलक्षणप्राप्तत्वात्। उपयोगस्वलक्षणापेक्षया अमूर्त्तः, बन्धपरिणामापेक्षया मूर्त्तः। उक्तं च–

५ "बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं
तम्हा अमुत्तिभावो णेयन्तो होदि जीवस्स ॥" [ ] इति[2]।

तस्मात्कथञ्चिन्मूर्त्तत्वोपपत्तेः साम्यमेव दृष्टान्तेन।

अनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; तावन्मात्रस्य निर्दिदिक्षितत्वाच्चन्द्रमुखीवत् ।१६। स्यादेतत्–संहरणविसर्पणधर्मत्वादेव प्रदीपप्रकाशवदनित्यत्वं प्राप्नोत्यात्मन इति; तन्न; किं कारणम्?
१० तावन्मात्रस्य निर्दिदिक्षितत्वात्। यथा चन्द्रमुखी कन्येति बहवश्चन्द्रे गुणाः, या चासौ प्रियदर्शनता सा गम्यते तथा प्रदीपप्रकाशेऽनित्यत्वादिषु बहुषु धर्मेषु सत्स्वपि सङ्कोचविकाससाधर्म्यमात्रं विवक्षितम्। सर्वसाधर्म्याच्च दृष्टान्ताभावप्रसङ्गः।

सर्वथाऽभावो मोक्षः प्रदीपवदिति चेत्; न; साध्यत्वात् ।१७। स्यादेतत्–यथा वर्तिस्नेहानलसन्निपाते प्रदीपोऽनुपरतवृत्त्या प्रवर्त्तमानस्तत्क्षये न काञ्चिद्दिशं विदिशं वा गच्छति तत्रैवा-
१५ त्यन्तविनाशमुपयाति तथा कारणवशात् स्कन्धप्रतिसन्तानरूपेण प्रवर्तमानः स्कन्धसमूहो[4] जीवव्यपदेशभाक् क्लेशक्षयान्न काञ्चिद्दिशं विदिशं वा गच्छति तत्रैवात्यन्तं प्रलयमेतीति; तन्न; किं कारणम्? साध्यत्वात्। साध्यमेतत्–प्रदीपो निरन्वयनाशमुपयातीति। प्रदीपा एव हि पुद्गलाः, पुद्गलजातिमजहतः परिणामवशान्मषीभावमापन्ना इति नात्यन्तविनाशः।

[5]दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ।१८। यथा निगलादिद्रव्यवियोगे
२० देवदत्तादीनामवस्थानं दृष्टं तथा बन्धविप्रमोक्षे आत्मना च स्थेयमिति दृष्टमिदमपह्नोतुमशक्यमिति नाभावः।

यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेत्; न; साध्यत्वात् ।१९। स्यादेतत्–यस्मिन्नेव देशे कर्मविप्रमोक्षस्तस्मिन्नेवावस्थानं प्राप्नोति पुनर्गतिकारणाभावादिति; तन्न; किं कारणम्? साध्यत्वात्। साध्यमेतत्तत्रैवावस्थातव्यमिति, बन्धनाभावादनाश्रितत्वाच्च स्याद्गमनमिति।

२५ आह–न तावदस्य बन्धाभावेऽधोगतिर्गौरवाभावात्, नापि तिर्यग्गतिर्योगाभावात्, तस्मात्प्राप्तमेतत्तत्रैवावस्थानम्, ततो लोकस्योपरि तदवस्थानकल्पनाव्यावृत्तिरिति; उच्यते–भवेदेतदेवं यद्यनभिमतदेशगतिनिमित्ताभाववत्तस्योर्ध्वगतिनिमित्तं न स्यात्। अस्ति च तत्। तस्मादेकसमयेन हि निरस्तकर्मभारः पुरुषः–

## तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

३० तद्वचनं प्रकृतनिर्देशार्थम् ।१। तदित्यनेन प्रकृतोऽर्थो निर्दिश्यते। कश्च प्रकृतः? कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः। तस्यानन्तरमूर्ध्वं गच्छति।

---

१–यलक्षणत्वात् भा० १। २ उद्धृतेयं गाथा–स० सि० २।७। ३ "दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥ दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिद् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"–सौन्दर० १६।२८–२९। ४ पञ्चेन्द्रियजनितपञ्चज्ञानरूपः–श्र० टि०। ५ दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति इत्यभिधानम्। तर्हि अस्माकं विनाशे दृष्टान्ते नास्ति भवतामपि सद्भावे दृष्टान्तो नास्तीत्याशङ्कायाम् अस्तीत्याह–श्र० टि०।

आङभिविध्यर्थः ।२। ईषदर्थादिषु दृष्टप्रयोगः आङिह विवक्षावशादभिविधौ वेदितव्यः। लोकस्यान्तो लोकान्त आलोकान्तादिति ।

आह-अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमिति ? अत्रोच्यते—

**पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥**

आह-हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमिति; उच्यते— ५

**आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबूवदेरण्डबीजवद-ग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥**

हेतुदृष्टान्तानां यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। पूर्वसूत्रे विहितानां हेतूनामत्रोक्तानां दृष्टान्तानां च यथासंख्यमभिसंबन्धो भवति । तद्यथा—

अपवर्गप्राप्तये बहुशः प्रणिधानादाविद्धकुलालचक्रवत् ।२। यथा कुलालप्रयोगापादितहस्त-दण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणमुपरतेऽपि तस्मिन् पूर्वप्रयोगादासंस्कारक्षयाद्भवति एवं भवस्थेनात्मना अपवर्गप्राप्तये बहुशो यत् प्रणिधानं तदभावेऽपि तदावेशपूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते । किञ्च, १०

असङ्गत्वान्मुक्तलेपालाबूद्रव्यवत् ।३। यथा मृत्तिकालेपजनितगौरवमलाबूद्रव्यं जलेऽधः पतति तदेव क्लेदविश्लिष्टमृत्तिकाबन्धनं लघु सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्मभाराक्रान्तवशीकृत आत्मा तदावेशवशात् संसारे नियमेन गच्छति, तत्सङ्गविप्रमुक्तौ तूपर्येव[1] याति । १५

अनियमप्रसङ्गो दण्डवदिति चेत्; न; ऊर्ध्वगौरवात् ।४। स्यादेतत्-यथा द्रव्यान्तरसंसक्तो दण्डोऽवस्थितस्तदभावेऽनियमेन पतति तथा कर्मसङ्गाभावेऽनियमेनात्मनोऽपि गमनं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? ऊर्ध्वगौरवात् । ऊर्ध्वगौरवपरिणामो हि जीव उत्पतत्येव । किञ्च,

बन्धच्छेदादेरण्डबीजवत् ।५। यथा बीजबन्धकोशादिच्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापकगतिजातिनामादिसकलकर्मबन्धच्छेदात् मुक्तस्य गतिरवसीयते । किञ्च, २०

तथागतिपरिणामाच्च अग्निशिखावत् ।६। यथा तिर्यक्पवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्माऽपि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे सति ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहति ।

असङ्गत्वबन्धच्छेदयोरर्थाविशेषादनुवादप्रसङ्ग इति चेत्; न; अर्थान्यत्वात् ।७। स्यादेतत्-असङ्गत्वबन्धच्छेदयोर्नास्त्यर्थविशेष इति पौनरुक्त्यं[2] प्राप्नोति, [3]बध्नातिरपि व्यतिषङ्गे वर्तत इति; तन्न किं कारणम् ? अर्थान्यत्वात् । अन्योन्यानुप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः, परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्ग इत्यस्त्यर्थविशेषः । तस्मात्क्रियाकारणधर्माधर्माभावेऽपि हेत्वन्तरान्मुक्तस्य गतिरभ्यनुज्ञायते । २५

नोदाहरणमलाबूर्मारुतावेशादिति चेत्; न; तिर्यग्गमनप्रसङ्गात् ।८। स्यादेतत्-अलाबूद्रव्यं मुक्तगमनसिद्धावुदाहरणं न भवति; कुतः ? मारुतावेशादिति; तन्न; किं कारणम् ? तिर्यग्गमनप्रसङ्गात् । यदि मारुतावेशात्तस्य गमनं स्यात्तिर्यक्पवनधर्मत्वान्मरुतस्तिर्यग्गमनमेव स्यान्नोर्ध्वम् । ३०

ऊर्ध्वगत्यभावे तदभावप्रसङ्गोऽग्नेरौष्ण्याभावेऽभाववदिति चेत्; न; गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्-यथौष्ण्यस्वभावत्वाग्नेरौष्ण्याभावेऽभावस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वे

---

१ ऊर्ध्वं गच्छत्येव-ता० टि० । २ द्वयोरप्यतमेन पर्याप्तत्वात्-प्र० टि० । ३ दहनात्-प्र० टि० । ४ पुण्य-पाप-प्र० टि० । ५ जीवस्य-प्र० टि० ।

तदभावे तस्याप्यभावः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात्। मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभावो नोर्ध्वगमनमेवेति ।

ऊर्ध्वज्वलनवद्वा ।१०। यथा ऊर्ध्वज्वलनस्वभावत्वेऽप्यग्नेर्वेगवद्द्रव्याभिघातात्तिर्यग्ज्वलनेऽपि नाऽग्नेर्विनाशो दृष्टस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वेऽपि तदभावे नाऽभाव इति ।

५ अत्राह–ऊर्ध्वज्वलनस्वभावस्याग्नेर्वेगवदभिघातात्तिर्यग्ज्वलने सति विरोधादूर्ध्वज्वलनाभावो युक्तः, मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वभावादूर्ध्वगत्युपरमोऽनुपपन्न इति; उच्यते लोकान्तान्नोर्ध्वगतिर्मुक्तस्य । कुतः ?

## धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः । तदभावे च लोका-
१० लोकविभागाभावः प्रसज्यते ।

किं पुनरमी परिनिर्वृत्ताः कार्मणशरीरोपशमकादिभावनिरुपाख्याः पर्यायान्तरेण शक्याः व्यपदेष्टुम् उतातीतव्यवहारा एव निर्धारयितव्या इति ? उच्यते–शक्याः । कथम् ? यस्मात्ते खलु–

## क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

१५ प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयापेक्षया क्षेत्रादिभिः साध्याः सिद्धाः ।१। एतैः क्षेत्रादिभिरल्पबहुत्वान्तैर्द्वादशभिरनुयोगद्वारैः प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयापेक्षया साध्याः चिन्त्या विकल्प्याः । के पुनस्ते ? सिद्धाः । तद्यथा क्षेत्रेण तावत् कस्मिन् क्षेत्रे सिद्ध्यन्ति ?

सिद्धिक्षेत्रे कर्मभूमिषु वा ।२। प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिनयार्पणेन सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे, आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतानुग्रहतन्त्रनयविवक्षायां जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं
२० प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः । ऋजुसूत्रनयः शब्दभेदाश्च त्रयः प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिणः, शेषा नया उभयभावविषयाः । कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः ?

एकसमये उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्वाऽविशेषे ।३। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्ध्यन् सिद्धो भवति । भूतभावप्रज्ञापननयार्पणया द्वेधा–जन्मनः(तः)संहरणतश्च । तत्र जन्मतः अविशेषेण उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिद्ध्यति । विशेषेणा अवसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्ते भागे दुःषमसुष-
२५ मायां च जातः सिद्ध्यति । दुःषमसुषमायां जातः दुःषमायां सिद्ध्यति न तु दुःषमायां जातः, [सः] अन्यदा नैव सिद्ध्यति । संहरणतः सर्वस्मिन् काले अवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यां च सिद्ध्यति । गत्या कस्यां गतौ सिद्धिः ?

सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ वाऽविशेषः ।४। प्रत्युत्पन्ननयाश्रयणेन सिद्धिगतौ सिद्ध्यति । भूतविषयनयापेक्षया द्विधा कल्पना–अनन्तरगतौ एकान्तरगतौ चेति । तत्रानन्तरगतौ मनुष्य-
३० गतौ सिद्ध्यति । एकान्तरगतौ चतसृषु गतिषु जातः सिद्ध्यति । लिङ्गेन–केन सिद्धिः ? लिङ्ग त्रिविधो वेदः ।

अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः ।५। वर्तमानविषयनयविवक्षायामवेदत्वेन सिद्धिर्भवति । अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्यं प्रति, द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिङ्गेनैव सिद्धिः । अपरः प्रकारः–लिङ्गं द्विविधम्–निर्ग्रन्थलिङ्गं

---

१ लोकाद्बहिर्गमनाभावे–श्र० टि० । २ लक्षणविरहात्–श्र० टि० । ३ ऊर्ध्वगमन–ता०, मू०, श्र०, आ० । ४ वायु–श्र० टि० । ५ धर्मास्तिकायस्याभावे–श्र० टि० ।

सग्रन्थलिङ्गं चेति। तत्र प्रत्युत्पन्नविषयनयादेशेन निर्ग्रन्थलिङ्गेन सिद्ध्यति। भूतविषयनयादेशेन तु भजनीयम्। तीर्थेन ?

तीर्थसिद्धिर्द्वेधा–तीर्थकरेतरविकल्पात् ।६। तीर्थसिद्धिर्द्वेधा भवति–तीर्थकरत्वेनेतरत्वेन च। सन्ति केचित्तीर्थकरसिद्धाः अपरेऽन्यथा सिद्धाः। ते द्वेधा सत्येव तीर्थकरे सिद्धाः, असति चेति। चारित्रेण केन सिद्ध्यति ?

अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः ।७। प्रत्युत्पन्नावलेहिनयवशान्न चारित्रेण नाप्यचारित्रेण व्यपदेशविरहितेन भावेन सिद्धिः। भूतपूर्वगतिर्द्विधा–अनन्तर-व्यवहित-भेदात्। आनन्तर्येण यथाख्यातचारित्रेण सिद्ध्यति, व्यवधानेन चतुर्भिः पञ्चभिर्वा। चतुर्भिस्तावत् सामायिकच्छेदोपस्थापनासूक्ष्मसाम्परायथाख्यातचारित्रैः। पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धिचारित्राधिकैः।

स्वशक्तिपरोपदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पः ।८। केचित्प्रत्येकबुद्धसिद्धाः[1], परोपदेशमनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशयाः। अपरे बोधितबुद्धसिद्धाः[2], परोपदेशपूर्वकज्ञान-प्रकर्षास्कन्दिनः। ज्ञानेन ?

एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः ।९। प्रत्युत्पन्नग्राहिनयनिरूपणया केवलज्ञानेनैकेन सिद्धिर्भवति। भूतपूर्वगत्या तु द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैर्भवति। द्वाभ्याम्–मतिश्रुतज्ञानाभ्याम्, त्रिभिर्मतिश्रुतावधिभिः मतिश्रुतमनःपर्ययैर्वा, चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययैः।

अवगाहनं द्विविधम्–उत्कृष्टजघन्यभेदात् ।१०। आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनं द्विविधम्–उत्कृष्टं जघन्यं चेति। तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि। जघन्यम् अर्द्धचतुर्थारत्नयः देशोनाः। मध्ये विकल्पाः। एतस्मिन्नवगाहे सिद्ध्यन्ति पूर्वभावप्रज्ञाननयापेक्षया। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापने तु एतस्मिन्नेव देशोने। किमन्तरं सिद्ध्यताम् ? अनन्तरं च सिद्ध्यन्ति सान्तरञ्च।

अनन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ ।११। आनन्तर्येण जघन्येन द्वौ समयौ सिद्ध्यन्ति उत्कर्षेणाष्टौ।

अन्तरं जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण षण्मासाः ।१२। सिद्ध्यतां सिद्धिविरहकालोऽन्तरम्। तत् जघन्येनैकसमयः, उत्कर्षेण षण्मासाः प्रत्येतव्याः।

जघन्येन एक उत्कर्षेण अष्टशतमिति संख्या ।१३। एकसमये कति सिद्ध्यन्ति ? जघन्येनैकः उत्कर्षेणाष्टशतमिति संख्या अवगन्तव्या।

क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्याविशेषः अल्पबहुत्वम् ।१४। क्षेत्रादिभिरेकादशभिरनुयोगद्वारैः भिन्नानां परस्परतः संख्याविशेषोऽल्पबहुत्वमित्युच्यते। तद्यथा–प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते–क्षेत्रसिद्धाः द्विधा–जन्मतः संहरणतश्च। तत्राल्पे संहरणसिद्धाः[3]। जन्मसिद्धाः संख्येयगुणाः[4]। संहरणं द्विविधम्–स्वकृतं परकृतं च। देवकर्मणा चारणविद्याधरैश्च कृतं परकृतम्। स्वकृतं चारणविद्याधराणामेव। तेषां च क्षेत्राणां विभागः–कर्मभूमिः अकर्मभूमिः समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति।

---

१ मेघपटलादिकं मातृकूटाद्याकारं क्षणदृष्टनष्टमेकं मत्वा परोपदेशमन्तरेण स्वयमेव कामभोगादिभ्यो यो विरक्तबुद्धिर्जायते स प्रत्येकबुद्ध इत्याख्यायते–श्र० टि०। २ यः पुनः कामभोगासक्तचित्तः परेण प्रतिबोधितः सन् कामभोगादिभ्यो विरक्तबुद्धिर्जायते स बोधितबुद्धः–श्र० टि०। ३ तेऽप्यनन्ताः–श्र० टि०। ४ संख्येयगुणा अनन्ता इत्यर्थः, एवमुत्तरत्रापि योज्यम्–श्र० टि०।

सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः। अधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। सर्वस्तोकाः समुद्रसिद्धाः। द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। एवं तावदविशेषेण। विशेषेण च सर्वस्तोकाः लवणोदसिद्धाः। कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः। जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। धातकीकण्ड-सिद्धाः संख्येयगुणाः। पुष्करद्वीपार्द्धसिद्धाः संख्येयगुणा इति।

५ कालविभागस्त्रिविधः–उत्सर्पिणी अवसर्पिणी अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणी चेति। सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः। अवसर्पिणीसिद्धाः विशेषाधिकाः। अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणाः। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्।

[[1]अन्तरम्–सर्वस्तो] काः अष्टसमयानन्तरसिद्धाः। सप्तसमयानन्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः। [एवमा द्विस] मयानन्तरसिद्धेभ्यः। एवं तावदनन्तरेषु। सान्तरेष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तर-

१० सिद्धाः। [एकसमया] न्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः। यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः। अधस्ताद् यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः। उपरियवमध्यान्तरसिद्धा विशेषाधिकाः।

गतिं प्रति–प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननयस्य सिद्धिगतौ सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूत-विषयनयापेक्षया वानन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। एकान्तरगतौ तु अल्प-बहुत्वमस्ति। सर्वतः स्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धाः, मनुष्ययोन्यनन्तरगतिसिद्धाः संख्येय-

१५ गुणाः, नरकयोन्यनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः, देवयोन्यनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणा इति।

वेदानुयोगे–प्रत्युत्पन्ननयाश्रयणे अवेदाः सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूतविषयनया-श्रयणे तु सर्वतः स्तोकाः नपुंसकवेदसिद्धाः। स्त्रीवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुंवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः।

तीर्थानुयोगे[2]–तीर्थकरसिद्धाः अल्पे। इतरे सिद्धाः संख्येयगुणाः।

चारित्रानुयोगे–प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया अव्यपदेशेन सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूत-

२० विषयनयाश्रयणे च अनन्तरचारित्रपरिग्रहे यथाख्यातचारित्राः सर्वे सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहु-त्वम्। व्यवधाने च पञ्चचारित्रसिद्धाः अल्पे। चतुश्चारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः।

प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्धानुयोगे–अल्पे प्रत्येकबुद्धाः। बोधितबुद्धाः संख्येयगुणाः।

ज्ञानानुयोगे–प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनस्य केवली सिद्ध्यतीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभाव-प्रज्ञापनस्य सर्वस्तोका द्विज्ञानसिद्धाः। चतुर्ज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः। त्रिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः।

२५ एवं तावदविशेषेण। विशेषेण च सर्वस्तोकाः मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानसिद्धाः। मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः। मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येय-गुणा इति।

अवगाहनानुयोगे–सर्वस्तोकाः जघन्यावगाहनसिद्धाः। उत्कृष्टावगाहनसिद्धाः संख्येयगुणाः। यवमध्यसिद्धाः संख्येयगुणाः। अधस्ताद्यवमध्यसिद्धाः संख्येयगुणाः। उपरि यवमध्यसिद्धा

३० विशेषाधिकाः।

संख्यानुयोगे–सर्वस्तोकाः अष्टशतसिद्धाः। [3]अष्टोत्तरशतसिद्धादयः आपञ्चाशत्सिद्धेभ्यः अनन्तगुणाः। एकान्नपञ्चाशत्सिद्धादयः आपञ्चविंशतिसिद्धेभ्यः असंख्येयगुणाः। चतुर्विंशतिसिद्धा-दयः आ एकसिद्धेभ्यः संख्येयगुणाः।

---

१ तुलना–"अन्तरम्। सर्वस्तोका अष्टसमयानन्तरसिद्धाः। सप्तसमयानन्तरसिद्धाः षट्समयानन्तर-सिद्धाः इत्येवं यावद् द्विसमयानन्तरसिद्धाः इति संख्येयगुणाः। एवं तावदनन्तरेषु। सान्तरेष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः, एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, अधस्ताद् यवमध्या-न्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, उपरियवमध्यान्तरसिद्धाः विशेषाधिकाः, सर्वे विशेषाधिकाः"–त० भा० १०।७। २ प्रश्न–श्र० टि०। ३ सप्तोत्तरशतसि– मू०।

एवं निसर्गाधिगमयोरन्यतरजं तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं शङ्काद्यतीचारविमुक्तं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं विशुद्धं सम्यग्दर्शनं सम्यग्दर्शनोपलब्धिविशुद्धं च ज्ञानमधिगम्य, निक्षेपप्रमाणनिर्देशसत्संख्यादिभिरप्युपायैर्जीवानां पारिणामिकौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकाणां भावानां स्वतत्त्वं विदित्वा चेतनाचेतनानां भोगसाधनानामुत्पत्तिप्रलयस्वभावावगमात् विरक्तो वितृष्णस्त्रिगुप्तः पञ्चसमितो दशलक्षणधर्मानुष्ठानात्तत्फलदर्शनाच्च निर्वाणप्राप्तियतनायाभिवर्द्धितश्रद्धासंवेगभावनाविर्भावितात्मा अनुप्रेक्षाभिः स्थिरीकृतानभिष्वङ्गः संवृतात्मा निरास्रवत्वाद् व्यपगताभिनवकर्मोपचयः परिषहजयाद्बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानादनुभवनाच्च सम्यग्दृष्टिविरताविरतादीनां च जिनपर्यन्तानां परिणामाध्यवसानविशुद्धिस्थानान्तराणामसंख्येयगुणोत्कर्षप्राप्त्या पूर्वोपचितं कर्म निर्जरयन् सामायिकादीनां च सूक्ष्मसाम्परायान्तानां संयमविशुद्धिस्थानानामुत्तरोत्तरोपलम्भात् पुलाकादीनां च निर्ग्रन्थानां संयमानुपालनविशुद्धिस्थानविशेषाणामुत्तरोत्तरप्रतिपत्त्या घटमानोऽत्यन्तप्रहीणार्त्तरौद्रध्यानो धर्म्यध्यानविजयादवाप्तसमाधिबलः, शुक्लध्यानविकल्पयोश्च पृथक्त्वैकत्ववितर्कयोश्चान्यतरस्मिन् वर्तमानो नानाविधपूर्वोदितर्द्धिविशेषयुक्तः, तत्रानभिष्वक्तचित्तः, पूर्वोदितेन क्रमेण मोहादीन् क्षयं नीत्वा सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीमनुभूय, ततः शेषकर्मक्षयाद्भवबन्धनिर्मुक्तः निर्दग्धपूर्वोपादानेन्धनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभववियोगात् हेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावात् सान्तः संसारदुःखमतीत्य आत्यन्तिकमैकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति तत्त्वार्थभावनाफलमेतत् । उक्तञ्च—

"एवं तत्त्व[1]परिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम् । निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥ १ ॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः[2] क्षयहेतुभिः । संसारबीजंकात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥ २ ॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम् । प्रहीयन्तेऽस्य युगपत्त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥ ३ ॥
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति । तथा कर्मक्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥ ४ ॥
ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम् । [3]बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥ ५ ॥
शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥ ६ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति । यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥ ७ ॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ ८ ॥
तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति । पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ ९ ॥
कुलालचक्रडोलायामिषौ चापि यथेष्यते । पूर्वप्रयोगात् कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥१०॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टोऽप्स्वलाबुनः । कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥११॥
एरण्डयन्त्रपेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥१२॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः । अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥१३॥
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्नि[4]वीचयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम् ॥१४॥
अतस्तु गतिवैकृत्यं[5] तेषां[6] यदुपलभ्यते । कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥१५॥
[7]स्यादधस्तिर्यगूर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः । ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥१६॥
[8]द्रव्यस्य[9] कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः[10] । समं तथैव सिद्धस्य गतिमोक्षे भवक्षयात् ॥१७॥
उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह । युगपद्भवतो यद्वत्तथा निर्वाणकर्मणोः ॥१८॥

१ अपरिभवः–ध० टि० । २ सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्त्या–मु० । ३ घाति–ध० टि० । ४–निर्वातयः मु०, द०, ष०, ज० । विरुद्धगमनाः । ५ संसारे तिर्यगादि–ध० टि० । ६ जीवानाम्–ध० टि० । ७ अधस्तिर्यगूर्ध्वं च मू०, ज०, द०, ब० । अधस्तिर्यक्तथोर्ध्वं मु० । ८ देवादीनामधोगमनादि–ध० टि० । ९ द्रव्यकर्मणः–ध० टि० । १० अकर्मरूपेणोत्पत्तिः जीवप्रदेशान्निर्गमनमारम्भः–ध० टि० ।

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा । प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥१९॥
नृलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा । ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः ॥२०॥
तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने । सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाः हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥२१॥
ततोऽप्यूर्ध्वंगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः । धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥२२॥
५ संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् । अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥२३॥
स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः । कथं भवति मुक्तस्य [1]सुखमित्यत्र मे शृणु ॥२४॥
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते । विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥२५॥
सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते । दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ॥२६॥
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् । कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥२७॥
१० सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम् । तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानु[2]शयतस्तथा ॥२८॥
श्रमक्लमदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात् । मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥२९॥
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते । उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥३०॥
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः । [3]अलिङ्गं चाऽप्रसिद्धं च तत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥३१॥
प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् । गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया ॥३२॥[4]
१५ इति[5] तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः । यत्र न् [6]सन्निहितस्तर्कन्यायागमविनिर्णयः ॥३३॥"
[ ]

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

[ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ]

---

१ सुखमित्युत्तरं श्र–मु० । २ पश्चात्तापतः–श्र० टि० । ३ अत्यन्तव्वा प्र–मु०, द०, व०, ज० । ४ इमे द्वात्रिंशत् श्लोकाः त० भाष्ये (१०।७) जयधवलायां तत्त्वार्थसारे च मोक्षतत्त्ववर्णने उपलभ्यन्ते । ५ श्लोकोऽयं नास्ति मु०, द०, व०, ज० । ६ साक्षात्कृतः–श्र० टि० ।

# तत्त्वार्थवार्तिक

## हिन्दी-सार

# पाँचवाँ अध्याय

## अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल अजीव भी हैं और काय अर्थात् बहुप्रदेशी भी।

§ १-५. 'अजीव जो काय' इस प्रकार समानाधिकरणा वृत्ति यहाँ समझनी चाहिए। अजीव शब्दकी कालमें तथा काय शब्दकी जीवमें भी वृत्ति होनेसे यहाँ परस्पर व्यभिचार है अतः नीलोत्पलकी तरह समानाधिकरण वृत्ति है। यदि भिन्नअधिकरणरूप वृत्ति मानी जाय तो 'राजाका पुरुष राजपुरुष' इसकी तरह अजीवोंका काय इस प्रकारके सर्वथा भेदका प्रसंग आयगा। यद्यपि 'सुवर्णकी अंगूठी' यहाँ सुवर्ण और अंगूठीमें अभेद रहने पर भी भेदमूलक षष्ठी समास देखा गया है तो भी जैसे 'सुवर्णकी अंगूठी' इस स्थलपर सुवर्णका प्रयोग चाँदी आदिकी निवृत्तिके लिए है कि-यह अंगूठी सुवर्णकी है, चाँदी आदिकी नहीं है और न मासा रत्ती आदिकी, उस तरह 'अजीवके काय' यहाँ किसी पदार्थान्तरकी निवृत्ति नहीं करनी है। अथवा, भिन्नाधिकरण भी वृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं है। जीव भी काय है क्योंकि पाँच अस्तिकायोंमें जीवका भी नाम है। इसलिए उसकी निवृत्तिके लिए यहाँ अजीव शब्दका प्रयोग किया गया है कि अजीवके काय, जीवके नहीं। 'सुवर्णकी अंगूठी' यहाँ भी सुवर्ण द्रव्यसे अंगूठी पर्यायमें संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदसे भेद है ही। यदि सुवर्ण और अंगूठीमें सर्वथा अभेद माना जाय तो सुवर्णकी कुंडल आदि पर्यायोंमें वृत्ति नहीं होनी चाहिए, या सुवर्णकी तरह अंगुलीयकत्व (अंगूठीपना) कुंडल आदिमें भी पाया जाना चाहिए। इसीलिए अन्य चाँदी आदिकी निवृत्तिके लिए 'सुवर्ण' शब्दका प्रयोग किया गया है। सर्वथा अभेदमें 'सुवर्णकी अंगूठी' यह भेद प्रयोग ही नहीं हो सकता। 'अजीवकायाः' यहाँ काय शब्द प्रदेशवाचक है। धर्मादि द्रव्य अपने प्रदेशोंसे संज्ञा लक्षण और प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे भिन्न भी हैं। यदि सर्वथा अभेद हो तो जैसे धर्मादि एक हैं उसी तरह प्रदेशोंमें भी एकत्व होना चाहिए, अथवा जैसे प्रदेश बहुत हैं उसी तरह धर्मादिकमें भी बहुत्व होना चाहिए। इसीलिए अन्यनिवृत्तिके लिए 'अजीव शब्दका प्रयोग किया है कि-अजीवोंके काय, न कि जीवके। यदि सर्वथा एकत्व होता तो 'अजीवके काय' यह भेद-व्यवहार ही नहीं हो सकता था। 'शिलापुत्रकका शरीर या राहुका सिर' इन प्रयोगोंमें भी कथञ्चिद् भेद है ही। बुद्धि शब्द और प्रयोजन आदिके भेदसे उनमें भेद है। इसलिए यहाँ भी अन्य निवृत्तिके लिए शिलापुत्रक या राहु शब्द दिया जाता है। अर्थात् शिलापुत्रकका यह शरीर है अन्य मनुष्य आदिका नहीं, राहुका यह सिर है अन्य का नहीं। सर्वथा अभेदमें अन्यनिवृत्तिकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती जैसे सुवर्णका सुवर्ण या घटका घट।

§ ६. 'न जीवः अजीवः' कहनेसे अजीवको केवल जीवाभाव रूप ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु जैसे 'अनश्व' कहनेसे घोड़ेके निषेधके साथ ही घोड़े सरीखे अन्य प्राणी (गधा आदि) का प्रत्यय होता है उसी तरह अजीवसे भी जीवसे भिन्न अन्य अचेतन पदार्थका संप्रत्यय होता है। जड़ और चेतनमें सत्त्व द्रव्यत्व आदिकी दृष्टिसे सादृश्य है ही। एक 'सत्' पदार्थ ही पररूप आदिकी अपेक्षा अभावप्रत्ययका विषय होता है।

§ ७-८. काय शब्दमें 'कायकी तरह काय' यह सादृश्य अर्थ अन्तर्भूत है। अर्थात् जैसे काय-शरीर औदारिकादि शरीरनामकर्मके उदयसे अनेक पुद्गल-परमाणुओंसे संचित

होता है उसी तरह धर्मादि द्रव्य अनादि-पारिणामिक प्रदेशोंवाले होनेसे काय हैं। काय शब्दका ग्रहण ही प्रदेश या अवयवोंकी वहुतायत सूचित करनेके लिए है। धर्मादिकमें मुख्य रूपसे प्रदेश न रहनेपर भी एक परमाणुके द्वारा रोके गये आकाश प्रदेशके नापसे बुद्धिके द्वारा उनमें असंख्येय आदि प्रदेश स्वीकार किये जाते हैं।

§ ६-१४. प्रश्न-'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' इस सूत्रसे ही वहुप्रदेशीपना सिद्ध है फिर काय ग्रहण करना निरर्थक है। प्रदेशोंकी संख्याके निश्चयके लिए भी इसकी उपयोगिता नहीं है क्योंकि इससे तो प्रदेशप्रचयमात्रकी ही प्रतीति होती है। 'लोकाकाशेऽवगाहः' के वाद 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने' कहनेसे द्रव्योंके प्रदेशोंके परिमाणका निश्चय हो जाता है। काय ग्रहणके विना अप्रदेशी एकद्रव्यपनेका प्रसंग भी नहीं आ सकता; क्योंकि 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' सूत्रसे ही वहुप्रदेशित्व सूचित हो जाता है। पंचास्तिकायके आर्ष उपदेशके अनुवादके लिए काय शब्दका ग्रहण निरर्थक है क्योंकि 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यादि सूत्रसे ही वह कार्य हो जाता है। 'काय-वहुप्रदेशित्वरूप स्वभाव उनका सदा रहता है छूटता नहीं' इस वातके द्योतनके लिए भी काय शब्दका कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि 'नित्य और अवस्थित' कथनसे ही स्वभावका अपरित्याग सिद्ध हो जाता है।

§ १५-१६. उत्तर-कायशब्दके ग्रहणसे पाँचों ही अस्तिकायोंमें प्रदेशवहुत्वकी सिद्धि होनेपर ही 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' यह सूत्र प्रदेशोंकी असंख्येयताका अवधारण कर सकता है कि असंख्येय ही प्रदेश हैं न संख्येय और न अनन्त। अवधारण विधिपूर्वक होता है। फिर कालद्रव्यके वहुप्रदेशित्वके प्रतिषेधके लिए यहाँ 'काय' का ग्रहण करना उपयुक्त है। जिस प्रकार अणुको एकप्रदेशी होनेसे अर्थात् द्वितीय आदि प्रदेश न होनेसे 'अप्रदेश' कहते हैं उसी तरह कालपरमाणु भी एकप्रदेशी होनेसे अप्रदेशी हैं।

§ १७. सर्वज्ञ प्रतिपादित आर्हत आगममें ये धर्म अधर्म आकाश आदि संज्ञाएँ सांकेतिक हैं, रूढ़ हैं।

§ १८-२३. अथवा, इन संज्ञाओंको क्रियानिमित्तक भी कह सकते हैं। स्वयं क्रियापरिणत जीव और पुद्गलोंको जो सहायक हो ( साचिव्यं दधातीति धर्मः ) वह धर्म है। इससे विपरीत अर्थात् स्थितिमें सहायक अधर्म होता है। जिसमें जीवादि द्रव्य अपनी अपनी पर्यायोंके साथ प्रकाशमान हों तथा जो स्वयं अपनेको भी प्रकाशित करे वह आकाश। अथवा, जो अन्य सव द्रव्योंको अवकाश दान दे वह आकाश। यद्यपि अलोकाकाशमें द्रव्योंका अवगाह न होनेसे यह लक्षण नहीं घटता तथापि शक्तिकी दृष्टिसे उसमें भी आकाशव्यवहार होता ही है। जैसे अतिदूर भविष्यत् कालमें वर्तमानप्राप्तिकी योग्यताके कारण ही भविष्यत् व्यपदेश होता है उसी तरह अलोकाकाशमें अवगाही द्रव्योंके न होनेपर भी अवगाहनशक्तिके कारण अखंडद्रव्यप्रयुक्त आकाशव्यवहार हो जाता है।

§ २४-२६. जैसे भा को करनेवाला भास्कर कहा जाता है उसी तरह जो भेद संघात और भेदसंघातसे पूरण और गलनको प्राप्त हों वे पुद्गल हैं। यह शब्द 'शवशयनं श्मसानम्' की तरह पृषोदरादिगणमें निष्पन्न होता है। परमाणुओंमें भी शक्तिकी अपेक्षा पूरण और गलन है तथा प्रतिक्षण अगुरुलघुगुणकृत गुणपरिणमन गुणवृद्धि और गुणहानि होती रहती है अतः उनमें भी पूरण और गलन व्यवहार माननेमें कोई वाधा नहीं है। अथवा, पुरुष यानी जीव जिनको शरीर आहार विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदिके रूपमें निगलें-ग्रहण करें वे पुद्गल हैं। परमाणु भी स्कन्ध दशामें जीवोंके द्वारा निगले ही जाते हैं।

§ २७. 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहाँ बहुवचन स्वातन्त्र्यप्रतिपत्ति के लिए है। इनका यही स्वातन्त्र्य है कि ये स्वयं गति और स्थिति रूपसे परिणत जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें स्वयं निमित्त होते हैं, जीव या पुद्गल इन्हें उकसाते नहीं हैं। इनकी प्रवृत्ति पराधीन नहीं है। यद्यपि इतरेतरयोग द्वन्द्वमें बहुवचन न्यायप्राप्त था पर समाहारमें समुदायकी प्रधानता होनेसे एकवचनसे ही कार्य चल जाता है, फिर भी जो बहुवचनका निर्देश किया गया है वह स्वातन्त्र्यका ज्ञापक है। जैसे जैनेन्द्र व्याकरणमें 'द्वतः'। यहाँ 'द्वत्' इस एक वचनसे कार्य चल सकता था फिर भी बहुवचनका निर्देश ज्ञापन करता है कि अनुक्तमें भी तद्धितीय प्रत्यय होता है।

§ २८-३०. धर्म शब्दकी लोकमें प्रतिष्ठा है अतः सूत्रमें धर्मका पहिले ग्रहण किया है। अधर्मद्रव्यसे लोककी पुरुषाकार आकृतिकी व्यवस्था बनती है अतः अधर्मका उसके अनन्तर ग्रहण किया है। यदि अधर्मद्रव्य न माना जाता तो जीव और पुद्गल समस्त आकाश अर्थात् अलोकाकाशमें भी जा पहुँचते, इस तरह लोकका कोई आकार ही नहीं बन पाता। अतः लोक-अलोक विभाग अधर्मद्रव्यके कारण ही बनता है। फिर अधर्म धर्मका प्रतिपक्षी है, अतः उसका धर्मके बाद ग्रहण करना उचित ही है।

§ ३१-३२. धर्म और अधर्मके द्वारा आकाशका परिच्छेद किया जाता है-लोक और अलोकके रूपमें। जहाँ तक धर्म और अधर्म हैं वह लोक, आगेका अलोक। अतः धर्म और अधर्मके बाद आकाशको ग्रहण किया है। फिर अमूर्तरूपसे आकाश धर्म और अधर्ममें सजातीयपना भी है।

§ ३३. आकाशमें पुद्गल अवकाश पाते हैं, अतः आकाशके पास पुद्गलका ग्रहण किया गया है।

§ ३४-३५. प्रश्न-आकाशका ग्रहण सर्वप्रथम करना चाहिए क्योंकि वह धर्म और अधर्म आदिका आधार है? उत्तर-लोककी यह रचना अनादिसे है, इसमें आधाराधेयभावमूलक पौर्वापर्य नहीं है। आदिवाले दही और कुंड आदिमें ही आधाराधेयमूलक पौर्वापर्य होता है। यद्यपि आर्ष ग्रन्थमें यह बताया है कि-"आकाश स्वप्रतिष्ठ है, आकाशमें तनुवातवलय, तनुवातवलयमें घनवातवलय, घनवातवलयमें घनोदधिवातवलय आधेय रूपसे है" इत्यादि; फिर भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि यदि आधाराधेयभावका सर्वथा निषेध किया जाता तो विरोध होता। परन्तु द्रव्यार्थिककी प्रधानतासे सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ हैं, अतएव आधाराधेयभाव नहीं रहनेपर भी पर्यायार्थिककी प्रधानतामें आधाराधेयभाव है ही। इसी तरह व्यवहार नयसे आकाशको आधार और अन्य द्रव्योंको आधेय कहते ही हैं। एवंभूतनयसे अनादि पारिणामिक लोकरचनाकी अपेक्षा आधाराधेयभाव नहीं भी है। व्यवहारमें तनुवातवलयका आधार आकाशको माननेपर आकाशके भी अन्य आधारकी कल्पना करके अनवस्था दूषण नहीं आ सकता; क्योंकि आकाश सर्वगत और अनन्त है, अतः उसके अन्य आधारकी कल्पना करना उचित नहीं है। असर्वगत सान्त मूर्तिमान् और सावयव पदार्थोंमें ही अन्य आधार की कल्पना हो सकती है।

§ ३६. यद्यपि काल भी अजीव है और भाष्यमें अनेक बार छह द्रव्योंका कथन भी किया है, पर इसका लक्षण आगे किया है अतः उसे यहाँ नहीं गिनाया है।

## द्रव्याणि ॥ २ ॥

उपर्युक्त धर्माधर्मादि द्रव्य हैं।

§ १. स्व और पर कारणोंसे होनेवाली उत्पाद और व्यय रूप पर्यायोंको जो प्राप्त हो तथा पर्यायोंसे जो प्राप्त होता हो वह द्रव्य है। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव रूप बाह्य प्रत्यय पर है

तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व प्रत्यय है। बाह्य प्रत्ययोंके रहनेपर भी यदि द्रव्यमें स्वयं उस पर्यायकी योग्यता न हो तो पर्यायान्तर उत्पन्न नहीं हो सकती। दोनोंके मिलनेपर ही पर्याय उत्पन्न होती है, जैसे पकने योग्य उड़द यदि बोरेमें पड़ा हुआ है तो पाक नहीं हो सकता और यदि घोटक ( न पकने योग्य ) उड़द बटलोईमें उबलते हुए पानीमें भी डाला जाय तो भी नहीं पक सकता। यद्यपि पर्यायें या उत्पाद-व्यय उस द्रव्यसे अभिन्न होते हैं तथापि कर्तृ और कर्ममें भेद-विवक्षा करके 'द्रवति गच्छति' यह निर्देश बन जाता है। जिस समय द्रव्यको कर्म-पर्यायोंको कर्ता बनाते हैं तब कर्ममें द्रुधातुसे 'य' प्रत्यय हो ही जाता है, और जब द्रव्यको कर्ता मानते तब बहुलापेक्षया कर्तामें 'य' प्रत्यय हो जाता है। तात्पर्य यह कि उत्पाद और विनाश आदि अनेक पर्यायोंके होते रहनेपर भी जो सान्ततिक द्रव्यदृष्टिसे गमन करता जाय वह द्रव्य है।

§ २. अथवा, द्रव्य शब्दको इवार्थक निपात मानना चाहिए। 'द्रव्यं भव्ये' इस जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो वह 'द्रव्य' यह समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार बिना गांठकी सीधी द्रु–लकड़ी बढ़ई आदिके निमित्तसे टेबिल कुरसी आदि अनेक आकारोंको प्राप्त होती है उसी तरह द्रव्य भी उभयकारणोंसे उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता रहता है। जैसे 'पाषाण खोदनेसे पानी निकलता है' यहाँ अविभक्तकर्तृक करण है उसी तरह द्रव्य और पर्यायमें भी समझना चाहिए।

§ ३. प्रश्न–जैसे दण्डके सम्बन्धसे देवदत्तमें दंडी व्यवहार और ज्ञान होता है उसी तरह द्रव्यत्व नामके सामान्य पदार्थके सम्बन्धसे पृथिवी आदिमें 'द्रव्य' यह व्यवहार हो जायगा। इसीसे वह गुण कर्म आदिसे व्यावृत्त भी सिद्ध हो जाती है। अतः द्रव्यत्वके सम्बन्धसे ही द्रव्य मानना चाहिए न कि पर्यायोंको प्राप्त होनेसे। उत्तर—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार दंडके सम्बन्धसे पहिले देवदत्त अपनी जाति आदिसे युक्त होकर प्रसिद्ध है और देवदत्तके सम्बन्धके पहिले दंड अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध है उस तरह द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले न तो द्रव्य ही प्रसिद्ध है और न द्रव्यत्व ही। यदि द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले द्रव्य उपलब्ध हो तो द्रव्यत्वके सम्बन्धकी कल्पना ही व्यर्थ है। इस तरह दोनों जब सम्बन्धसे पहिले असत् हैं तब उनके सम्बन्धकी कल्पना ही नहीं हो सकती। अस्तित्व भी मान लिया जाय, पर जब उनमें पृथक्-पृथक् शक्ति नहीं है तब मिलकर भी स्वप्रत्ययोत्पादनकी शक्ति नहीं आ सकती। जैसे कि दो जन्मान्धोंको एक साथ मिला देनेपर भी दर्शन-शक्ति उत्पन्न नहीं होती, उसी तरह द्रव्य और द्रव्यत्वमें जब द्रव्य-प्रत्यय और व्यवहारकी शक्ति नहीं है तब दोनोंके सम्बन्ध होने पर भी वह व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले भी द्रव्य अपनेमें द्रव्य-व्यवहार करा सकता था तो द्रव्यत्वकी कल्पना ही निरर्थक है। इसी तरह द्रव्यत्व भी द्रव्य-समवायके पहिले द्रव्यव्यवहारका निमित्त नहीं बन सकता। द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले यदि द्रव्यका 'सत्' स्वरूप भी होता तो द्रव्यत्वका सम्बन्ध मानना उचित होता किन्तु द्रव्य स्वतः सत् भी नहीं है, वह तो सत्ताके समवायसे 'सत्' होता है। यदि असत् में भी सत्तासमवाय माना जाता है तो खरविषाणमें भी होना चाहिए। किंच, द्रव्यत्व सामान्य सर्वगत है, अतः यदि अतदात्मक द्रव्यमें वह समवायसम्बन्धसे रहता है तो गुण और कर्म आदिमें भी रहना चाहिए। यदि द्रव्य तदात्मक है अतः उसमें ही द्रव्यत्वका समवाय होता है; तो फिर द्रव्यत्वके समवायकी कल्पना ही निरर्थक है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि द्रव्य चूँकि सम-वायिकारण है अतः द्रव्यत्वका समवाय उसीमें होता है गुण कर्म या खरविषाण आदिमें नहीं; क्योंकि द्रव्यत्वसम्बन्धके पहिले जब द्रव्यका कोई स्वरूप ही नहीं है तब किसे समवायिकारण कहा जाय ? यदि निःस्वरूप द्रव्य समवायिकारण हो सकता है तो

खरविषाण आदिको भी होना चाहिए। असत् होनेसे खरविषाण यदि समवायिकारण नहीं हो सकता, तो असत्त्व तो द्रव्यमें भी विद्यमान है। तात्पर्य यह कि जिस कारण द्रव्य ही समवायिकारण होता है गुणकर्म आदि नहीं, उसी कारण यह मानना होगा कि द्रव्यका निजस्वरूप ही द्रव्यका आत्मा है और उसीसे द्रव्यव्यवहार होता है। यह स्वरूप अनादि-पारिणामिक है। द्रव्यसे बाहरका कोई द्रव्यत्व नामका सामान्यविशेष नहीं। यह समाधान भी उचित नहीं है कि–'द्रव्यमें एक विशेषता है जिसके कारण वही समवायिकारण होता है गुण कर्म आदि नहीं और इसीलिए द्रव्यत्व उसीमें समवायसम्बन्धसे रहता है अन्यमें नहीं। वह विशेषता है 'आधार होना'। द्रव्य ही गुण कर्म आदिका आधार होता है'; क्योंकि जब द्रव्य स्वतः 'सत्' भी नहीं है तब वह कैसे किसीका आधार हो सकता है? स्वतःसिद्ध घड़ा ही जलादिका आधार होता है।

§ ४. जो वादी द्रव्यत्वके योगसे द्रव्य मानते हैं उनके यहाँ 'द्रव्य' यह व्यपदेश ही नहीं हो सकता। अभेद रूपसे व्यपदेश माननेपर जैसे यष्टिके साहचर्यसे पुरुषको 'यष्टि' कह देते हैं उस तरह तो 'द्रव्यत्व'के सम्बन्धसे द्रव्यमें 'द्रव्यत्व' व्यपदेश होगा न कि द्रव्य। यह समाधान ठीक नहीं है कि 'द्रव्यत्वका वाचक द्रव्यत्व शब्दके समान 'द्रव्य' शब्द भी है अतः उसके सम्बन्धसे उसमें द्रव्यव्यवहार हो जायगा'; क्योंकि यदि द्रव्यत्वकी 'द्रव्य' यह संज्ञा स्वतः ही है तो द्रव्यको स्वतः माननेमें क्या असन्तोष है? उसकी भी 'द्रव्य' यह संज्ञा स्वतः मान लेनी चाहिए। यदि यह संज्ञा किसी अन्य पदार्थके सम्बन्धसे है तो वे ही दोष आते हैं। फिर यदि द्रव्यत्वके वाचक 'द्रव्यत्व और द्रव्य' ये दो शब्द हैं तो 'द्रव्य' व्यपदेशकी तरह 'द्रव्यत्व' व्यपदेश भी होना चाहिए।' यदि 'यष्टिमान्' की तरह भेदमूलक व्यपदेश मानते हो तो द्रव्यमें 'द्रव्यत्ववान्' यह व्यपदेश होना चाहिए न कि 'द्रव्य' यह व्यपदेश। 'जिस प्रकार शुक्ल गुणके योगसे 'शुक्लः पटः' इस प्रयोगमें 'मतुप्' प्रत्ययका लोप होकर अभेदमूलक प्रयोग होता है उसी तरह यहाँ भी 'द्रव्य' यह प्रयोग हो जायगा' यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि व्याकरण शास्त्रमें गुणवाची शब्दोंसे 'मतुप्'का लोप स्वीकार किया गया है। शुक्ल आदि शब्द द्रव्यवाची और गुणवाची दोनों प्रकारके होते हैं, किन्तु 'द्रव्यत्व' शब्द गुणवाची नहीं है अतः इससे 'मतुप्' की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसी तरह 'त्व' की निवृत्ति भी व्याकरणशास्त्रसे सिद्ध नहीं है अतः 'द्रव्य' यह व्यपदेश नहीं हो सकता।

§ ५. द्रव्य शब्दसे भावार्थक 'त्व' प्रत्यय भी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि भाव द्रव्यसे अभिन्न आत्मभूत अनादिपारिणामिक द्रव्यरूप ही है तो द्रव्यसे द्रव्यत्व भिन्न नहीं हुआ। ऐसी दशामें 'द्रव्यत्वके समवाय' की कल्पना समाप्त हो जाती है। यदि भिन्न है तो वह द्रव्यका भाव नहीं कहा जा सकता। किंच, जिस प्रकार द्रव्यका भाव द्रव्यत्व माना जाता है उसी तरह द्रव्यत्वका अन्य भाव यदि है तो 'द्रव्यत्वत्व' का प्रसंग होनेपर अनवस्था हो जायगी। यदि नहीं है तो स्वभावशून्य होनेसे अभाव हो जायगा। जिस प्रकार 'अवेर्मांसम्' या 'अविकस्य मांसम्' दोनों विग्रहोंमें 'अवि' शब्दसे ही प्रत्यय होता है उस तरह 'द्रव्यस्य भावः' और 'द्रव्यत्वस्य भावः' दोनों विग्रहोंमें द्रव्य शब्दसे ही त्वप्रत्यय नहीं हो सकता; क्योंकि जिस प्रकार अवि और अविक शब्द एकार्थक हैं उस प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व दोनों शब्द एकार्थक नहीं हैं। यहाँ विग्रह भेदसे अर्थभेदका होना अवश्यम्भावी है।

§ ६–८. यदि द्रव्यत्व नित्य एक और निरवयव है तो वह अनेक पृथिवी आदिमें कैसे रह सकता है? यदि रहता है तो रूपादिकी तरह अनेक ही हो जायगा। आकाश महापरिमाण-वाला है अतः उसका एक साथ अनेक द्रव्योंको व्याप्त करना बन जाता है, परन्तु द्रव्यत्वनामक

सामान्यमें यह बात नहीं है क्योंकि महापरिमाण गुण द्रव्यमें ही रहता है, सामान्यमें नहीं। एकत्वसंख्याकी तरह इसमें उपचारसे महत्त्व स्वीकार करके निर्वाह करना उचित नहीं है क्योंकि उपचरित पदार्थ मुख्य कार्य नहीं कर सकता। आकाश तो अनन्तप्रदेशवाला है अतः प्रदेश-भेदसे युगपत् अनेक जगह वृत्ति बन जाती है, पर द्रव्यत्वमें यह बात नहीं है। अनेक कपड़ोंमें रंगा गया नील द्रव्य एक नहीं है वह तो न केवल प्रत्येक कपड़ेमें जुदा जुदा है किन्तु एक कपड़ेके हिस्सोंमें भी जुदा जुदा है। 'जिस प्रकार अग्निकी उष्णता सिद्ध करनेके लिए अन्य दृष्टान्त नहीं है, फिर भी स्वभावसे अग्नि उष्ण है उसी तरह एककी अनेक जगह वृत्ति माननेमें दृष्टान्त न मिलनेपर भी वह स्वभावतः सिद्ध हो जायगी' यह तर्क असङ्गत है; क्योंकि 'दृष्टान्तके अभावमें भी साध्य सिद्ध होता है' इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिमें आपने स्वयं दृष्टान्त उपस्थित किया है अतः स्ववचन विरोध है। यदि युक्तियोंके अभावमें भी द्रव्यत्वको अनेक-सम्बन्धी मानते हो तो द्रव्यको ही स्वतः द्रव्य क्यों नहीं मान लेते? समवायका खंडन तो पहिले किया जा चुका है।

§ ६. 'गुणसन्द्राव अर्थात् जो गुणोंको प्राप्त हो या गुणोंके द्वारा प्राप्त हो वह द्रव्य है।' यह मत भी ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा एकान्त पक्षमें अनेक दोष आते हैं। गुणोंसे यदि द्रव्यको अभिन्न माना जाता है तो कर्ता और कर्म रूपसे भिन्न निर्देश नहीं हो सकेगा। अभेद पक्षमें या तो गुण ही रह जायेंगे या फिर द्रव्य ही। यदि गुण ही रहते हैं; तो निराश्रय गुणोंका अभाव ही हो जायगा। यदि द्रव्य रहता है; तो बिना लक्षण या स्वभावके उसका कोई अस्तित्व नहीं रह सकेगा। यदि भिन्न मानते हैं तो भी दोनोंका निःस्वरूप होनेसे अभाव ही हो जायगा। गुण तो निष्क्रिय होते हैं अतः उनका द्रव्यके प्रति अभिद्रवण [गमन] भी नहीं हो सकता। वैशेषिक सूत्रमें लिखा ही है कि "दिशा काल और आकाश क्रियावालोंसे विलक्षण होनेके कारण निष्क्रिय हैं। कर्म और गुण भी" इसी तरह निष्क्रिय द्रव्य भी गुणोंकी तरफ गमन नहीं कर सकते। अतः 'संद्रवति' यह लक्षण भी ठीक नहीं है। जैसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले ग्रामको स्वतःसिद्ध देवदत्त प्राप्त होता है, उस तरह यहाँ गुण स्वतन्त्र सत्तावाले नहीं हैं जिससे द्रव्य उन्हें प्राप्त हो। 'पार्थिव परमाणुओंमें अग्निसंयोगसे श्याम रूप आदिका विनाश होकर लाल रूप उत्पन्न होता है, अतः यहाँ गुणोंको द्रव्य प्राप्त होता ही है' यह तर्क भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि द्रव्य ठहरता है और रूपादि नष्ट होते और उत्पन्न होते हैं तो रूपादि गुण और द्रव्योंमें भेद हो जायगा। यदि इनका समवाय मानकर इन्हें अयुतसिद्ध स्वीकर किया जाता है तो द्रव्यकी तरह रूपादिगुण भी नित्य हो जायँगे। अयुतसिद्धि तो तभी हो सकती है जब द्रव्यके कालमें रूपादि सदा विद्यमान रहें। इस तरह या तो रूपादिकी तरह द्रव्य अनित्य हो जायगा या फिर द्रव्यकी तरह रूपादि नित्य हो जायँगे। जिस प्रकार जो पंडित है वह मूर्ख नहीं तथा जो मूर्ख है वह पंडित नहीं क्योंकि दोनोंमें परस्पर विरोध है, उसी तरह यदि समवायके कारण द्रव्यसे रूपादि अयुतसिद्ध होंगे तो वे द्रव्यकी तरह न तो उत्पन्न ही होंगे और न विनष्ट ही। यदि ये विनष्ट भी होंगे तथा उत्पन्न भी होंगे और द्रव्य स्थिर रहेगा तो मानना होगा कि वे अयुतसिद्ध नहीं हैं। यदि गुण और द्रव्य पृथक् हैं तो गुणोंके द्वारा द्रव्यका नियत प्राप्त होना उसी तरह असंभव है जिस तरह कि घटके द्वारा पटका। 'भेदमें ही अग्नि और धूमकी तरह उपलभ्य-उपलम्भक भाव होता है अभेदमें नहीं; क्योंकि स्वात्मामें वृत्तिका विरोध है, वही अंगुलीका अग्रभाग अपने आपको नहीं छू सकता। इसी तरह 'द्रव्य और गुणमें अभेद माननेपर वृत्ति नहीं बन सकती' यह तर्क ठीक नहीं है; क्योंकि 'प्रदीप अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है' यहाँ स्वात्मामें ही प्रकाशन क्रिया देखी गई है। वह स्वरूप-प्रकाशनमें अन्य प्रदीपकी आवश्यकता नहीं रखता। हम पूछते हैं कि इस मतके उपदेष्टा अपने स्वरूपको जानते हैं या

नहीं ? यदि नहीं जानते हैं; तो शास्त्रविरोध और स्ववचन-विरोध होता है। वैशेषिक दर्शनमें बताया है कि "आत्मा और मनका संयोग विशेषसे आत्मप्रत्यक्ष होता है"। असर्वज्ञताका भी प्रसंग आता है, क्योंकि जो अपनी आत्माको ही नहीं जानता वह इतर पदार्थोंको कैसे जान सकता है ? यदि स्वरूपको जानता है; तो 'स्वात्मामें वृत्तिका विरोध है' यह मत खंडित हो जाता है। अतः द्रव्यात्मक ही पर्याय स्वीकार करना चाहिए।

जो गुणसमुदायमात्र द्रव्य स्वीकार करते हैं उनके यहाँ भी 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' यह द्रव्यका लक्षण नहीं बनता; क्योंकि इनके मतमें भी कर्ता और कर्मका भेद नहीं होता। गुण-समुदायमात्रवादीके न तो गुण पृथक् हैं और न समुदाय ही, जिससे कर्तृकर्मभाव बनाया जा सके। 'दीपक अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है' यहाँ भी भासुर रूप और द्रव्यमें कथञ्चित् भेद मानकर ही कर्तृकर्मभाव प्रयुक्त हुआ है। यदि सर्वथा अभेद ही होता तो सभी द्रव्य भासुररूपवाले हो जाते और भासुरद्रव्य सदा भासुररूपवाला ही बना रहता, परन्तु उसमें कालापन भी आ जाता है। फिर जब गुण पृथक् उपलब्ध नहीं होते तब समुदायकी कल्पना करना उचित नहीं है। गुणका अर्थ है विशेषण। गुणी-विशेष्यके बिना गुणोंमें गुणत्व ही कैसे आ सकता है ? समुदाय गुणोंसे यदि अभिन्न है; तो या तो समुदाय रहेगा या गुण। यदि भिन्न है; तो 'यह गुणोंका समुदाय है' यह व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। यदि अवक्तव्य है, तो 'अवक्तव्य' शब्दसे भी उसका कथन नहीं हो सकेगा। यदि समुदाय है तो अवक्तव्य नहीं हो सकता और यदि अवक्तव्य है तो समुदाय नहीं हो सकता, क्योंकि विद्यमान अर्थ की ही संज्ञा होती है, अवक्तव्य तो सर्ववचनोंके अगोचर होनेसे निःस्वरूप ही है। यदि गुण वक्तव्य है और समुदाय अवक्तव्य है तो दोनोंमें लक्षणभेद होनेसे भेद हो जायगा। यदि द्व्यणुक आदि स्कन्धोंको रूपादिपरमाणुका मात्र समुदाय माना जाता है और उस अवस्थामें किसी नई पर्यायका उत्पाद नहीं होता, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमाणुओंकी अतीन्द्रियता समुदायमें भी बनी रहती है तब स्कन्धोंको दृश्य नहीं होना चाहिए। और यदि स्कन्ध-प्रतीति-को भ्रान्त माना जाता है तो प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास तथा अनुमान और अनुमानाभासमें कोई भेद नहीं रह जायगा। इनमें भेद बाह्यार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे ही पड़ता है।

एकान्तवादियोंके मतमें 'द्रव्यं भव्ये' यह लक्षण भी नहीं बनता; क्योंकि जब द्रव्य ही असिद्ध है तब उसमें भव्य-होनेयोग्यकी कल्पना ही नहीं हो सकती। गुण कर्म और सामान्य आदिसे जब द्रव्य सर्वथा भिन्न है तब वह खरविषाणकी तरह स्वयं असत् होनेसे भवन-क्रियाका कर्ता नहीं हो सकता। जो स्वयं असिद्ध है उसमें समवायसम्बन्धके कारण स्वरूपकल्पना करना भी संभव नहीं है। गुणसमुदाय पक्षमें चूँकि समुदाय काल्पनिक है और गुणोंका पृथक् कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होता अतः उभयथा असत् पदार्थ भवन-क्रियाका कर्ता नहीं बन सकता। अनेकान्तवादीके मतमें तो द्रव्य और पर्यायमें कथञ्चित् भेद होनेसे 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' और 'द्रव्यं भव्ये' ये दोनों लक्षण बन जाते हैं।

§ १३-१४. 'द्रव्याणि' में बहुवचन धर्माधर्मादि बहुत्वके सामानाधिकरण्यके लिए दिया है। सामानाधिकरण्य होनेपर भी चूँकि 'द्रव्य' शब्द नित्य नपुंसकलिंग है अतः पहिले सूत्रमें निर्दिष्ट धर्माधर्मादिके समान उसमें पुल्लिंगका प्रयोग नहीं हुआ है।

## जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीव भी द्रव्य है।

§ १-२. 'जीवत्व नामक अपरसामान्यके सम्बन्धसे जीव हैं, स्वतःसिद्ध नहीं' यह वैशेषिकका मत ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य माननेमें जो दोष दिये हैं वे सब

यहाँ लागू हो जाते हैं। यदि जीवमें 'जीवत्व' के सम्बन्धसे जीव प्रत्यय होता है तो 'जीवत्व' में अन्य 'जीवत्वत्व' के सम्बन्धसे प्रत्यय माननेपर अनवस्था दूषण होता है। यदि इस अनवस्था दोषके भयसे 'जीवत्व' को स्वतःसिद्ध मानते हो तो 'अर्थान्तरके संसर्गसे प्रत्यय होता है' इस प्रतिज्ञाकी हानि हो जायगी। अतः जिस प्रकार जीवत्व स्वतःसिद्ध है उसी तरह जीवको भी स्वतःसिद्ध मान लेना चाहिए। प्रदीपकी तरह 'जीवत्व' में स्वतः प्रत्यय मानना उचित नहीं है; क्योंकि उसी तरह जीवमें भी स्वतःप्रत्यय माननेमें कोई बाधा नहीं है। 'चूँकि जीव और जीवत्व दोनों भिन्न पदार्थ हैं अतः उनमें समानता नहीं लाई जा सकती' यह तर्क उचित नहीं है; क्योंकि जीव और जीवत्व भिन्न पदार्थ ही नहीं हैं। फिर आपके मतसे तो दूसरे पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थमें आ ही जाता है जैसे कि सत्ताका 'सत्प्रत्ययहेतुत्व' धर्म द्रव्य गुण और कर्ममें आता है। यदि सत्ताका सम्बन्ध होनेपर भी द्रव्यादिमें सत्प्रत्ययहेतुता नहीं है किन्तु सत्तामें ही है; तो फिर द्रव्यादिको खरविषाणकी तरह 'सत्' ही नहीं कह सकेंगे। अतः जीवनक्रियासे उपलक्षित द्रव्यविशेषमें 'जीव' यह संज्ञा अनादिपारिणामिकी और स्वभावभूत है।

§ ३. यद्यपि आगे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्रगत द्रव्यलक्षणसे ही धर्मादिमें द्रव्यता सिद्ध थी, फिर भी यहाँ द्रव्योंकी गिनती नियमके लिए की है। धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव कालके साथ मिलकर छह द्रव्य होते हैं अतिरिक्त द्रव्य नहीं हैं। अतः अन्य मतवालोंने जो द्रव्यसंख्याएँ मानी हैं उनकी निवृत्ति हो जाती है। वैशेषिक नव द्रव्यवादी हैं। उनका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन, रूप रस गन्ध और स्पर्शवाले होनेसे पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भूत हैं। वायु रूपवाली है क्योंकि उसमें घट आदिकी तरह स्पर्श पाया जाता है। चक्षुके द्वारा न दिखनेके कारण रूपका अभाव नहीं किया जा सकता, अन्यथा परमाणु आदिका भी अभाव हो जायगा। मन दो प्रकारका है-द्रव्यमन और भावमन। भावमन ज्ञानरूप है, वह जीवका गुण होनेसे आत्मामें अन्तर्भूत है। द्रव्यमन रूपादिवाला होनेसे पौद्गलिक है। परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ रूपादिवाले होकर भी आँखोंसे नहीं दिखते अतः न दिखने मात्रसे मनमें रूपादि वस्तुका अभाव नहीं किया जा सकता। 'मन ज्ञानोपयोगका करण होनेसे रूपादिवाला है चक्षु इन्द्रियकी तरह' इस अनुमानसे मनमें रूपादिका सद्भाव सिद्ध होता है। शब्द भी पौद्गलिक होनेसे मूर्तिक है। वायु और मनके पुद्गलपरमाणुओंमें भी स्कन्ध होनेकी योग्यता है, अतः वे भी स्कन्ध बनते हैं। पार्थिव और जलीय आदि रूपसे परमाणुओंमें जातिभेद नहीं है, क्योंकि पार्थिव चन्द्रकान्तमणिसे जलकी, जलसे पार्थिव मोती आदिकी जातिसंकररूपसे उत्पत्ति देखी जाती है। दिशाका भी आकाशमें अन्तर्भाव हो जाता है, सूर्योदय आदिकी अपेक्षा आकाशके प्रदेशोंमें ही 'यह इससे पूर्व है' आदि दिग्व्यवहार हो जाता है।

§ ४. जीवोंकी अनन्तता और विविधता सूचन करनेके लिए 'जीवाश्च' यहाँ बहुवचनका प्रयोग किया है। संसारी जीव गति आदि चौदह मार्गणास्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान, सूक्ष्म बादर आदि चौदह जीवस्थानोंके विकल्पसे अनेक प्रकारके हैं। मुक्त जीव भी एक दो तीन संख्यात असंख्यात समयसिद्ध, शरीराकार, अवगाहना आदिके भेदसे अनेक प्रकार के हैं।

§ ५-८. यदि 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा इकट्ठा एक सूत्र बनाते तो च शब्द न देनेके कारण लघुसूत्र तो होता परन्तु इससे जीव ही द्रव्य कहे जा सकते धर्मादि नहीं। 'द्रव्याणि' में जो बहुवचन है वह तो अनेक प्रकारके जीवोंके सामानाधिकरण्यके लिए ही सार्थक हो जाता है-उससे धर्मादिमें द्रव्यता सिद्ध नहीं हो पायगी। यद्यपि 'अजीवकायाः' इस सूत्रसे अजीवाधिकार चल रहा है परन्तु जब 'द्रव्याणि जीवाः' एक सूत्र बना दिया जाता तो स्वभावतः जीवोंमें ही द्रव्यता फलित होगी अजीवोंमें नहीं। अधिकार रहनेपर भी जब तक उस प्रकारका प्रयत्न न

किया जाय तब तक 'अजीवोंमें द्रव्यरूपता बन ही नहीं सकती। अतः पृथक् सूत्र बनाना उचित है इसीलिए 'च' शब्द भी सार्थक है।

## नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

ये द्रव्य नित्य अवस्थित और अरूपी हैं।

§ १-२. नित्यशब्दका अर्थ है ध्रौव्य। द्रव्य जिन जिन गतिहेतुत्व स्थितिहेतुत्व आदि विशेषलक्षणों तथा अस्तित्व आदि सामान्यलक्षणोंसे युक्त है उन उन स्वभावोंका कभी भी विनाश नहीं होता। इसी तद्भावाव्ययको नित्य कहते हैं।

§ ३-५. धर्मादि द्रव्य कभी भी अपनी छह संख्याको नहीं छोड़ते, न तो सात होते हैं और न पाँच, इसीलिए ये अवस्थित हैं। अथवा धर्माधर्मादिद्रव्योंके जितने प्रदेश बताये गये हैं उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती। धर्मादि द्रव्योंके गत्युपग्रह स्थित्युपग्रह उत्पाद व्यय ध्रौव्य मूर्तिमत्त्व और अमूर्तत्व आदि अनेक परिणमन होते हैं, अतः नित्यके बाद भी अवस्थितका कथन करनेसे यह सूचित होता है कि अनेकपरिणमन होनेपर भी कभी भी धर्मादिकमें मूर्तत्व या चेतनत्व नहीं आ सकता, न जीवोंमें अचेतनत्व और न पुद्गलोंमें अमूर्तत्व आदि। इन धर्मादिक द्रव्योंमें द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयकी गौण मुख्य विवक्षासे ये अनेक परिणमन बन जाते हैं। इनमें कोई विरोध नहीं आता।

§ ६-७. अथवा, 'नित्य' शब्द अवस्थितका विशेषण है। जैसे गमन शयन आदि अनेक क्रियाओंके करते रहनेपर भी सतत प्रजल्प-बकवास करनेके कारण देवदत्तमें 'नित्यप्रजल्पित' व्यवहार कर दिया जाता है; उसी तरह बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे उत्पाद व्यय होनेपर भी धर्मादि द्रव्य कभी भी अपने अमूर्तत्व स्वभावको नहीं छोड़ते अतः इन्हें नित्यावस्थित कहते हैं। परिस्पन्द रूप क्रियाकी निवृत्तिके लिए अवस्थित पदकी सार्थकता नहीं है क्योंकि आगे इस क्रियाकी निवृत्तिके लिए 'निष्क्रियाणि' सूत्र कहा जानेवाला है।

§ ८. 'अरूप' पद रूप और स्पर्शादिका निषेध करके 'अमूर्तत्व' स्वभावकी सूचना देता है।

§ ९. वृत्तिमें "धर्मादिद्रव्य अवस्थित हैं, वे कभी भी अपनी पाँच संख्याको नहीं छोड़ते" यह कथन होनेसे षड्द्रव्योपदेशका व्याघात नहीं होता; क्योंकि वृत्तिमें 'कालश्च' सूत्रसे निर्दिष्ट होनेवाले कालद्रव्यकी अपेक्षा न करके 'पाँच' का निर्देश किया है।

## रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

धर्मादि द्रव्योंके अरूपी होनेपर भी पुद्गलद्रव्य रूपी है।

§ १. यद्यपि रूप शब्दके स्वभाव अभ्यास श्रुति महाभूत गुणविशेष और मूर्ति आदि अनेक अर्थ हैं परन्तु यहाँ शास्त्रानुसार 'मूर्ति' अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

§ २. रूप रस गन्ध और स्पर्श तथा गोल त्रिकोण चौकोण लंबा चौड़ा आदि आकृतियों रूप परिणमनको मूर्ति कहते हैं।

§ ३-६. अथवा, रूप शब्दसे आँखके द्वारा ग्रहण होनेवाला रूप नामका गुणविशेष लेना चाहिए। रस गन्ध आदि रूपके अविनाभावी हैं अतः रूपके कहनेसे उनका ग्रहण हो जाता है। यद्यपि पुद्गलद्रव्यसे रूप भिन्न नहीं है क्योंकि द्रव्यको छोड़कर पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती, तो भी पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे कथञ्चित् भेद है ही। पुद्गलद्रव्य स्थिर रहता है पर रूपादि उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं, द्रव्य अनादि है रूपादि आदिमान्, द्रव्य अन्वयी होता है और रूपादि व्यतिरेकी, अतः भेदविवक्षासे 'रूपी' यहाँ 'इन्' प्रत्यय हो जाता है। फिर,

अभेदमें भी 'मतुप्' आदि प्रत्ययोंके द्वारा भेदपरक निर्देश भी देखा जाता है जैसे कि 'आत्मवान् आत्मा' 'सारवान् स्तम्भः' यहाँ। यहाँ आत्मासे भिन्न कोई आत्मत्व या स्तम्भको छोड़कर अन्य सार नहीं पाया जाता। उसी तरह 'रूपिणः' यह निर्देश अभेदमें भी बन जाता है।

§ ७. परमाणु और स्कन्ध आदिके भेदसे अनेक प्रकारके पुद्गल द्रव्योंकी सूचना देनेके लिए 'पुद्गलाः' यहाँ बहुवचन दिया है।

## आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

आकाशपर्यन्त अर्थात् धर्म अधर्म और आकाश ये एक द्रव्य हैं।

§ १. 'आङ्' का प्रयोग अभिविधि अर्थात् अभिव्याप्तिके अर्थमें किया गया है, इससे आकाशका भी ग्रहण हो जाता है। यदि मर्यादा अर्थमें होता तो आकाशसे पहिले पहिलेके द्रव्योंका ग्रहण होता, आकाशका नहीं।

§ २-३ एक शब्द संख्यावाची है। चूँकि धर्म अधर्म और आकाश तीन द्रव्योंके एक एकपनेका निर्देश करना है, अतः सूत्रमें द्रव्य शब्दका बहुवचनके रूपमें निर्देश किया है।

§ ४-६. **प्रश्न**–'आ आकाशादेकैकम्' ऐसा लघुसूत्र बनानेसे भी कार्य चल सकता है, द्रव्य तो प्रसिद्ध ही है, अतः द्रव्यका अन्वय हो ही जायगा, फिर सूत्रमें द्रव्यपद निरर्थक है? उत्तर–केवल 'एकैकम्' कहनेसे यह पता नहीं चलता कि ये किस अपेक्षा एक कहे जा रहे हैं–द्रव्य क्षेत्र काल या भावसे? अतः असन्दिग्ध रूपसे 'द्रव्यकी अपेक्षा' का सूचन करनेके लिए 'द्रव्य' पद देना सार्थक ही है। अतः गति स्थिति आदि परिणामवाले विविध जीव पुद्गलोंकी गति आदिमें निमित्त होनेसे भावकी अपेक्षा, प्रदेशभेदसे क्षेत्रकी अपेक्षा, तथा कालभेदसे कालकी अपेक्षा अनेकत्व होनेपर भी धर्मादि एक एक ही द्रव्य हैं जीव और पुद्गल आदिकी तरह अनेक नहीं हैं। यदि जीव और पुद्गलोंको एक एक द्रव्य माना जायगा तो क्रियाकारकका भेद, संसार और मोक्ष आदि नहीं हो सकेंगे।

## निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

ये धर्मादिद्रव्य निष्क्रिय हैं।

§ १-२. बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणोंसे होनेवाली द्रव्यकी उस पर्यायको क्रिया कहते हैं जो एक देशसे देशान्तर प्राप्तिमें कारण होती है। उभय कारणोंका ग्रहण इसलिए किया है कि क्रिया द्रव्यका सदा वर्तमान स्वभाव नहीं है। यदि होता, तो द्रव्यमें प्रतिक्षण क्रिया होनी चाहिए थी। क्रिया द्रव्यसे भिन्न नहीं है किन्तु क्रियापरिणामी द्रव्यकी पर्याय है। यदि भिन्न हो तो द्रव्य निश्चल हो जायगा। ज्ञानादि या रूपादि गुणोंकी व्यावृत्तिके लिए 'देशान्तरप्राप्तिहेतु' यह विशेषण दिया गया है। क्रिया शब्दसे 'निर्' उपसर्गका समास करने पर 'निष्क्रिय' शब्द सिद्ध होता है।

§ ३. धर्मादि द्रव्योंमें क्रियानिमित्तक उत्पाद और व्यय नहीं होते अतः निष्क्रिय होनेसे उत्पादादिका अभाव करना उचित नहीं है। उत्पाद दो प्रकारका है–स्वनिमित्तक और परप्रत्यय। अनन्त अगुरुलघुगुणोंकी षट्स्थानपतित वृद्धि और हानिसे सभी द्रव्योंमें स्वाभाविक उत्पाद व्यय होते रहते हैं। परप्रत्यय भी उत्पाद व्यय अश्वादिकी गति स्थिति और अवगाहमें निमित्त होनेसे होते हैं। उन पदार्थोंमें प्रतिक्षण परिणमन होता है अतः उनकी अपेक्षा गति स्थिति और अवगाहनकी हेतुतामें भेद होता रहता है।

§ ४-६. **प्रश्न**–क्रियावाले ही जलादि पदार्थ मछली आदिकी गति और स्थितिमें निमित्त देखे गये हैं, अतः निष्क्रिय धर्माधर्मादि गतिस्थितिमें निमित्त कैसे हो सकते हैं? उत्तर–जैसे देखनेकी

इच्छा करनेवाले आत्माको चक्षु इन्द्रिय बलाधायक हो जाती है, इन्द्रियान्तरमें उपयुक्त आत्माको वह स्वयं प्रेरणा नहीं करती। आयुके क्षय हो जाने पर आत्माके निकल जाने पर शरीरमें विद्यमान भी इन्द्रियाँ रूपादिदर्शन नहीं करातीं, अतः ज्ञात होता है कि आत्मामें ही वह शक्ति है, इन्द्रियाँ तो मात्र बलाधायक होती हैं, उसी प्रकार स्वयं गति स्थिति और अवगाहन रूपसे परिणमन करनेवाले द्रव्योंकी गति आदिमें धर्मादि द्रव्य निमित्त हो जाते हैं, स्वयं क्रिया नहीं करते। जैसे आकाश अपनी द्रव्य सामर्थ्यसे गमन न करने पर भी सभी द्रव्योंसे संबद्ध है और सर्वगत कहलाता है उसी तरह धर्मादि द्रव्योंकी भी गति आदिमें निमित्तता समझनी चाहिए। च शब्दसे धर्म-अधर्म और आकाशका सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। धर्माधर्मादिमें निष्क्रियत्वका नियम होनेसे अर्थात् ही जीव और पुद्गलमें स्वपरप्रत्यय सक्रियता सिद्ध हो जाती है।

§ ७-१३. प्रश्न-आत्मा स्वयं तो सर्वगत होनेसे निष्क्रिय है, केवल क्रियाहेतु गुण अदृष्टके समवायसे पर पदार्थोंकी क्रियामें हेतु होता है। अतः आत्माको सक्रिय कहना उचित नहीं है? उत्तर-जैसे वायु स्वयं क्रियाशील होकर ही वृक्ष आदिमें क्रिया करती है उसी तरह स्वयं क्रिया स्वभाव आत्माके वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षय या क्षयोपशम, अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मका उदय और विहायोगति नामकर्मसे विशेष शक्ति मिलने पर गतिमें तत्पर होते ही हाथ पैर आदिमें क्रिया होती है। निष्क्रिय आत्मा दूसरे पदार्थमें क्रिया नहीं करा सकता। अतः वैशेषिकका यह सिद्धान्त खंडित हो जाता है-"आत्मसंयोग और प्रयत्नसे हाथमें क्रिया होती है" क्योंकि जिस प्रकार निष्क्रिय आकाशका घटादिकमें संयोग होनेपर भी घटमें क्रिया नहीं होती उसी तरह निष्क्रिय आत्मामें भी हाथ आदिसे संयोग होनेपर भी क्रिया नहीं हो सकती। जैसे दो जन्मान्धोंके सम्बन्धसे दर्शनशक्ति उत्पन्न नहीं होती उसी तरह आत्मसंयोग और प्रयत्न जब दोनों निष्क्रिय हैं तब इनके सम्बन्धसे क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। वैशेषिक सूत्रमें बताया है कि "दिशा काल और आकाश क्रियावाले द्रव्योंसे विलक्षण होनेसे निष्क्रिय हैं। इसी तरह कर्म और गुण पदार्थ भी निष्क्रिय हैं।" संयोग और प्रयत्न दोनों गुण हैं अतः निष्क्रिय हैं। यह तर्क भी ठीक नहीं है कि "जैसे अग्निसंयोग उष्णताकी अपेक्षा करके घट आदि पदार्थोंमें पाकज रूप आदिको उत्पन्न करता है स्वयं अग्निमें नहीं उसी तरह अदृष्टकी अपेक्षा लेकर आत्मसंयोग और प्रयत्न हाथ आदिमें क्रिया उत्पन्न कर देंगे अपनेमें नहीं।" क्योंकि इससे तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है। अग्निसंयोगका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है क्योंकि अनुष्णशीत अप्रेरक अनुपघाती और अप्राप्त संयोग, रूपादिकी उत्पत्ति या उच्छेदमें कारण नहीं हो सकता। गुरुत्व भी क्रियापरिणामी द्रव्यका गुण होकर ही अन्य द्रव्यमें क्रियाहेतु हो सकता है। इसी तरह आत्मसंयोग और प्रयत्न भी क्रियापरिणामी द्रव्यके गुण होकर ही क्रियाहेतु होंगे। अतः तथापरिणत-क्रियापरिणत द्रव्यको ही क्रियाहेतु मानना उचित है। धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलकी गतिमें अप्रेरक कारण है अतः वह निष्क्रिय होकर भी बलाधायक हो सकता है पर आप तो आत्मगुणको परकी क्रियामें प्रेरक निमित्त मानते हैं अतः धर्मास्तिकायका दृष्टान्त विषम है। कोई भी निष्क्रिय द्रव्य-या उसका गुण प्रेरकनिमित्त नहीं हो सकता। धर्मास्तिकाय द्रव्य तो अन्यत्र बलाधायक हो सकता है पर निष्क्रिय आत्माका गुण, जो कि पृथक् उपलब्ध नहीं होता क्रियाका बलाधायक भी संभव नहीं है। यदि गुणका पृथक् सद्भाव मानते हैं तो दोनोंका अभाव हो जायगा।

§ १४-१६. यदि आत्माको निष्क्रिय मानते हैं तो आकाशप्रदेशकी तरह वह शरीरमें क्रियाहेतु नहीं हो सकेगा। एकान्तसे अमूर्त और निष्क्रिय आत्माका शरीरसे सम्बन्ध भी संभव नहीं, अतः परस्पर उपकार नहीं बन सकेगा। जैन तो कार्मणशरीरके सम्बन्धसे आत्मामें क्रिया

मानते हैं, अतः जब आठों कर्मोंका नाश होनेसे शरीरका वियोग हो जाता है तो अशरीरी आत्मा निष्क्रिय बन जाता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्यका अभाव होना सर्वसिद्ध है। जो क्रिया कर्म और नोकर्मके निमित्तसे आत्मामें होती है उसका अभाव कर्मनोकर्मके अभावमें हो ही जाना चाहिए, पर आत्माकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति रूप क्रिया तो मुक्तके भी स्वीकार की जाती है। मुक्तमें भी अनन्तवीर्य ज्ञान दर्शन और सुखानुभवन आदि क्रियाएँ होती ही रहती हैं। आगे दसवें अध्यायमें पूर्वप्रयोग और असंगत्व आदि कारणोंसे मुक्तोंकी ऊर्ध्वगतिका समर्थन किया भी है।

§ १७. पुद्गलद्रव्योंके भी स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं।

§ १८–१९. क्रिया क्रियावान् द्रव्यसे अभिन्न है; क्योंकि वह उसीका परिणामविशेष है, जैसे कि अग्निकी उष्णता। जिस प्रकार उष्णताको अग्निसे भिन्न माननेपर अग्निके अभावका ही प्रसंग होता है उसी तरह यदि क्रियाको भिन्न माना जायगा तो द्रव्य स्पन्दरहित-निष्क्रिय हो जायगा और इस तरह क्रियावाले द्रव्योंका अभाव ही हो जायगा। दंड स्वतः-सिद्ध है, अतः उसके सम्बन्धसे पुरुषमें 'दंडी' यह व्यपदेश हो सकता है पर क्रिया तो द्रव्यसे भिन्न-पृथक्सिद्ध नहीं है अतः दंडीकी तरह 'क्रियावान्' व्यपदेश नहीं हो सकता।

§ २०–२१. समवाय सम्बन्धके द्वारा 'क्रियावान्' व्यपदेश मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि यदि क्रिया और क्रियावान् द्रव्यमें अयुतसिद्धत्व–अभिन्नत्व माना जाता है तो द्रव्य और क्रियाका पार्थक्य ही नहीं रहता, फिर सम्बन्ध कैसा ? यदि भिन्नता मानी जाती है तो अयुतसिद्ध सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। क्रिया और क्रियावान् द्रव्यमें तो भेद देखा जाता है— क्रिया क्षणिक और सकारण है जब कि द्रव्य अवस्थित और अकारण है। यदि दोनोंमें अभेद माना जायगा तो द्रव्यकी तरह क्रिया भी नित्य और अकारण हो जायगी, और क्रियाकी तरह द्रव्य भी क्षणिक और सकारण हो जायगा।

§ २२–२५. महान् अहंकार तथा परमाणु आदि क्रियावान् होकर भी नित्य माने जाते हैं अतः दीपकके दृष्टान्तसे जीवमें क्रियावान् होनेसे अनित्यत्वका प्रसंग नहीं आ सकता। सर्वानित्यत्ववादीका यह हेतु असिद्ध है कि–"सब पदार्थ प्रत्ययजन्य हैं और निरीहक हैं" क्योंकि ऐसा माननेपर क्रियावत्त्वका लोप हो जायगा। जैन पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे क्रियावान् जीवादि द्रव्योंको अनित्य भी मानते हैं। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे जब नित्यत्व है तब हम उसे प्रदीपकी तरह क्रियावाला भी नहीं मानते। अतः इस पक्षमें प्रदीप दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। द्रव्यार्थिककी प्रधानतामें सभी पदार्थ उत्पाद और व्ययसे शून्य हैं, निष्क्रिय हैं और नित्य हैं। पर्यायर्थिकनयसे ही पदार्थोंमें उत्पाद और व्यय होते हैं, वे सक्रिय और अनित्य हैं। इस तरह अनेकान्त समझना चाहिए।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

धर्म अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं।

§ १–२. गिनती न हो सकनेके कारण वे असंख्येय हैं। वे गिनतीकी सीमाको पार कर गये हैं। जैसे सर्वज्ञ अनन्तको अनन्त रूपमें जानता है उसी तरह वह असंख्यातको असंख्यात रूपमें जानता है। इस तरह सर्वज्ञतामें कोई बाधा नहीं है। यहाँ अजघन्योत्कृष्ट असंख्येय लेना चाहिए।

§ ३–४. एक अविभागी परमाणु जितने क्षेत्रमें ठहरता है उसे प्रदेश कहते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोकको व्याप्त करके स्थित हैं, ये निष्क्रिय हैं। जीव असं-

ख्यातप्रदेशी होनेपर भी संकोचविस्तारशील होनेसे कर्मके अनुसार प्राप्त छोटे या बड़े शरीरमें तत्प्रमाण होकर रहता है। जब इसकी समुद्घात कालमें लोकपूर्ण अवस्था होती है तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वतके नीचे चित्र और वज्रपटलके मध्यके आठ प्रदेशोंपर स्थित हो जाते हैं, बाकी प्रदेश ऊपर नीचे चारों ओर फैल जाते हैं।

§ ५-६. एक द्रव्य यद्यपि अविभागी है, वह घटकी तरह संयुक्तद्रव्य नहीं है फिर भी उसमें प्रदेश वास्तविक हैं उपचारसे नहीं। घटके द्वारा जो आकाशका क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वही अन्य पटादिके द्वारा नहीं। दोनों जुदे-जुदे हैं। यदि प्रदेशभिन्नता न होती तो वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता था। अतः द्रव्य अविभागी होकर भी प्रदेशशून्य नहीं है। वह घटादिकी तरह द्रव्यविभागवाला-सावयव भी नहीं है अतः अविभागी निरवयव और अखंड माननेमें कोई बाधा नहीं है।

§ ७-९. जीव अनन्त हैं अतः 'एकजीव' का असंख्यातप्रदेशित्व बतानेके लिए 'एक' पद दिया है। नाना जीवोंकी अपेक्षा तो अनन्त प्रदेश हो सकते हैं। द्रव्योंसे प्रदेशोंका कथञ्चित् भेद होनेसे षष्ठी विभक्ति-द्वारा 'धर्माधर्मैकजीवानाम्' यह भेदनिर्देश कर दिया है। 'असंख्येय-प्रदेशाः' ऐसा लघुनिर्देश न करके 'प्रदेशाः' का पृथक् निर्देश इसलिए किया है कि उसका सम्बन्ध आगेके सूत्रोंमें होता जाय। यदि 'असंख्येयप्रदेशाः' ऐसा द्रव्यप्रधान निर्देश करते तो 'प्रदेश' पद गौण हो जानेसे आगे उसका सम्बन्ध नहीं हो पाता।

§ १०-१३. माणवकमें सिंहकी तरह धर्मादि द्रव्योंमें प्रदेशकल्पना औपचारिक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार क्रूरता शूरता आदि गुणवाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचमें सिंह शब्द मुख्य रूपसे तथा सादृश्यकी अपेक्षा माणवकमें गौणरूपसे दो प्रकारके प्रत्ययोंका उत्पादक प्रसिद्ध है उस तरह धर्मादि और पुद्गलादिमें होनेवाले 'प्रदेशवत्त्व' प्रत्ययमें कोई भेद नहीं दिखाई देता। सिंहमें मुख्य सिंह प्रत्यय होनेसे माणवकमें गौणकल्पना हो भी सकती है। पर यहाँ ऐसा नहीं है। जब केवल सिंह शब्दका प्रयोग होता है तब मुख्य प्रदेशोंका बोध होता है तथा जब सोपपद अर्थात् माणवकसिंहकी तरह किसी अन्यपदसे युक्तका प्रयोग होता है तब गौण व्यवहार किया जाता है। किन्तु यहाँ जैसे 'घटके प्रदेश' प्रयोग होता है वैसे ही 'धर्मादिके प्रदेश' यह भी सोपपद ही प्रयोग होता है, अतः कोई विशेषता नहीं है। सिंहगत क्रौर्यादि धर्मोंका एकदेश सादृश्य देखकर माणवकमें किया जानेवाला 'सिंह व्यवहार' गौण हो सकता है किन्तु पुद्गल और धर्मादिमें सभीके स्वाधीन मुख्य ही प्रदेश हैं अतः उपचार कल्पना नहीं बनती।

§ १४. प्रश्न–यदि घटादिकी तरह धर्मादिके भी मुख्य ही प्रदेश होते तो घटादिके ग्रीवा पैंदा आदिकी तरह स्वतः उनमें भी प्रदेशवान्‌की तरह व्यवहार होना चाहिए द्रव्यान्तरसे नहीं। धर्मादि द्रव्योंमें प्रदेशव्यवहार पुद्गल परमाणुके द्वारा रोके गये आकाश प्रदेशके नापसे होता है। अतः मानना चाहिए कि उनमें मुख्य प्रदेश नहीं है। उत्तर–चूँकि धर्मादि द्रव्य अती-न्द्रिय हैं, परोक्ष हैं, अतः उनमें मुख्यरूपसे प्रदेश विद्यमान रहने पर भी स्वतः उनका ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए परमाणुके नापसे उनका व्यवहार किया जाता है।

§ १५. अर्हन्तके द्वारा प्रणीत गणधरके द्वारा अनुस्मृत तथा आचार्योंकी परम्परासे प्राप्त श्रुत-आगममें इन सब द्रव्योंके प्रदेशोंका वर्णन इस प्रकार मिलता है–"एक एक आत्म-प्रदेशमें अनन्तानन्त ज्ञानावरणादि कर्मोंके प्रदेश ठहरे हैं। एक एक कर्मप्रदेशमें अनन्तानन्त औदारिकादि शरीरोंके प्रदेश हैं। एक एक शरीरप्रदेशमें अनन्तानन्त विस्रसोपचय परमाणु गीले गुड़में धूलकी तरह लगे हुए हैं।" इसी तरह धर्मादि द्रव्योंमें भी मुख्य प्रदेश जानना चाहिए।

§ १६. आगममें जीवके प्रदेशोंको स्थित और अस्थित दो रूपमें बताया है। सुख दुःखका अनुभव पर्यायपरिवर्तन या क्रोधादि दशामें जीवके प्रदेशोंकी उथल-पुथलको अस्थिति तथा उथल-पुथल न होनेको स्थिति कहते हैं। जीवके आठ मध्यप्रदेश सदा निरपवाद रूपसे स्थित ही रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धोंके सभी प्रदेश स्थित हैं। व्यायामके समय या दुःख परिताप आदिके समय जीवोंके उक्त आठ मध्यप्रदेशोंको छोड़कर बाकी प्रदेश अस्थित होते हैं। शेष जीवोंके स्थित और अस्थित दोनों प्रकारके हैं। अतः ज्ञात होता है कि द्रव्योंके मुख्य ही प्रदेश हैं, गौण नहीं।

§ १७. चूँकि आगममें वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयमें आत्माके उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण प्रदेशोंमें चक्षु इन्द्रिय पर्यायकी प्राप्ति बताई गई है। इस तरह अमुक प्रदेशोंमें उसका परिणमन बतानेसे ज्ञात होता है कि आत्मादिके मुख्य ही प्रदेश हैं।

§ १८. द्रव्योंकी प्रतिनियत स्थानोंमें स्थिति बताई जानेसे भी ज्ञात होता है कि आकाश आदिमें मुख्य ही प्रदेश हैं। पटना आकाशके दूसरे प्रदेशमें है और मथुरा अन्य प्रदेशमें। यदि आकाश अप्रदेशी होता तो पटना और मथुरा एक ही जगह हो जाते।

§ १९. वैशेषिकोंके मतमें संसारी जीवके कानके भीतर आया हुआ आकाशप्रदेश श्रोत्र कहलाता है। यह अदृष्टविशेषसे संस्कृत होकर शब्दोपलब्धि करता है। यदि आकाशके प्रदेश न माने जायेंगे तो संपूर्ण आकाशको श्रोत्र कहना होगा। ऐसी दशामें सभी प्राणियोंको सभी शब्द सुनाई देना चाहिए। यदि प्रदेशविशेषको श्रोत्र कहते हैं तो आकाशको अप्रदेशी कहना खंडित हो जाता है। अथवा एक परमाणु पूरे आकाशसे सम्बन्धको प्राप्त होता है या एक देश-से? यदि पूरे आकाशसे, तो या तो आकाशको परमाणुरूप मानना होगा या फिर परमाणुको आकाशके बराबर। यदि एक देशसे; तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि आकाशके मुख्य ही प्रदेश हैं।

§ २०. वैशेषिक मतमें कर्म उत्पन्न होते ही अपने आश्रयको एक आधारसे हटाकर दूसरे आधारसे संयुक्त कराता है। यह कर्मका स्वभाव है। इससे स्पष्ट है कि आकाशके प्रदेश-भेद है अन्यथा किसीसे संयोग और किसीसे वियोग कैसे बन सकता है? यदि प्रदेशान्तर-संक्रमण न हो तो कर्मका ही अभाव हो जायगा।

§ २१. आत्माके सामान्य पुरुषशरीरकी दृष्टिसे प्रदेशोंमें एकत्व है और सिर पैर हाथ नाक आदि अंग-उपांग रूप पर्यायकी दृष्टिसे भेद है। इस तरह प्रदेशोंके एकत्व और अनेकत्वमें अनेकान्त है। अथवा, पुरुष द्रव्यकी दृष्टिसे एकत्व होनेपर पाचक लावक (काटनेवाला) आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकत्व है। अथवा, पिता पुत्र चाचा मामा आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकता है। अथवा, पंचेन्द्रिय आरोग्य मेधावी पटु कुशल सुशील आदि व्यवहारोंमें कारणभूत पर्यायों-की दृष्टिसे अनेकता है। इसी तरह धर्म अधर्म आकाश आदिमें स्वद्रव्यकी विवक्षामें एकत्व है और तत्तत् पर्यायोंकी विवक्षामें अनेकत्व है।

§ २२. शुद्धनयकी दृष्टिसे अखंड उपयोग स्वभावकी विवक्षासे आत्मामें प्रदेश-भेद न होनेपर भी व्यवहारनयसे संसारी जीव अनादि कर्मबन्धन बद्ध होनेसे सावयव ही है।

आकाशकी प्रदेशसंख्या—

## आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

आकाशके अनन्त प्रदेश हैं।

§ १-२. अनन्त अर्थात् जिनका अन्त न हो। 'प्रदेशाः' पदका सम्बन्ध यहाँ हो जाता है। अनन्त और असंख्यातमें इयत्ताका अपरिच्छेद होनेसे तुल्यता नहीं कहनी चाहिए; क्योंकि इनका महान् अन्तर 'नृस्थिती परावरे' सूत्रमें बता आये हैं।

§ ३-५. अनन्त होनेसे अज्ञेयकी आशंका भी उचित नहीं; क्योंकि वह अतिशयज्ञानशाली सर्वज्ञके द्वारा दृष्ट होता है। ये प्रश्न भी उचित नहीं हैं कि 'यदि अनन्तको सर्वज्ञने जाना है तो अनन्तका ज्ञानके द्वारा अन्त जान लेनेसे अनन्तता नहीं रहेगी और यदि नहीं जाना है तो सर्वज्ञता नहीं रहेगी ; क्योंकि सर्वज्ञका क्षायिकज्ञान अनन्तानन्त है, उसके द्वारा अनन्तका अनन्तके रूपमें ही ज्ञान हो जाता है। अन्य लोग सर्वज्ञके उपदेशसे तथा अनुमानसे अनन्तताका ज्ञान कर लेते हैं। सर्वज्ञने अनन्तको अनन्तरूपसे हो जाना है, अतः मात्र सर्वज्ञके द्वारा ज्ञात होनेसे उसमें सान्तत्व नहीं आ सकता। प्रायः सभी वादी अनन्त भी मानते हैं और सर्वज्ञ भी। बौद्ध लोकधातुओंको अनन्त कहते हैं। वैशेषिक दिशा काल आकाश और आत्माको सर्वगत होनेसे अनन्त कहते हैं। सांख्य प्रकृति और पुरुषको सर्वगत होनेसे अनन्त कहते हैं। इन सबका परिज्ञान होने मात्रसे सान्तता नहीं हो सकती। अतः अनन्त होनेसे अपरिज्ञानका दूषण ठीक नहीं है। यदि अनन्त होनेसे पदार्थको अज्ञेय कहा जायगा तो सर्वज्ञका अभाव हो जायगा ; क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं, अतः कोई उनको जान ही नहीं सकेगा। यदि पदार्थोंको सान्त माना जाता है तो संसार और मोक्ष दोनोंका लोप हो जायगा। यदि जीवोंको सान्त माना जाता है; तो जब सब जीव मोक्ष चले जायँगे तब संसारका उच्छेद ही हो जायगा। यदि संसारोच्छेदके भयसे मुक्त जीवोंका पुनः संसारमें आगमन माना जाय तो मोक्षका भी उच्छेद हो जायगा। एक एक जीवमें कर्म और नोकर्म पुद्गल अनन्त हैं। यदि उन्हें सान्त माना जाय तो भी संसार और मोक्ष दोनोंका उच्छेद हो जायगा। इसी तरह अतीत और अनागतकालको सान्त माना जाय तो पहिले और बादमें कालव्यवहारका अभाव ही हो जायगा। पर यह युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि असत्की उत्पत्ति और सत्का सर्वथा विनाश दोनों ही अयुक्तिक हैं। इसी तरह आकाशको सान्त माननेपर उससे आगे कोई ठोस पदार्थ मानना होगा। यदि नहीं; तो आकाश ही आकाश माननेपर सान्तता नहीं रहेगी।

पुद्गलोंकी प्रदेश संख्या—

**संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥**

पुद्गलोंके संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

§ १-२. च शब्द से 'अनन्त' का समुच्चय कर लेना चाहिए। अनन्त कहनेसे परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त तीनोंका ग्रहण हो जाता है।

§ ३-६. प्रश्न—जब लोक असंख्यात प्रदेशी है, तब उसमें अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध कैसे समा सकते हैं ? यह तो विरोधी बात है। उत्तर—पुद्गलोंके सूक्ष्म परिणमन और आकाशकी अवगाहनशक्तिसे अनन्तानन्त पुद्गलोंका अवगाह हो जाता है। फिर यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि छोटे आधारमें बड़ा द्रव्य ठहर ही नहीं सकता हो। पुद्गलोंमें विशेष प्रकारका सघन संघात होनेसे अल्पक्षेत्रमें बहुतोंका अवस्थान हो जाता है। जैसे कि छोटीसी चंपाकी कलीमें सूक्ष्मरूपसे बहुतसे गन्धावयव रहते हैं, पर वे ही जब फैलते हैं तो समस्त दिशाओंको व्याप्त कर लेते हैं। जैसे कि कंडा या लकड़ीमें जो पुद्गल सूक्ष्मरूपसे अल्पक्षेत्रमें थे वे ही आगसे जलने पर धूमके रूपमें बहुत आकाशको व्याप्त कर लेते हैं। इसी तरह संकोच और विस्तार रूप परिणमनसे अल्प लोकाकाशमें भी अनन्तानन्त जीव पुद्गलोंका अवस्थान हो जाता है।

**नाणोः ॥ ११ ॥**

अणुके अन्य प्रदेश नहीं होते।

§ १-३. जैसे आकाशका एक प्रदेश अन्य प्रदेश न होनेसे अप्रदेशी है इसी तरह अणुके भी प्रदेशमात्र होनेसे अन्य प्रदेश नहीं है। अणुसे छोटा तो कोई भाग होता नहीं, अतः स्वयं

ही आदि और अन्त होनेसे अणु अप्रदेशी है। जैसे कि प्रदीपन करनेके कारण प्रदीपकी संज्ञा सार्थक है उसी तरह अणु अर्थात् सूक्ष्म होनेसे 'अणु' संज्ञा भी सार्थक है। यदि अणुके भी प्रदेशप्रचय हो तो फिर वह अणु ही नहीं कहा जायगा; किन्तु उसके प्रदेश अणु कहे जायँगे।

§४–५. अप्रदेशी होनेसे परमाणुका खरविषाणकी तरह अभाव नहीं किया जा सकता; क्योंकि पहिले कहा जा चुका है कि परमाणु एकप्रदेशी है न कि सर्वथा प्रदेशशून्य। जैसे विज्ञानका आदि मध्य और अन्त व्यपदेश न होने पर भी अस्तित्व है उसी तरह परमाणुमें भी आदि अन्त और मध्य व्यवहार न होने पर भी उसका अस्तित्व है, खरविषाणकी तरह उसका अभाव नहीं है।

## लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

इन सभी द्रव्योंका लोकाकाशमें अवगाह है।

§१. यद्यपि पुद्गलोंका प्रकरण है फिर भी यहाँ धर्मादि सभी द्रव्योंकी सामान्यरूपसे विवक्षा है। अतः सभी द्रव्योंके आधारका यहाँ कथन है।

§२–४. जैसे धर्मादि द्रव्योंका लोकाकाश आधार है उस तरह आकाशका अन्य आधार नहीं है; क्योंकि उससे बड़ा दूसरा द्रव्य नहीं है जिसमें आकाश आधेय बन सके। अतः सर्वतः अनन्त यह आकाश स्वप्रतिष्ठ है। इस तरह अनवस्था दूषण भी नहीं आता। आकाशका अन्य आधार, उसका अन्य तथा उसका भी अन्य आधार माननेमें ही अनवस्था होती है।

§५–६. एवंभूतनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं, इनमें आधाराधेयभाव नहीं है। व्यवहारनयसे ही परस्पर आधाराधेयभावकी कल्पना होती है। व्यवहारसे ही वायुके लिए आकाश, जलको वायु, पृथिवीको जल, सब जीवोंको पृथिवी, जीवके लिए अजीव, अजीवके लिए जीव, कर्मके लिए जीव, जीवके लिए कर्म, तथा धर्म अधर्म और कालके लिए आकाश आधार माना जाता है। परमार्थसे तो आकाशकी तरह वायु आदि भी स्वप्रतिष्ठ ही हैं।

§ ७. जैसे व्यवहारनयसे आस्ते गच्छति आदि कर्तृसमवायिनी क्रियाओंका कर्ता और 'ओदनको पकाता है, घड़ेको फोड़ता है' आदि कर्मसमवायिनी क्रियाओंका कर्म आधार माना जाता है तथा क्रियाविष्ट कर्ता और कर्मका आधार आसन और बटलोई समझी जाती है उसी तरह आकाशादिमें भी समझना चाहिए। परमार्थसे एवंभूतनयकी विवक्षामें तो जैसे क्रिया क्रियाके स्वरूपमें ही है और द्रव्य अपने स्वरूपमें, उसी तरह सभी द्रव्य स्वाधार ही हैं।

§ ८–९. जिस प्रकार कुण्ड और बेरमें आधाराधेयभाव माननेपर पूर्वापरकालता और युतसिद्धि है उस तरह आकाश और धर्मादि द्रव्योंमें नहीं है; क्योंकि हाथ और शरीर आदिमें आधाराधेयभाव होनेपर भी न तो पूर्वापरकालता है और न युतसिद्धि ही, कारण दोनों युगपत् उत्पन्न होते हैं और अयुतसिद्ध हैं। आकाश और धर्मादि द्रव्य अनादि पारिणामिक हैं, इनमें कोई पहिलेका और कोई बादका नहीं है। अतः पूर्वापरीभाव न होनेपर भी आधाराधेयभाव माननेमें कोई विरोध नहीं है। फिर यह ऐकान्तिक नियम भी नहीं है कि युतसिद्ध या अयुतसिद्धमें ही आधाराधेयभाव होता हो, स्तम्भ और सार जैसे अयुतसिद्ध पदार्थोंमें और कुण्ड और बदर जैसे युतसिद्ध पदार्थोंमें, दोनोंमें ही आधाराधेयभाव देखा जाता है।

§ १०–१४. जहाँ पुण्य और पाप कर्मोंका सुखदुःख रूप फल देखा जाता है वह लोक है। इस व्युत्पत्तिमें लोकका अर्थ हुआ आत्मा। अथवा, जो लोके अर्थात् देखे-जाने पदार्थोंको वह लोक अर्थात् आत्मा। यद्यपि दोनों प्रकारकी व्युत्पत्तियोंमें जीवको ही लोकसंज्ञा प्राप्त होती है तथापि

न तो अन्य द्रव्योंको अलोक कहा जायगा और न 'छह द्रव्योंका समूह लोक' इस सिद्धान्तका विरोध ही होगा, क्योंकि रूढ़िमें क्रिया व्युत्पत्तिका निमित्तमात्र होती है। जैसे 'गच्छतीति गौः ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी न तो सभी चलनेवाले गौ बन जाते हैं और न बैठी हुई गाय अगौ।' इसी तरह लोक शब्दकी उक्त व्युत्पत्ति करनेपर भी धर्मादि द्रव्योंका लोकत्व नष्ट नहीं होता। आत्मा स्वयं अपने स्वरूपका लोकन करता है अतः लोक है। सर्वज्ञ जैसे बाह्य पदार्थोंका लोकन करता है उसी तरह स्वस्वरूपका भी। यदि स्वस्वरूपको न लोके तो सर्वज्ञ कैसा? स्वस्वरूपका अजानकार धर्मादिकी तरह बाह्य पदार्थोंका ज्ञाता भी कैसे बन सकता है?

§ १५-१६. प्रश्न—'जो देखा जाय वह लोक' ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर आलोकको भी, चूँकि वह सर्वज्ञके द्वारा देखा जाता है, लोक कहना चाहिए। यदि सर्वज्ञ उसे नहीं देखता तो सर्वज्ञ कैसा? उत्तर—लोकसंज्ञा रूढ़ है, व्युत्पत्ति तो निमित्तमात्र है। अथवा, 'जहाँ बैठकर सर्वज्ञ जिसे देखता हो वह लोक' यह व्युत्पत्ति करनेमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि अलोकमें बैठकर तो केवली अलोकको देखता नहीं है। अतः उभय विशेषण देनेमें कोई विरोध नहीं आता।

§ १७-१८. लोकके आकाशको लोकाकाश कहते हैं, जैसे जलके आशय-स्थानको जलाशय। अथवा, 'धर्म अधर्म पुद्गल काल और जीव जहाँ देखे जाँय वह लोक' इस व्युत्पत्तिमें अधिकरणार्थक घञ् प्रत्यय होनेपर 'लोक' शब्द बन जाता है। लोक ही आकाश वह लोकाकाश। इस तरह आकाश दो भागोंमें बँट जाता है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश धर्म अधर्म आदि द्रव्योंकी तरह असंख्यात प्रदेशी है। उसके बाहर अनन्त अलोकाकाश है।

## धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

§ १-३. धर्म और अधर्म द्रव्य तिलोंमें तैलकी तरह समस्त लोकाकाशको व्याप्त करते हैं। कृत्स्न शब्द निरवशेष—संपूर्ण व्याप्तिका सूचक है। जबकि मूर्त्तिमान् भी जल भस्म और रेत आदि एक जगह बिना विरोधके रह जाते हैं तब इन अमूर्त द्रव्योंकी एकत्र स्थितिमें कोई विरोध नहीं है। जिन स्थूल स्कन्धोंका आदिमान् सम्बन्ध होता है उनमें कदाचित् परस्पर प्रदेशविरोध हो भी पर धर्म और अधर्म आदि तो अनादि सम्बन्धी हैं, इनमें पूर्वापरभाव नहीं है और ये अमूर्त हैं। अतः इनका प्रदेशविरोध नहीं है।

## एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

पुद्गलोंका अवगाह एकप्रदेश आदि असंख्यात प्रदेशोंमें है।

§ १-२. 'एकप्रदेशादिषु' पदमें 'एकश्चासौ प्रदेशः' ऐसा अवयवसे विग्रह करके 'अखण्ड एकप्रदेश'को—समुदायको समासार्थ समझना चाहिए। जैसे 'सोमशर्मादि' में सोमशर्मा भी गृहीत होता है उसी तरह यहाँ एक प्रदेशका भी ग्रहण करना चाहिए। अथवा, प्रदेश शब्दकी अनुवृत्ति करके 'सर्वादि'की तरह समुदायको समासार्थ मानना चाहिए। भाज्य अर्थात् विकल्प्य। यथा, एक परमाणुका एक ही आकाशप्रदेशमें अवगाह होता है, दो परमाणु यदि बद्ध हैं तो एक प्रदेशमें यदि अबद्ध हैं तो दो प्रदेशोंमें, तथा तीन का बद्ध और अबद्ध अवस्थामें एक दो और तीन प्रदेशोंमें अवगाह होता है। इसी तरह बन्धविशेषसे संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाह समझना चाहिए।

§ ३-६. प्रश्न—धर्मादि द्रव्य चूँकि अमूर्त हैं अतः उनका एकप्रदेशमें अवगाह हो सकता है पर मूर्तिमान् अनेक पुद्गलोंका एक प्रदेशमें अवस्थान कैसे हो सकता है? यदि होगा तो या तो प्रदेशोंका भी प्रदेशविभाग करना होगा या फिर अवगाही पुद्गलोंमें एकत्व मानना

पड़ेगा ? उत्तर—यह पहिले कहा जा चुका है कि प्रचयविशेष, सूक्ष्मपरिणमन और आकाशकी अवगाहनशक्तिके कारण अनेकका एकत्र अवस्थान हो जाता है। जैसे एक ही कमरेमें सैकड़ों दीपप्रकाश रह जाते हैं और एक प्रदेशमें रहनेसे उनकी पृथक् सत्ता भी नष्ट नहीं होती उसी तरह एक प्रदेशमें अनन्त भी स्कन्ध अतिसूक्ष्म परिणमनके कारण स्वभावमें सांकर्य हुए विना ही रह सकते हैं। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका और तृणादिका जलनेका है और उनके इन स्वभावोंमें कोई तर्क नहीं चलता उसी तरह मूर्तिमान होनेपर भी अनेक स्कन्धोंका एक आकाश-प्रदेशमें अवगाहनस्वभाव होनेके कारण अवस्थान हो जाता है। सर्वज्ञप्रणीत आगममें जिस प्रकार एक निगोद शरीरमें-साधारण आहार जीवन मरण और श्वासोच्छ्वास होनेसे साधारण संज्ञावाले अनन्त निगोदियोंका अवस्थान बताया है उसी तरह यह भी बताया है कि—

"अनन्तानन्त विविध सूक्ष्म और बादर पुद्गलकायोंसे यह लोक सर्वतः ठसाठस भरा हुआ है।" अतः आगम प्रामाण्यसे भी उनका अवस्थान समझ लेना चाहिए।

## असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

जीवोंका अवगाह असंख्येय एक भाग आदिमें है।

§ १-३. असंख्येय भागोंका एक भाग असंख्येयभाग। लोकाकाशके असंख्येय एक भाग आदिमें जीवोंका अवगाह है। 'लोकाकाशेऽवगाहः' सूत्रसे लोकाकाशशब्दका प्रकरणवश अर्थाधीन विभक्तिपरिणमन करके 'लोकाकाशस्य' के रूपमें अनुवर्तन कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि—लोकके असंख्यात प्रदेश हैं, उनके असंख्यात भाग किये जाँय। एक असंख्येय भागमें भी एक जीव रहता है तथा दो तीन चार आदि असंख्येय भागोंमें और संपूर्ण लोक जीवोंका अवगाह समझना चाहिए। नाना जीवोंका अवगाहक्षेत्र तो सर्वलोक है।

§ ४. प्रश्न-जब एक असंख्येय भागमें भी असंख्यात प्रदेश हैं और दो तीन चार आदि भागोंमें भी असंख्यात प्रदेश हैं तब जीवोंके अवगाहमें कोई विशेषता नहीं होनी चाहिए? उत्तर-अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयके भी असंख्येय विकल्प हैं। अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयके असंख्येय भेद हैं, अतः जीवोंके अवगाहमें भी भेद हो जाता है।

§ ५. प्रश्न-जब लोकके एक असंख्येय भागमें एक जीव रहता है और द्रव्यप्रमाणसे जीवराशि अनन्तानन्त है तो वह लोकाकाशमें कैसे समा सकती है? उत्तर-जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं। बादर जीव सप्रतिघातशरीरी होते हैं पर सूक्ष्मजीवोंका सूक्ष्म-परिणमन होनेके कारण सशरीरी होने पर भी न तो बादरोंसे प्रतिघात होता है और न परस्पर ही। वे अप्रतीघातशरीरी हैं। इसलिए जहाँ एक सूक्ष्मनिगोद जीव रहता है वहीं अनन्तानन्त साधारण सूक्ष्म शरीरी रहते हैं। बादर मनुष्य आदिके शरीरोंमें भी संस्वेदज आदि अनेक सम्मूर्च्छन जीव रहते हैं। यदि सभी जीव बादर ही होते तो अवगाहमें गड़बड़ पड़ सकती थी। सशरीर आत्मा भी अप्रतिघाती है यह बात तो अनुभवसिद्ध है। निश्छिद्र लोहेके मकानसे, जिसमें वज्रके किवाड़ लगे हों और वज्रलेप भी जिसमें किया गया हो, मरकर जीव कार्मणशरीर के साथ निकल जाता है। यह कार्मण शरीर मूर्तिमान् ज्ञानावरणादि कर्मोंका पिंड है। तैजस शरीर भी इसके साथ सदा रहता है। मरणकालमें इन दोनों शरीरोंके साथ जीव वज्रमय कमरे से निकल जाता है और उस कमरेमें कहीं भी छेद या दरार नहीं पड़ती। इसी तरह सूक्ष्म निगो-दियाजी वोंका शरीर भी अप्रतिघाती समझना चाहिए।

## प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

प्रदेशोंके संकोच और विस्तारके कारण लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेशवाला भी एक जीव प्रदीपकी तरह असंख्येय एक भाग आदिमें रह जाता है।

§ १-३. यद्यपि आत्मा स्वभावसे अमूर्त है पर अनादिकालीन कर्मसम्बन्धके कारण कथञ्चित् मूर्तपनेको धारण किये हुए है। लोकाकाशके बराबर इसके प्रदेश हैं फिर भी कार्मण-शरीरके कारण ग्रहण किये गये शरीरमें ही स्थित रहता है। सूखे चमड़ेकी तरह प्रदेशोंके संकोच को संहार और जलमें तेलकी तरह प्रदेशोंके फैलावको विसर्प कहते हैं। इन कारणोंसे जीव असंख्येयभाग आदिमें समा जाता है। जैसे कि निरावरण आकाशमें रखे हुए दीपकका प्रकाश बहुदेशव्यापी होने पर भी जब वह सकोरा या अन्य किसी आवरणसे ढँक दिया जाता है तो उतनेमें ही सीमित हो जाता है। संहार और विसर्प स्वभाव होने पर आत्मामें दीपककी तरह अनित्यत्वका प्रसंग देना जैनोंके लिए दूषण नहीं है, क्योंकि उन्हें यह इष्ट है कि आत्मा कार्मण-शरीर जन्य प्रदेशसंहार और विसर्परूप पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य है ही। अथवा संकोच विकास होने पर भी दीपकरूपी द्रव्यसामान्यकी दृष्टिसे नित्य है। अतः वह बाधाकारी दृष्टान्त नहीं बन सकता।

§ ४-७. प्रश्न–प्रदीपादिकी तरह संहार और विसर्प होनेसे संसारी आत्माके घटादिकी तरह छेदन भेदन और प्रदेशविशरण होना चाहिए। इस तरह शून्यताका प्रसंग प्राप्त होता है। उत्तर–बन्धकी दृष्टिसे कार्मण शरीरके साथ एकत्व होने पर भी आत्मा अपने निजी अमूर्त स्वभावको नहीं छोड़ता। लक्षण भेदसे उनमें भेद है ही। फिर इस विषयमें भी अनेकान्त ही है। अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवद्रव्योपयोग आदि द्रव्यार्थदृष्टिसे न तो प्रदेशोंका संहार या विसर्प ही होता है और न उसमें सावयवपना ही है। हाँ, प्रतिनियत सूक्ष्म बादर शरीरको उत्पन्न करनेवाले निर्माण नामके उदय रूप पर्यायकी विवक्षासे स्यात् प्रदेशसंहार और विसर्प है, इसी तरह अनादि कर्मबन्ध रूपी पर्यायार्थदेशसे सावयवपना भी है। किंच, जिस पदार्थके अवयव कारणपूर्वक होते हैं अर्थात् कारणोंसे उत्पन्न होते हैं उसके अवयवविशरणसे विनाश हो सकता है जैसे कि अनेक तन्तुओंसे बने हुए कपड़ेका तन्तुविशरणसे विनाश होता है। पर आत्माके प्रदेश अन्यद्रव्यके संघातसे उत्पन्न नहीं हुए हैं, वे अकारणपूर्वक हैं। जिस प्रकार अणुका प्रदेश अकारणपूर्वक है अतः वह अवयवविश्लेषसे अनित्यताको प्राप्त नहीं होता किन्तु अन्य परमाणुके संयोगसे ही उसमें अनित्यता आती है उसी प्रकार आत्मप्रदेश अन्यद्रव्यसंघात-पूर्वक नहीं हैं अतः प्रदेशवान् होनेसे सावयव होकर भी आत्मा अवयवविश्लेषसे अनित्यताको नहीं प्राप्त होता, केवल गति आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे ही अनित्य हो सकता है। इसीलिए आत्मा के प्रत्येक प्रदेशमें सुखादिगुणोंकी विशेषाभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। अन्यद्रव्यसंघातसे सावयव बने हुए घटादिद्रव्योंमें ही प्रतिप्रदेश रूपादिगुणोंकी विशेषता देखी जाती है। यदि आत्माके प्रदेश भी अन्यद्रव्य संघात पूर्वक होते तो प्रतिप्रदेश सुखादिगुणोंकी विशेषता रहती और इस तरह एक ही शरीरमें बहुत आत्माओंका प्रसंग प्राप्त होता। जैसे परमाणुमें एक समयमें एक जातीय ही शुक्ल आदि गुण होता है उसी तरह आत्मामें भी एकजातीय ही सुखादि एक कालमें हो सकते हैं। अतः यह आशंका भी निर्मूल हो जाती है कि–"सरदी और गरमीका असर चमड़े पर पड़ता है आकाश पर नहीं। यदि आत्मा चमड़ेकी तरह है तो अनित्य हो जायगा और आकाश की तरह है तो समस्त पुण्य पापादि क्रियाएँ निष्फल हो जाँयगी।" क्योंकि यह कहा जा चुका है कि—द्रव्यदृष्टिसे नित्य होने पर भी आत्मा पर्यायदृष्टिसे अनित्य है।

§ ८-९. चूँकि संसारी आत्मा कार्मणशरीरके अनुसार छोटे बड़े स्थूल शरीरको ग्रहण करता है और सबसे छोटा शरीर अंगुलके असंख्येय भाग प्रमाण है अतः आत्माका पुद्गलकी तरह एक प्रदेश आदिमें अवगाह नहीं हो सकता। यद्यपि मुक्त जीवोंके वर्तमान शरीर नहीं है फिर भी उनके आत्मप्रदेशोंकी रचना अन्तिमशरीरसे कुछ कम आकारमें रह जाती है, न तो

घटती है और न बढ़ती है क्योंकि मुक्त अवस्थामें संहार और विसर्पका कारण कर्म ही नहीं है। अतः मुक्त आत्माओंकी पुद्गलकी तरह एक प्रदेश आदिमें वृत्ति नहीं मानी जा सकती।

§ १०. प्रश्न—जिस देशमें धर्म द्रव्य है उसी देशमें अधर्म और आकाशादि, जो धर्म का आकार है वही अधर्म आदि द्रव्योंका, काल भी सबका एक जैसा ही है, स्पर्शन भी सभीका बराबर है, केवल ज्ञानीके ज्ञानके विषय भी सब समान रूपसे होते हैं, इसी तरह अरूपत्व द्रव्यत्व और ज्ञेयत्व आदिकी दृष्टिसे कोई विशेषता न होनेसे धर्मादि द्रव्योंको एक ही मानना चाहिए ? उत्तर—जिस कारण आपने धर्मादि द्रव्योंमें एकत्वका प्रश्न किया है उसी कारण उनकी भिन्नता स्वयं सिद्ध है। जब वे भिन्न भिन्न हैं तभी तो उनमें अमुक दृष्टियोंसे एकत्वकी सम्भावना की गई है। यदि ये एक होते तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। जिस तरह रूप रस आदिमें तुल्यदेशकालत्व आदि होनेपर भी अपने अपने विशिष्ट लक्षणके होनेसे अनेकता है उसी तरह धर्मादि द्रव्योंमें भी लक्षणभेदसे अनेकता है। आगे उन्हीं लक्षणोंको कहते हैं—

**गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥**

गति और स्थिति क्रमशः धर्म और अधर्मके उपकार हैं।

अथवा, प्रश्न—पुद्गलादिका एक प्रदेश आदिमें जो अवगाह बताया है वह तो समझमें आता है पर धर्म और अधर्मके जीवकी तरह असंख्यात प्रदेश होनेपर भी इनकी लोकव्यापिता निर्युक्तिक है, वह समझमें नहीं आती। उत्तर—जैसे जल मछलीके तैरनेमें उपकारक है, जलके अभावमें मछलीका तैरना सम्भव नहीं है उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी स्वाभाविक और प्रायोगिक गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म सहायक होते हैं। चूँकि समस्त लोकमें जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थिति होती है अतः उपकारक कारणोंको भी सर्वगत ही होना चाहिए।

§ १-३. बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे परिणमन करनेवाले द्रव्यको देशान्तरमें प्राप्त करनेवाली पर्याय गति कहलाती है। स्वदेशसे अप्रच्युतिको स्थिति कहते हैं। उपग्रह अर्थात् अनुग्रह, द्रव्योंकी शक्तिका आविर्भाव करनेमें कारण होना।

§ ४-९. 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यहाँ अनेक विग्रहोंकी संभावना होनेपर भी 'गतिस्थिता एव उपग्रहौ' यह समानाधिकरण वृत्ति समझनी चाहिए, तभी द्विवचनकी सार्थकता है। इनमें 'उपगृह्येते इति उपग्रहौ' इस तरह कर्मसाधनकृत सामानाधिकरण्य है। यदि बहुव्रीहि समास होता तो 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मौ' ऐसा प्रयोग होता। यदि षष्ठी तत्पुरुष होता तो उत्तर पदार्थकी प्रधानता होनेसे 'गतिस्थित्युपग्रहः' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग होना चाहिए था।

§ १०. 'धर्माधर्मयोः' यह कर्तृनिर्देश है अर्थात् ये उपकार क्रियाके कर्त्ता हैं।

§ ११-१३. प्रश्न—यदि उपकार शब्दको 'उपकरणमुपकारः' ऐसा भावसाधन माना जाता है तो 'धर्माधर्मयोरुपग्रहौ' इस पदसे सामानाधिकरण्य नहीं हो सकेगा; क्योंकि उपकार कर्तृस्थ क्रिया होनेसे धर्म अधर्ममें रहेगी तथा उपगृह्यमाण गति और स्थिति जीव और पुद्गलमें रहते हैं। यदि कर्मसाधन मानते हैं तो 'उपगृह्यौ' की तरह 'उपकारौ' ऐसा द्विवचन प्रयोग होना चाहिए। उत्तर—जैसे 'साधोः कार्यं तपःश्रुते' यहाँ सामान्यकी अपेक्षा कार्यशब्दमें एकवचन का प्रयोग है, वह पीछे भी अपने उपात्त वचनको नहीं छोड़ता, उसी तरह उपकार शब्द भी सामान्यकी अपेक्षा उपात्त-एकवचन होनेसे अपने गृहीत वचनको नहीं छोड़ता।

§ १४-१५ अथवा, 'उपग्रहणमुपग्रहः' यह भावसाधन प्रयोग है, इसी तरह उपकार शब्द भी। तब यहाँ 'गतिस्थित्योरुपग्रहौ' यह षष्ठीसमास मान लेना चाहिए। 'उपग्रहौ'में द्विवचन का प्रयोग यथाक्रम प्रतिपत्तिके लिए है। यदि एकवचन रहता तो जैसे एक पृथिवी अश्व आदिकी गति और स्थिति दोनोंमें उपकारक होती है उसी तरह धर्म और अधर्म दोनों गति और स्थिति

दोनों ही कार्य करते हैं यह अर्थबोध होता। इससे किसी एककी व्यर्थता नहीं हो सकती; क्योंकि एकही कार्य अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुआ देखा जाता है। अतः इस अनिष्ट प्रसंगके निवारणके लिए 'उपग्रहौ' ऐसा द्विवचन दिया है। तात्पर्य यह कि स्वयं गतिपरिणत जीव और पुद्गलोंके गति रूप उपग्रहके लिए धर्मद्रव्य और स्वयं स्थिति रूपसे परिणत जीव और पुद्गलोंकी स्थितिके लिए अधर्म द्रव्यकी आवश्यकता है। समस्त लोकाकाशमें इन प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए इन्हें सर्वगत मानना अत्यावश्यक है।

§ १६-१९. प्रश्न—जब 'उपकारः'से ही काम चल जाता है तब 'उपग्रहौ' वचन निरर्थक है। 'धर्माधर्मयोरुपकारः' इतना लघुसूत्र बना देना चाहिए। जैसे यष्टि-लाठी चलते हुए अन्धेकी उपकारक है उसे प्रेरणा नहीं करती उसी तरह धर्मादिको भी उपकारक कहनेसे उनमें प्रेरक कर्तृत्व नहीं आ सकता। यदि प्रेरक कर्तृत्व इष्ट होता तो स्पष्ट ही 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' ऐसा सूत्र बना देते। अतः उपग्रह वचन निरर्थक है। उत्तर-'आत्माके गतिपरिणाममें निमित्त होना धर्म द्रव्यका उपकार है तथा पुद्गलोंकी स्थितिमें निमित्त होना अधर्म द्रव्यका उपकार है' इस अनिष्ट यथाक्रम प्रतीतिकी निवृत्तिके लिए 'उपग्रह' वचन स्पष्टप्रतीतिके लिए दिया गया है। व्याख्यानसे विशेष प्रतिपत्ति करनेमें निरर्थक गौरव होता, अतः सरलतासे इष्ट अर्थबोधके लिए 'उपग्रहौ' पदका दे देना अच्छा ही हुआ।

§ २०-२३. प्रश्न आकाश सर्वगत है और उसमें सुषिरता भी है अतः गति और स्थिति रूप उपग्रह भी आकाशके ही मान लेने चाहिए ? उत्तर-आकाश धर्माधर्मादि सभीका आधार है। जैसे नगरके बने हुए मकानोंका नगर आधार है उसी तरह धर्मादि पाँच द्रव्योंका आकाश आधार है। जब आकाशका एक 'अवगाहदान' उपकार सुनिश्चित है तब उसके अन्य उपकार नहीं माने जा सकते अन्यथा जल और अग्निके द्रवता और उष्णता गुण पृथ्वीके भी मान लेना चाहिए। यदि आकाश ही गति और स्थितिमें उपकारक हो तो अलोकाकाशमें भी जीव पुद्गलोंकी गति और स्थिति होनी चाहिए। इस तरह लोक और अलोकका विभाग ही समाप्त हो जाता है। लोकसे भिन्न अलोक तो होना ही चाहिए, क्योंकि वह 'अब्राह्मण' की तरह नञ्युक्त सार्थक पद है। जिस प्रकार मछलीकी गति जलमें होती है, जलके अभावमें जमीनपर नहीं होती आकाश की मौजूदगी रहनेपर भी, उसी तरह आकाशके रहनेपर भी धर्माधर्मके होनेपर ही जीव और पुद्गलकी गति और स्थिति होती है। धर्म और अधर्म गति और स्थितिके साधारण कारण हैं अवकाशदानमें आकाशकी तरह। जैसे भूमि आदि आधारोंके विद्यमान रहनेपर भी अवगाहक साधारण कारण आकाश माना जाता है उसी तरह मछली आदिके लिए जल आदि बाह्य निमित्त रहनेपर भी साधारण कारण धर्म और अधर्म द्रव्य मानना ही चाहिए।

§ २४.-यदि एक द्रव्यका धर्म दूसरे द्रव्यमें मानकर अन्य द्रव्योंका लोप किया जाता है और इसी पद्धतिसे सर्व व्यापक आकाशको ही गति और स्थितिमें निमित्त मानकर धर्म और अधर्म द्रव्यका अभाव किया जाता है तो सभी मतवादियोंके यहाँ सिद्धान्तविरोध दूषण आयगा क्योंकि सभीने अनेक व्यापक द्रव्य माने हैं। वैशेषिक आकाश काल दिशा और आत्मा इन चार द्रव्यों को विभु-व्यापक मानते हैं। उनके यहाँ 'यह इससे पूर्व या पश्चिममें है' यह दिशा-निमित्तक व्यवहार और 'यह जेठा है यह लघु' यह कालनिमित्तक परापर व्यवहार आकाशसे ही हो जायगा; दिशा और कालके माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसी तरह अनेक व्यापक आत्माएँ मानना निरर्थक है, उन्हें एक ही आत्मासे उपाधिभेदसे सब कार्य चल जायगा। अतः शास्त्रमें प्रतिनियत बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार आदि गुणोंका कारण तथा शास्त्र बलसे अनेक आत्माओंका मानना निरर्थक हो जायगा। सांख्य सत्त्व रज और

और तम ये तीन गुण मानते हैं। तीनों व्यापक हैं। यदि आकाशसे ही धर्माधर्मका कार्य लिया जाता है तो सत्त्व गुणोंसे ही प्रसाद और लाघवकी तरह रजोगुणके शोष और ताप तथा तमो गुणके आवरण और सादन रूप कार्य हो जाने चाहिए। इस तरह शेष गुणोंका मानना निरर्थक है। इसी तरह सभी आत्माओंमें एक चैतन्यरूपता समान है अतः एक ही आत्मा मानना चाहिए, अनन्त नहीं। बौद्ध रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध मानते हैं। यदि एकमें ही अन्यके धर्म माने जाँय तो विज्ञानके बिना अन्य स्कन्धोंकी प्रतीति हो नहीं सकती अतः केवल एक विज्ञानस्कन्ध मानना चाहिए। उसीसे रूपादि स्कन्धोंके रूपण, अनुभवन, शब्दप्रयोग और संस्कार ये कार्य हो जायेंगे। इसी तरह शेषस्कन्धोंकी निवृत्ति होनेपर निरालम्बन विज्ञानकी भी स्थिति नहीं रह सकती। अतः उसका भी अभाव हो जानेसे सर्वशून्यता ही हाथ रह जायगी। अतः व्यापक होनेपर भी आकाशमें ही धर्म और अधर्मकी गति और स्थितिमें निमित्त होने रूप योग्यता नहीं मानी जा सकती।

§ २५-२७. जिस प्रकार स्वयं गतिमें समर्थ लँगड़ेको चलते समय लाठी सहारा देती है अथवा जैसे स्वतः दर्शनसमर्थ नेत्रके लिए दीपक सहारा देता है, न तो लाठी गतिकी कर्त्री है और न वह प्रेरणा देती है, दीपक भी असमर्थके दर्शनशक्ति उत्पन्न नहीं करता। यदि असमर्थोंको भी गति या दर्शनशक्तिके ये कर्ता हों तो मूर्च्छित सुषुप्त और जात्यन्धोंको भी गति और दर्शन होना चाहिए। उसी तरह स्वयं गति और स्थितिमें परिणत जीव और पुद्गलोंको धर्म और अधर्म गति और स्थितिमें उपकारक होते हैं, प्रेरक नहीं; अतः एक साथ गति और स्थिति का प्रसंग नहीं होता और न गति और स्थितिका परस्पर प्रतिबन्ध ही। यदि ये कर्ता होते तो ही गतिके समय स्थिति और स्थितिके समय गतिका प्रसंग होकर परस्पर प्रतिबन्ध होता। कहीं-कहीं पर जल जैसे बाह्यकारण न रहनेपर भी प्रकृष्ट गति परिणाम होनेसे धर्मद्रव्यके निमित्त मात्रसे गति देखी जाती है जैसे पक्षीकी गति। इसी तरह अन्य द्रव्योंकी भी गति और स्थिति समझ लेनी चाहिए। पक्षियोंके गमनमें आकाशको निमित्त मानना उचित नहीं, क्योंकि आकाश का कार्य तो अवगाहदान है।

§ २८. फिर यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि सभी आँखवाले बाह्य प्रकाशकी सहायता लें ही। व्याघ्र बिल्ली आदिको बाह्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं भी रहती। मनुष्य आदिमें स्वतः वैसी दर्शन शक्ति नहीं है अतः बाह्य आलोक अपेक्षित होता है। जैसे यह कोई नियम नहीं है कि सभी चलनेवाले लाठीका सहारा लेते ही हों। उसी तरह जीव और पुद्गलोंको सर्वत्र बाह्य कारणोंकी मददके बिना भी केवल धर्म और अधर्म द्रव्यके उपग्रहसे गति और और स्थिति होती रहती है। किन्हींको मात्र धर्माधर्मादिसे और किन्हींको धर्माधर्मादिके साथ अन्य बाह्यकारणोंकी भी उपेक्षा होती है।

§ २९-३१. धर्म और अधर्मकी अनुपलब्धि होनेसे खरविषाणकी तरह अभाव नहीं किया जा सकता अन्यथा अपने तीर्थंकर पुण्य पाप परलोक आदि सभी पदार्थोंका अभाव हो जायगा। अनुपलब्धि असिद्ध भी है क्योंकि भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगमसे धर्म और अधर्म द्रव्यकी उपलब्धि होती ही है। अनुमानसे भी गति और स्थितिके साधारण निमित्तके रूपमें उनकी उपलब्धि होती है। जिस कारण धर्म और अधर्म अप्रत्यक्ष-अतीन्द्रिय हैं इसीलिए विवाद है कि इनकी खर विषाणकी तरह असत्त्व होनेसे अनुपलब्धि है अथवा परमाणु आकाश आदिकी तरह अतीन्द्रिय होनेसे अनुपलब्धि है? जिस कारण विवाद है उसीसे अभाव-का निश्चय नहीं किया जा सकता।

§ ३२-३४. जैसे अकेले मृत्पिंडसे घड़ा उत्पन्न नहीं होता, उसके लिए कुम्हार चक्र-चीवर

आदि अनेक बाह्य कारण अपेक्षित होते हैं उसी तरह पक्षी आदिकी गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणोंकी अपेक्षा करती हैं। इनमें सबकी गति और स्थितिके लिए साधारण कारण क्रमशः धर्म और अधर्म होते हैं। इस तरह अनुमानसे धर्म और अधर्म प्रसिद्ध हैं। कारणोंका संसर्ग ही कार्योत्पादक होता है न कि जिन किन्हीं पदार्थोंका संसर्ग। अतः प्रतिविशिष्ट तन्तु जुलाहा तुरी आदिके संसर्गसे पटकी उत्पत्तिकी तरह गति और स्थितिके साधारण कारण-धर्म और अधर्मके साथ ही अन्य कारणोंका संसर्ग कार्यकारी हो सकता है। संसर्ग भी अनेक कारणोंका ही होता है एकका नहीं। बहुत कारणोंका संसर्ग भी कारणभेदसे भिन्न-भिन्न ही है, अतः अनेक कारणोंसे कार्योत्पत्ति होती है यही पक्ष स्थिर रहता है।

§ ३५. यदि यह नियम बनाया जाय कि 'जो जो पदार्थ प्रत्यक्षसे उपलब्ध न हों उनका अभाव है' तो सभी वादियोंको स्वसिद्धान्तविरोध दोष होता है; क्योंकि प्रायः सभी वादी अप्रत्यक्ष पदार्थोंको स्वीकार करते ही हैं। बौद्ध मानते हैं कि प्रत्येक रूपपरमाणु अतीन्द्रिय हैं, अनेक परमाणुओंका समुदाय इन्द्रिय ग्राह्य होता है। चित्त और चैतसिक विकल्प अतीन्द्रिय हैं। सांख्य मानते हैं कि कार्यरूप व्यक्त प्रधानके विकार पृथिवी आदि प्रत्यक्ष हैं परन्तु सत्त्व-रज और तम ये कारणभूत गुण तथा परमात्मा अप्रत्यक्ष है। वैशेषिकका कहना है कि—महत्त्व अनेकद्रव्यत्व और उद्भूतरूप होनेसे ही रूपकी उपलब्धि होती है। अतः अनेक परमाणुओंके समुदायसे उत्पन्न स्थूल पृथिवी आदि और उसीमें समवायसे रहनेवाले रूपादि संख्या परिमाण संयोग विभाग आदि गुण प्रत्यक्ष होते हैं तथा परमाणु आकाश आदि अप्रत्यक्ष हैं। यदि लाठी आदि कारणोंकी तरह धर्म और अधर्मका उपलब्धि नहीं होनेसे अभाव माना जाता है तो विज्ञान आदि, सत्त्व आदि तथा परमाणु आदिका भी अभाव मानना पड़ेगा। इस तरह सभी मत-वादियोंको स्वसिद्धान्तविरोध दूषण होता है। यदि परमाणु आदिका कार्यसे अनुमान किया जाता है तो धर्म और अधर्मका भी अनुमान माननेमें क्या विरोध है? जैसे तुम्हारे ही जीवन मरण सुख दुःख लाभालाभ आदि पर्यायोंका जो कि मनुष्यमात्रको अतीन्द्रिय होनेसे मनुष्यमात्रके प्रत्यक्ष नहीं हैं, पर सर्वज्ञके द्वारा उनका साक्षात्कार होनेसे अस्तित्व सिद्ध है उसी तरह तुम्हारे प्रमाणके अविषय भी धर्म और अधर्मका अस्तित्व सर्वज्ञ-प्रत्यक्ष होनेसे सिद्ध ही है।

§ ३६. प्रश्न—जिस प्रकार ज्ञानादि आत्मपरिणाम और दधि आदि पुद्गलपरिणामों-की उत्पत्ति परस्पराश्रित है। इसके लिए किसी धर्म और अधर्म जैसे अतीन्द्रिय द्रव्यकी आवश्यकता नहीं है उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिके लिए भी उनकी आव-श्यकता नहीं है? उत्तर—ज्ञानादि पर्यायोंकी उत्पत्तिके लिए भी 'काल' नामक साधारण बाह्य कारणकी आवश्यकता है उसी तरह गति और स्थितिके लिए साधारण बाह्य कारण-धर्म और अधर्म होना ही चाहिए।

§ ३७–४० प्रश्न—अदृष्ट आत्माका गुण है, इसीके निमित्तसे सुख दुःखरूप फल तथा उनके साधन जुटते हैं। वैशेषिक सूत्रमें कहा भी है कि—"अग्निका ऊपरकी ओर जलना, वायुका तिरछा बहना, परमाणु और मनकी आद्य क्रिया, ये सब अदृष्टसे होते हैं। उपसर्पण अपसर्पण वातपित्तसंयोग और शरीरान्तरसे संयोग आदि सभी अदृष्टकृत हैं।" इसी अदृष्टसे गति और स्थिति हो जाँयगी? उत्तर—पुद्गल द्रव्योंमें अचेतन होनेसे अदृष्ट नहीं पाया जाता, अतः यदि गति और स्थितिको अदृष्टहेतुक माना जाता है तो पुद्गलोंमें गति और स्थिति नहीं हो सकेंगी। यह समाधान भी उचित नहीं है कि—'जो घटादि पुद्गल जिस आत्माका उपकार करेंगे उस आत्माके अदृष्टसे उन पुद्गलोंमें गति और स्थिति हो जायगी' क्योंकि अन्य द्रव्यका धर्म अन्य द्रव्यमें क्रिया नहीं करा सकता। यह हम पहिले ही बता आये हैं कि जो स्वाश्रयमें क्रियाको उत्पन्न नहीं करता वह अन्य द्रव्योंमें क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अदृष्टहेतुक

गति और स्थिति मानी जाती है तो जिन मुक्त जीवोंका अदृष्ट—पुण्यपाप नष्ट हो गया है उनके स्वाभाविक गति और स्थिति नहीं हो सकेंगी, पर होतीं अवश्य हैं।

§ ४१–४२. अमूर्त होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्यमें गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्वका अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमूर्तके कार्यहेतुत्व न होनेका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। उलटे आकाश आदि अमूर्त पदार्थ स्वकार्यकारी देखे ही जाते हैं। आकाश अमूर्त होकर सब द्रव्योंके अवगाहमें निमित्त होता है। अमूर्त प्रधान महान् अहंकार आदि विकार रूपसे परिणत होकर पुरुषके भोगमें निमित्त होता है। अमूर्त विज्ञान नाम रूपकी उत्पत्तिका कारण होता है। 'नाम रूप विज्ञाननिमित्तक हैं' यह बौद्धोंका सिद्धान्त है। अदृष्ट अमूर्त होकर भी पुरुषके उपभोग-साधनोंमें निमित्त होता ही है। इसी तरह अमूर्त धर्म और अधर्म भी गति और स्थितिमें साधारण निमित्त हो जाँयगे।

## आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अवगाह देना आकाशका उपकार है।

§ १. अवगाह शब्द भावसाधन है।

§ २. 'धर्म और अधर्म आकाशमें रहते हैं' यह औपचारिक प्रयोग है, यह 'हंस जलको अवगाहन करता है' इसकी तरह मुख्य प्रयोग नहीं है। मुख्य आधाराधेयभावमें आधार और आधेयमें पौर्वापर्य होता है और यह पहिले है इस प्रकारका सादित्व होता है किन्तु यहाँ समस्त लोकाकाशमें धर्म और अधर्मकी व्याप्ति है अतः 'लोकाकाशमें अवगाह है' यह प्रयोग हो जाता है। जैसे कि गमनक्रिया न होनेपर भी सर्वत्र व्याप्ति होनेके कारण आकाशको सर्वगत कह देते हैं।

§ ३–४. प्रश्न—कुण्ड और बेर आदि पृथक्सिद्ध पदार्थोंमें ही आधाराधेय भाव देखा जाता है। पर ये धर्म अधर्म आकाश आदि तो अयुतसिद्ध (पृथक्सिद्ध नहीं) हैं क्योंकि इनमें अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति नहीं है? उत्तर—अयुतसिद्ध पदार्थोंमें भी आधाराधेयभाव देखा जाता है जैसे कि 'हाथमें रेखा' यहाँपर, उसी तरह लोकाकाशमें धर्म और अधर्म हैं यह व्यवहार भी बन जायगा। अथवा, जैसे 'ईश्वरमें ऐश्वर्य है' यहाँ अयुतसिद्धमें भी आधाराधेयभाव देखा गया है उसी तरह धर्म अधर्म और आकाशमें भी समझ लेना चाहिए।

§ ५. धर्माधर्मादिके अनादिसम्बन्ध और अयुतसिद्धत्वके विषयमें अनेकान्त है–पर्यायार्थिकनयकी गौणता और द्रव्यार्थिककी मुख्यता होनेपर व्यय और उदय नहीं होता अतः ये स्यात् अयुतसिद्ध और अनादिसम्बद्ध हैं तथा पर्यायार्थिककी मुख्यता और द्रव्यार्थिककी गौणतामें सादिसम्बद्ध और युतसिद्ध हैं क्योंकि पर्यायोंका उत्पाद और व्यय होता रहता है।

§ ६. जीव और पुद्गल 'हंस जलका अवगाहन करता है' इसकी तरह मुख्य रूपसे अवगाह प्राप्त करते हैं क्योंकि ये क्रियावान् हैं।

§ ७–९. आकाशमें अवकाशदानकी शक्ति होनेपर भी स्थूल पदार्थ परस्परमें टकरा जाते हैं, एक दूसरेके प्रतिघाती होते हैं। इन वज्र पत्थर दीवाल आदि स्थूल पदार्थोंमें प्रतिघात होनेसे आकाशके अवकाशदानमें कोई कमी नहीं आती। सूक्ष्मपदार्थ तो एक दूसरेके भीतर भी प्रवेश कर सकते हैं। सूक्ष्म पदार्थोंके परस्पर अवकाश देनेपर भी आकाशके अवगाहदान लक्षणमें कोई कमी नहीं आती, क्योंकि भूमि आदि अश्व आदिके आधार हो भी जायँ किन्तु समस्त पदार्थोंको अवगाह देना आकाशकी ही विशेषता है। अलोकाकाशमें यद्यपि अवगाही पदार्थ नहीं है फिर भी आकाशका 'अवगाहदान' स्वभाव वहाँ भी मौजूद है ही जैसे कि जलमें अवगाहन करनेवाले हंस आदिके अभावमें भी 'अवगाह देना' स्वभाव बना रहता है।

§ १०. प्रश्न—आकाशका खरविषाणकी तरह अभाव है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं हुआ है ? उत्तर—आकाशको अनुत्पन्न कहना असिद्ध है, क्योंकि द्रव्यार्थिककी गौणता और पर्यायार्थिककी मुख्यता होनेपर अगुरुलघु गुणोंकी वृद्धि और हानिके निमित्तसे स्वप्रत्यय उत्पाद-व्यय और अवगाहक जीवपुद्गलोंके परिणमनके अनुसार परप्रत्यय उत्पाद-व्यय आकाशमें होते ही रहते हैं। जैसे कि अन्तिम समयमें असर्वज्ञताका विनाश होकर किसी मनुष्यको सर्वज्ञता उत्पन्न हुई तो जो आकाश पहिले अनुपलभ्य था वही पीछे सर्वज्ञको उपलभ्य हो गया, अतः आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट होकर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ। इस तरह उसमें परप्रत्यय भी उत्पाद-विनाश होते रहते हैं। 'खरविषाण' भी ज्ञान और शब्द रूपसे उत्पन्न होता है तथा अस्तित्वमें भी है, अतः दृष्टान्त साध्यसाधन उभयधर्मसे शून्य है। कोई जीव जो पहिले खर था, मरकर गौ उत्पन्न हुआ और उसके सींग निकल आये। ऐसी दशामें एक जीवकी अपेक्षा अर्थरूपसे भी 'खर-विषाण' प्रयोग हो ही जाता है। अतः आकाशका अभाव नहीं किया जा सकता।

§ ११. आकाश आवरणाभाव मात्र नहीं है किन्तु वस्तुभूत है। जैसे कि नाम और वेदना आदि अमूर्त होनेसे अनावरण रूप होकर भी सत् हैं उसी तरह आकाश भी।

§ १२. शब्द पौद्गलिक है, आकाशका गुण नहीं है, अतः शब्दगुणके द्वारा गुणीभूत आकाशका अनुमान करना उचित नहीं है, किन्तु अवगाहके द्वारा ही वह अनुमित होता है। अतः यह कहना अयुक्तिक है कि—"शब्द आकाशका गुण है, वह वायुके अविघात आदि बाह्य निमित्तोंसे उत्पन्न होता है, इन्द्रियप्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता, निराधार गुण रह नहीं सकते अतः अपने आधारभूत गुणी आकाशका अनुमान कराता है।"

§ १३. सांख्यका आकाशको प्रधानका विकार मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि नित्य निष्क्रिय अनन्त प्रधानके आत्माकी तरह विकार ही नहीं हो सकता, न उसका आविर्भाव ही हो सकता है और न तिरोभाव ही। "प्रधानको सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंकी साम्य" अवस्था रूप माना है। उसमें उत्पादक स्वभावता है इसीके विकार महान् आदि होते हैं आकाश भी उसीका विकार है" यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार घड़ा प्रधानका विकार होकर अनित्य मूर्त और असर्वगत है उसी तरह आकाशको भी होना चाहिए या फिर आकाशकी तरह घटको नित्य अमूर्त और सर्वगत होना चाहिए। एक कारणसे दो परस्पर अत्यन्तविरोधी विकार नहीं हो सकते।

पुद्गलोंका उपकार—

## शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गलके उपकार हैं।

§ १-२, ९-११. शरीरके होनेपर ही वचन आदिकी प्रवृत्ति होती है अतः शरीरका सर्व प्रथम ग्रहण किया है। उसके बाद वचनका ग्रहण किया है क्योंकि वचन ही पुरुषको हितमें प्रवृत्ति कराते हैं। इसके बाद मनका ग्रहण किया है क्योंकि जिनके शरीर और वचन होता है उन्हींके मन होता है। अन्तमें श्वासोच्छ्वासका ग्रहण किया है क्योंकि ये सभी संसारी जीवोंके पाया जाता है। ये सब पुद्गल द्रव्यके लक्षण नहीं हैं किन्तु उपकार हैं। लक्षण तो आगे बताया जायगा।

§ ३-८. प्रश्न—चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी आत्माको उपकारक हैं अतः उनका भी ग्रहण करना चाहिए ? उत्तर—आगेके सूत्रमें 'च' शब्द देनेवाले हैं, उससे सभी इष्टका समुच्चय हो जायगा। 'चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्म-प्रदेशरूप हैं अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है' यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि अंगोपांग नामकर्मके उदयसे रची गई द्रव्येन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं।

और यदि ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमको चेतनात्मक होनेसे चक्षु आदि भाव इन्द्रियोंका यहाँ अग्रहण है तो भावमन भी चेतन है, अतः उसका ग्रहण नहीं होना चाहिए था। यह तर्क भी ठीक नहीं है कि 'चूँकि मन चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तरह अवस्थित नहीं है अनवस्थित है, जैसे चक्षुरादि इन्द्रियोंके आत्मप्रदेश नियतदेशमें अवस्थित हैं उस तरह मनके नहीं है इसलिए उसे अनिन्द्रिय भी कहते हैं, और इसीलिए उसका पृथक् अग्रहण किया गया है'; क्योंकि अनवस्थित होने पर भी वह क्षयोपशमनिमित्तक तो है ही। जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ वहाँके अंगुलके असंख्यातभाग प्रमाण आत्मप्रदेश मनके रूपसे परिणत हो जाते हैं। इसी तरह यदि आत्मपरिणाम होनेसे चक्षुरादिका यहाँ अग्रहण किया है तो वचनका भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वचन भी ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होते हैं। यदि कहो कि द्रव्यवचन जो कि बाहर निकलते हैं, पौद्गलिक हैं, अतः उनके संग्रहके लिए वचनका ग्रहण है तो द्रव्येन्द्रिय भी पौद्गलिक हैं, अतः उनका संग्रह 'च' शब्दसे करना ही चाहिए।

§ १२. प्रश्न—धर्मादि द्रव्य चूँकि अप्रत्यक्ष हैं अतः गत्युपग्रह आदिका वर्णन करना उचित है पर पुद्गल तो प्रत्यक्ष है, उसके उपकार वर्णन करनेसे क्या लाभ? यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि सूर्य पूर्वमें उदित होता है पश्चिममें डूबता है, गुड़ मीठा है आदि। उत्तर—कुछ पुद्गल भी अप्रत्यक्ष होते हैं। औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये शरीर कर्म मूलतः सूक्ष्म होनेसे अप्रत्यक्ष हैं, उनके उदयसे बने हुए औदारिकादि कुछ स्थूल शरीर प्रत्यक्ष हैं कुछ अप्रत्यक्ष हैं। मन भी अप्रत्यक्ष है। वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष हैं कुछ अप्रत्यक्ष। अतः पुद्गलोंके उपकारोंका स्पष्ट विवेचन करनेके लिए शरीरादिका उपदेश किया है।

§ १३–१४. शरीरोंका वर्णन किया जा चुका है। कार्मण शरीर अनाकार होकर भी चूँकि मूर्तिमान् पुद्गलोंके सम्बन्धसे अपना फल देता है, अतः वह पौद्गलिक है। जैसे धान्य पानी धूप आदि मूर्तिमान् पुद्गलोंके सम्बन्धसे पकता है अत एव पौद्गलिक है उसी तरह गुड़-कंटक आदि मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्योंके सम्बन्धसे कर्मोंका विपाक होता है, अतः ये पौद्गलिक हैं। कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थके सम्बन्धसे नहीं पकता।

§ १५–१७. वचन दो प्रकारके हैं—द्रव्यवचन और भाववचन। दोनों ही पौद्गलिक हैं। भाववचन वीर्यान्तराय और मति श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं अतः पुद्गलके कार्य होनेसे निमित्तकी अपेक्षा पौद्गलिक हैं। यदि उक्त क्षयोपशम आदि न हो तो भाववचन हो ही नहीं सकते। भाववचनकी सामर्थ्यवाले आत्माके द्वारा जो पुद्गल तालु आदिके द्वारा वचनरूपसे परिणत होते हैं वह द्रव्यवचन है। यह भी पौद्गलिक है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियका विषय होता है। जिस प्रकार बिजली एक बार चमककर फिर नष्ट हो जाती है और आँखोंसे नहीं दिखाई देती उसी तरह एक बार सुने गये वचन विशीर्ण हो जानेसे फिर वे ही दुबारा नहीं सुनाई देते। जैसे घ्राणेन्द्रियके द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्यमें अविनाभावी रूप रस स्पर्श आदि विद्यमान रहकर भी सूक्ष्म होनेसे उपलब्ध नहीं होते उसी प्रकार शब्द भी चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होता।

§ १८–१९. 'शब्द अमूर्त है क्योंकि वह अमूर्त आकाशका गुण है' यह पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि मूर्तिमानके द्वारा ग्रहण प्रेरणा और अवरोध होनेसे वह पौद्गलिक है, मूर्त है। शब्द मूर्तिमान इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होता है। वायुके द्वारा रूईकी तरह एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्रेरित किया जाता है क्योंकि विरुद्ध दिशामें स्थित व्यक्तिको वह सुनाई देता है। नल बिल रिकार्ड आदिमें पानीकी तरह शब्द रोका भी जाता है। अमूर्त पदार्थमें ये सब बातें नहीं होतीं। शङ्का—श्रोत्र आकाश रूप है अतः अमूर्तके द्वारा अमूर्त शब्दका ग्रहण हो जाता है। वायुके द्वारा शब्द प्रेरित नहीं होता क्योंकि शब्द गुण है और गुणमें क्रिया नहीं होती किन्तु संयोग विभाग

और शब्दसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जाते हैं अतः नये नये शब्द उत्पन्न होकर उनका ग्रहण होता है। जहाँ वेगवान् द्रव्यका अभिघात होता है वहाँ नये शब्दोंकी उत्पत्ति नहीं होती। जो शब्दका अवरोध जैसा मालूम होता है, वस्तुतः वह अवरोध नहीं है किन्तु अन्य स्पर्शवान् द्रव्यका अभिघात होनेसे एकही दिशामें शब्द उत्पन्न होनेसे अवरोध जैसा लगता है। अतः शब्द अमूर्त ही है। **समाधान**—ये दोष नहीं हैं। श्रोत्रको आकाशमय कहना उचित नहीं है क्योंकि अमूर्त आकाश कार्यान्तरको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित है। अदृष्टकी सहायताके सम्बन्धमें यह विचारना है कि यह अदृष्ट आकाशका संस्कार करता है या आत्माका अथवा शरीरके एक देशका ? आकाशमें संस्कार तो कर नहीं सकता; क्योंकि वह अमूर्त है, अन्य द्रव्यका गुण है और आकाशसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरसे अत्यन्त भिन्न नित्य और निरंश आत्मामें संस्कार उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें संस्कारसे उत्पन्न फल नहीं आ सकता। इसी तरह शरीरके एक देशमें भी उससे संस्कार नहीं आ सकता क्योंकि अदृष्ट अन्य द्रव्यका गुण है और उसका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मूर्तिमान तैल आदिसे श्रोत्रमें अतिशय देखा जाता है तथा मूर्तिमान् कील आदिसे उसका विनाश देखा जाता है अतः श्रोत्रको मूर्त मानना ही समुचित है। 'स्पर्शवान् द्रव्यके अभिघातसे शब्दान्तरका उत्पन्न न होना ही' यह सूचित करता है कि शब्द मूर्त है, क्योंकि कोई भी अमूर्तपदार्थ मूर्तके द्वारा अभिघातको प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए मुख्य रूपसे शब्दका अवरोध भी बन जाता है।

जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे अभिभूत होनेवाले तारा आदि मूर्तिक हैं उसी तरह सिंहकी दहाड़ हाथीकी चिंघाड़ और भेरी आदि के घोषसे पक्षी आदिके मन्द शब्दोंका भी अभिभव होनेसे वे मूर्त हैं। कांसेके वर्तन आदिमें पड़े हुए शब्द शब्दान्तरको उत्पन्न करते हैं। पर्वतकी गुफाओं आदिसे टकराकर प्रतिध्वनि होती है। मूर्तिक मदिरासे इन्द्रियज्ञानका जो अभिभव देखा जाता है वह भी मूर्तसे मूर्तका ही अभिभव है क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान इन्द्रियादि पुद्गलोंके अधीन होनेसे पौद्गलिक है, अन्यथा आकाशकी तरह उसका अभिभव नहीं हो सकता था। इस तरह उक्त हेतुओंसे शब्द पुद्गलकी पर्याय सिद्ध होता है।

§ २०. मन दो प्रकारका है एक भावमन और दूसरा द्रव्यमन। भावमन लब्धि और उपयोगरूप है। यह पुद्गलनिमित्तक और पुद्गलावलम्बन होनेसे पौद्गलिक है। गुण-दोषविचार और स्मरणादिरूप व्यापारमें तत्पर आत्माके ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके क्षयोपशमको आलम्बन बननेवाले या सहायक जो पुद्गल शक्तिविशेषसे युक्त होकर मन रूपसे परिणत होते हैं वे द्रव्यमन हैं। यह पौद्गलिक है ही।

§ २१–२३. जैसे वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षासे आत्माके ही प्रदेश चक्षु आदि इन्द्रियरूपसे परिणमन करते हैं अतः आत्मासे इन्द्रिय भिन्न नहीं है और इन्द्रियके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा नष्ट नहीं होता अतः इन्द्रिय आत्मासे भिन्न है उसी तरह आत्माका ही मन रूपसे परिणमन होनेके कारण मन आत्मासे अभिन्न है और मनकी निवृत्ति हो जानेपर भी आत्माकी निवृत्ति नहीं होती, अतः भिन्न है। मन कोई स्थायी पदार्थ नहीं है, क्योंकि जो पुद्गल मन रूपसे परिणत हुए थे उनकी मनरूपता गुण दोष-विचार और स्मरणादि कार्य कर लेनेपर अनन्तर समयमें नष्ट हो जाती है, आगे वे मन नहीं रहते। वैसे द्रव्यदृष्टिसे मन भी स्थायी है और पर्याय दृष्टिसे अस्थायी।

§ २४–२६. वैशेषिकका मत है कि मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वह अणुरूप है और प्रत्येक आत्मासे एक एक सम्बद्ध है। कहा भी है कि "एक साथ आत्माके अनेक प्रयत्न नहीं होते और न एक साथ सभी इन्द्रियज्ञानोंकी उत्पत्ति ही देखी जाती है अतः क्रमका नियामक एक मन है।" यह मत ठीक नहीं है, क्यों कि परमाणुमात्र होनेसे उसमें सामर्थ्यका अभाव है।

यह विचारना है कि परमाणुमात्र मन जब आत्मा और इन्द्रियसे सम्बद्ध होकर ज्ञानादिकी उत्पत्तिमें व्यापार करता है तब वह आत्मा और इन्द्रियसे सर्वात्मना सम्बद्ध होता है या एक देश से ? सर्वात्मना सम्बद्ध नहीं बन सकता; क्योंकि अणुरूप मन या तो इन्द्रियसे सर्वात्मना सम्बद्ध हो सकता है या फिर आत्मासे ही, दोनोंके साथ पूर्णरूपसे युगपत् सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि एक देशसे; तो मन के प्रदेशभेद मानना होगा, पर यह अनिष्ट है क्योंकि मनको परमाणुरूप माना गया है। यदि आत्मा मनसे सर्वात्मना सम्बन्ध करता है तो या तो आत्माकी तरह मनको व्यापक मानना होगा या मनकी तरह आत्माको अणुरूप। यदि आत्मा एकदेशसे मनके साथ संयुक्त होता है तो आत्माके प्रदेश मानने होंगे। ऐसी दशामें आत्मा मन इन्द्रिय और पदार्थ, आत्मा मन और पदार्थ तथा आत्मा और मन इन चार तीन और दोके सन्निकर्षसे आत्माके कुछ प्रदेश ज्ञानवाले होंगे तथा कुछ प्रदेश ज्ञानादिरहित। जिन प्रदेशोंमें ज्ञानादि नहीं होंगे, उनकी आत्मरूपता निश्चित नहीं हो सकनेके कारण आत्मा सर्वगत नहीं रह सकेगा। इसी तरह यदि मन इन्द्रियोंके साथ सर्वात्मना सम्बद्ध होता है; तो या तो मनकी तरह इन्द्रियाँ अणुरूप हो जायँगी या फिर इन्द्रियोंकी तरह मन अणुरूपता छोड़कर कुछ बड़ा हो जायगा। एक देशसे सम्बन्ध माननेपर मन परमाणुरूप नहीं रह पायगा, उसके अनेक प्रदेश हो जायँगे। फिर, आपके मतमें गुण और गुणीमें भेद स्वीकार किया गया है तथा मन नित्य माना गया है अतः जब उसका संयोग और विभागरूपसे परिणमन ही नहीं हो सकता, तब न तो आत्मासे संयोग हो सकेगा और न इन्द्रियोंसे ही। यदि मनका संयोग और विभाग रूपसे परिणमन होता है तो नित्यता नहीं रहती। जब मन अचेतन है तो उसे 'इस आत्मा या इन्द्रियसे संयुक्त होना चाहिए इससे नहीं' यह विवेक नहीं हो सकेगा, इसलिए प्रतिनियत आत्मासे उसका संयोग नहीं बन सकेगा। कर्मका दृष्टान्त तो उचित नहीं है क्योंकि कर्म पुरुषके परिणामोंसे अनुरंजित होनेके कारण कथञ्चित् चेतन है, हाँ पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे हो वह अचेतन है। मन परमाणुरूप है, अतः चक्षु आदिका जो प्रदेश उससे संयुक्त होगा उसीसे अर्थबोध हो सकेगा अन्य से नहीं। पर समस्त चक्षुके द्वारा रूपज्ञान देखा जाता है अतः मन परमाणुरूप नहीं है। अणु मनको आशुसंचारी मानकर पूरी चक्षु आदिसे सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, क्यों कि अचेतन मनके बुद्धिपूर्वक क्रिया और व्याप्ति नहीं हो सकती। अदृष्टकी प्रेरणासे मनका इष्ट देशमें आशुभ्रमण मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रियावान् पुरुषके द्वारा प्रेरित होकर ही अलातचक्र आदि शीघ्र गतिसे सर्वत्र गोलाकारमें उपलब्ध होता है, परन्तु अदृष्ट नामक गुण तो स्वयं क्रियारहित है, वह कैसे अन्यत्र क्रिया करा सकेगा ?

§ २७-२९ मन और आत्माका अनादि सम्बन्ध मानना उचित नहीं है; क्योंकि मन और आत्माका संयोग सम्बन्ध है। आपके मतसे तो अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिको संयोग कहते हैं। अतः इनका अनादिसम्बन्ध नहीं बन सकता। जैन दृष्टिसे तो मन क्षायोपशमिक है, अतः उसकी अनादिता हो ही नहीं सकती। यदि मन अनादिसम्बन्धी होता तो उसका परित्याग नहीं होना चाहिए था। जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध होनेपर भी कर्मका परित्याग इसलिए हो जाता है कि कर्म बन्धसन्ततिकी दृष्टिसे अनादि होकर भी चूँकि मिथ्यादर्शन आदि कारणोंसे उस उस समयमें बँधते रहते हैं, सादिबन्धी भी है—अतः जब सम्यग्दर्शन आदि रूपसे परिणमन होता है तब उनका सम्बन्ध छूट जाता है, पर मनमें ऐसी बात नहीं है।

§ ३०-३१. प्रश्न—मन इन्द्रियोंका सहकारी कारण है, क्योंकि जब इन्द्रियाँ इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं तब मनके सन्निधानसे ही वे सुख दुःखादिका अनुभव करती हैं। इसके सिवाय मनका अन्य व्यापार नहीं है। उत्तर—वस्तुतः गरम लोहपिण्डकी तरह आत्मा का ही इन्द्रियरूपसे परिणमन हुआ है, अतः चेतनरूप होनेसे इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दुःखका वेदन

करती हैं। यदि मनके विना इन्द्रियोंमें स्वयं सुख-दुःखानुभव न हो तो एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंको सुख-दुःखका अनुभव नहीं होना चाहिए। गुणदोषविचार आदि मनके स्वतन्त्र कार्य हैं। मनोलब्धिवाले आत्माके जो पुद्गल मनरूपसे परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिर आदि बाह्येन्द्रियोंके उपघातक कारणोंके रहते हुए भी गुणदोषविचार और स्मरण आदि व्यापारमें सहायक होते ही हैं। इसलिए मनका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

§ ३२. बौद्ध मनका पृथक् अस्तित्व न मानकर उसे विज्ञानरूप कहते हैं। "छहों ज्ञानोंकी उत्पत्तिका जो समनन्तर अतीत अर्थात् उपादानभूत ज्ञानक्षण है वह मन है, अर्थात् पूर्वज्ञानको मन कहते हैं" यह उनका सिद्धान्त है। पर, उनके मतमें जब ज्ञान क्षणिक है तो जब वह वर्तमानक्षणमें ही पदार्थोंका बोध नहीं कर सकता तो पूर्वज्ञानकी तो बात ही क्या करनी। वर्तमान ज्ञान पूर्व और उत्तर विज्ञानोंसे जब कोई सम्बन्ध नहीं रखता तब वह गुणदोषविचार स्मरण आदि कैसे कर सकता है? अनुस्मरण स्वयं अनुभूत पदार्थका उसीको होता है न तो अन्यके द्वारा अनुभूतका और न अननुभूतका। क्षणिकपक्षमें स्मरण आदिका यह क्रम बन ही नहीं सकता। सन्तान अवस्तुभूत है अतः उसकी अपेक्षा स्मरणादिको संगति बैठाना भी उचित नहीं है। पूर्वज्ञानरूप मन जब वर्तमानकालमें अत्यन्त असत् हो जाता है तब वह गुणदोषविचार स्मरण आदि कार्योंको कैसे कर सकेगा? यदि बीजरूप आलयविज्ञानको स्थायी मानते हैं तो क्षणिकत्वपक्षका लोप हो जाता है। यदि वह भी क्षणिक है; तो वह भी स्मरणादिका आलम्बन नहीं हो सकता।

§ ३३-३४. सांख्य मनको प्रधानका विकार मानते हैं। पर, जब प्रधान स्वयं अचेतन है तो उसके विकार भी अचेतन ही होंगे तब वह घटादिकी तरह गुणदोषविचार स्मरण आदि व्यापार नहीं कर सकेगा। मन विचाररूप क्रियाका करण होता है। तो बताइए कि इस क्रियाका कर्ता कौन होगा—प्रधान या पुरुष? पुरुष तो निर्गुण है, अतः उसमें सत्त्वगुणके विकाररूप विचार स्मरण आदि नहीं हो सकते। प्रधान अचेतन है, अतः उसमें भी विचार स्मरण आदि चेतनव्यापार नहीं हो सकते। सत्त्व रज और तमकी साम्यावस्था रूप प्रधानसे महान् अहंकार आदि विषमावस्थारूप विकार यदि भिन्न उत्पन्न होते हैं; तो कार्य और कारणके अभेद माननेका सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। यदि अभिन्न हैं; तो केवल प्रधान ही अवशिष्ट रह जाता है उससे भिन्न कोई परिणाम नहीं बचता। अतः मन नहीं बन सकेगा।

§ ३५-३७. वीर्यान्तराय ज्ञानावरणक्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा शरीरकोष्ठसे जो वायु बाहर निकाली जाती है उस उच्छ्वासको प्राण कहते हैं तथा जो वायु भीतर ली जाती है उस निःश्वासको अपान कहते हैं। ये आत्माके जीवनमें कारण होते हैं। भयके कारणोंसे तथा वज्रपात आदिसे मनका प्रतिघात और मदिरा आदिके द्वारा अभिभव देखा जाता है। हाथसे मुँह और नाकको बन्द करनेसे श्वासोच्छ्वासका प्रतिघात तथा कण्ठमें कफ आ जानेसे अभिभव देखा जाता है। अतः मूर्तिमान् द्रव्योंसे प्रतिघात और अभिभव होनेसे ये सब पौद्गलिक हैं।

§ ३८. श्वासोच्छ्वासरूपी कार्यसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे किसी यन्त्रमूर्तिकी चेष्टाएँ उसके प्रयोक्ताका अस्तित्व बताती हैं उसी तरह प्राणापानादि क्रियाएँ क्रियावान् आत्माकी सिद्धि करती हैं। ये क्रियाएँ बिना कारणके भी नहीं होतीं; क्योंकि नियमपूर्वक देखी जाती हैं। विज्ञान आदिके द्वारा भी नहीं हो सकतीं; क्योंकि विज्ञानादि अमूर्त हैं, अतः उनमें प्रेरणाशक्ति नहीं हो सकती। अचेतन होनेके कारण रूपस्कन्धसे भी ये क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। यदि सभी पदार्थोंको निरीहक मानकर क्रियाका लोप किया जाता है तो फिर पदार्थोंकी देशान्तरप्राप्ति आदि नहीं हो सकेगी। "वायुधातुसे देशान्तरमें उत्पन्न हो जाना ही क्रिया है,

मुख्य क्रिया नहीं है, 'पदार्थोंकी उत्पत्तिको ही क्रिया कहते हैं' यह सिद्धान्त है" यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब वायुधातु भी निष्क्रिय है तो वह अन्य पदार्थोंकी देशान्तरमें उत्पत्ति कैसे करा सकेगी ? क्षणिक होनेसे क्रियाका निषेध करना उचित नहीं है क्योंकि क्षणिकवाद प्रमाणविरुद्ध है।

§ ३९. प्रश्न—'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः' यहाँ शरीर आदिको प्राणीका अंग होनेसे द्वन्द्व समासमें एकवचन होना चाहिए ? उत्तर—जहाँ अंगअंगिभाव होता है वहाँ एकवचन नहीं होता। प्राणीके अंगोंमें ही जहाँ द्वन्द्व समास होता है वहीं एकवचन होता है। यहाँ शरीर अंगी है तथा वचन मन आदि अंग। अथवा वचन आदि अंग भी नहीं हैं क्योंकि ये दाँत आदिकी तरह अनवस्थित हैं। चूँकि समाहारविषयक द्वन्द्व समासमें एकवद्भाव होता है, और समाहार एक प्राणीके अंगोंमें ही होता है, किन्तु यहाँ शरीर वचन मन आदि नाना प्राणियोंके विवक्षित हैं।

§ ४०. पुद्गल शब्दका अर्थात् अर्थ है पूरण गलनवाला पदार्थ या जो पुरुषके द्वारा कर्म और नोकर्मके रूपसे ग्रहण किया जाता है।

§ ४१. उपग्रह शब्द भावसाधन है, अतः अनुक्त कर्तामें 'पुद्गलानाम्' यहाँपर षष्ठी है। तात्पर्य यह कि शरीर आदि परिणामोंके द्वारा पुद्गल आत्माके उपकारक हैं। कर्ममलीमस आत्मा सक्रिय हैं, अतः वे शरीरादिकृत उपकारोंको बन्धपूर्वक स्वीकार करते हैं, उनका अनुभव करते हैं। यदि आत्माको सर्वथा निष्क्रिय या अत्यन्त शुद्ध माना जाय तो शरीर आदिसे बन्ध नहीं हो सकता और उपकारानुभव भी नहीं होगा, क्रियाका कारण न होनेसे संसार नहीं बनेगा और न मोक्ष ही।

अन्य पुद्गलकृत उपकार—

सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

§ १-४. जब आत्मासे बद्ध सातावेदनीय कर्म द्रव्यादि बाह्य कारणोंसे परिपाकको प्राप्त होता है तब जो आत्माको प्रीति या प्रसन्नता होती है उसे सुख कहते हैं। इसी तरह असाता-वेदनीय कर्मके उदयसे जो आत्माके संक्लेशरूप परिणाम होते हैं उन्हें दुःख कहते हैं। भव-स्थितिमें कारण आयुकर्मके उदयसे जीवके श्वासोच्छ्वासका चालू रहना, उसका उच्छेद न होना जीवित है और उच्छेद हो जाना मरण है।

§ ५-८. सारे प्रयत्न सुखके लिए हैं अतः सुखका ग्रहण सर्वप्रथम किया है और उसके प्रतिपक्षी दुःखका उसके बाद। जीवित प्राणीको ये दोनों होते हैं अतः उसके बाद जीवित और आयुक्षयके निमित्तसे होनेवाला मरण अन्तमें होता है अतः मरणका ग्रहण अन्तमें किया है।

§ ९. यद्यपि उपग्रहका प्रकरण है फिर भी इस सूत्रमें उपग्रहका ग्रहण पुद्गलोंके स्वोपकार को भी सूचित करता है। जैसे धर्म-अधर्म आदि द्रव्य दूसरोंका ही उपकार करते हैं उस तरह पुद्गल नहीं। पुद्गलोंका स्वोपग्रह भी है। जैसे काँसेको भस्मसे, जलको कतकफलसे साफ किया जाता है आदि।

§ १०-११. साधारणतया मरण किसीको प्रिय नहीं है तो भी व्याधि पीडा शोकादिसे व्याकुल प्राणीको मरण भी प्रिय होता है अतः उसे उपकार श्रेणीमें ले लिया है। फिर यहाँ उप-कार शब्दसे इष्ट पदार्थ नहीं लिया गया है किन्तु पुद्गलोंके द्वारा होनेवाले समस्त कार्य लिये गये हैं। दुःख भी अनिष्ट है, पर पुद्गलकृत प्रयोजन होनेसे उसका निर्देश किया है।

§ १२. 'शरीरवाङ्मनः' तथा 'सुख-दुःख' इन दोनोंको यदि एक सूत्र बनाते तो यह सन्देह होता कि 'शरीरादि चारके क्रमशः सुख-दुःख आदि चार फल हैं'। इस अनिष्ट आशंका-की निवृत्तिके लिए पृथक् सूत्र बनाये हैं। फिर सुख-दुःख आदिका सम्बन्ध जीवोपकारोंसे भी जुड़ता है, अतः पृथक् पृथक् सूत्र ही बनाया है।

§ १३. कथञ्चित् नित्यानित्य आत्माके ही सुख-दुःखादि हो सकते हैं सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्यके नहीं। नित्यपक्षमें विकार-परिणमन नहीं हो सकता और अनित्यपक्षमें स्थिति नहीं है। नित्यपक्षमें आत्मा पूर्व और उत्तरकालमें सर्वथा एक जैसी बनी रहती है, उसमें कोई परिणमन नहीं होता, अतः सुख आदिकी कल्पना ही नहीं हो सकती। अनित्य पक्षमें पूर्व और उत्तरमें कोई मेल नहीं बैठता, स्थिति नहीं है, अतः सुखादि नहीं हो सकते। अवस्थित आत्मा ही इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंके सम्पर्कसे कुशल-अकुशलभावना पूर्वक सुखादिका अनुभव कर सकता है। कुशल और अकुशल भावनाएँ पूर्वानुभूतकी स्मृति और तत्पूर्वक चेष्टाओंसे सम्बन्ध रखती हैं।

जीवोंका उपकार—

**परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥**

जीव परस्पर उपकार करते हैं।

§ १-२. परस्पर शब्द कर्मव्यतिहार अर्थात् क्रियाके आदान-प्रदानको कहता है। स्वामि-सेवक, गुरु-शिष्य आदि रूपसे व्यवहार परस्परोपग्रह है। स्वामी रुपया देकर तथा सेवक हित-प्रतिपादन और अहितप्रतिषेधके द्वारा परस्पर उपकार करते हैं। गुरु उभयलोकका हितकारी मार्ग दिखाकर तथा आचरण कराके और शिष्य गुरुकी अनुकूलवृत्तिसे परस्परके उपकारमें प्रवृत्त होते हैं।

§ ३-४. यद्यपि 'उपग्रह' का प्रकरण है फिर भी यहाँ 'उपग्रह' शब्दके द्वारा पहिले सूत्र-में निर्दिष्ट सुख दुःख आदि चारोंका ही प्रतिनिर्देश समझना चाहिए। 'उपग्रह' शब्द सूचित करता है कि अन्य कोई नया उपकार नहीं है, किन्तु पूर्वसूत्रमें निर्दिष्ट ही उपकार हैं। 'जिस प्रकार रतिक्रियामें स्त्री और पुरुष परस्परका उपकार करते हैं इस प्रकारका सर्वथा नियम पर-स्परोपकारका नहीं है' इस बातकी सूचना 'उपग्रह' शब्दसे मिल जाती है। कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करके कदाचित् दूसरे एकको दोको या बहुतोंको सुखी कर सकता है और दुःखी भी, दुःख उत्पन्न करके सुखी भी कर सकता है और दुःखी भी। अतः कोई निश्चित नियम नहीं है।

कालका उपकार—

**वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥**

वर्तना परिणाम क्रिया और परत्वापरत्व व्यवहार ये कालद्रव्यके उपकार हैं।

§ १-३. 'वर्तते अनया अस्यां वा' ऐसा करण और अधिकरणमें विग्रह करके यदि वर्तना शब्दकी सिद्धि की जाती है तो युट् प्रत्ययमें टित् होनेसे ङीप् प्रत्यय होनेपर 'वर्तनी' प्रयोग बनेगा अतः 'वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना' यह णिजन्तसे युच् प्रत्यय करके बनाया जाता है। अथवा 'वर्तनशीला वर्तना' ऐसा तच्छील अर्थमें युच् करके वर्तना शब्द बन जाता है।

§ ४. हर एक द्रव्य प्रत्येक पर्यायमें प्रति समय जो स्वसत्ताकी अनुभूति करता है उसे वर्तना कहते हैं। तात्पर्य यह कि पदार्थ अपनी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ताका प्रतिक्षण अनुभव करते हैं। धर्मादि द्रव्य अपनी अनादि या आदिमान् पर्यायोंमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपसे परिणत होते रहते हैं यही स्वसत्तानुभूति वर्तना है। सादृश्योपचारसे प्रतिक्षण 'वर्तना वर्तना' ऐसा अनुगत व्यवहार होनेसे यद्यपि वह एक कही जाती है पर वस्तुतः प्रत्येक द्रव्यकी अपनी-अपनी वर्तना जुदी जुदी है।

§ ५. वर्तना प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्यमें होती रहती है। यह अनुमानसे इस प्रकार सिद्ध है—जैसे तन्दुलको पकनेके लिए बटलोईमें डाला और वह आधा घण्टेमें पका तो यह नहीं समझना चाहिए कि २९ या २९॥ मिनट तो वह ज्योंका त्यों रखा रहा और अन्तिम क्षणमें पक-कर भात बन गया हो। उसमें प्रथम समयसे ही सूक्ष्मरूपसे पाक बराबर होता रहा है। यदि

प्रथम समयमें पाक न हुआ होता तो दूसरे तीसरे आदि क्षणोंमें भी सम्भव नहीं हो सकता था। इस तरह पाकका ही अभाव हो जायगा।

§ ६. कालका लक्षण वर्तना है। समय आदि क्रियाविशेषोंकी तथा समयसे निष्पन्न पाकादि पर्यायोंकी, जो कि स्वसत्ताका अनुभव करके स्वतः ही वर्तमान हैं, उत्पत्तिका बाह्य कारण काल है। इन में 'समय, पाक' आदि व्यवहार तो होते हैं पर 'काल' यह व्यवहार बिना कालद्रव्यके नहीं हो सकता। इस तरह काल अनुमेय होता है।

§ ७. आदित्य-सूर्यकी गतिसे द्रव्योंमें वर्तना नहीं हो सकती; क्योंकि सूर्यकी गतिमें भी 'भूत वर्तमान भविष्यत' आदि कालिक व्यवहार देखे जाते हैं। वह भी एक क्रिया है। उसकी वर्तनामें भी किसी अन्यको हेतु मानना ही चाहिए। वही काल है।

§ ८. जैसे वर्तन चावलों का आधार है, पर पाकके लिए तो अग्निका व्यापार ही चाहिए उसी तरह आकाश वर्त्तनावाले द्रव्योंका आधार तो हो सकता है वह वर्तनाकी उत्पत्तिमें सहकारी नहीं हो सकता। उसमें तो काल द्रव्यका ही व्यापार है।

§ ९. सत्ता यद्यपि सर्वपदार्थोंमें रहती है, साधारण है, पर वर्तना सत्ताहेतुक नहीं हो सकती; क्योंकि वर्तना सत्ताका भी उपकार करती है। कालसे अनुगृहीत वर्तना ही सत्ता कहलाती है। अतः काल पृथक् ही होना चाहिए।

§ १०. द्रव्यका अपनी स्वद्रव्यत्वजातिको नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते हैं। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्यसे भिन्न नहीं है फिर भी द्रव्यार्थिककी अविवक्षा और पर्यायार्थिककी प्रधानतामें उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है। तात्पर्य यह कि अपनी मौलिक सत्ताको न छोड़ते हुए पूर्वपर्यायकी निवृत्तिपूर्वक जो उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना है वही परिणाम है। प्रयोग अर्थात् पुद्गल विकार। प्रयोगके बिना होनेवाली विक्रिया विस्रसा होती है। परिणाम दो प्रकारका है–एक अनादि, दूसरा आदिमान्। लोककी रचना सुमेरु पर्वत आदिके आकार इत्यादि अनादि परिणाम हैं। आदिमान् दो प्रकारके हैं–एक प्रयोगजन्य और दूसरे स्वाभाविक। चेतन द्रव्यके औपशमिकादि भाव जो मात्र कर्मोंके उपशम आदिकी अपेक्षासे होते हैं; पुरुष प्रयत्नकी जिनमें आवश्यकता नहीं होती वे वैस्रसिक परिणाम हैं। ज्ञान शील भावना आदि गुरूपदेशके निमित्तसे होते हैं, अतः ये प्रयोगज हैं। अचेतन मिट्टी आदिका कुम्हार आदिके प्रयोगसे होनेवाला घट आदि परिणमन प्रयोगज है और इन्द्रधनुष मेघ आदि रूपसे परिणमन वैस्रसिक है।

§ ११. प्रश्न—बीज अंकुरमें है या नहीं? यदि है; तो वह अंकुर नहीं कहा जा सकता बीजकी तरह। यदि नहीं है; तो कहना होगा कि बीज अंकुर रूपसे परिणत नहीं हुआ क्योंकि उसमें बीजस्वभावता नहीं है' इस प्रकार सत् और असत्, दोनों पक्षमें दूषण आते हैं, अतः परिणाम हो ही नहीं सकता?

उत्तर—पक्षान्तर अर्थात् कथञ्चित् सदसद्वादमें सर्वथा सत् पक्षके और सर्वथा असत् पक्षके दोष नहीं आते और न उभय पक्षके दोनों दोष ही आ सकते हैं, क्योंकि कथञ्चित् सदसद्वाद 'नरसिंह'की तरह जात्यन्तर रूप है। शालिबीजादि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे अंकुरमें बीज है, यदि उसका निरन्वय विनाश हो गया होता तो वह 'शालिका अंकुर' क्यों कहलाता है? शालिबीज और शाल्यंकुर रूप पर्यायार्थिक दृष्टिसे अंकुरमें बीज नहीं है क्योंकि यदि बीजका परिणमन नहीं हुआ होता तो अंकुर कहाँसे आता? अतः अनेकान्त वादमें कोई दूषण नहीं है।

§ १२. हम यह पूछते हैं कि–'जिस परिणामका तुम निषेध करते हो वह विद्यमान है, या नहीं?' दोनों ही पक्षमें प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। यदि परिणाम विद्यमान है; तब निषेध कैसा? यदि विद्यमानका निषेध करते हो; तो 'परिणामका प्रतिषेध' भी विद्यमान है,

अतः उसका भी प्रतिषेध हो जायगा। ऐसी दशामें परिणामका अस्तित्व ही सिद्ध होगा। यदि परिणामका प्रतिषेध विद्यमान होनेपर भी अप्रतिषिद्ध है; तो परिणाम भी विद्यमान रहते हुए अप्रतिषिद्ध रहना चाहिए। यदि परिणाम विद्यमान नहीं है, तो भी खरविषाणकी तरह उसका निषेध नहीं किया जा सकता। अथवा जो व्यक्ति परिणामका प्रतिषेध कर रहा है उसका 'वक्ता'के रूपमें, वचनोंका 'वाचक शब्द'के रूपमें तथा अभिधेयका 'वाच्य अर्थ'के रूपमें परिणमन भी जब नहीं होगा तब प्रतिषेध कैसे होगा? तात्पर्य यह कि वक्ता वाच्य और वचनोंके अभावमें परिणामका प्रतिषेध सिद्ध नहीं हो पायगा।

§ १३. प्रश्न–'बीजसे अंकुर भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो वह बीजका परिणाम नहीं कहा जा सकेगा। यदि अभिन्न है; तो उसे अंकुर नहीं कह सकते क्योंकि वह बीजके स्वरूपकी तरह बीजसे अभिन्न है। कहा भी है–"यदि बीज स्वयं परिणत हुआ है तो अंकुर बीजसे भिन्न नहीं हो सकता। पर ऐसा है नहीं, अर्थात् भिन्न है। यदि भिन्न है अर्थात् बीज अंकुररूप नहीं है तो उसे अंकुर नहीं कह सकते" इत्यादि दूषण आते हैं अतः परिणाम नहीं बन सकता। उत्तर–इसका उत्तर पहिले दे दिया है कि हम एकान्तपक्षको नहीं मानकर अनेकान्तपक्ष मानते हैं। अंकुरकी उत्पत्तिके पहिले बीजमें अंकुर पर्याय नहीं थी पीछे उत्पन्न हुई अतः पर्यायकी दृष्टिसे अंकुर बीजसे भिन्न है। चूँकि शालिबीजकी जातिवाला ही अंकुर उत्पन्न हुआ है अन्य जातिका नहीं अतः शालिबीज जातिवाले द्रव्यकी दृष्टिसे बीजसे अंकुर अभिन्न है।

§ १४. प्रश्न–'बीज जब अंकुररूपसे परिणत हो जाता है तब उसमें बीज यदि व्यवस्थित है तो बीजके व्यवस्थित रहनेसे अंकुरका होना विरुद्ध ही है। यदि अव्यवस्थित है तो कहना होगा कि बीज अंकुररूपसे परिणत नहीं हुआ' इत्यादि दोष आनेसे परिणाम नहीं बन सकता। उत्तर इस सम्बन्धमें अनेकान्त ही स्वीकार किया गया है। जैसे मनुष्यायु और नाम कर्मके उदयसे अंग उपांग पर्यायोंको प्राप्त करता हुआ आत्मा अंगुलि उपांगकी दृष्टिसे अंगुलि आत्मा कहा जाता है। वह अंगुलि-आत्मा वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी अपेक्षा संकुचित और प्रसारित अवस्थाओंको प्राप्त होता है। उस समय वह अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे 'सत्' है और पुद्गलरूपसे परिणत अंगुलि उपांगकी दृष्टिसे भी 'सत्' है, अभिन्न है और अवस्थित है। संकोचन प्रसारणरूप पर्यायार्थिक दृष्टिसे ही वह असत् भिन्न और अनवस्थित है। उसी तरह एकेन्द्रिय वनस्पति नाम कर्मके उदयवाला आत्मा ही बीज कहा जाता है। वह अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे 'सत्' है और पौद्गलिक शालिजातीय एकेन्द्रियके रूप रस स्पर्श शब्दादि पर्यायकी दृष्टिसे भी 'सत्' है, इसी तरह अभिन्न भी है और अवस्थित भी। हाँ, पौद्गलिक शालिबीजरूप पर्यायकी दृष्टिसे ही वह असत् भिन्न और अनवस्थित है। इस तरह अनेकान्तवादमें कोई दूषण नहीं रहता।

§ १५. प्रश्न–परिणाम माननेमें वृद्धि नहीं हो सकती। यदि बीज अंकुररूपसे परिणत होता है तो दूधके परिणाम दहीकी तरह अंकुरको बीजमात्र ही होना चाहिए, बड़ा नहीं। कहा भी है–"यदि बीज अंकुरपनेको प्राप्त होता है तो छोटे बीजसे बड़ा अंकुर कैसे हो सकेगा?" यदि पार्थिव और जलीय रससे अंकुरकी वृद्धि कही जाती है तो कहना होगा कि वह बीजका परिणाम नहीं हुआ। कहा भी है–"यदि यह इष्ट है कि अंकुर पार्थिव और जलीय रससे बढ़ता है तो फिर उसे बीजका परिणाम नहीं कहना होगा।" पार्थिव जलीय तथा अन्य रस द्रव्योंके संचयसे वृद्धिकी कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि लाखका संयोग होनेपर भी जैसे लकड़ीमें वृद्धि नहीं होती उसी तरह संचयसे वृद्धि नहीं मानी जा सकती। कहा भी है–"जैसे लाखसे लपेटनेपर भी काठ मोटा तो हो जाता है पर बढ़ता नहीं है, लाख ही बढ़ती है, उसी तरह यदि बीज

उसी तरह रहता है और रस बढ़ते हैं तो फिर बीज क्या करता है ?" उत्तर-'बीजमात्र अंकुर होगा' यह कहकर परिणाम तो आपने स्वीकार कर ही लिया है। जैसे मनुष्यायु और नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ बालक बाह्य सूर्यप्रकाश माँका दूध आदिको अपनी भीतरी पाचनशक्तिसे पचाता हुआ आहार आदिके द्वारा क्रमशः बढ़ता है उसी तरह वनस्पति विशेष आयु और नाम कर्मके उदयसे बीजाश्रित जीव अंकुररूपसे उत्पन्न होकर पार्थिव और जलीय रसभागको गरम लोहेके द्वारा सोखे गये पानीकी तरह खींचता हुआ बाह्य सूर्यप्रकाश और भीतरी पाचनशक्तिके अनुसार उन्हें जीर्ण करता हुआ अपने खादके अनुसार बढ़ता है। अतः वृद्धि बीजाश्रित नहीं है किन्तु अन्य कारणोंके आधीन है।

यह दोष तो एकान्तवादियोंको ही हो सकता है। जो वस्तुको सर्वथा नित्य मानते हैं, उनके यहाँ तो परिणमन ही नहीं होता, वृद्धि कहाँसे होगी ? क्षणिक पक्षमें भी प्रतीत्यसमुत्पाद-की प्रक्रियामें जितना कारण होगा उतना कार्य होगा अतः वृद्धि नहीं हो सकती। क्षणिक पक्षमें अंकुर और अंकुरके कारण भौम रस उदकरस आदिका युगपत् विनाश होगा या क्रमशः ? यदि युगपत्; तो उनके द्वारा वृद्धि क्या होगी ? वृद्धिके कारण जब स्वयं नष्ट हो रहे हैं तो वे अन्य विनश्यमान पदार्थकी क्या वृद्धि करेंगे ? यदि क्रमशः; तब भी नष्ट अंकुरका भौमरस उदकरस आदि क्या करेंगे ? अथवा, विनष्ट रसादि अंकुरका क्या कर सकेंगे ? अनेकान्तवादीके मतमें तो अंकुर या भौमरसादि सभी द्रव्यदृष्टिसे नित्य हैं और पर्याय दृष्टसे अनित्य। अतः वृद्धि हो सकती है।

§ १६. शंका-क्षणिक पक्षमें प्रबन्धभेद मानकर वृद्धि बन सकती है। प्रबन्ध तीन प्रकार के हैं-सभागरूप, क्रमापेक्ष और अनियत। प्रदीपसे प्रदीपकी सन्तति चलना सभाग प्रबन्ध है। यह प्रवाहसे प्रवाहकी तरह सादृश्य होनेसे सभाग कहलाता है। जो सन्तान प्रबन्ध क्रमसे चले वह क्रमापेक्ष है जैसे कि बाल कुमार जवान आदि दशाओंका या बीज अंकुर आदि अवस्थाओंका। मुर्गेमें अनेक रंगके प्रबन्धकी तरह मेघ और इन्द्रधनुष आदिमें अनियत प्रबन्ध है। इससे वृद्धि हो सकती है ? समाधान-यहाँ यह विचारणीय है कि प्रबन्ध दो विद्यमान पदार्थोंका माना जायगा, या अविद्यमान पदार्थोंका, या विद्यमान और अविद्यमानका ? दो अविद्यमानोंका तो बन्ध्यासुत और आकाशपुष्पकी तरह प्रबन्ध हो नहीं सकता। इसी तरह खर और खर-विषाणकी तरह एक विद्यमान और एक अविद्यमानका भी प्रबन्ध नहीं हो सकेगा। अन्तमें विद्यमानोंका ही प्रबन्ध बनता है। परन्तु क्षणिकपक्षमें पूर्व और उत्तर स्कन्धकी एक क्षणमें सत्ता तो हो ही नहीं सकती अतः प्रबन्ध कैसा ? यदि सत्ता मानते हैं तो क्षणिकवादका लोप हो जायगा। 'तराजूके पलड़ोंमें एकका ऊपर उठना और दूसरेका नीचे झुकना जिस प्रकार एक साथ होता है उसी तरह एक साथ उत्पाद और विनाश मानकर अर्थप्रबन्ध चलेगा' यह पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि युगपत् उत्पाद-विनाश माना जाता है तो दायें-बायें सींगकी तरह परस्पर कार्यकारणभाव नहीं हो सकेगा।

§ १७-१८. "अवस्थित द्रव्यके एक धर्मकी निवृत्ति होनेपर अन्य धर्मकी उत्पत्ति होना परिणाम है।" ध्रौव्यादि लक्षणवाले द्रव्यके क्षीरधर्मकी निवृत्तिपूर्वक दधिधर्मकी उत्पत्ति परिणाम कही जाती है। परिणामका यह लक्षण भी ठीक नहीं है, इसमें अनेक दोष आते हैं। इस वादीके यहाँ द्रव्य अवस्थित तो है नहीं, जिसका परिणाम होगा। यदि गुणसमुदायसे भिन्न कोई द्रव्य स्थिर रहता है तो गुणसमुदायमात्रको द्रव्य नहीं मानना चाहिए। बताइए जो उत्पन्न होता है जो नष्ट होता है तथा जो स्थिर रहता है ये तीनों गुणसमुदायरूप हैं, या उससे भिन्न ? यदि गुणसमुदायमात्र ही हैं; तो जब वही गुणसमुदाय पहिले रहा तथा वही पश्चात्, तो इनमें कौन किसका परिणाम होगा ? निवृत्त होनेवाला उत्पन्न होनेवाला, और स्थिर रहनेवाला तो भिन्न

ही होना चाहिए। यदि भिन्न है; तो गुणसमुदायमात्रको ही द्रव्य नहीं मानना चाहिए। यदि एक धर्म नष्ट होता है तथा अन्य उत्पन्न, तो फिर नित्यैकान्तपक्ष समाप्त हो जाता है। किंच, समुदाय गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है; तो गुणमात्र ही रह जायँगे, समुदाय क्या रहेगा ? और जब समुदाय नहीं रहेगा तो उसके अविनाभावी गुणोंका भी अभाव हो जायगा। यदि समुदाय भिन्न माना जाता है तो 'गुणसमुदायमात्र द्रव्य है' इस प्रतिज्ञाका विरोध होगा तथा परस्पर अविनाभावी गुण और समुदाय दोनोंका अभाव हो जायगा। यदि पूर्वभावके अन्यभावरूप होनेको परिणाम कहते हैं तो सुख-दुःख और मोह शब्दादि या घटादिरूप हो जायँगे। ऐसी हालतमें शब्दादि या घटादिमें सुखादिके समन्वयकी बात नहीं रहती। यदि समन्वय स्वीकार किया जाता है तो 'पूर्वभावका अन्यभाव होना परिणाम है' परिणामका यह लक्षण नहीं बनता। फिर, 'जो जिस रूपमें नहीं है उसमें वह रूप नहीं आ सकता' यह साधारण नियम है जैसे कि अभाव भावरूपसे नहीं है तो उसमें भावरूपता नहीं आ सकती। इसी तरह गुणोंमें यदि स्थूलरूपता नहीं है तो उनमें स्थूलरूपता नहीं आ सकती। यदि उनमें वह रूप है; तो भी परिणाम कैसा ? जिसमें जो रूप विद्यमान है उसमें फिरसे वही रूप तो प्राप्त हो नहीं सकता। अभाव अभावात्मक है तो वह फिरसे अभावात्मक क्या होगा ? इस तरह एकान्तपक्षमें दोनों प्रकारसे परिणाम नहीं बन पाता अतः अनेकान्तवाद स्वीकार करना चाहिए। अनेकान्त पक्षमें पर्यायार्थिक दृष्टिसे अन्यभावता हो सकती है और द्रव्यार्थिक दृष्टिसे स्थिरता। अतः द्रव्यदृष्टिसे अवस्थित द्रव्यमें ही पर्यायदृष्टिसे एककी निवृत्ति तथा अन्यकी उत्पत्तिरूप परिणाम हो सकता है।

§ १९. बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तोंसे द्रव्यमें होनेवाला परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है। वह दो प्रकारकी है–बैलगाड़ी आदिमें प्रायोगिक तथा मेघ आदिमें स्वाभाविक क्रिया होती है।

§ २०–२१. प्रश्न–यदि स्थिति–ठहरना रूप क्रियाका परिणाममें अन्तर्भाव होता है, तो परिस्पन्दात्मक क्रियाका भी उसीमें अन्तर्भाव हो सकता है, और ऐसी स्थितिमें केवल परिणामका ही निर्देश करना चाहिए। उत्तर–परिस्पन्दात्मक और अपरिस्पन्दात्मक दोनों प्रकारके भावोंकी सूचनाके लिए क्रियाका पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। परिस्पन्द क्रिया है तथा अन्य परिणाम।

§ २२. परत्व और अपरत्व क्षेत्रकृत भी हैं जैसे दूरवर्ती पदार्थ 'पर' और समीपवर्ती 'अपर' कहा जाता है। गुणकृत भी होते हैं जैसे अहिंसा आदि प्रशस्त गुणोंके कारण धर्म 'पर' और अधर्म 'अपर' कहा जाता है। कालकृत भी होते हैं जैसे सौ वर्षवाला वृद्ध 'पर' और सोलह वर्षका कुमार 'अपर' कहा जाता है। यहाँ कालके उपकारका प्रकरण है, अतः कालकृत ही परत्व और अपरत्व लेना चाहिए। दूरदेशवर्ती कुमार तपस्वीकी अपेक्षा समीप देशवर्ती वृद्ध चाण्डालमें कालकी अपेक्षा 'पर' व्यवहार देखा जाता है और कुमार तपस्वीमें 'अपर' व्यवहार। ये परत्वापरत्व कालकृत हैं।

§ २३. वर्तना परिणाम आदि उपकार रूप लिंगोंके द्वारा कालद्रव्यका अनुमान होता है। कहा भी है–"जिससे मूर्तद्रव्योंका उपचय और अपचय लक्षित होते हैं वह काल है।"

§ २४. प्रश्न–कालके अस्तित्वकी सिद्धिके लिए वर्तनाका ग्रहण ही पर्याप्त है क्योंकि परिणाम आदि वर्तनाके ही विशेष हैं ? उत्तर–'मुख्यकाल और व्यवहारकाल' इन दो प्रकारके कालोंकी स्पष्ट सूचनाके लिए यह विस्तार किया गया है। जिस प्रकार धर्म अधर्म आदि गति और स्थितिमें उपकारक हैं उसी तरह वर्तनामें मुख्य कालद्रव्य उपकारक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालाणु द्रव्य स्थित हैं। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें धर्म-अधर्म आदिकी तरह मुख्य रूपसे प्रदेशप्रचय नहीं है और न पुद्गलपरमाणुकी तरह प्रचयशक्ति-

की अपेक्षा गौण प्रदेशप्रचय ही । ये एकप्रदेशी हैं । दोनों प्रकारके प्रदेशप्रचय न होनेसे ये अस्तिकाय नहीं हैं । विनाशका कारण न होनेसे नित्य हैं । इनमें परप्रत्यय उत्पाद विनाश होता रहता है अतः अनित्य हैं । जैसे सुईमें धागा जानेका मार्ग परिच्छिन्न होता है उसी तरह परिच्छिन्नमूर्ति होनेपर भी रूप रसादिसे रहित होनेके कारण अमूर्त हैं । प्रदेशान्तरमें संक्रमण न होनेसे निष्क्रिय हैं । व्यवहारकाल परिणाम क्रिया और परत्वापरत्वके द्वारा लक्षित होता है । कालकृत वर्तनाका आधार होनेसे यह भी काल कहलाता है । यह स्वयं किसीके द्वारा परिच्छिन्न होकर अन्य पदार्थोंके परिच्छेदमें कारण होता है ।

§ २५. भूत वर्तमान और भविष्यत ये तीनों काल परस्परापेक्ष सिद्ध होते हैं । जैसे वृक्षपंक्तिके किनारे चलनेवाले देवदत्तके कुछ वृक्ष गत कुछ गम्यमान और कुछ गमिष्यमाण होते हैं उसी तरह कालाणुओंकी क्रमिक पर्यायोंके अनुसार पदार्थोंमें भूत वर्तमान और भविष्यत व्यवहार होता है । मुख्यकालमें भूत आदि व्यवहार गौण है तथा व्यवहारकालमें मुख्य । भूत आदि व्यवहार परस्परापेक्ष हैं । जो क्रियापरिणत द्रव्य कालपरमाणुको प्राप्त होता है वह द्रव्य उस कालके द्वारा वर्तमान समय-सम्बन्धी वर्तनाके कारण वर्तमान कहा जाता है । कालाणु भी उस वर्तमानद्रव्यको स्वसम्बद्ध ही वर्तन कराता है अतः वर्तमान कहा जाता है । वही जब कालवश वर्तनाके सम्बन्धको अनुभव कर चुकता है तब भूत कहा जाता है और कालाणु भी भूत । वही आगे आनेवाली वर्तनाकी अपेक्षा भविष्यत कहा जाता है और कालाणु भी भविष्यत । इसी तरह सूर्यकी प्रतिक्षणकी गतिकी अपेक्षा आवलिका उच्छ्वास प्राण स्तोक लव नालिका मुहूर्त अहोरात्र पक्ष मास ऋतु अयन आदि सूर्यगतिनिमित्तक व्यवहारकाल मनुष्यक्षेत्रमें चलता है क्योंकि मनुष्यलोकके ज्योतिर्देव गतिशील होते हैं, बाहरके ज्योतिर्देव अवस्थित हैं । इसी आवलिका आदिसे तीनों लोकोंके प्राणियोंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति आदिका परिच्छेद होता है । इसीसे संख्येय असंख्येय अनन्त आदि गिनती की जाती है ।

§ २६. प्रश्न–क्रियामात्र ही काल है, उससे भिन्न नहीं । क्रिया स्वयं परिच्छिन्न होकर अन्य द्रव्योंके परिच्छेदमें कारण होती है अतः वही काल है । परमाणुकी परिवर्तन क्रियाका समय ही 'समय' कहा जाता है, समयके परिमाणको मापनेवाला कोई दूसरा सूक्ष्मकाल नहीं है । 'समय क्रियाका समुदाय आवलिका, आवलिकाका समुदाय उच्छ्वास' आदिमें उच्छ्वासके मापनेमें आवलिका क्रिया काल है और आवलिकामें परमाणुक्रिया रूप समयकाल है । इसी तरह आगे भी समझना चाहिए । लोकव्यवहारमें भी 'गो-दोहनकाल, रसोईका समय' आदि कालव्यवहार क्रियामूलक ही हैं । एक क्रियासे दूसरी क्रिया परिच्छिन्न होती हुई कालसंज्ञा प्राप्त करती है ।

उत्तर–ठीक है, क्रियाकृत ही यह व्यवहार होता है कि 'उच्छ्वासमात्रमें किया, मुहूर्त्तमें किया' आदि, परन्तु उच्छ्वास निश्वास मुहूर्त्त आदि संज्ञाओंको 'काल' व्यपदेश बिना किसी कारणके नहीं हो जाता । उसका कारण काल है अन्यथा कालव्यवहार का लोप हो जायगा । जैसे देवदत्तमें 'दंडी' यह व्यपदेश अकस्मात् नहीं होता किन्तु उसका कारण दंडका सम्बन्ध है उसी तरह उक्त व्यवहारोंमें 'काल' व्यपदेशके लिए कालद्रव्य मानना आवश्यक है ।

§ १८. क्रिया मात्रको काल माननेमें 'वर्तमान'का अभाव हो जायगा । पट बुनते समय जो तन्तु बुना गया वह तो 'अतीत' हो गया तथा जो बुना जायगा वह 'अनागत' होगा । इन दोनोंके बीचमें कोई अनतिक्रान्त और अनागामिनी क्रिया है ही नहीं जिसे वर्तमान कहा जाय । अतीत और अनागत व्यवहार भी वर्तमानकी अपेक्षा होता है अतः वर्तमानके अभावमें उनका भी अभाव हो जायगा । 'प्रारम्भसे लेकर कार्य समाप्ति तक होनेवाली क्रियाओंका समूह 'वर्तमान' है' यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें प्रतिज्ञाविरोध आता है । पहिले आपने क्रियाको

काल कहा था और अब 'क्रियासमूह'को काल कहते हो। फिर, क्षणिक क्रियाओंका समूह भी नहीं बन सकता। जो वर्तनालक्षण काल भिन्न मानते हैं उनके मतमें तो प्रथम समयवाली क्रियाकी वर्तनासे प्रारम्भ करके द्वितीय आदि समयवर्ती क्रियाओंकी द्रव्यदृष्टिसे स्थिति मानकर समूहकल्पना कर ली जाती है, और उस क्रियासमूहसे बननेवाले घटादिकी समाप्ति तक 'घट क्रिया हो रही है' यह वर्तमानकालिक प्रयोग कर दिया जाता है। यदि भिन्न रूपसे उपलब्ध न होनेके कारण कालका अभाव किया जाता है तो क्रिया और क्रियासमूहका भी अभाव हो जायगा। कारकोंकी प्रवृत्तिविशेषको क्रिया कहते हैं। प्रवृत्तिविशेष भी कारकोंसे भिन्न उपलब्ध नहीं होता जैसे टेढ़ापन सर्पसे जुदा नहीं है उसी तरह क्रियावयवोंसे भिन्न कोई क्रिया नहीं है अतः क्रिया और क्रियासमूह दोनोंका अभाव ही हो जायगा। क्रियासे क्रियान्तर-का परिच्छेद भी नहीं हो सकता, क्योंकि स्थिर प्रस्थ आदिसे ही स्थिर ही गेहूँ आदिका परि-च्छेद देखा जाता है। परन्तु जब क्रिया क्षणमात्र ही ठहरती है; तो उससे अन्य क्रियाओंका परिच्छेद कैसे किया जा सकता है? स्वयं अनवस्थित पदार्थ किसी अन्य अनवस्थितका परिच्छेदक नहीं देखा गया। 'प्रदीप अनवस्थित होकर अनवस्थित परिस्पन्दका परिच्छेदक होता है तभी तो 'प्रदीपवत् परिस्पन्दः' यह प्रयोग होता है, यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रदीप या परि-स्पन्दको हम सर्वथा क्षणिक नहीं मानते, कारण कि उसके प्रकाशन आदि कार्य अनेकक्षणसाध्य होते हैं। समूहमें परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव भी नहीं बनता; क्योंकि क्षणिकोंका समूह ही नहीं बन सकता।

प्रश्न–जैसे क्षणिक वर्णध्वनियोंका समुदाय पद और वाक्य बन जाता है उसी तरह क्रियाका समूह भी बन जायगा। उत्तर–वर्णध्वनियोंका क्षणिकत्व ही असिद्ध है क्योंकि देशान्तरवर्ती श्रोताओंको वे सुनाई देती हैं। शब्दान्तरकी उत्पत्तिके द्वारा देशान्तरवर्ती श्रोताओंको सुनाई देनेका पक्ष भी ठीक नहीं हैं; क्योंकि जिस क्षणमें ध्वनि उत्पन्न हुई उसी क्षणमें तो अन्य-ध्वनिको उत्पन्न नहीं करती, और अगले क्षणमें स्वयं असत् हो जाती है। जिसकी सदवस्था समीप है उस क्षणको उत्पत्ति-काल कहते हैं, पर जिसका उत्तर कालमें सत्त्व नहीं हैं उसमें उत्पत्ति व्यवहार नहीं हो सकेगा। पूर्व पूर्वज्ञानोंसे प्राप्त संस्कारोंकी आधारभूत बुद्धिमें समुदाय-की कल्पना भी नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि भी क्षणिक है। जिसके मतमें द्रव्य दृष्टिसे क्रिया नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य उसीके मतमें बुद्धि भी नित्यानित्यात्मक होकर ही संस्कारों-का आधार हो सकती है और ऐसी बुद्धिमें ही शक्ति और व्यक्ति रूपसे व्यवस्थित क्रिया समूहके द्वारा, जिसमें कि कालकृत वर्तनासे 'काल' व्यपदेश प्राप्त हो गया है, अन्यपरिच्छेदकी वृत्ति की जा सकती है। इस तरह व्यवहारकाल सिद्ध हो जाता है, और व्यवहारकालके द्वारा मुख्यकाल सिद्ध हो जाता है।

§ २८. परत्वकी अपेक्षा अपरत्व और अपरत्वकी अपेक्षा परत्व होता है, अतः इनका पृथक् ग्रहण किया है।

§ २९. 'वर्तना'का ग्रहण सर्वप्रथम इसलिए किया है कि वह अभ्यर्हित है। परमार्थ कालकी प्रतिपत्ति वर्तनासे होती है अतः वह पूज्य है। अन्य परिणाम आदि व्यवहार कालके लिंग हैं, अतः अप्रधान हैं।

बौद्ध जीवको पुद्गल शब्दसे कहते हैं अतः पुद्गलकी परिभाषा करते हैं—

**स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥**

स्पर्श रस गन्ध और वर्णवाले पुद्गल हैं।

§ १–५. सभी रूप रसादि विषयोंमें स्पर्श सबल है क्योंकि स्पृष्टग्राही इन्द्रियोंमें स्पर्शकी शीघ्र अभिव्यक्ति होती है तथा सभी संसारी जीवोंके यह ग्रहणयोग्य होता है। इसीलिए

स्पर्शका ग्रहण सर्वप्रथम किया है। यद्यपि स्पर्शसुखसे निरुत्सुक जीवोंमें कहीं कहीं रसव्यापार प्रचुर देखा जाता है फिर भी उनके स्पर्शके होनेपर ही रसव्यापार होता है, इसीलिए स्पर्शके बाद रसका ग्रहण किया है क्योंकि रसग्रहण स्पर्शग्रहणके बाद होता है। वायुमें भी रस रूप आदि मानते हैं अतः व्यभिचार दोष नहीं है। रूप आदि स्पर्शके अविनाभावी हैं। जिस प्रकार घ्राणके द्वारा ग्राह्य गन्ध द्रव्यमें रूपादि विद्यमान रहनेपर भी अनुद्भूत या सूक्ष्म होनेके कारण तथा चक्षुरादि इन्द्रियोंके स्थूल विषयग्राहक होनेसे उपलब्ध नहीं होते उसी तरह वायुके रूपादि भी। रूपसे पहिले गन्धका ग्रहण किया है क्योंकि वह अचाक्षुष है। अन्तमें रूपका ग्रहण इसलिए किया है कि वह स्थूलद्रव्यगत ही उपलब्ध होता है।

§ ६. जैसे 'क्षीरिणो न्यग्रोधाः' यहाँ नित्ययोग अर्थमें मत्वर्थीय प्रत्यय किया गया है उसी तरह अनादि पारिणामिक स्पर्शादि गुणोंके नित्य योगमें मतु प्रत्यय है।

§ ७-१०. मृदु कठिन गुरु लघु शीत उष्ण स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्शके मूल भेद हैं। रस पाँच प्रकारका है-तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय। सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे गन्ध दो प्रकारकी है। नील पीत शुक्ल कृष्ण और लोहितके भेदसे रूप पाँच प्रकारका है। इन स्पर्शादिके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनन्तगुण परिणाम होते हैं।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

§ १. 'जो अर्थको शपति अर्थात् कहता है जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है या शपनमात्र है वह शब्द है' इत्यादि कर्तृ करण और भावसाधनोंमें शब्द आदिका निर्वचन करके, परस्परापेक्षार्थक द्वन्द्व समासके बाद मतुप् प्रत्यय करना चाहिए। जो बँधे या जिसके द्वारा बाँधा जाय या बन्धनमात्रको बन्ध कहते हैं। जो लिंगके द्वारा अपने स्वरूपको सूचित करता है या जिसके द्वारा सूचित किया जाता है या सूचनमात्र है, वह सूक्ष्म है। सूक्ष्मके भाव वा कर्मको सौक्ष्म्य कहते हैं। जो स्थूल होता है बढ़ता है या जिसके द्वारा स्थूलन होता है या स्थूलनमात्रको स्थूल कहते हैं। स्थूलका भाव या कर्म स्थौल्य है। जो संस्थित होता है या जिसके द्वारा संस्थित हो जाते हैं या संस्थितिको संस्थान कहते हैं। जो भेदन करता है, जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदनमात्रको भेद कहते हैं। पूर्वोपात्त अशुभ कर्मके उदयसे जो स्वरूपको अन्धकारावृत करता या जिसके द्वारा किया जाता है या तमनमात्रको तम कहते हैं। पृथिवी आदि सघन द्रव्योंके सम्बन्धसे शरीरादिके तुल्य आकारमें जो प्रकाशका आवरण करे या अपने स्वरूपका छेदन करे वह छाया है। असातावेदनीयके उदयसे अपने स्वरूपको जो तपता है या जिसके द्वारा तपाया जाता है या आतपनमात्रको आतप कहते हैं। जो निरावरणको उद्योतित करता है, जिसके द्वारा उद्योतित करता है या उद्योतनमात्रको उद्योत कहते हैं।

§ २-५. शब्द दो प्रकारके हैं-एक भाषात्मक और दूसरे अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द अक्षर और अनक्षरके भेदसे दो प्रकारके हैं। अक्षरीकृत शब्दोंसे शास्त्रकी अभिव्यक्ति होती है, यह संस्कृत और अन्यके भेदसे आर्य और म्लेच्छोंके व्यवहारका कारण होता है। अनक्षरात्मक शब्द दो इन्द्रिय आदि जीवोंके होते हैं। अतिशयज्ञान-केवलज्ञानके द्वारा स्वरूप प्रतिपादनमें कारणभूत भी अनक्षरात्मक भाषात्मक शब्द होते हैं। ये सब प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारके हैं। मेघ आदिकी गर्जना प्रायोगिक है। प्रायोगिक शब्द तत वितत घन और सौषिरके भेदसे चार प्रकारके हैं। पुष्कर भेरी आदिमें चमड़ेके तनावसे जो शब्द होता है वह तत है। वीणा सुघोष आदिसे जो शब्द होता है वह वितत है। ताल घंटा आदिके अभिघातसे होनेवाला शब्द घन है और बाँसुरी शंख आदिसे निकलनेवाला शब्द सौषिर है।

स्फोटवादी मीमांसकोंका मत है कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं, क्रमशः उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षणमें विनष्ट हो जाती हैं। वे स्वरूपके बोध करानेमें ही क्षीणशक्ति हो जाती हैं, अतः अर्थान्तरका ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं हैं। यदि ध्वनियाँ ही समर्थ होतीं तो पदोंसे पदार्थकी तरह प्रत्येक वर्णसे अर्थबोध होना चाहिए। एक वर्णके द्वारा अर्थबोध होनेपर वर्णान्तरका उपादान निरर्थक है। क्रमसे उत्पन्न होनेवाली ध्वनियोंका सहभावरूप संघात भी संभव नहीं है, जिससे अर्थबोध हो सके। अतः उन ध्वनियोंसे अभिव्यक्त होनेवाला, अर्थप्रतिपादनमें समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए। उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि ध्वनि और स्फोटमें व्यंग्यव्यञ्जकभाव नहीं बन सकता। जिस शब्दस्फोटको व्यंग्य मानते हैं वह स्वरूपमें स्थित है या अस्थित ? यदि स्वरूपसे स्थित है, तो ध्वनियोंसे पहिले और बादमें उसके अनुपलब्ध होनेका क्या कारण है—सूक्ष्मता या किसी प्रतिबन्धकका सद्भाव ? यदि सूक्ष्मता कारण है; तो आकाशकी तरह सदा अर्थात् ध्वनिकालमें भी अनुपलब्ध रहना चाहिए। यदि ध्वनियोंसे उसकी सूक्ष्मता हटकर स्थूलता आ जाती है तो वह नित्य नहीं रहेगा, क्योंकि उसमें विकार आ गया है। घटकी उपलब्धिके लिए प्रतिबन्धकभूत अन्धकारकी तरह यहाँ कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है। अन्धकार केवल अभावात्मक नहीं है किन्तु नील वर्णकी तरह अतिशयवाला और वृद्धि-हानिवाला होनेसे वह वस्तुभूत है। यदि स्फोट स्वरूपसे अनवस्थित है तो वह व्यङ्ग्य नहीं हो सकता और न ध्वनियाँ व्यञ्जक; किन्तु ध्वनियोंसे स्वरूपलाभ करनेके कारण उसे कार्य मानना होगा। किंच, प्रथम ध्वनि शब्दस्फोटको यदि पूरे रूपसे प्रकट कर देती है तो दूसरी तीसरी आदि ध्वनियाँ निरर्थक हो जायँगी। यदि उसके एक देशको प्रकट करती हैं; तो वह निरवयव नहीं रहकर सावयव हो जायगा। किंच, ध्वनियाँ स्फोटकी व्यञ्जक होती हैं तो वे स्फोटका उपकार करेंगी या श्रोत्रका या दोनोंका ? जिस प्रकार जलके सींचनेसे पृथिवीकी गन्ध प्रकट होती है उस तरह ध्वनियाँ स्फोटका उपकार नहीं कर सकतीं, क्योंकि वह नित्य है, अतः उसमें विकार या किसीके द्वारा किया गया कोई अतिशय नहीं आ सकता। अमूर्त नित्य और अभिव्यङ्ग्य स्फोटमें कोई विकार हो नहीं सकता। जिस प्रकार अंजन चक्षुका उपकारक होता है उस तरह ध्वनियाँ श्रोत्रका भी उपकार नहीं कर सकतीं; क्योंकि बधिर-बहरेकी इन्द्रियमें तो उपकार हो नहीं सकता। स्वस्थ कर्णका उपकार यही है कि उसके द्वारा शब्दका बोध हो जाय। सो यह कार्य तो जब ध्वनियोंसे ही हो जाता है तो फिर स्फोटकी कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। इसी तरह दोनोंका उपकार भी नहीं बनता। किंच, जब ध्वनियाँ उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाती हैं तब वे स्फोटकी अभिव्यक्ति कैसे करेंगी ? यदि क्षणिक होकर भी वे स्फोटकी अभिव्यक्ति कर सकती हैं तो सीधा अर्थबोध करानेमें क्या बाधा है ? जिससे एक निरर्थक स्फोट माना जाय ? दीपक भी सर्वथा क्षणिक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा देशान्तरवर्ती पदार्थोंका प्रकाश होता है। 'कर्मव्यक्तियाँ क्षणिक होकर भी कर्मत्व जातिकी अभिव्यक्ति करती हैं' यह पक्ष भी ठीक नहीं है ; क्योंकि हम द्रव्य गुण और कर्ममें रहनेवाला भिन्न सामान्य पदार्थ ही नहीं मानते। कर्म भी द्रव्यसे भिन्न पदार्थ नहीं है और द्रव्य दृष्टिसे वह स्थिर है क्षणिक नहीं। किंच, अभिव्यंजक और अभिव्यंग्योंसे विलक्षण होनेके कारण भी स्फोटकी अभिव्यक्तिकी कल्पना करना उचित नहीं है। जैसे मूर्त और क्रियावान् दीपकके द्वारा मूर्त और सक्रिय ही घटादि अभिव्यक्त होते हैं उस तरह न तो ध्वनियाँ ही मूर्त और क्रियाशील हैं और न स्फोट ही। अतः अभिव्यक्तिकी कल्पना उचित नहीं है। किंच, स्फोट यदि ध्वनियोंसे अभिन्न है तो दोनोंके एक ही हो जानेसे वह व्यंग्य नहीं रह सकेगा। यदि भिन्न है तो श्रोत्रेन्द्रियसे उपलब्ध नहीं होना चाहिए। किंच, यदि स्फोटको व्यंग्य मानते हैं तो उसमें घटादिकी तरह अनित्यता भी आ जानी चाहिए। 'ज्ञानके द्वारा अभिव्यङ्ग्य आकाश होता है और वह नित्य है अतः

उक्त साधन व्यभिचारी है' यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि हम 'मूर्तिमान्के द्वारा व्यंग्य होनेसे' ऐसा विशिष्ट हेतु देंगे , फिर जो व्यंग्य होते हैं वे कार्य भी देखे जाते हैं जैसे कि घटादि। पर स्फोटको तो सर्वथा नित्य माना गया है अतः वह व्यंग्यसे विलक्षण होनेके कारण व्यंग्य नहीं बन सकता। 'महान् अहंकार' आदि सांख्याभिमत तत्त्वोंका दृष्टान्त देना ठीक नहीं है ; क्योंकि जैसे स्फोटकी व्यंग्यता असिद्ध है उस तरह उन तत्त्वोंकी भी। फिर, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता जो अमूर्त नित्य और निरवयव होकर मूर्त अनित्य और सावयवसे व्यंग्य होता हो। अतः शब्द ध्वनिरूप ही है और वह नित्यानित्यात्मक है यह स्वीकार करना चाहिए। वह पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य है, श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा सुनने योग्य पर्यायसामान्यकी दृष्टिसे कालान्तर स्थायी है और प्रतिक्षणकी पर्यायकी अपेक्षा क्षणिक है।

§ ६. बन्ध प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारका है। वैस्रसिक बन्ध भी आदिमान् और अनादिमान्के भेदसे दो प्रकारका होता है। स्निग्ध रूक्ष गुणोंके निमित्तसे बिजली उल्का जलधारा इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्गल बन्ध आदिमान् है। अनादि वैस्रसिक बन्ध नव प्रकारका है—धर्मास्तिकाय बन्ध, धर्मास्तिकाय देशबन्ध, धर्मास्तिकाय प्रदेशबन्ध, अधर्मास्तिकाय बन्ध, अधर्मास्तिकाय देशबन्ध, अधर्मास्तिकाय प्रदेशबन्ध, आकाशास्तिकायबन्ध, आकाशास्तिकाय देश-बन्ध और आकाशास्तिकाय प्रदेशबन्ध। सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय है, आधा देश और आधेका आधा प्रदेश कहलाता है। कालाणुओंका कभी परस्परविश्लेष नहीं होता अतः उनका वैस्रसिक सम्बन्ध अनादि है। एक जीवके प्रदेशोंका संहरण और विसर्पण स्वभाव होने पर भी परस्परविश्लेष नहीं होता अतः अनादि बन्ध है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालका कभी भी परस्पर वियोग नहीं होता अतः इनका अनादि बन्ध है। नानाजीवोंका भी सामान्य दृष्टिसे अन्य द्रव्योंके साथ अनादि सम्बन्ध है। पुद्गल द्रव्योंमें भी महास्कन्ध आदिका सामान्य रूपसे अनादि बन्ध है। इस तरह सब द्रव्योंमें बन्धकी सम्भावना है, पर पुद्गलका प्रकरण होनेसे यहाँ पुद्गल-बन्ध ही लेना चाहिए।

§ ७–९. विस्रसा अर्थात् स्वाभाविक। पुरुषार्थकी अपेक्षा 'विधि' होती है। विधिसे उलटा 'विस्रसा' शब्द है। प्रयोग अर्थात् पुरुषका काय वचन और मनका संयोग। जो प्रयोग-जन्य है उसे प्रायोगिक कहते हैं। यह दो प्रकारका है–एक अजीवविषयक और दूसरा जीव और अजीव विषयक। लाख और काठ आदिका बन्ध अजीवविषयक बन्ध है। कर्म और नोकर्मबन्ध जीव और अजीव विषयक है। कर्मबन्ध ज्ञानावरणादिके भेदसे आठ प्रकारका है। नोकर्मबन्ध औदारिकादि शरीर विषयक है। बन्ध पाँच प्रकारका भी है– आलपन आलयन संश्लेष शरीर और शरीरीके भेदसे। रथ गाड़ी आदिका लोहेकी साँकल रस्सा आदिसे खींचकर बाँधना आलपन बन्ध है। दीवाल मकान आदिका मिट्टीका गारा ईंट आदिसे परस्पर चिनना आलयन बन्ध है। लाख काठ आदिका संश्लेष बन्ध है। शरीर बन्ध औदारिक आदि शरीरके भेदसे पाँच प्रकारका है। यह संयोगज भंगकी अपेक्षा पन्द्रह प्रकारका भी है। औदारिक शरीर नोकर्मका अन्य औदारिक शरीर नोकर्मसे सम्बन्ध होनेपर (१) औदारिक औदारिक शरीर नोकर्म बन्ध, औदारिक और तैजस शरीरके परस्पर सम्बन्धसे (२) औदारिक तैजस शरीर नोकर्म बन्ध, इसी तरह (३) औदारिक कार्मण कर्म शरीर बन्ध; (४) औदारिक तैजस कार्मण शरीर बन्ध, (५) वैक्रियिक वैक्रियिक शरीर बन्ध, (६) वैक्रियिक तैजसशरीर बन्ध, (७) वैक्रियिक कार्मण शरीर बन्ध, (८) वैक्रियिक तैजस कार्मण शरीर बन्ध, (९) आहारक आहारक शरीर बन्ध, (१०) आहारक तैजस शरीर बन्ध, (११) आहारक कार्मण शरीर बन्ध, (१२) आहारक तैजस कार्मण शरीर बन्ध, (१३) तैजस तैजस शरीर बन्ध (१४) तैजस कार्मण शरीर बन्ध और (१५) कार्मण कार्मणशरीर बन्ध समझना चाहिए। शरीरिबन्ध अनादिमान् और आदिमान्के

विकल्पसे दो प्रकारका है। जीवके आठ मध्य प्रदेशोंका, जो ऊपर नीचे चार चार रूपसे स्थित हैं सदा वैसे ही रहते हैं एक दूसरेको नहीं छोड़ते, अनादि बन्ध है। अन्य प्रदेशोंमें कर्मनिमित्तक संकोच विस्तार होता रहता है अतः उनका बन्ध आदिमान् है। जैसे क्रोधपरिणत आत्माको क्रोध कहते हैं उसी तरह गरम लोहेके पिंडकी तरह बन्धकी अपेक्षा एकत्वको प्राप्त हुआ शरीर-परिणत आत्मा ही शरीर हैं, अतः शरीरबन्धके पन्द्रह विकल्प शरीरीमें भी लगा लेना चाहिए। आत्माके योग परिणामोंके द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। यह आत्माको परतन्त्र बनानेका मूल कारण है। कर्मके उदयसे होनेवाला वह औदारिकशरीर आदिरूप पुद्गलपरिणाम जो आत्माके सुख दुःखमें सहायक होता है, नोकर्म कहलाता है। स्थितिके भेदसे भी कर्म और नोकर्ममें भेद है। कर्मोंकी स्थिति आगे कही जायगी। औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें अपनी आयुके प्रमाण निषेक होते हैं। औदारिक शरीरकी तीन पल्य उत्कृष्ट स्थिति है, एक समयसे लेकर तीन पल्य तक औदारिक शरीरका अवस्थान है। वैक्रियिक शरीरकी तेतीस सागर स्थिति है, एक समय निषेकसे लेकर तेतीस सागरके अन्तिम समय तक वैक्रियिक शरीर ठहरता है। आहारक शरीरकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तैजस शरीरकी ६६ सागर स्थिति है। ज्ञानावरणादि कर्मोंकी जो उत्कृष्ट स्वस्थिति है वही कार्मण शरीरकी स्थिति समझनी चाहिए। औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण शरीर नामकर्मकी प्रत्येककी बीस कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति है। आहारक-शरीर कर्मकी अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति है।

§ १०-११. सौक्ष्म्य और स्थौल्य दो दो प्रकारके हैं—एक अन्त्य और दूसरे आपेक्षिक। अन्त्य सौक्ष्म्य परमाणुओंमें है और आपेक्षिक सौक्ष्म्य बेर आँवला बेल ताड़फल आदिमें है। इसी तरह अन्त्य स्थौल्य जगद्व्यापी महास्कन्धमें तथा आपेक्षिक बेर आँवला बेल आदिमें है।

§ १२-१३. संस्थान—आकृति दो प्रकारका है—एक इत्थंलक्षण और दूसरा अनित्थंलक्षण। गोल तिकोना चौकोना लम्बा चौड़ा आदि रूपसे जिसका वर्णन किया जा सके वह इत्थंलक्षण है। उससे भिन्न मेघ आदिका संस्थान 'यह ऐसा है' ऐसा निरूपण न कर सकनेके कारण अनित्थं-लक्षण है।

§ १४. भेद छह प्रकारका है—उत्कर चूर्ण खण्ड चूर्णिका प्रतर और अणुचटनके भेदसे। लकड़ीका आरा आदिसे चीरना उत्कर है। गेहूँ चना आदिका सत्तू चून आदि बनाना चूर्ण है। घड़ेके खप्पर हो जाना खंड है। उड़द मूँग आदिकी दाल बनाना चूर्णिका है। अभ्रक आदिके पटल प्रतर हैं। गरम लोहेको घनसे कूटनेपर जो फुलिंगे निकलते हैं उन्हें अणुचटन कहते हैं।

§ १५. दृष्टिका प्रतिबन्ध करनेवाला अन्धकार है, जिसे हटानेके कारण दीपक प्रकाशक कहा जाता है।

§ १६-१७. प्रकाशके आवरणभूत शरीर आदिसे छाया होती है। छाया दो प्रकार-की है—दर्पण आदि स्वच्छ द्रव्योंमें आदर्शके रंग आदिकी तरह मुखादिका दिखना तद्वर्ण-परिणता छाया है तथा अन्यत्र प्रतिबिम्ब मात्र होती है। प्रसन्नद्रव्यके परिणमन विशेषसे पूर्व-मुख पदार्थकी पश्चिममुखी छाया पड़ती है। मीमांसकका यह मत ठीक नहीं है कि—"दर्पणमें छाया नहीं पड़ती किन्तु नेत्रकी किरणें दर्पणसे टकराकर वापिस लौटती हैं और अपने मुखको ही देखती हैं।" क्योंकि नेत्रकी किरणें जैसे दर्पणसे टकराकर मुखको देखती हैं उसी तरह दीवालसे टकराकर भी उन्हें मुखको देखना चाहिए। इसी तरह जब किरणें वापिस आती हैं तो पूर्वदिशाकी तरफ जो मुख है वह पूर्वाभिमुख ही दिखाई देना चाहिए पश्चिमाभिमुख नहीं।

मुखकी दिशा बदलनेका कोई कारण नहीं है। फिर ये नेत्र रश्मियाँ मनके अधिष्ठानके बिना पदार्थके ग्रहणमें समर्थ भी नहीं हो सकतीं।

§ १८. सूर्यादिके उष्ण प्रकाशको आतप कहते हैं।

§ १९. चन्द्र मणि जुगनू आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

§ २०-२१. क्रिया भी पुद्गलकी पर्याय है। इसका ग्रहण धर्म अधर्म और आकाशमें क्रियाका निषेध करनेसे हो ही जाता हैं। इस प्रकार 'काल' द्रव्यमें पुद्गलकी तरह क्रियावत्त्वका प्रसंग नहीं होता ; क्योंकि 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहाँ अस्तिकायोंके निर्देशमें 'काल' का ग्रहण ही नहीं किया है। यदि यहाँ पाठ होता तो 'आ आकाशादेकद्रव्याणि निष्क्रियाणि' इन सूत्रोंसे बाह्य होनेके कारण कालमें भी पुद्गलकी तरह क्रियावत्त्वका प्रसंग आता। अथवा यदि कालको सक्रिय मानना इष्ट होता तो 'द्रव्याणि जीवाः, कालश्च' ऐसा पूर्वनिर्देश किया होता। ऐसी हालतमें 'जीवाश्च' यहाँ 'च' शब्द नहीं देना पड़ता और 'कालश्च' यह पृथक् सूत्र भी नहीं बनाना पड़ता। अनन्त समयोंकी सूचनाके लिए 'कालश्च' सूत्रकी सार्थकता बताना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'आकाशस्यानन्ताः कालश्च' इस प्रकार सूत्र बनानेसे वह प्रयोजन सिद्ध हो सकता था। इस तरह लघु न्यायसे सब कार्य सिद्ध हो जानेपर भी जो आगे 'कालश्च' ऐसा पृथक् सूत्र बनाया गया है उससे ज्ञात होता है कि कालमें क्रियावत्त्व इष्ट नहीं है। यह निष्क्रियता परिस्पन्दरूप क्रियाकी अपेक्षासे है 'अस्ति' आदि भावात्मक क्रियाओंकी अपेक्षासे नहीं। अतः अनादि पारिणामिक अस्ति आदि क्रियाकी दृष्टिसे काल द्रव्य क्रियावान् है और देशान्तर प्राप्ति करानेमें समर्थ परिस्पन्दरूप क्रियाकी अपेक्षा काल निष्क्रिय है।

§ २२. क्रिया प्रयोग बन्धाभाव आदिके भेदसे दस प्रकारकी है। बाण चक्र आदिकी प्रयोग गति है। एरण्डबीज आदिकी बन्धाभाव गति है। मृदंग भेरी शंखादिके शब्द पुद्गलोंकी जो दूर तक जाते हैं छिन्नगति है। गेंद आदिकी अभिघातगति है। नौका आदिकी अवगाहनगति है। पत्थर आदिकी नीचेकी ओर गुरुत्वगति है। तुंबड़ी रुई आदिकी लघु गति है। सुरा सिरका आदिकी संचार गति है। मेघ रथ मूसल आदिकी क्रमशः वायु हाथी तथा हाथके संयोगसे होनेवाली संयोग गति है। वायु अग्नि परमाणु मुक्तजीव और ज्योतिर्देव आदिकी स्वभावगति है। अकेली वायुकी तिर्यक् गति है। भस्त्रादिके कारण वायुकी अनियत गति होती है। अग्निकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति है। कारणवश उसकी अन्य दिशाओंमें भी गति होती है। परमाणुकी अनियत गति है। मुक्त होनेवाले जीवोंकी ऊर्ध्वगति है। ज्योतिषियोंका नरलोकमें नित्य भ्रमण होता है।

§ २२-२३ जैसे 'सारवान् स्तम्भः' या 'आत्मवान् पुरुषः' यहाँ अभेदमें भी मत्वर्थीय प्रयोग देखा जाता है, उसी तरह इस सूत्रमें भी समझना चाहिए। मत्वर्थीयका 'दण्डी देवदत्तः'की तरह एकान्त भिन्नतामें ही प्रयोग होनेका नियम नहीं है। फिर शब्दादि भी पर्यायदृष्टिसे पुद्गल द्रव्यसे भिन्न हैं। गरम लोहेकी तरह पुद्गलका ही शब्दादि रूपसे परिणमन होता है, अतः स्यात् अभिन्नत्व है।

§ २४ स्पर्शादि परमाणुओंके भी होते हैं और स्कन्धोंके भी, पर शब्दादि व्यक्तरूपसे स्कन्धोंके ही होते हैं सौक्ष्म्यको छोड़कर, इस विशेषताको बतानेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। सौक्ष्म्यका इस सूत्रमें निर्देश स्थौल्यका प्रतिपक्ष सूचन करनेके लिए खास तौरसे किया गया है।

§ २५. 'स्पर्शादि गुणोंका एकजातीय परिणमन होता है' इसकी सूचना करनेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। जैसे कठिन स्पर्श अपनी जातिको न छोड़कर पूर्व और उत्तर स्वगत भेदोंके उत्पाद विनाशको करता हुआ दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनन्तगुण कठिन स्पर्श पर्यायों से ही परिणत होता है मृदु, गुरु, लघु आदि स्पर्शोंसे नहीं। इसी तरह मृदु आदि भी। तिक्तरस

रस जातिको न छोड़कर उत्पाद विनाशको प्राप्त होकर भी दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनन्त गुण तिक्तरस रूपसे ही परिणमन करेगा कटुक आदि रसोंसे नहीं। इसी तरह कटुक आदिमें भी समझना चाहिए। एक सुगन्ध अपनी जातिको न छोड़कर दो आदि अनन्तगुण सुगन्ध पर्यायोंसे ही परिणत होगा दुर्गन्ध रूपसे नहीं। इसी तरह दुर्गन्ध भी। शुक्ल वर्ण अपनी जातिको न छोड़कर पूर्व उत्तरके नाश और उत्पादका अनुभव करता हुआ दो आदि अनन्तगुण शुक्ल वर्णोंसे ही परिणमन करता है, नीलादि रूपसे नहीं। इसी तरह नीलादिमें भी समझना चाहिए। प्रश्न—जब कठिन स्पर्श मृदु रूपमें, गुरु लघु रूपमें, स्निग्ध सूक्ष्ममें और शीत उष्णमें बदलता है, इसी तरह तिक्त कटुक आदि रूपसे, सुगन्ध दुर्गन्ध रूपसे, शुक्ल कृष्णादि रूपमें तथा और भी परस्पर संयोगसे गुणान्तर रूपमें परिणमन करते हैं तब यह एकजातीय परिणमनका नियम कैसे रहेगा ? उत्तर—ऐसे स्थानोंमें कठिन स्पर्श अपनी स्पर्श जातिको न छोड़कर ही मृदु स्पर्शसे विनाश उत्पादका अनुभव करता हुआ परिणमन करता है अन्य रूपमें नहीं। इसी तरह अन्य गुणोंमें भी समझ लेना चाहिए।

§ २६. च शब्दसे नोदन अभिघात आदि जितने भी पुद्गल परिणाम हो सकते हैं उन सबका समुच्चय हो जाता है।

पुद्गलके भेद—

### अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

पुद्गल दो प्रकारके हैं–अणु और स्कन्ध।

§ १. प्रदेशमात्रभावी स्पर्श आदि गुणोंसे जो सतत परिणमन करते हैं और इसी रूपसे शब्दके विषय होते हैं वे अणु हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं इनका आदि मध्य और अन्त एक ही है–वही अणुका स्वरूप। कहा भी है–"एक ही स्वरूप जिनका आदि मध्य और अन्त है, जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, उस अविभागी द्रव्यको परमाणु कहते हैं।"

§ २. स्थूल होनेके कारण जो ग्रहण किये जा सकते हैं और रखे जा सकते हैं वे स्कन्ध हैं। रूढ़ शब्दोंमें क्रिया कहीं होती है, और कहीं न भी हो तो उपलक्षणसे मान ली जाती है। अतः ग्रहण निक्षेप आदि व्यापारके अयोग्य भी द्व्यणुक आदि स्कन्धोंमें स्कन्ध संज्ञा बन जाती है।

§ ३-४. दोनों शब्दोंमें बहुवचन अणुत्वजाति और स्कन्धत्वजातिसे संगृहीत होनेवाले अनन्त भेदोंकी सूचनाके लिए है। यद्यपि 'अणुस्कन्धाः' ऐसा सूत्र बन सकता था। परन्तु पृथक् निर्देश पूर्वोक्त दो सूत्रोंसे पृथक् पृथक् सम्बन्ध बनानेके लिए है। स्पर्श रस गन्ध और वर्णवाले अणु हैं और शब्द आदि पर्यायवाले स्कन्ध हैं।

§ ५-१२. कोई वादी परमाणुके इस लक्षणसे एकान्तका समर्थन करते हैं–"अन्त्य-परमाणु कारण ही है, सूक्ष्म है, नित्य है, उसमें एक रस एक गन्ध और एक वर्ण है, अविरोधी दो स्पर्श हैं तथा कार्यलिंगके द्वारा वह अनुमेय है"; पर यह युक्तियुक्त नहीं है। परमाणुको 'कारण ही' कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वह स्कन्धोंके भेदपूर्वक उत्पन्न होनेसे कार्य भी है। 'कारणमेव' कहनेसे उसके कार्यत्वका निषेध हो जाता है। जब 'कारणमपि' कहा जाता तभी कार्यत्वका अनिषेध रहता। परमाणुमें स्नेह आदि गुण उत्पन्न और विनष्ट होते हैं अतः कथञ्चित् अनित्य होनेसे वह सर्वथा नित्य नहीं कहा जा सकता। 'परमाणु अनादिकालसे अणु रहता है और वह द्व्यणुकादि स्कन्धोंका कारण है, इसी अपेक्षा 'कारणमेव' कहा है' यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अणु अपने अणुत्वको नहीं छोड़ता तो उससे कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि अणुत्वका भेद हुआ तो वह स्वयं कार्य हो ही जायगा। जब तक उससे अणुत्वके

भेदपूर्वक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक उसे कारण भी नहीं कह सकते। पुत्रके अभावमें पिता व्यपदेश नहीं होता। अनादि परमाणुकी छाया आदि भी नहीं पड़ सकती; क्योंकि छाया आदि स्कन्धोंकी होती है, अतः छायादिरूप कार्यकी अपेक्षा भी वह कारण नहीं कहा जा सकता। छायादि चाक्षुप हैं, अतः वे परमाणुके कार्य नहीं हो सकते। परमाणुके कार्य तो अचाक्षुप होंगे। फिर अनादिकालसे अबतक परमाणुकी अवस्थामें ही रहनेवाला कोई अणु नहीं है। 'भेदादणुः' सूत्रमें स्कन्धभेदपूर्वक परमाणुओंकी उत्पत्ति बताई है। अतः 'अनादि परमाणु'की अपेक्षा नित्य कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भी स्नेह आदि गुणोंका प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। कोई भी पदार्थ परिणामशून्य नहीं है। द्व्यणुक आदिकी तरह संघातसे परमाणु कभी उत्पन्न नहीं होता अतः कारण ही है, और द्रव्यदृष्टिसे व्यय और उत्पाद नहीं होता अतः नित्य है। इस तरह विशेष विवक्षामें 'कारणमेव' यहाँ एवकारका भी विरोध नहीं है।

§ १३-१४. परमाणु निरवयव है, अतः उसमें एक रस एक गन्ध और एक वर्ण है। सावयव ही मातुलिंग आदिमें अनेक रस, मयूर आदिमें अनेक वर्ण और अनुलेपन आदिमें अनेक गन्ध हो सकती हैं। उसमें शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक, इस तरह अविरोधी दो स्पर्श होते हैं। गुरु-लघु मृदु और कठिन स्पर्श परमाणुमें नहीं पाये जाते क्योंकि वे स्कन्धगत हैं। शरीर इन्द्रिय और महाभूत आदि स्कन्धरूप कार्योंसे परमाणुका अस्तित्व सिद्ध होता है। कार्यलिंगसे कारणका अनुमान किया जाना सर्वसम्मत नियम है। परमाणुओंके अभावमें स्कन्ध कार्य नहीं हो सकते।

§ १५. अतः अनेकान्त दृष्टिसे ही उक्तलक्षण ठीक हो सकता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध कार्योंका उत्पादक होनेसे परमाणु स्यात् कारण है, स्कन्ध भेदसे उत्पन्न होता है और रूक्ष आदि कार्यभूत गुणोंका आधार होनेसे स्यात्कार्य है। उससे छोटा कोई भेद नहीं है अतः वह स्यात् अन्त्य है, प्रदेशभेद न होनेपर भी गुणभेद होनेके कारण वह अन्त्य नहीं भी है। सूक्ष्म परिणमन होनेसे स्यात्सूक्ष्म है और स्थूलकार्यकी उत्पत्तिकी योग्यता रखनेसे स्यात् स्थूल भी है। द्रव्यता नहीं छोड़ता अतः स्यात् नित्य है, स्कन्ध पर्यायको प्राप्त होता है और गुणोंका विपरिणमन होनेसे स्यात् अनित्य है। अप्रदेशत्वकी विवक्षामें एक रस एक गन्ध एक वर्ण और दो स्पर्शवाला है, अनेकप्रदेशी स्कन्धरूप परिणमनकी शक्ति होनेसे अनेक रस आदि वाला भी है। कार्यलिंगसे अनुमेय होनेके कारण स्यात् कार्यलिंग है और प्रत्यक्षज्ञानका विषय होनेसे कार्य-लिंग नहीं भी है।

§ १६. जिन परमाणुओंने परस्पर बन्ध कर लिया है वे स्कन्ध कहलाते हैं। वे तीन प्रकारके हैं-स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश। अनन्तानन्त परमाणुओंका बन्धविशेष स्कन्ध है। उसके आधेको देश कहते हैं और आधेके भी आधेको प्रदेश। पृथिवी जल अग्नि वायु आदि उसीके भेद हैं। स्पर्शादि और शब्दादि उसकी पर्याय हैं। घट पट आदि स्पर्शादिमान् पदार्थ पृथिवी हैं। जल भी पुद्गलका विकार होनेसे पुद्गलात्मक है। उसमें गन्ध भी पाई जाती है। 'जलमें संयुक्त पार्थिवद्रव्योंकी गन्ध जलमें आती है, जल स्वयं निर्गन्ध है' यह पक्ष असिद्ध है; क्योंकि कभी भी गन्धरहित जल उपलब्ध नहीं होता और न पार्थिव द्रव्योंके संयोगसे रहित ही। गन्ध स्पर्शका अविनाभावी है। अर्थात् पुद्गलका अविनाभावी है अतः वह जलका ही गुण है। जल गन्धवाला है क्योंकि वह रसवाला है जैसे कि आम। अग्नि भी स्पर्शादि और शब्दादि स्वभाववाली है क्योंकि वह पृथिवीत्ववाली पृथिवीका कार्य है जैसे कि घड़ा। 'स्पर्शादिवाली लकड़ी आदिसे अग्नि उत्पन्न होती है' यह सर्वविदित है। पुद्गलपरिणाम होनेसे ही खाए गए स्पर्शादिगुण-वाले आहारका वात पित्त और कफरूपसे परिणाम होता है। पित्त अर्थात् जठराग्नि। अतः तेजको स्पर्श आदि गुणवाला ही मानना ठीक है। इसी तरह वायु भी स्पर्शादि और शब्दादि पर्यायवाली

है क्योंकि उसमें स्पर्श गुण पाया जाता है जैसे कि घटमें। खाए हुए स्पर्शादिवाले भोजनका वात पित्त और श्लेष्म रूपसे परिणमन होता है। वात अर्थात् वायु। अतः वायुको भी स्पर्शादिमान् मानना चाहिए। अतः नैयायिकका यह कथन खण्डित हो जाता है कि–"पृथ्वीमें चार गुण जलमें गन्धरहित तीन गुण अग्निमें गन्धरसरहित दो गुण तथा वायुमें केवल स्पर्श गुण है। ये सब पृथिवीत्व जलत्व आदि जातियोंसे भिन्न-भिन्न हैं।"

स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण–

## भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेद, संघात और भेदसंघातसे स्कन्ध होते हैं।

§ १–४. बाह्य और अभ्यन्तर कारणोंसे संहत स्कन्धोंके विदारणको भेद कहते हैं। भिन्न भिन्न पदार्थोंका बन्ध होकर एक हो जाना संघात है। सूत्रमें बहुवचन देनेसे ज्ञात होता है कि भेदपूर्वक संघात अर्थात् 'भेदसंघात' भी स्कन्धोत्पत्तिका स्वतन्त्र कारण है। 'उत्पद्यन्ते'में उत्पूर्वक पदि धातुका अर्थ जन्म होता है। उत्पद्यन्ते अर्थात् जन्म लेते हैं।

§ ५. 'भेदसंघातेभ्यः' यह हेतुनिर्देश उत्पत्तिकी अपेक्षा है। निमित्त कारण और हेतुमें सभी विभक्तियाँ प्रायः होती हैं। अतः 'भेद संघातरूप कारणोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं' यह अर्थ फलित हो जाता है। दो परमाणुओंके संघातसे द्विप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध तथा एक परमाणुके संघातसे या तीनों परमाणुओंके संघातसे त्रिप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु, या चार अणुओंके सम्बन्धसे एक चतुःप्रदेशी स्कन्ध होता है। इस तरह संख्येय असंख्येय और अनन्त प्रदेशोंके संघातसे उतने प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इन्हींके भेदसे द्विप्रदेशपर्यन्त स्कन्ध उत्पन्न होते हैं' इस तरह एक ही समयमें भेद और संघातसे–किसीसे भेद और किसीसे संघात होनेपर द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

अणुकी उत्पत्तिका कारण–

## भेदादणुः ॥ २७ ॥

अणु भेदसे ही होते हैं।

§ १. 'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते' इस सूत्रसे स्कन्धकी उत्पत्ति सूचित होनेसे अर्थात् ही ज्ञात हो जाता है कि 'अणु भेदसे होता है' फिर भी इस सूत्रके बनानेसे यह अवधारण किया जाता है कि अणु भेदसे ही उत्पन्न होता है। जैसे कि 'अपो भक्षयति' में एवकारका अर्थ अवधारण आ जाता है।

## भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अनन्तानन्त परमाणुओंसे उत्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है तथा कोई अचाक्षुष। 'जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे बनता है' इस प्रश्नका समाधान इस सूत्रमें किया है कि भेद और संघातसे अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष बनता है। सूक्ष्म स्कन्धसे कुछ अंशका भेद होने पर भी यदि उसने सूक्ष्मताका परित्याग नहीं किया है तो वह अचाक्षुषका अचाक्षुष ही बना रहेगा। सूक्ष्मपरिणत स्कन्ध भेद होने पर भी अन्यके संघातसे सूक्ष्मताका त्याग करने पर और स्थूलताकी उत्पत्ति होनेपर चाक्षुष बनता है।

प्रश्न—गति स्थिति अवगाह वर्तना शरीरादि और परस्परोपकारके द्वारा जिन धर्म आदि का अनुमान किया गया है उन्हें पहिले 'द्रव्य' कहा है। तो उन्हें द्रव्य क्यों कहते हैं? उत्तर–सत् होनेसे।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

जो सत् है वह द्रव्य है।

'तो सत्का लक्षण क्या है' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जो इन्द्रियग्राह्य या अतीन्द्रिय पदार्थ बाह्य और आन्तर निमित्तकी अपेक्षा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यको प्राप्त होता है वह 'सत्' है। यहाँ 'वेदितव्यम्' इस पदका अध्याहार कर लेना चाहिए।

धर्मादिको 'सत्' होनेसे द्रव्य समझ लिया था, अतः बताइए कि 'सत्' क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए यह सूत्र बनाया है—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

अथवा, यदि उपकार करनेके कारण धर्मादि द्रव्य 'सत्' हैं तो जब ये उपकार नहीं करते तब इन्हें 'असत्' कहना चाहिए ?' इस शंकाके समाधानार्थ कहा है कि-उपकारविशेष न होनेपर भी 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व' इस सामान्य द्रव्यलक्षणके रहनेसे 'सत्' होंगे ही।

§ १-३. चेतन या अचेतन द्रव्यका स्वजातिको न छोड़ते हुए जो पर्यायान्तरकी प्राप्ति-उत्पादन है वह उत्पाद है, जैसे कि मृत्पिंडमें घट पर्याय। इसी तरह पूर्वपर्यायके विनाशको व्यय कहते हैं, जैसे कि घड़ेकी उत्पत्ति होनेपर पिंडाकारका नाश होता है। अनादि पारिणामिक स्वभावसे व्यय और उत्पाद नहीं होते किन्तु द्रव्य स्थित रहता है, ध्रुव बना रहता है, जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओंमें मृद्रूपताका अन्वय है।

§ ४-७. प्रश्न—युक्त शब्दका प्रयोग भिन्न पदार्थसे किसी अन्य पदार्थका संयोग होने पर होता है जैसे कि दण्डके संयोगसे 'दंडी' प्रयोग। उत्तर—यहाँ युजि धातुके अर्थमें सत्ताका अर्थ समाया हुआ है। सभी धातुएँ भाववाची हैं। भाव अर्थात् सत्ताक्रिया। इसी सामान्य भाव-सत्ताको वे वे विशेष धातुएँ स्वार्थसे विशिष्ट करके विषय करती हैं। चाहे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' कह लीजिए चाहे 'उत्पादव्ययध्रौव्यं सत्' कह लीजिए बात एक ही है। सत्तार्थक माननेपर भी 'एध' आदि धातुओंके वृद्धि आदि विशेष अर्थ बन ही जाते हैं क्योंकि असत् खरविषाण आदिके वृद्धि आदि तो होती नहीं। ऐसी स्थितिमें 'उत्पादव्ययध्रौव्ययवत्' यह प्रयोग उचित नहीं है क्योंकि इसमें भी दूषण और परिहार समान हैं। जैसे 'देवदत्त और गौ भिन्न हैं, तब 'गोमान्' यह व्यवहार होता है वैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे द्रव्य भिन्न नहीं है, अतः मत्वर्थीय नहीं हो सकता' यह दूषण बना रहता है, क्योंकि अभिन्नमें भी मत्वर्थीय प्रत्यय होता है जैसे कि 'आत्मवान् आत्मा, सारवान् स्तम्भः' आदिमें। अथवा, युक्त शब्दका अर्थ तादात्म्य है, अर्थात् सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है। अथवा, उत्पाद आदि पर्यायोंसे पर्यायी द्रव्य कथञ्चित् भिन्न होता है अतः योग अर्थमें भी 'युक्त' शब्दका प्रयोग किया जा सकता है। यदि सर्वथा भेद माना जायगा तो दोनोंका अभाव हो जायगा।

§ ८. 'सत्' शब्दके अनेक अर्थ हैं-जैसे 'सत्पुरुष' में प्रशंसा 'सत्कार' में आदर 'सद्भूत' में अस्तित्व 'प्रव्रजितः सन्' में प्रज्ञायमान आदि। यहाँ 'सत्'का अर्थ अस्तित्व है।

§ ९. प्रश्न—व्यय और उत्पाद चूँकि द्रव्यसे अभिन्न होते हैं अतः द्रव्य ध्रुव नहीं रह सकता ? उत्तर—व्यय और उत्पादसे भिन्न होनेके कारण द्रव्यको ध्रुव नहीं कहा जाता किन्तु द्रव्यरूपसे अवस्थान होनेके कारण। यदि व्यय और उत्पादसे भिन्न होनेके कारण द्रव्यको ध्रुव कहा जाता है तो द्रव्यसे भिन्न होनेके कारण व्यय और उत्पादमें भी ध्रौव्य आना चाहिए। शंकाकारने हमारा अभिप्राय नहीं समझा। हम द्रव्यसे व्यय और उत्पादको सर्वथा अभिन्न नहीं कहते, यदि कहते तो ध्रौव्यका लोप हो ही जाता, किन्तु कथञ्चित्। व्यय और उत्पादके समय भी द्रव्य स्थिर रहता है अतः दोनोंमें भेद है और द्रव्यजातिका परित्याग दोनों नहीं करते उसी द्रव्यके ये होते हैं अतः अभेद है। यदि सर्वथा भेद होता तो द्रव्यको छोड़कर उत्पाद

और व्यय पृथक् मिलते और सर्वथा अभेद पक्षमें एकलक्षण होनेसे एकका अभाव होने पर शेषके अभावका भी प्रसंग आता ।

§ १०. इस प्रकारकी शंकाओंमें स्ववचन विरोध भी है। आप अपने पक्षकी सिद्धिके लिए जिस हेतुका प्रयोग कर रहे हैं वह साधकत्वसे यदि सर्वथा अभिन्न है तो स्वपक्षकी तरह परपक्षका भी साधक ही होगा अथवा परपक्षकी तरह स्वपक्षका भी दूषक होगा। इस तरह स्ववचन विरोध दूषण आता है ।

§ ११. उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप पर्यायें तथा पर्यायी-द्रव्यमें कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है, अतः सर्वथा भेद पक्षभावी दोष कि-'भिन्न उत्पादादि ही सत्ता कहे जायँगे, अतः द्रव्यका अस्तित्व नहीं रहेगा, और द्रव्यके अभावमें निराधार उत्पादादिका भी अभाव हो जायगा', तथा सर्वथा अभेद पक्षभावी दोष कि-'लक्ष्य और लक्षणमें एकत्व होनेसे लक्ष्यलक्षणभाव नहीं बनेगा' नहीं आ सकते। जैसे जाति कुल रूप आदिसे अन्वयधर्मी मनुष्यके अनेक सम्बन्धियों-की दृष्टिसे पिता-पुत्र-भ्राता-भानजा आदि परस्पर विलक्षण धर्म होनेपर भी पुरुषमें भेद नहीं होता और न पुरुषके अभिन्न होनेपर भी उन धर्मोंमें अभेद होता है उसी तरह द्रव्यसे बाह्य आभ्यन्तर कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण पर्यायें कथञ्चित् भिन्न हैं और द्रव्यदृष्टिसे अवस्थान होनेसे कथञ्चित् अभिन्न हैं, अतः न तो असत्त्व है और न लक्ष्यलक्षणभावका अभाव ही है। अतः उत्पादादि तीनकी ऐक्यवृत्ति ही सत्ता है और वही द्रव्य है ।

'जैसे अन्वय द्रव्यका आत्मभूत धर्म है उसी तरह पर्यायें भी। अतः पर्यायकी निवृत्तिकी तरह द्रव्यकी भी निवृत्ति यदि मानी जाती है तो शून्यता हो जायगी।' यह आशंका तब ठीक होती जब पिण्ड घट कपालादि पर्यायोंकी तरह रूपित्व द्रव्यत्व अजीवत्व अचेतनत्व आदि द्रव्यांश भी कादाचित्क होते। व्यय और उत्पाद होनेपर भी द्रव्यको तो नित्य ही माना गया है।

## तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

तद्भावसे च्युत न होनेको नित्य कहते हैं।

§ १-२. 'यह वही है' यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषय और निर्हेतुक नहीं है। इसमें जो कारण होता है उसे 'तद्भाव' कहते हैं। जिस रूपसे वस्तुको पहिले देखा था उसी रूपसे पुनः दृष्ट होने पर 'तदेवेदम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। पूर्वका अत्यन्त निरोध और उत्तरका सर्वथा नूतन उत्पादन माननेपर स्मरण और स्मरणाधीन समस्त लोकव्यवहार समाप्त हो जायँगे। 'जो नष्ट होता है वही नष्ट नहीं होता, जो उत्पन्न होता है वही उत्पन्न नहीं होता' यह बात परस्पर विरोधी मालूम होती है, पर वस्तुतः विरोध नहीं है क्योंकि जिस दृष्टिसे नित्य कहते हैं यदि उसी दृष्टिसे अनित्य कहते तो विरोध होता जैसे कि एक ही अपेक्षा किसी पुरुषको पिता और पुत्र कहनेमें। पर यहाँ द्रव्य दृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य कहा जाता है, अतः विरोध नहीं है। दोनों नयोंकी दृष्टिसे दोनों धर्म बन जाते हैं।

## अर्पितानर्पितसिद्धे ॥३२॥

गौण और मुख्य विवक्षासे एक ही वस्तुमें नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म सिद्ध हैं।

§ १-४. प्रयोजनवश अनेकात्मक वस्तुके जिस धर्मकी विवक्षा होती है, या विवक्षित जिस धर्मको प्रधानता मिलती है उसे 'अर्पित' कहते हैं। जिन धर्मोंकी विद्यमान रहनेपर भी विवक्षा नहीं होती उन्हें 'अनर्पित' कहते हैं। अनर्पित अर्थात् गौण। जब मृत्पिंड 'रूपी द्रव्य' के रूपमें अर्पित-विवक्षित होता है तब वह नित्य है क्योंकि कभी भी वह रूपित्व या द्रव्यत्वको नहीं छोड़ता। जब वही अनेकधर्मात्मक पदार्थ रूपित्व और द्रव्यत्वको गौण कर केवल 'मृत्पिंड' रूप पर्यायमें विवक्षित होता है तो वह 'अनित्य' है क्योंकि पिंड पर्याय अनित्य है। यदि केवल द्रव्यार्थिक-

नयकी विषयभूत वस्तु ही मानी जाय तो व्यवहारका लोप हो जायगा क्योंकि पर्यायसे शून्य केवल द्रव्यरूप वस्तु नहीं है। और न केवल पर्यायार्थिकनयकी विषयभूत ही वस्तु है, वैसी वस्तुसे लोकयात्रा नहीं चल सकती, क्योंकि द्रव्यसे शून्य पर्याय नहीं होती। अतः वस्तुको उभयात्मक मानना ही उचित है।

परमाणुओंके परस्पर बन्ध होने पर एकत्वपरिणति रूप स्कन्ध उत्पन्न होता है। यहाँ यह बताइए कि 'पुद्गल जाति समान होने पर और संयोग रहने पर भी क्यों किन्हीं परमाणुओंका बन्ध होता है अन्यका नहीं ?' इस प्रश्नके समाधानके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

## स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

स्निग्धता और रूक्षतासे बन्ध होता है।

§ १-५. बाह्य आभ्यन्तर कारणोंसे स्नेह पर्यायकी प्रकटतासे जो चिकनापन है वह स्नेह है और जो रूखापन है वह रूक्ष है। इन कारणोंसे द्व्यणुक आदि स्कन्धरूप बन्ध होता है। दो स्निग्ध रूक्ष परमाणुओंमें बन्ध होने पर द्व्यणुक स्कन्ध होता है। स्नेह और रूक्षके अनन्त भेद हैं। अविभागपरिच्छेद एकगुणवाला स्नेह सर्वजघन्य है, प्रथम है। इसी तरह दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनन्तगुण स्नेह रूक्षके विकल्प हैं। जैसे जलसे बकरीके दूध और घीमें प्रकृष्ट स्निग्धता है, उससे भी प्रकृष्ट गायके दूध और घीमें उससे भी प्रकृष्ट भैंसके दूध घीमें, उससे भी प्रकृष्ट ऊँटनीके दूध और घीमें स्निग्धता देखी जाती है उसी तरह क्रमशः धूलसे प्रकृष्ट रूखापन तुषखंडमें और उससे भी प्रकृष्ट रूक्षता रेतमें पायी जाती है। इसी तरह परमाणुओंमें भी स्निग्धता और रूक्षताके प्रकर्ष और अपकर्षका अनुमान होता है।

## न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

सर्वजघन्य गुणवाले परमाणुओंमें बन्ध नहीं होता।

§ १-२. जैसे शरीरमें जघन-जाँघ सबसे निकृष्ट है उसी प्रकार जघनकी तरह निकृष्ट अवयवको जघन्य कहते हैं। गुण शब्दके अनेक अर्थ हैं-जैसे 'रूपादिगुण' में गुणका अर्थ रूपादि हैं; 'दोगुणा' में भाग अर्थ है. 'गुणज्ञ'-उपकारज्ञमें उपकार अर्थ है 'गुणवान् देश' में द्रव्य अर्थ है; 'द्विगुण रज्जु' में समान अवयव अर्थ है; 'गुणभूतावयवम्' में गौण अर्थ है। पर यहाँ 'भाग' अर्थ विवक्षित है। तात्पर्य यह कि-एकगुण स्निग्ध परमाणुका अन्य एकगुण स्निग्ध परमाणुसे, तथा दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनन्तगुण स्निग्ध परमाणुसे बन्ध नहीं होता। उसी एकगुण स्निग्धका एकगुण रूक्ष, तथा दो तीन संख्यात असंख्यात और अनन्तगुणरूक्ष परमाणुसे बन्ध नहीं होता। इसी तरह एकगुण रूक्षका अन्य एकगुण रूक्ष या एकगुण स्निग्ध या दो तीन चार आदि अनन्तगुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुओंसे बन्ध नहीं होता।

## गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

गुणसाम्य रहनेपर सदृशोंका भी बन्ध नहीं होता।

§ १-५. सदृश अर्थात् तुल्यजातीय, गुणसाम्य अर्थात् तुल्यभाग। गुणसाम्य पदसे सदृश ग्रहण निरर्थक नहीं होता; क्योंकि यदि सदृश ग्रहण नहीं करते तो द्विगुण स्निग्धोंका द्विगुण रूक्षोंसे, त्रिगुणस्निग्धोंका त्रिगुणरूक्षोंसे गुणकार साम्य होनेके कारण बन्धका निषेध हो जाता। सदृश ग्रहण करनेसे द्विगुण स्निग्धका द्विगुण स्निग्धके साथ, द्विगुणरूक्षका द्विगुणरूक्षोंके साथ बन्धनिषेध सिद्ध हो जाता है। अथवा यह प्रयोजन नहीं है, क्योंकि द्विगुणस्निग्धोंका द्विगुणरूक्षोंके साथ बन्धका निषेध इष्ट है।

§ ५. सदृशग्रहणका यह प्रयोजन है कि गुणवैषम्य होनेपर विसदृशोंका बन्ध तो होता

ही है पर सदृशोंका भी बन्ध होता है। इस तरह विषमगुणवालोंका और तुल्यजातीयोंका सामान्यरूपसे बन्ध प्रसंग होने पर इष्ट व्यवस्थाके प्रतिपादनके लिए सूत्र कहते हैं—

## द्वयधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

§ १. दो अधिक अर्थात् चारगुण आदिका बन्ध होता है।

§ २. आदि शब्द प्रकारार्थक है। चार आदि दो अधिक गुणवालोंका बन्ध होता है। चाहे तुल्यजातीय हों या अतुल्यजातीय, दो अधिक गुणवालोंका बन्ध होता है; अन्यका नहीं। दोगुणस्निग्ध परमाणुका एकगुणस्निग्ध दोगुणस्निग्ध और तीनगुणस्निग्धसे बन्ध नहीं होगा। चार गुणस्निग्धसे बन्ध होता है। इसी तरह उसका पाँच, छह, सात, आठ, नव, दश संख्यात असंख्यात और अनन्तगुणवाले स्निग्धसे बन्ध नहीं होता। इसी तरह तीन गुणस्निग्धका मात्र पाँच गुणस्निग्धसे तो बन्ध होगा चार या छह आदि आगे पीछे गुणवालोंसे नहीं। इसी तरह रूक्षमें भी समझना चाहिए। इसी प्रकार भिन्नजातीयोंमें भी दो अधिक गुणवालोंमें ही बन्ध होता है। द्विगुणरूक्षका चतुर्गुणस्निग्ध या चतुर्गुणरूक्षसे ही बन्ध होता है। पाँच या तीन आदि आगे पीछेके गुणवालोंसे नहीं। तीनगुणरूक्षका पाँच गुणरूक्ष या पाँच गुणस्नेहसे बन्ध होता है चार या छह आदि आगे पीछेके गुणवालोंसे नहीं। कहा भी है—

"स्नेहका दो अधिक गुणवाले स्नेहसे या रूक्षसे; रूक्षका दो अधिक गुणवाले रूक्षसे या स्नेहसे बन्ध होता है। जघन्यगुणका किसी भी तरह बन्ध नहीं होता।"

इस तरह उक्त विधिसे बन्ध होनेपर द्वयणुक आदि अनन्तपरमाणुक स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है।

§ २. तु शब्दसे बन्धप्रतिषेधका प्रकरण बन्द होता है और इष्ट व्यवस्था सूचित होती है।

प्रश्न—पुद्गलोंके संयोगरूप बन्ध क्यों मानते हैं, परस्पर समुदायसे ही समस्त सामूहिक व्यवहार सिद्ध हो सकते हैं? उत्तर—शुक्ल और कृष्ण तन्तुओंकी तरह यदि मात्र प्राप्ति ही हैं, उनमें एक दूसरेकी पारिणामकता नहीं है तो वह बन्ध नहीं कहा जायगा।

उस पारिणामकताका नियम बताते हैं—

## बन्धेऽधिकौ पारिणामकौ च ॥३७॥

बन्ध होने पर अधिकगुणवाला न्यूनगुणवालेका अपने रूप परिणमन करा लेता है।

§ १. गुणका प्रकरण है अतः अधिकौका अर्थ अधिक गुणवाले होता है।

§ २. अवस्थान्तर उत्पन्न करना पारिणामकता है। जैसे अधिक मधुरगुणवाला गुड धूलि आदिको मीठे रसवाला बनानेके कारण पारिणामक होता है उसी तरह अन्य भी अधिक गुणवाला न्यून गुणवालोंका पारिणामक होता है। तात्पर्य यह कि दोगुणस्निग्ध परमाणुको चार-गुण रूक्षपरमाणु पारिणामक होता है। बन्ध होने पर एक तीसरी ही विलक्षण अवस्था होकर एक स्कन्ध बन जाता है। अन्यथा सफेद और काले धागोंके संयोग होनेपर भी दोनों जुदे जुदेसे रखे रहेंगे। जहाँ पारिणामकता होती है वहाँ स्पर्श रस गन्ध वर्ण आदिमें परिवर्तन हो जाता है जैसे शुक्ल और पीत रंगोंके मिलनेपर हरे रंगके पत्र आदि उत्पन्न होते हैं।

§ ३-४. श्वेताम्बर परम्परामें 'बन्धे समाधिकौ' पाठ है। इसका तात्पर्य है कि द्विगुण-स्निग्धका द्विगुणरूक्ष भी पारिणामक होता है। पर यह पाठ उपयुक्त नहीं है; क्योंकि इसमें सिद्धान्तविरोध होता है। वर्गणामें बन्ध विधानके नोआगम द्रव्यबन्ध विकल्प-सादि वैस्रसिक बन्धनिर्देशमें कहा है कि—"विषम स्निग्धता और विषमरूक्षतामें बन्ध तथा समस्निग्धता और समरूक्षतामें भेद होता है।" इसीके अनुसार 'गुणसाम्ये सदृशानाम्' यह सूत्र कहा गया

है। इससे समगुणवालोंके बन्धका जब प्रतिषेध कर दिया तब बन्धमें 'सम' भी पारिणामक होता है यह कथन आर्षविरोधी है। अतः विद्वानोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है।

§ ५. 'जघन्यवर्जे विषमे समे वा' का तात्पर्य यह है कि-सम अर्थात् तुल्यजातीय और विषम अर्थात् अतुल्यजातीय। अतः सम-चतुर्गुण स्निग्धका षड्गुण स्निग्धके साथ और और विषम-चतुर्गुणस्निग्धका षड्गुण रूक्षके साथ बन्ध होता है। बन्धकी इतनी लम्बी चरचा करनेका प्रयोजन यह है कि-आत्माके योगव्यापारसे आत्माके प्रदेशोंमें स्निग्धरूक्ष परिणत अनन्तप्रदेशी कर्म बन्धको प्राप्त होते हैं। ये ज्ञानावरणादि कर्म अपनी तीस कोड़ाकोड़ी सागर आदि तककी स्थिति तक घनपरिणामी बन्धको प्राप्त रहते हैं, विघटित नहीं होते।

आपने 'द्रव्याणि, जीवाश्च' इन सूत्रोंमें 'द्रव्य'का नामनिर्देश तो किया है, लक्षण नहीं बताया। अतः द्रव्यका लक्षण कहते हैं-

## गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥

गुणपर्यायवाला द्रव्य होता है।

§ १. यद्यपि गुण और पर्याय द्रव्यसे अभिन्न हैं, फिर भी 'गुणपर्ययवत्' यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय हो जाता है-जैसे कि 'सोनेकी अँगूठी' में सोना और अँगूठीमें अभेद होनेपर भी भेद-प्रयोग देखा जाता है। अथवा, लक्षण आदिकी दृष्टिसे गुणपर्यायोंका द्रव्यसे कथञ्चित् भेद भी है, अतः मत्वर्थीय प्रयोग बन जाता है।

§ २. प्रश्न-'गुण' यह संज्ञा जैनमतकी नहीं है, यह तो अन्यमत वालोंकी है। जैनमत-में तो द्रव्य और पर्याय ये दो ही प्रसिद्ध हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायाथिक दो नामोंका उपदेश होनेसे भी ज्ञात होता है कि द्रव्य और पर्याय ये दो ही हैं, गुण नहीं। यदि गुण होता तो उसको विषय करनेवाला तीसरा गुणार्थिकनय भी होना चाहिए था। अतः 'गुणपर्यायवत्' यह लक्षण ठीक नहीं है? उत्तर-अर्हत्प्रवचनहृदय आदिमें 'गुण'का उपदेश है। अर्हत्प्रवचनमें 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इस सूत्रमें गुणका निर्देश है ही। अन्यत्र भी कहा है-

" 'गुण' यह द्रव्यका विधान-अन्वय अंश है। द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं। द्रव्य इनसे सदा अयुतसिद्ध है।"

द्रव्यके सामान्य और विशेष ये दो स्वरूप हैं। सामान्य उत्सर्ग अन्वय और गुण ये एकार्थक शब्द हैं। विशेष भेद और पर्याय ये पर्यायार्थक शब्द हैं। सामान्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और विशेषको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक। दोनों समुदित अयुतसिद्धरूप द्रव्य हैं। अतः गुण जब द्रव्यका ही सामान्यरूप है तब उसके ग्रहणके लिए द्रव्यार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नयकी कोई आवश्यकता नहीं है। समुदायरूप द्रव्य सकलादेशी प्रमाणका विषय होता है।

§ ३-४. अथवा, गुणा एव पर्यायाः' ऐसा समानाधिकरणरूपसे निर्देश करेंगे। अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्याय नहीं है और न इनसे भिन्न गुण हैं। गुण ही पर्याय हैं इस समानाधिकरणतामें मतुप्-प्रत्यय होनेपर 'गुणपर्यायवत्' यह निर्देश बन जाता है। गुणोंको ही पर्याय बनानेपर जब अर्थभेद नहीं रहा ; तब या तो 'गुणवत्' कहना चाहिए या फिर 'पर्याय-वत्' निर्देश करना युक्त नहीं है ? भिन्न विशेषण निरर्थक हो जाता है। उत्तर-वैशेषिक आदि द्रव्यसे भिन्न 'गुण' पदार्थ मानते हैं; पर 'द्रव्यसे भिन्न कोई गुणपदार्थ नहीं है, क्योंकि द्रव्यसे भिन्न वे उपलब्ध ही नहीं होते। अतः द्रव्यका ही परिणमन-परिवर्तन पर्याय कहलाता है और उसका ही भेद गुण है, भिन्न पदार्थ नहीं है। इस तरह मतान्तरकी निवृत्तिके लिए पृथक् 'गुण' यह विशेषण देना उचित है।

§ १-३. धर्मादि द्रव्योंका अपने निज स्वभावरूपसे होना परिणाम है। प्रत्येक द्रव्यके निजस्वरूप पहिले बताये जा चुके हैं। परिणाम दो प्रकारका है—एक अनादि और दूसरा आदिमान्। धर्मादि द्रव्योंके गत्युपग्रह आदि परिणाम अनादि हैं, जबसे ये द्रव्य हैं तभीसे उनके ये परिणाम हैं। धर्मादि पहिले और गत्युपग्रहादि बादमें किसी समय हुए हों ऐसा नहीं है। बाह्य प्रत्ययोंके आधीन उत्पाद आदि धर्मादिद्रव्योंके आदिमान् परिणाम हैं।

§ ४. कोई धर्म अधर्म आकाश और कालमें अनादि परिणाम और जीव तथा पुद्गलमें आदिमान् परिणाम कहते हैं। उनका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि सभी द्रव्योंको द्व्यात्मक माननेसे ही उनमें सत्त्व हो सकता है अन्यथा नित्य अभावका प्रसंग होगा। द्रव्यार्थिक और और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी विवक्षासे धर्मादि सभी द्रव्योंमें अनादि और आदिमान् दोनों प्रकारके परिणाम बनते हैं। यह विशेषता है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्योंका अनादि और आदिमान् परिणाम आगमसे जाना जाता है और जीव तथा पुद्गलोंका कथञ्चित् प्रत्यक्ष गम्य भी होता है।

पाँचवाँ अध्याय समाप्त

# छठवाँ अध्याय

आस्रव पदार्थका निरूपण—

**कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥**

काय वचन और मनके परिस्पन्दको योग कहते हैं।

§ १-२. काय आदि शब्दोंका इतरेतरयोगार्थक द्वन्द्व है। यहाँ 'वाङ्मनसम्' ऐसा वचन नहीं हो सकता; क्योंकि एक वचनका विधान दोके समासमें होता है बहुतके समासमें नहीं।

§ ३-४. कर्मशब्दके अनेक अर्थ हैं—'घटं करोति'में कर्मकारक कर्मशब्दका अर्थ है। 'कुशल अकुशल कर्म'में पुण्य-पाप अर्थ है, उत्क्षेपण अवक्षेपण आदिमें कर्मका क्रिया अर्थ विवक्षित है। यहाँ क्रिया अर्थ विवक्षित है अन्य अर्थ नहीं।

§ ५-६. कर्ताको क्रियाके द्वारा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट होता है उसे कर्म कहते हैं। यह कर्मकारक निवर्त्य विकार्य और प्राप्य तीन प्रकारका है। ये तीनों कर्म कर्तासे भिन्न होते हैं। यदि कायादिको कर्ता बनाते हैं तो कर्मको इनसे भिन्न करना पड़ेगा और यदि कायादिको कर्म बनाते हैं तो कर्ता अन्य कहना पड़ेगा। चूँकि कायादिमें एक साथ कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों धर्म बन नहीं सकते अतः यहाँ कर्म शब्दसे कर्मकारक विवक्षित नहीं है। यदि पुण्य और पापरूप कर्म ही यहाँ विवक्षित होते तो आगेका 'शुभः पुण्यस्य' सूत्र निरर्थक हो जाता है। अतः पुण्य और पाप रूप कर्म भी यहाँ गृहीत नहीं हैं। अथवा, सामर्थ्ययुक्त आत्मा यहाँ कर्तारूपसे विवक्षित है, उस कर्ताको ईप्सित होनेसे कर्मकारक भी कर्मशब्दका अर्थ हो सकता है।

§ ७. कर्मशब्द कर्ता और कर्म भाव तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है और विवक्षानुसार तीनों यहाँ परिगृहीत हैं। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा निश्चयनयसे आत्मपरिणाम और पुद्गलके द्वारा पुद्गलपरिणाम तथा व्यवहारनयसे आत्माके द्वारा पुद्गल परिणाम भी जो किये जाँय वह कर्म है। करणभूत परिणामोंकी प्रशंसाकी विवक्षामें कर्तृधर्म आरोप करनेपर वही परिणाम स्वयं द्रव्य और भावरूप कुशल अकुशल कर्मोंको करता है अतः वही कर्म है। आत्माकी प्रधानतामें वह कर्ता होता है और परिणाम करण तब 'क्रियतेऽनेन-जिनके द्वारा किया जाय वह कर्म' यह विग्रह भी होता है। साध्य साधनभावकी विवक्षा न होनेपर स्वरूपमात्र कथन करनेसे कृतिको भी कर्म कहते हैं। इसी तरह अन्य कारक भी लगा लेना चाहिए।

§ ८. योग शब्द भी इसी तरह कर्ता आदि कारकोंमें निष्पन्न होता है।

§ ९-११. यद्यपि आत्मा अखंडद्रव्य है और तीनों योग आत्मपरिणामरूप ही हैं फिर भी पर्यायविवक्षासे ये व्यापार भिन्न भिन्न हैं। जैसे एक ही घड़ा चक्षु आदि इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रूप रस आदि पर्यायोंके द्वारा भिन्न भिन्न गृहीत होता है उसी तरह पर्यायभेदसे योगमें भी भेद समझना चाहिए। चक्षुरादि इन्द्रियोंके निमित्तसे जिस प्रकार घड़ेमें रूप रसादि पर्यायभेद सिद्ध है क्योंकि ग्रहणभेदसे ग्राह्य-भेद होता ही है उसी तरह आत्मामें पूर्वकृत कर्मोंके निमित्तसे शक्तिभेद होता है और उसीसे योगभेद भी। पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयसे प्राप्त कायवर्गणा वचनवर्गणा और मनोवर्गणाओंमेंसे किसी एकका बाह्य आलम्बन लेकर, वीर्यान्तराय मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे आभ्यन्तर वाग्लब्धिके सान्निध्यमें वचनपरिणामके अभिमुख आत्माके जो प्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उसे वाग्योग कहते हैं। पूर्वोक्त बाह्य आलम्बन तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप मनोलब्धिके सन्निधानमें मनपरिणामके अभि-

मुख आत्माके जो प्रदेश परिस्पन्द होता है वह मनोयोग है। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर औदारिक आदि सात प्रकारकी कायवर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणाके आलम्बनसे जो आत्माका प्रदेशपरिस्पन्द होता है वह काययोग है। केवलीके क्षयनिमित्तक योग माना जाता है। क्रिया-परिणाम आत्माके कायवचन और मनोवर्गणाके आलम्बनसे होनेवाला प्रदेशपरिस्पन्द केवलीके होता है अतः उनके योग है अयोगकेवली और सिद्धोंके उक्त वर्गणा निमित्तक प्रदेशपरिस्पन्द न होनेसे योग नहीं है।

§ ११. जैसे जाति कुल रूप संज्ञा और लक्षण आदिकी दृष्टिसे अभिन्न भी देवदत्त बाह्य-क्रियाओंकी अपेक्षा लावक (काटनेवाला) पावक (पवित्र करनेवाला) आदि पर्यायभेदको प्राप्त करता है अतः वह एक भी है और अनेक भी, उसी तरह प्रतिनियत क्षायोपशमिक शरीर आदि पर्यायकी दृष्टिसे योग तीन प्रकारका होकर भी अनादि पारिणामिक द्रव्यार्थनयसे एक प्रकारका भी है।

§ १२. योगका अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है, यह आगे कहा जायगा। यहाँ उसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ आस्रवका प्रकरण है अतः कियारूप योग लिया गया है।

§ १३. 'गर्गोंपर १००) रु० जुर्माना करो'की तरह 'कायवाङ्मनस्कर्म' में तीनोंकी सामु-दायिक क्रियाको योग नहीं कहते किन्तु कर्म शब्दका अन्वय कायकर्म वाक्कर्म और मनस्कर्म तीनोंमें पृथक् पृथक् कर लेना चाहिए जैसे कि 'देवदत्त जिनदत्त और गुरुदत्तको भोजन कराओ' इस वाक्यमें प्रत्येकको भोजनका सम्बन्ध विवक्षित होता है।

## स आस्रवः ॥२॥

यह योग ही आस्रव है।

§ १-३. 'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इतना लघुसूत्र बनानेमें योगशब्द आगममें प्रसिद्ध है उसका अर्थ अव्याख्यात ही रह जायगा। 'कामवाङ्मनस्कर्म योग आस्रवः' ऐसा एक सूत्र बनाने-से यद्यपि 'स' शब्दको ग्रहण नहीं करना पड़ता और एकयोग होनेसे लाघव हो सकता है परन्तु इससे सभी योगोंमें आस्रवत्वका प्रसंग प्राप्त होता है—केवलीके समुद्घातके समय होनेवाले दण्ड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण योग भी आस्रव हो जायँगे। यद्यपि इस कालमें सूक्ष्मयोग मान-कर तन्निमित्तक अल्पबंध माना जाता है पर इससे तो उनमें साधारण योगत्व और बहुबन्धका प्रसंग प्राप्त होता है। वस्तुतः मुख्य योग तो वर्गणानिमित्तक प्रदेशपरिस्पन्द रूप है और वही आस्रव है, पर केवलिसमुद्घात वर्गणालम्बन नहीं है अतः उसे आस्रव नहीं मानते। दण्डादि-व्यापार कालमें अनास्रव होनेसे दण्डादियोगनिमित्तक बन्ध भी नहीं होता। हाँ, उस समय जो कायवर्गणालम्बन सूक्ष्म काययोग होता है उसीसे बन्ध होता है। यदि एकसूत्र बनाया जाता तो सभी योग आस्रव बन जाते। भिन्न सूत्र बनानेसे यह स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि—जो काय वचन मनोवर्गणालम्बन प्रदेश परिस्पन्द है वही योग और आस्रव है, अन्य नहीं। अर्थात् ऐसा भी योग है जो आस्रव नहीं होता। जैसे केवलीके इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं, पर तत्पूर्वक व्यापार नहीं होनेसे इन्द्रियजकर्मबन्ध नहीं होता उसी तरह दण्डादि योगके रहने-पर भी कर्मबन्ध नहीं होता अतः इसे आस्रव नहीं कहते।

§ ४-५. जैसे जलागमन द्वारसे जल आता है उसी तरह योगप्रणालीसे आत्मामें कर्म आते हैं अतः इस योगको आस्रव कहते हैं। जैसे गीला कपड़ा वायुके द्वारा लाई गई धूलिको चारों ओरसे चिपटा लेता है उसी तरह कषायरूपी जलसे गीला आत्मा योगके द्वारा लाई गई कर्म रजको सभी प्रदेशोंसे ग्रहण करता है। अथवा, जैसे गरम लोहपिण्ड यदि पानीमें डाला जाय तो वह चारों तरफसे पानीको खींचता है उसी तरह कषायसे सन्तप्त जीव योगसे लाये गये कर्मोंको सब ओरसे ग्रहण करता है।

## शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

शुभ योग पुण्य और अशुभयोग पापका आस्रव करता है।

§ १-२. हिंसा चोरी मैथुन आदि अशुभ काययोग हैं। असत्य बोलना, कठोर बोलना आदि अशुभ वचनयोग हैं। हिंसक विचार ईर्षा असूया आदि अशुभ मनोयोग हैं। इत्यादि अनन्त प्रकारके अशुभ योगसे भिन्न शुभयोग भी अनन्त प्रकारका है। अहिंसा अचौर्य ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग है। सत्य हित मित बोलना शुभ वाग्योग है। अर्हन्त भक्ति तपकी रुचि श्रुतकी विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है। यद्यपि अध्यवसायस्थान असंख्येयलोकप्रमाण हैं फिर भी अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेशरूपसे-बँधे हुए ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके देशघाती और सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशम भेदसे, अनन्तानन्त प्रदेशवाले कर्मोंके ग्रहणका कारण होनेसे तथा अनन्तानन्त नाना जीवोंकी दृष्टिसे तीनों योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं।

§ ३. शुभपरिणाम पूर्वक होनेवाला योग शुभयोग है तथा अशुभ परिणामसे होनेवाला अशुभयोग है। शुभ अशुभ कर्मका कारण होनेसे योगमें शुभत्व या अशुभत्व नहीं है क्योंकि शुभ योग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मोंके बन्धमें भी कारण होता है।

§ ४-६. जो आत्माको प्रसन्न करे वह पुण्य अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुखसाता अनुभव करे वह सातावेदनीय आदि पुण्य हैं। पुण्यका उलटा पाप। जो आत्मामें शुभपरिणाम न होने दे वह असातावेदनीय आदि पाप हैं। यद्यपि सोनेकी बेड़ी या लोहेकी बेड़ीकी तरह दोनों ही आत्माकी परतन्त्रतामें कारण हैं फिर भी इष्ट फल और अनिष्ट फलके भेदसे पुण्य और पापमें भेद है। जो इष्ट गति जाति शरीर इन्द्रिय विषय आदिका हेतु है वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति जाति शरीर इन्द्रिय आदिका कारण है वह पाप है। शुभयोगसे पुण्यका आस्रव होता है और अशुभयोगसे पापका।

§ ७. प्रश्न–जब घाति कर्मोंका बन्ध भी शुभ परिणामोंसे होता है तो 'शुभः पुण्यस्य' अर्थात् शुभपरिणाम पुण्यास्रवके कारण हैं' यह निर्देश व्यर्थ हो जाता है? उत्तर–अघातिया कर्मोंमें जो पुण्य और पाप हैं, उनकी अपेक्षा पुण्यपापहेतुताका निर्देश है। अथवा 'शुभ पुण्यका ही कारण है' ऐसा अवधारण नहीं करते हैं; किन्तु शुभ ही पुण्यका कारण है' यह अवधारण किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि शुभ पापका भी हेतु हो सकता है। प्रश्न-यदि शुभ पापका और अशुभ पुण्यका भी कारण होता है, क्योंकि सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है। कहा भी है–"आयु और गतिको छोड़कर शेष कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितियोंका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है और जघन्य स्थितिबन्ध मन्द संक्लेशसे।" अतः दोनों सूत्र निरर्थक हो जाते हैं। उत्तर–अनुभाग बन्धकी अपेक्षा सूत्रोंको लगाना चाहिए। अनुभागबन्ध प्रधान है, वही सुख दुःखरूप फलका निमित्त होता है। समस्त शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंसे और समस्त अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशपरिणामोंसे होता है। यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभके जघन्य अनुभागबन्धके भी कारण होते हैं पर बहुत शुभके कारण होनेसे 'शुभः पुण्यस्य' सूत्र सार्थक है, जैसे कि थोड़ा अपकार करनेपर भी बहुत उपकार करनेवाला उपकारक ही माना जाता है। इसी तरह 'अशुभः पापस्य'में भी समझ लेना चाहिए। कहा भी है–

"विशुद्धिसे शुभप्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है तथा संक्लेशसे अशुभ प्रकृतियोंका। जघन्य अनुभाग बन्धका क्रम इससे उलटा है, अर्थात् विशुद्धिसे अशुभका जघन्य और संक्लेशसे शुभका जघन्य बन्ध होता है।

आस्रवकी विशेषता–

## सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

सकषाय जीवोंके साम्परायिक और अकषायजीवोंके ईर्यापथ आस्रव होता है।

§ १-७. आस्रवके अनन्त भेद होनेपर भी सकषाय और अकषाय स्वामियोंकी अपेक्षा दो भेद हैं। क्रोधादि परिणाम आत्माको कुगतिमें ले जानेके कारण कषते हैं-आत्माके स्वरूपकी हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं। अथवा जैसे वटवृक्ष आदिका चेंप चिपकनेमें कारण होता है उसी तरह क्रोध आदि भी कर्मबन्धनके कारण होनेसे कषाय हैं। कर्मोंके द्वारा चारों ओरसे स्वरूपका अभिभव होना सम्पराय है, इस सम्परायके लिए जो आस्रव होता है वह साम्परायिक आस्रव है। ईर्या अर्थात् योगगति, जो कर्म मात्र योगसे ही आते हैं वे ईर्यापथ आस्रव हैं। सकषाय जीवके साम्परायिक और अकषाय जीवके ईर्यापथ आस्रव होता है। मिथ्या दृष्टिसे लेकर दसवें गुणस्थान तक कषायका चेंप रहनेसे योगके द्वारा आये हुए कर्म गीले चमड़े पर धूलकी तरह चिपक जाते हैं, उनमें स्थितिबन्ध हो जाता है, यह साम्परायिक आस्रव है। उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके योगक्रियासे आये हुए कर्म कषायका चेंप न होनेसे सूखी दीवाल पर पड़े हुए पत्थरकी तरह द्वितीय क्षणमें ही झड़ जाते हैं, बँधते नहीं हैं; यह ईर्यापथ आस्रव है।

§ ८. यद्यपि 'अजाद्यत्' सूत्रके अनुसार अकषाय और ईर्यापथ शब्दोंका पूर्वप्रयोग होना चाहिए था, परन्तु साम्परायिक और सकषायके सम्बन्धमें बहुत वर्णन करना है अतः इसी दृष्टिसे उन्हें अभ्यर्हित मानकर उनका पूर्व प्रयोग किया है।

साम्परायिक आस्रवके भेद-

**इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥**

§ १-५. इन्द्रिय आदिमें इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। पंच आदिका संख्या शब्दसे समास करके उनका यथाक्रम अन्वय कर देना चाहिए। पूर्व अर्थात् पहिले सूत्रमें जिसका प्रथम निर्देश किया है। भेद अर्थात् प्रकार। पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पाँच अव्रत और पचीस क्रियाएँ ये पूर्वसाम्परायिक आस्रवके भेद हैं।

§ ६. इन्द्रियादिका आत्मासे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यार्थादेशसे इन्द्रियादिका अभेद है और कर्मोदय-क्षयोपशमनिमित्तकपर्यायार्थादेशसे भिन्नता है। इन्द्रियादिकी निवृत्ति होनेपर भी द्रव्य स्थिर रहता है। इसीलिए पर्यायभेदसे पाँच आदि भेद बन जाते हैं। स्पर्शादि पाँच इन्द्रियोंका वर्णन कर चुके हैं। क्रोधादिकषाय और हिंसादि अव्रतका वर्णन आगे करेंगे। पचीस क्रियाएँ इस प्रकार हैं-

§ ७-११. चैत्य गुरु शास्त्रकी पूजा आदि सम्यक्त्वको बढ़ानेवाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया है ॥१॥ अन्यदेवताका स्तवन आदि मिथ्यात्वहेतु प्रवृत्ति मिथ्यात्व क्रिया है॥२॥ शरीर आदिके द्वारा गमन आगमन आदि प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है। अथवा वीर्यान्तराय ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे काय वचन और मनोयोगकी रचनामें समर्थ पुद्गलोंका ग्रहण करना प्रयोग क्रिया है॥३॥ संयम धारण करनेपर भी अविरतिकी तरफ झुकना समादान क्रिया है॥४॥ ईर्यापथ आस्रवमें कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है ॥५॥ क्रोधावेशसे प्रवृत्ति प्रादोषिकी क्रिया है॥६॥ क्रोध प्रदोषमें कारण होता है अतः कार्यकारणके भेदसे क्रोधकषाय और प्रादोषिकी क्रियामें भेद है। क्रोध अनिमित्त भी होता है पर प्रदोष क्रोधरूप निमित्तसे होता है। पिशुन स्वभाववाला व्यक्ति इष्ट दारा हरण धननाश आदि निमित्तोंके विना स्वभावसे ही क्रोध करता है। किसी-किसीकी दृष्टिमें ही विष होता है। कहा भी है-"जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन चन्द्रका विना किसी निमित्तके स्वभावसे ही उदय होता है उसी तरह कर्मवशी आत्माके विना निमित्तके ही क्रोधादि कषायोंका उदय होता है।" तथा "दुर्जन पुरुषोंकी चेष्टाएँ, जिनकी लोल जिह्वा मृगोंके खूनसे लाल हो रही है ऐसे शार्दूल भेड़िया सर्प आदि निसर्ग हिंसक प्राणियोंके

समान वैर और रोषपूर्ण होती हैं।" प्रदोषके बाद प्रयत्न करना कायिकी क्रिया है ॥७॥ हिंसा-के उपकरणोंको ग्रहण करना आधिकरणकी क्रिया है ।८॥ दूसरेको दुःख उत्पन्न करनेवाली पारितापिकी क्रिया है ॥९॥ आयु, इन्द्रिय बल आदिका वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है ॥१०॥ रागाविष्ट होकर प्रमादी पुरुषका रमणीय रूपके देखनेकी ओर प्रवृत्ति दर्शन-क्रिया है ॥११॥ प्रमादवश छूनेकी प्रवृत्ति स्पर्शन क्रिया है ॥१२॥ चक्षु इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रियोंमें इन इन्द्रियों द्वारा होनेवाले ज्ञानका ग्रहण है तथा यहाँ ज्ञानपूर्वक हलन-चलनका ग्रहण है। नये-नये अधिकरणोंको उत्पन्न करना प्रात्यायिकी क्रिया है ॥१३॥ स्त्री-पुरुष, पशु आदिसे व्याप्त स्थानमें मलोत्सर्ग करना समन्तानुपातन क्रिया है ॥१४॥ विना शोधी और विना देखी भूमिपर शरीर आदिका रखना अनाभोग क्रिया है ॥१५॥ दूसरेके द्वारा करने योग्य क्रियाको स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है ॥१६॥ पापादान आदिको स्वीकार करना निसर्ग क्रिया है ॥१७॥ आलस्यसे प्रशस्त क्रियाओंका न करना और परके पाप आदिका प्रकाशन करना विदारण क्रिया है ॥१८॥ चारित्रमोहके उदयसे आवश्यक आदि क्रियाओंके करनेमें असमर्थ होने पर शास्त्राज्ञाका अन्यथा ही निरूपण करना आज्ञाव्यापादिका क्रिया है ॥१९॥ मूर्खता और आलस्यसे शास्त्रोपदिष्ट विधि-विधानोंके प्रति अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है ॥२०॥ छेदन-भेदन हिंसा आदि क्रियाओंमें तत्पर होना अथवा अन्यके द्वारा हिंसादि व्यापार किये जानेपर हर्षित होना आरम्भ क्रिया है ॥२१॥ परिग्रहके नष्ट न होने देनेके लिए जो व्यापार है वह पारिग्राहिकी क्रिया है ॥२२॥ ज्ञान-दर्शन आदिमें छल-कपट करना माया क्रिया है ॥२३॥ मिथ्यात्वके कार्योंकी प्रशंसा करके दूसरेको मिथ्यात्वमें दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है ॥२४॥ संयमघाती कर्मके उदयसे विषयोंका प्रत्याख्यान-त्याग नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया है ॥२५॥

§ १२. प्रश्न—इन्द्रिय कषाय और अव्रत भी क्रिया स्वभाव ही हैं अतः उनका पृथक् ग्रहण करना निरर्थक है ? उत्तर—यह एकान्त नियम नहीं है कि इन्द्रिय कषाय और अव्रत क्रियास्वभाव ही हों। नाम स्थापना और द्रव्यरूप इन्द्रिय कषाय और अव्रतोंमें परिस्पन्दात्मक क्रियारूपता नहीं है। नामेन्द्रिय आदि तो शब्दमात्र हैं, अतः इसमें तो क्रियारूपता है नहीं। स्थापना इन्द्रिय आदि 'यह वही है' इस प्रकारके शब्द और विज्ञानमें कारण होते है, अतः इनमें भी क्रियारूपता नहीं कही जा सकती। द्रव्यरूप इन्द्रियादिमें तो चाहे वह अतीत रूप हो या भावियोग्यता रूप, वर्तमान इन्द्रियादिरूपता है नहीं अतः उसमें परिस्पन्दात्मक क्रियारूपता नहीं हो सकती। अथवा, यह कोई नियम नहीं है कि इन्द्रिय कषाय आदि क्रियारूप ही हों। द्रव्यार्थिकको गौण करनेपर पर्यायार्थिककी प्रधानतामें इन्द्रिय कषाय और अव्रतको कथंचित् क्रिया-रूप कह सकते हैं पर पर्यायार्थिकको गौण और द्रव्यार्थिकको मुख्य करनेपर क्रियारूपता नहीं भी है।

§ १३–१४ 'इन्द्रिय कषाय और अव्रत शुभ और अशुभ आस्रव परिणामके अभिमुख होनेसे द्रव्यास्रव हैं। कर्मका ग्रहण भावास्रव है। वह पच्चीस क्रियाओंके द्वारा होता है। इसलिए इन्द्रिय कषाय और अव्रतका ग्रहण किया है' यह समाधान उचित नहीं है; क्योंकि इससे प्रतिज्ञाविरोध होता है। 'कायवाङ्मनःकर्म योगः, स आस्रवः' इन सूत्रोंसे द्रव्यास्रवका ही निरूपण किया गया है।

§ १५. निमित्तनैमित्तिकभाव ज्ञापन करनेके लिए इन्द्रिय आदिका पृथक् ग्रहण किया है। छूना आदि क्रोध करना आदि और हिंसा करना आदि क्रियाएँ आस्रव हैं। ये पचीस क्रियाएँ इन्हींसे उत्पन्न होती हैं। इनमें तीन परिणमन होते हैं। जैसे मूर्च्छा-ममत्व परिणाम कारण है, परिग्रह कार्य है। इनके होनेपर पारिग्राहिकी क्रिया भिन्न ही होती है जो कि परि-ग्रहके संरक्षण अविनाश और संस्कारादि रूप हैं। क्रोध कारण है प्रदोष कार्य है इनसे प्रादोषि-

की क्रिया होती है। मान कारण है, नम्र न होना कार्य है, इनसे अपूर्वाधिकरण उत्पन्न करनेवाली प्रात्यायिकी क्रिया भिन्न है। माया कारण है, कुटिलता कार्य है, इनसे ज्ञानदर्शन और चारित्रमें माया प्रवृत्ति रूप क्रिया होती है। प्राणातिपात कारण है और प्राणातिपातिकी क्रिया कार्य है। मृपावाद चोरी और कुशील कारण है और असंयमके उदयसे आज्ञाव्यापादिका क्रिया कार्य है। इसी तरह अन्य भी समझना चाहिए।

§ १६. प्रश्न–इन्द्रियोंसे ही ज्ञान करके और विचारके बाद कपाय अव्रत और क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है अतः इन्द्रियका ही ग्रहण करना चाहिए। कपाय अव्रत और क्रियाएँ तो अर्थात् ही गृहीत हो जाती हैं, उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। इससे सूत्र भी लघु हो जायगा? उत्तर-यदि इन्द्रियोंको ही आस्रवमें गिना जाय तो छठवें गुणस्थान तक ही आस्रवका विधान होगा अप्रमत्तके नहीं। प्रमत्त ही चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूपादिक विषयोंके सेवनके प्रति आसक्त होता है। या सेवन न भी करे तो भी हिंसादिकी कारणभूत अनन्तानुवन्धी और अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ रूप आठ कपायोंसे युक्त होता हुआ हिंसादि करता है, न भी करे तो भी प्रमादी होनेसे सतत कर्मोंका आस्रव करता है। परन्तु अप्रमत्त व्यक्ति पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंसे रहित होकर मात्र योग और कपायनिमित्तक ही आस्रव करता है। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियोंमें यथासम्भव चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मनोविचारके न होने पर भी क्रोधादि-हिंसा पूर्वक कर्मग्रहण होता ही है। अतः सर्वसंग्रहके लिए कपाय आदिका ग्रहण करना उचित है।

§ १७. प्रश्न–राग-द्वेपसे रहित व्यक्ति न तो इन्द्रियोंसे विपय ग्रहण करता है और न जीवहिंसा या असत्य आदिमें प्रवृत्ति करता है, अतः कपायके ग्रहण करनेसे सभी साम्परायिक आस्रवोंका ग्रहण हो ही जाता है, इन्द्रिय अव्रत और क्रियाओंका ग्रहण नहीं करना चाहिए? उत्तर–उपशान्तकपायी साधुके कपायका सद्भाव रहने मात्रसे चक्षुरादिके द्वारा रूपादि विपयोंका ग्रहण करनेके कारण राग द्वेप और हिंसा आदिकी उत्पत्तिका प्रसंग होगा। यदि रूपादिके ग्रहण करने मात्रसे रागी-द्वेपीपना आता हो तो कोई वीतराग नहीं हो पायगा। चक्षु आदिके द्वारा रूपादिका ग्रहण होनेपर भी कोई व्यक्ति वीतराग रह सकता है। अतः कपाय मात्रका ग्रहण करना ठीक नहीं है।

§ १८. यद्यपि अव्रतमें इन्द्रिय कपाय और क्रियाएँ अन्तर्भूत हो सकती हैं किन्तु अव्रतकी प्रवृत्तिमें इन्द्रिय कपाय और क्रियाएँ निमित्त हैं यह प्रवृत्तिनिमित्तता द्योतन करनेके लिए इन्द्रिय कपाय और क्रियाओंका पृथक् ग्रहण किया है।

आस्रवकी विशेपताके कारण—

**तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेपेभ्यस्तद्विशेपः ॥६॥**

तीव्र आदि भावोंसे आस्रवमें विशेपता होती है।

§ १–७. बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे कपायोंकी उदीरणा होनेपर अत्यन्त प्रवृद्ध परिणामोंको तीव्र कहते हैं। इससे विपरीत अनुद्रिक्त परिणाम मन्द हैं। मारनेके परिणाम न होनेपर भी हिंसा हो जानेपर 'मैंने मारा' यह जान लेना ज्ञात है। अथवा, 'इस प्राणीको मारना चाहिए' ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात है। मद या प्रमादसे गमनादि क्रियाओंमें विना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात है। अधिकरण अर्थात् आधारभूत द्रव्य। द्रव्यकी शक्तिको वीर्य कहते हैं। 'भाव' शब्द प्रत्येकमें लगा देना चाहिए–तीव्रभाव मन्दभाव ज्ञातभाव अज्ञातभाव आदि।

§ ८. भावका अर्थ सत्ता नहीं है जिससे वह गोत्वादिकी तरह तीव्र आदिका भेदक न हो सके; किन्तु भावका अर्थ बौद्धिक व्यापार है। नोद्रव्योंके भाव दो प्रकारके हैं–एक परि-

स्पन्द रूप तथा दूसरा अपरिस्पन्द रूप। अपरिस्पन्द रूप भाव अस्तित्व आदि हैं, जो अनादि हैं। परिस्पन्दात्मक भाव उत्पाद और व्यय रूप हैं, जो कि आदिमान् हैं। अपरिस्पन्द रूप भाव सामान्यात्मक है, वह तीव्र आदिका भेदक नहीं हो सकता परन्तु काम आदिकी क्रियारूप जो भाव है वह कायादिके अस्तित्व और तीव्र आदिका भेदक होता ही है। तात्पर्य यह कि तीव्र आदिमें बौद्धिक व्यापारसे विशेषता होती है। अथवा, भाववाले आत्मासे अभिन्न होनेके कारण तीव्र आदि भी भाव हैं। एक एक कषायादि स्थानमें असंख्यात लोकप्रमाण भाव होते हैं। वे ही यहाँ विवक्षित हैं, एक सत्तारूप भाव नहीं।

§ ९-११. यद्यपि वीर्य-शक्ति आत्मपरिणामरूप है और वह जीवाधिकारणका परिणाम होनेसे 'अधिकरण'में ही गृहीत हो जाता है फिर भी शक्तिविशेषसे हिंसा आदिमें विशेषता आती है और उससे आस्रवमें विशेषता आती है यह सूचन करनेके लिए उसको ग्रहण किया है। वीर्यवान् आत्माके तीव्र तीव्रतर और तीव्रतम आदि परिणाम होते हैं। आस्रवमें फलभेद बतानेके लिए ही तीव्र आदिका पृथक् ग्रहण किया है, अन्यथा केवल 'अधिकरण'से ही सब कार्य चल सकता था, क्योंकि तीव्र आदि जीवाधिकरणरूप ही हैं। कारणभेदसे कार्यभेद अवश्य होता है। अतः जब तीव्र आदि अनुभागके भेदसे आस्रव अनन्त प्रकारका हो गया तो उसके कार्यभूत शरीर आदि भी अनन्त ही प्रकारके होते हैं।

## अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

§ १-३. यद्यपि जीव और अजीवकी व्याख्या हो चुकी है, फिर भी यहाँ अधिकरण-विशेष रूपसे उनका निर्देश किया गया है। हिंसा आदिके उपकरण रूपसे जीव और अजीव ही अधिकरण होते हैं। 'अनन्तपर्यायविशिष्ट जीव और अजीव अधिकरण बनते हैं' इस बातकी सूचना देनेके लिए सूत्रमें बहुवचन दिया गया है।

§ ४-५. 'जीव और अजीव ही अधिकरण' ऐसा समानाधिकरण अर्थमें समास करनेपर जीवत्व और अजीवत्वसे विशिष्ट अधिकरणमात्रकी प्रतिपत्ति होगी, आस्रवविशेषका ज्ञान नहीं हो सकेगा। 'जीव और अजीवका अधिकरण' ऐसा भिन्नाधिकरणक षष्ठी समास करनेपर भी जीव और अजीवके आधारमात्रका ही ज्ञान होगा आस्रवविशेषका नहीं। अतः प्रकृतपाठ ही ठीक है। 'जीव और अजीव किसके अधिकरण हैं?' यह प्रश्न होनेपर 'अर्थके वशसे विभक्तिका परिणमन होता है' इस नियमके अनुसार 'आस्रवस्य' यह आस्रवका सम्बन्ध हो जाता है। जैसे कि 'देवदत्तके ऊँचे मकान हैं उसे बुलाओ' यहाँ उसके साथ देवदत्तका कर्मकारक रूपसे सम्बन्ध हो जाता है। दोनों अधिकरण दस प्रकारके हैं–विष लवण क्षार कटुक अम्ल स्नेह अग्नि और खोटे रूपसे प्रयुक्त मन-वचन और काय।

## आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

§ १. यद्यपि आगेके सूत्रमें 'पर' शब्द देनेसे यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि इस सूत्रमें आद्य जीवाधिकरणका वर्णन है फिर भी स्पष्ट अर्थबोधके लिए इस सूत्रमें 'आद्य' पद दे दिया है।

§ २-१७. प्रमादवान् पुरुषका प्राणघात आदिके लिए प्रयत्न करनेका संकल्प संरम्भ है। उसके साधनोंका इकट्ठा करना समारम्भ है। कार्यको शुरू कर देना आरम्भ है। ये तीनों शब्द भावसाधन हैं। योग शब्दका व्याख्यान प्रथमसूत्रमें किया जा चुका है। आत्माने जो स्वतन्त्र भावसे किया वह कृत है। दूसरेके द्वारा कराया गया कारित है। करनेवालेके मानस-परिणामोंकी स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जानेवाले कार्यका यदि निषेध नहीं करता तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है उसी तरह करानेवाला प्रयोक्ता होनेसे और उन परिणामोंका समर्थक होनेसे अनुमोदक है। क्रोधादि कषायें कही जा चुकी हैं। विशेष शब्द-

का प्रत्येकमें अन्वय कर लेना चाहिए और यहाँ 'भिद्यते' क्रिया पदका अध्याहार करके 'विशेषैः' निर्देशकी सार्थकता समझ लेनी चाहिए ; क्योंकि कर्ता और करणका निर्देश क्रियापदके होनेपर ही सार्थक होता है। जैसे 'शंकुलया खंडः' में अप्रयुक्त 'कृत' क्रियाकी अपेक्षा निर्देश है वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। अथवा, 'पूर्वस्य भेदाः' इस सूत्रांशमें भेद शब्दका अधिकार चला आ रहा है, उसकी अपेक्षा 'विशेषैः' में करण निर्देश उपयुक्त है। त्रि त्रि आदि सुजन्त संख्या-शब्दोंका क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिए। एकशः वीप्सार्थक निर्देश है अर्थात् एक एकके भेद समझना चाहिए।

§ १८-१९. संरम्भ आदि तीन वस्तुवाची हैं अतः इनका प्रथम ग्रहण किया है, बाक़ी वस्तुके भेद हैं। योग आदिका आनुपूर्वीसे कथन पूर्व और उत्तर दोनोंके विशेषणार्थ है। तात्पर्य यह कि–क्रोधादि चार और कृत आदि तीनके भेदसे कायादि योगोंके संरम्भ समारम्भ और आरम्भसे विशिष्ट करने पर प्रत्येकके छत्तीस छत्तीस भेद होते हैं। क्रोधकृतकायसंरम्भ, मानकृतकायसंरम्भ, मायाकृतकायसंरम्भ, लोभकृतकायसंरम्भ, क्रोधकारितकायसंरम्भ, मानकारितकायसंरम्भ, मायाकारितकायसंरम्भ, लोभकारितकायसंरम्भ, क्रोधानुमतकायसंरम्भ, मानानुमतकायसंरम्भ, मायानुमतकायसंरम्भ और लोभानुमतकायसंरम्भ। इस प्रकार संरम्भ बारह प्रकारका है। समारम्भ आरम्भ भी इसी तरह बारह-बारह प्रकारके होकर कुल छत्तीस प्रकार काययोगके होते हैं। इसी तरह वचन और मनके भी छत्तीस-छत्तीस प्रकार मिलकर कुल १०८ प्रकार जीवाधिकरणके होते हैं। कहा भी है—"क्रोध आदि और कृत आदिके द्वारा काय संरम्भ १२ प्रकारका है और समारम्भ तथा आरम्भ भी इसी प्रकार बारह बारह प्रकारका होता है। इस तरह कुल छत्तीस भेद हो जाते हैं।"

§ २०–२१ च शब्दसे क्रोधादिके अन्य विशेषोंका भी संग्रह हो जाता है। अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलनसे उक्त भेदोंको गुणा करनेपर कुल ४३२ भेद हो जाते हैं। जैसे नीले रंगमें डाला गया वस्त्र नीलरंगसे नील हो जाता है उसी तरह संरम्भ आदि क्रियाएँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंसे अनुरंजित होती हैं। अतः ये भी जीवाधिकरण हैं।

अजीवाधिकरणके भेद—

**निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥**

§ १–३ निर्वर्तना आदि शब्द कर्मसाधन और भावसाधन दोनों हैं। जब निर्वर्तना आदि शब्द कर्मसाधन हैं तब 'निर्वर्तना ही अधिकरण' ऐसा सामानाधिकरण्य रूपसे अधिकरण शब्दका सम्बन्ध कर लेना चाहिए। जिस समय भावसाधन होते हैं तब 'विशिष्यन्ति' क्रियाका अध्याहार करके 'निर्वर्तना आदि भाव पर अधिकरणको विशिष्ट करते हैं' ऐसा भिन्नाधिकरण रूपसे अधिकरण शब्दका सम्बन्ध कर लेना चाहिए। निर्वर्तना–उत्पत्ति, निसर्ग–स्थापना, संयोग–मिलाना और निसर्ग–प्रवृत्ति। 'द्वि चतुर् आदि हैं भेद जिसके' ऐसा द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास 'द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः' में समझना चाहिए।

§ ४–११. प्रश्न—इस सूत्रमें 'पर' शब्द निरर्थक है क्योंकि पहिले सूत्रमें 'आद्य' शब्द देनेसे अर्थात् ही यह 'पर' सिद्ध हो जाता है या फिर प्रथम सूत्रमें 'आद्य' शब्द व्यर्थ है क्योंकि सारा प्रयोजन अर्थापत्तिसे सिद्ध हो जाता है। अर्थापत्तिको अनैकान्तिक कहना उचित नहीं है क्योंकि 'अहिंसा धर्म है' यह कहनेसे जिस प्रकार 'हिंसा अधर्म है' यह सिद्ध होता ही है उसी तरह मेघके अभावमें वृष्टि नहीं होती' यह कहनेसे 'मेघके होनेपर वृष्टि होती है' यह भी सिद्ध होता ही है। कभी मेघके होनेपर भी वृष्टिके न देखे जानेसे इतना ही कह सकते हैं कि वृष्टि 'मेघ के होनेपर ही होगी' अभाव में नहीं। 'पर शब्द यदि न दिया जायगा तो यह सूत्र

असम्बद्ध हो जायगा' यह भी समाधान ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कोई निवर्त्य नहीं है। आद्य जीवाधिकरणका तो संरम्भ आदिसे सम्बन्ध हो ही गया है। अतः परिशेष न्यायसे ये अजीवाधिकरण हो ही जाते हैं। पर शब्दको प्रकृष्टवाची कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जीवाधिकरण निकृष्ट तो है नहीं जिसका प्रकृष्ट अजीवाधिकरणसे वारण किया जाय। इसी तरह पर शब्दको 'पर धामको गये अर्थात् इष्ट धामको गये' इसकी तरह इष्टवाची भी नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ अनिष्ट क्या है जिसकी निवृत्तिके लिए पर शब्दको इष्टवाची कहा जाय? उत्तर—पर शब्द भिन्नार्थक है अर्थात् संरम्भ आदिसे निर्वर्तना आदि भिन्न हैं। अन्यथा निर्वर्तना आदि को भी आत्मपरिणामरूपता आ जानेसे जीवाधिकरणत्वका प्रसंग प्राप्त होता। अथवा, पहिले कह दिया है कि आद्यकी तरह 'पर' शब्द भी स्पष्ट अर्थबोध करानेके लिए है।

§ १२. पाँच प्रकारके शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वास मूलगुण निर्वर्तना हैं और काष्ठ पुस्त चित्रकर्म आदि उत्तरगुण निर्वर्तना हैं।

§ १३. अप्रत्यवेक्षित दुष्प्रमृष्ट सहसा और अनाभोगके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है।

§ १४. भक्तपानसंयोग और उपकरणसंयोगके भेदसे संयोग दो प्रकारका है।

§ १५. मन वचन और कायके भेदसे निसर्ग तीन प्रकारका है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण—

**तत्प्रदोपनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥**

§ १-७. ज्ञान-कथाके समय मुँहसे कुछ न कहकर भीतर-ही भीतर ईर्ष्याके परिणाम होना प्रदोष है। किसी बहानेसे 'नहीं है, नहीं जानता' इत्यादि रूपसे ज्ञानका लोप करना निह्नव है। देने योग्य ज्ञानको भी किसी बहानेसे न देना मात्सर्य है। कलुषतासे ज्ञानका व्यवच्छेद करना अन्तराय है। दूसरेके द्वारा प्रकाशित ज्ञानका काय या वचनके द्वारा वर्जन करना आसादन है। बुद्धि और हृदयकी कलुषतासे प्रशस्त ज्ञानमें दूषण लगाना उपघात है। आसादनमें विद्यमान ज्ञानका विनय प्रकाशन गुणकीर्त्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघातमें ज्ञानको अज्ञान ही कहकर ज्ञानका नाश किया जाता है।

§ ८-९. तत् शब्दसे ज्ञान और दर्शनका ग्रहण किया जाता है अर्थात् ज्ञान और दर्शनके प्रदोष निह्नव आदि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण होते हैं। 'ज्ञानदर्शनावरणयोः' कहनेसे ज्ञात होता है कि प्रदोष आदि ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी हैं। इसी तरह ज्ञान दर्शनवालोंके प्रदोष आदि और ज्ञानदर्शनके साधनोंके प्रदोष आदि भी 'तत्प्रदोष' शब्दसे ग्रहण कर लेने चाहिये।

§ १०-११. प्रश्न—ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण तुल्य हैं अतः दोनोंको एक ही कहना चाहिए। जिनके कारण तुल्य होते हैं वे एक होते हैं। उत्तर तुल्य कारण होनेसे कार्यैक्य माना जाय तो जब वचनके कारण कण्ठ ओंठ आदि तुल्य हैं तो प्रत्येक वचनको या तो साधक होना चाहिए या दूषक ही। इस तरह स्ववचनविरोध ही हो जायगा। यदि एक हेतुक होनेपर भी वचन स्वपक्षके ही साधक तथा परपक्षके ही दूषक होते है तो 'तुल्यहेतु होनेसे कार्यैक्य होता है' इस वचनका विरोध हो जायगा। इस पक्षमें दृष्ट और आगम दोनोंसे ही विरोध आता है। एक मिट्टीके पिण्डसे ही घट घटी शराव उदञ्चन-सकोरा आदि अनेक कार्योंकी प्रत्यक्षसिद्धि है। सांख्य एक प्रधानसे महान् अहंकार आदि नाना कार्य मानते हैं। बौद्ध उत्पत्ति अविद्या रूप प्रत्ययसे पुण्य अपुण्य और अनुभय संस्कारोंकी उत्पत्ति मानते हैं। वैशेषिक चतुष्टय सन्निकर्षसे रूपादि ज्ञान आदि नाना कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं। इस तरह सभीके आगमविरोध दोषका प्रसंग होता है।

§ १२–१६. आवरणके अत्यन्त संक्षय होनेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन सूर्यके प्रताप और प्रकाशकी तरह प्रकट हो जाते हैं अतः इनमें तुल्य कारणोंसे आस्रव मानना उचित है। सावरण व्यक्तिके ज्ञान और दर्शनकी क्रमशः प्रवृत्ति होती है। जैसे गरम जलमें वर्तमान अग्निका ताप प्रकट है प्रकाश प्रकट नहीं है और प्रदीपके प्रकाशमें प्रकाश प्रकट है प्रताप प्रकट नहीं है उसी तरह छद्मस्थके जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं। जैसे मेघपटलके हटनेपर सूर्यका जहाँ प्रकाश है वहाँ प्रताप है और जहाँ प्रताप है वहाँ प्रकाश है उसी तरह निरावरण अचिन्त्य-माहात्म्यशाली केवली सूर्यके समस्त विषयक ज्ञान और दर्शन होते हैं, जहाँ ज्ञान है वहाँ दर्शन है और जहाँ दर्शन है वहाँ ज्ञान है अतः यह शंका निर्मूल हो जाती है कि–"ज्ञान अस्पृष्ट और अविषयमें भी प्रवृत्ति करता है पर दर्शन स्पृष्ट और विषयमें ही। चूँकि अतीत और अनागत विनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे स्पृष्ट और विषय नहीं हो सकते अतः तद्विषयक ज्ञान ही हो सकता है दर्शन नहीं। अतः केवलीको अतीतानागतदर्शी नहीं कह सकते"; जैसे केवली असद्भूत और अनुपदिष्टको जानते हैं उसी तरह देखते भी हैं इसमें क्या बाधा है ? जैसे सावरण को अस्पृष्ट और अविषयमें बिना उपदेशके ज्ञान नहीं होता क्या उसी तरह केवलीको भी मानते हो ? यदि नहीं, तो जैसे सावरण व्यक्तिको स्पृष्ट और विषयमें दर्शन होता है उस तरह केवलीके नहीं माना जा सकता। अतः केवलीको त्रिकालगोचर दर्शन मानना उचित है।

§ १७. यद्यपि अवधिज्ञानीके आवरण है फिर भी अवधिदर्शनावरणका क्षयोपशम अन्य कारणोंकी अपेक्षा नहीं करता अतः बिना उपदेशके ही अवधिदर्शनकी केवल दर्शनकी तरह अतीत और अनागतमें भी प्रवृत्ति होती है अतः अस्पृष्ट और अविषयका भी अवधिदर्शन सिद्ध है।

§ १८–१९. चूँकि चार ही दर्शनावरण बताये हैं, इस लिए मनःपर्यय दर्शनावरणका क्षयोपशमरूप निमित्त न होनेसे मनःपर्यय दर्शन नहीं होता। मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह स्वमुखसे विषयोंको नहीं जानता किन्तु परकीय मनप्रणालीसे जानता है। अतः मन जैसे अतीत और अनागत अर्थोंका विचार-चिन्तन तो करता है, देखता नहीं है उसी तरह मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यत्को जानता है, देखता नहीं। वह वर्तमान भी मनको विषयविशेषाकारसे जानता है अतः सामान्यावलोकन पूर्वक प्रवृत्ति न होनेसे मनःपर्ययदर्शन नहीं बनता।

§ २०. अथवा, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण भिन्न-भिन्न ही समझने चाहिए क्योंकि विषयभेदसे प्रदोष आदि भिन्न हो जाते हैं। ज्ञानविषयक प्रदोष आदि ज्ञानावरणके और दर्शनविषयक प्रदोष आदि दर्शनावरणके आस्रवके कारण होते हैं। इसी तरह आचार्य और उपाध्यायके प्रतिकूल चलना, अकाल अध्ययन, अश्रद्धा, अभ्यासमें आलस्य करना, अनादरसे अर्थ सुनना, तीर्थोपरोध-दिव्यध्वनिके समय स्वयं व्याख्या करने लगना, बहुश्रुतपनेका गर्व, मिथ्योपदेश, बहुश्रुतका अपमान करना, स्वपक्षका दुराग्रह, स्वपक्षके दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप करना, सूत्रविरुद्ध बोलना, असिद्धसे ज्ञान प्राप्ति, शास्त्रविक्रय और हिंसा आदि ज्ञानावरणके आस्रवके कारण हैं। दर्शनमात्सर्य, दर्शनअन्तराय, आँखें फोड़ना, इन्द्रियोंके विपरीत प्रवृत्ति, दृष्टिका गर्व, दीर्घनिद्रा, दिनमें सोना, आलस्य, नास्तिकता, सम्यग्दृष्टिमें दूषण लगाना, कुतीर्थकी प्रशंसा, हिंसा और यतिजनोंके प्रति ग्लानिके भाव आदि भी दर्शनावरणके आस्रवके कारण हैं। इस तरह इनके आस्रवके कारणोंमें भेद हैं।

असातावेदनीयके आस्रवके कारण—

**दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥**

आत्मस्थ परस्थ और उभयमें होनेवाले दुःख शोक आदि असाता वेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

§ १-८. विरोधी पदार्थोंका मिलना, इष्टका वियोग, अनिष्टसंयोग और निष्ठुर वचन आदि बाह्य कारणोंकी अपेक्षासे तथा असाता वेदनीयके उदयसे होनेवाला पीडालक्षण परिणाम दुःख है। अनुग्रह करनेवाले बन्धु आदिसे विच्छेद हो जानेपर उसका बार-बार विचार करके जो चिन्ता, खेद और विकलता आदि मोहकर्मविशेष-शोक के उदयसे होते हैं वे शोक हैं। परिभवकारी कठोरवचनके सुनने आदिसे कलुष चित्तवाले व्यक्ति के जो भीतर-ही-भीतर तीव्र जलन या अनुशय-परिणाम होते हैं वे ताप हैं। परितापके कारण अश्रुपात अंगविकार–माथा फोड़ना, छाती कूटना आदि पूर्वक जो रोना है वह आक्रन्दन है। आयु, इन्द्रिय, बल और प्राण आदिका विघात करना वध है। अतिसंक्लेशपूर्वक ऐसा रोना-पीटना जिसे सुनकर स्वयं अपने तथा दूसरेको दया आ जाय, परिदेवन है। यद्यपि ये सभी दुखःजातीय हैं; क्योंकि दुःखके ही असंख्यात भेद होते हैं, फिर भी यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य भेदोंका निर्देश कर दिया है। जैसे कि गौ असंख्य प्रकारकी होती हैं और केवल गौ कहनेसे सबका ज्ञान नहीं हो पाता अतः खण्डी मुण्डी शाबलेय आदि कुछ विशेष दिखा दिये जाते हैं। अथवा, जैसे मृत्पिंड घट कपाल आदि मूर्तिमान् रूपीद्रव्यकी दृष्टिसे एक होकर भी प्रतिनियत आकार आदि पर्यायार्थिक दृष्टिसे भिन्न हैं उसी तरह अप्रीति-सामान्यकी दृष्टिसे दुःखादिमें एकत्व होनेपर भी विभिन्न कारणों से उत्पन्न और अभिव्यक्त पर्यायोंकी दृष्टिसे वे जुदा-जुदा हैं।

§ ९. जिस समय पर्याय और पर्यायीकी अभेद विवक्षा होती है उस समय गरमलोह-पिण्डकी तरह तद्रूपसे परिणमन करनेके कारण आत्मा ही दुःखयति–दुःख आदिरूप होती है, अतः दुःखादि शब्द कर्तृसाधनमें निष्पन्न होते हैं और जब पर्याय और पर्यायीको भेदविवक्षा होती है तब दुःखादि शब्द 'दुःख हो जिसके द्वारा या जिसमें' अथवा 'दुःखनमात्र दुःख' इस प्रकार करणसाधन और भावसाधन होते हैं।

§ १०. सर्वथा एकान्त पक्षमें दुःख आदिकी कर्ता आदि साधनोंमें व्युत्पत्ति नहीं बन सकती; क्योंकि इसमें दूसरे पक्षका संग्रह नहीं हो पाता। यदि पर्यायमात्र ही माना जाय और आत्मद्रव्यकी सत्ता न मानी जाय तो विज्ञान आदिमें 'करण' व्यवहार ही नहीं हो सकता; क्योंकि कोई कर्ता ही नहीं है। स्वातन्त्र्यशक्तिविशिष्ट कर्ताकी अपेक्षा ही शेष कर्म करण आदि कारक बनते हैं। कर्ताके अभावमें उनका भी अभाव हो जायगा। कर्तृसाधनता भी नहीं बनती; क्योंकि यहाँ करण आदि सहकारियोंकी अपेक्षा नहीं है। विज्ञान आदि जब युगपत् उत्पन्न होते हैं तो दायें बायें सींगकी तरह परस्पर सहकारिभाव नहीं बन सकता। अतीत और अनागत चूँकि असत् हैं, अतः उनका भी वर्तमानके प्रति सहकारिभाव नहीं हो सकता। जब विज्ञान आदि क्षणिक हैं तो पूर्वानुभूतकी स्मृति आदि नहीं होंगी, और तब पूर्वविनष्ट अर्थके विचारसे होनेवाले शोक आदि कैसे होंगे? क्षणिकवादमें स्मृति आदि तो हो ही नहीं सकते। सन्तान अवस्तु है अतः उसकी अपेक्षा भी स्मरणादिकी कल्पना नहीं जमती। भाववान्के विना भावसाधनकी बात करना भी निरर्थक ही है।

यदि द्रव्यमात्र ही स्वीकार किया जाता है, उसमें क्रिया या गुण आदि परिणमन नहीं होते, वह सर्वथा निर्गुण और निष्क्रिय है तो सुख दुःख आदि पर्यायोंके प्रति कर्ता कैसे हो सकता है? इसी तरह अचेतन प्रधान भी दुःख आदि पर्यायोंका कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि घटादि अचेतनोंमें दुःख आदि नहीं देखे जाते। यदि अचेतनमें भी सुख दुःख आदि माने जायँ तो चेतन और अचेतनमें कुछ अन्तर ही नहीं रहेगा। निष्क्रिय द्रव्यके अधर्मनिमित्तक दुःख

आदिकी कल्पना भी ठीक नहीं है क्योंकि निष्क्रिय द्रव्यके धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और न उसके कर्मफलका अनुभव ही हो सकता है।

§ ११. ये दुःखादि क्रोधादिके आवेशके कारण आत्मा पर और उभयमें होते हैं। जब क्रोधादिसे आविष्ट आत्मा अपनेमें दुःख आदि उत्पन्न करता है तब वे आत्मस्थ होते हैं और जब समर्थ व्यक्ति परमें दुख आदि उत्पन्न करता है तब वे परस्थ होते हैं और जब साहुकार कर्जदारसे ऋण वसूल करने जाते हैं तब दोनोंको ही भूख-प्यास आदिके कारण दुःख आदि होते हैं तब ये उभयस्थ होते हैं।

§ १२-१३. विद्, विद्ल, विन्ति और विद्यति ये चार विद् धातुएँ क्रमशः ज्ञान, लाभ, विचार और सद्भाव अर्थको कहती हैं। यहाँ चेतनार्थक विद् धातु से चुरादिण्यन्त प्रत्यय करके वेद्य शब्द बना है। अनिष्ट फल उत्पन्न करनेके कारण वह अप्रशस्त है, अतः असद्वेद्य कहा जाता है।

§ १४-१५. प्रधान होनेसे दुःखका ग्रहण सर्वप्रथम किया है, शेष शोक आदि इसीके विकल्प हैं। शोकादिका ग्रहण दुःखके विकल्पोंके उपलक्षणरूप है, अतः अन्य विकल्पोंका भी संग्रह हो जाता है। अतः अशुभप्रयोग, परपरिवाद, पैशुन्यपूर्वक अनुकम्पाभाव, परपरिताप, अंगोपांगच्छेद, भेद, ताडन, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन, तक्षण, विशंसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, वाहन, विहेडन, ह्रेपण, शरीरको रूखा कर देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, संक्लेश-प्रादुर्भावन, जीवनको योंही बरबाद करना, निर्दयता, हिंसा, महाआरम्भ, महापरिग्रह, विश्वास-घात, कुटिलता, पापकर्मजीवित्व, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण जाल पाश रस्सी पिंजरा यन्त्र आदि हिंसाके साधनोंका उत्पादन, जबरदस्ती शस्त्र देना और दुःखादि पापमिश्रित भाव आदि भी गृहीत हो जाते हैं। ये आत्मा पर और उभयमें रहनेवाले आसातावेदनीयके आस्रवके कारण होते हैं।

§ १६-२१. प्रश्न-यदि दुःखके कारणोंसे असातावेदनीयका आस्रव होता है तो नग्न रहना केशलुंचन और अनशन आदि तपोंका उपदेश भी दुःखके कारणोंका उपदेश हुआ, अतः तीर्थंकरोंको उसका उपदेश नहीं करना चाहिए?

उत्तर-यह प्रश्न ही नहीं हो सकता; यतः जैन तो प्रश्न कर नहीं सकते क्योंकि स्वतीर्थंकरोंके उपदेशका व्याघात हो जाता है। बौद्धोंके मतमें जब सभी पदार्थ दुःख शून्य और अनात्मक रूप हैं तब हिंसादिकी तरह दानादिमें भी दुःखहेतुता ही रहेगी और इसलिए इनका उपदेश भी अकुशलका ही उपदेश कहा जायगा। इसी तरह अन्य मतवादियोंको भी यम नियम परिपालन, विविध वेष, अनुष्ठान, दुश्चर उपवास, ब्रह्मचर्यवास आदिका दुःखहेतु होनेसे अनुष्ठान नहीं करना चाहिए और न उपदेश देना चाहिए; क्योंकि सभी वादी हिंसा आदिको दुःखहेतु होनेसे पापास्रवका कारण मानते ही हैं। सत्य बात तो यह है कि-क्रोधादिके आवेशके कारण द्वेषपूर्वक होनेवाले स्व पर और उभयके दुःख आदि पापास्रवके हेतु होते हैं न कि स्वेच्छा से आत्मशुद्ध्यर्थ किये जानेवाले तप आदि। जैसे अनिष्टद्रव्यके सम्पर्कसे द्वेषपूर्वक दुःख उत्पन्न होता है उस तरह बाह्य और अभ्यन्तर तपकी प्रवृत्तिमें धर्मध्यानपरिणत मुनिके अनशन केश-लुंचन आदि करने या करानेमें द्वेषकी सम्भावना नहीं है अतः असाताका बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार यति अहिंसा आदि करने और करानेमें प्रसन्न होता है उसी तरह उपवास आदि करने और करानेमें उसे प्रसन्नता ही होती है। अतः अनशन आदि तप दुःखरूप नहीं हैं। जब मुनियोंको किसी भी कारणसे कभी भी क्रोधादिके उत्पन्न होनेपर उसके परिमार्जनके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है तब यतिको अनशन आदि तपविधिमें क्रोधादि परिणामोंकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती, जिससे असाताका आस्रव माना जाय। जैसे वैद्य करुणाबुद्धिसे रोगीके

फोड़ेकी शल्य क्रिया करके भी क्रोधादि न होनेसे पापबन्ध नहीं करता उसी तरह अनादिकालीन सांसारिक जन्ममरणकी वेदनाको नाश करनेकी इच्छासे तप आदि उपायोंमें प्रवृत्ति करनेवाले यतिके कार्योंमें स्वपर-उभयमें दुःखहेतुता दिखनेपर भी क्रोधादि न होनेके कारण वह पापका बन्धक नहीं होता। मनोरतिको सुख कहते हैं। जैसे अत्यन्त दुःखी भी संसारी जीवोंका जिन पदार्थोंमें मन रम जाता है वे ही सुखकारक होते हैं, उसी तरह यतिका मन अनशन आदि करनेमें रमता है, प्रसन्न होता है अतः वह दुःखी नहीं है और इसीलिए असाताका बन्धक नहीं है। कहा भी है-"नगर हो या वन, स्वजन हो या परजन, महल हो या पेड़की खोह, प्रियाकी गोद हो या शिलातल, वस्तुतः मनोरतिको ही सुख कहते हैं। जहाँ जिसका मन रम गया वह वहीं सुखी है।"

सातावेदनीयके आस्रवके कारण-

**भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥**

भूतानुकम्पा व्रती-अनुकम्पा दान सरागसंयम क्षमा और शुचित्व आदि सातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

§ १-११. आयुकर्मके उदयसे उन-उन योनियोंमें होनेवाले प्राणियोंको भूत कहते हैं। व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावक या मुनि व्रती हैं। दयार्द्र व्यक्तिका दूसरेकी पीड़ाको अपनी ही पीड़ा समझकर कँप जाना अनुकम्पा है। इनकी अनुकम्पा भूतानुकम्पा और व्रती-अनुकम्पा है। अपनी वस्तुका परके अनुग्रहके लिए त्याग करना दान है। पूर्वोपात्त कर्मोदयसे जिसकी कषायें शान्त नहीं हैं पर जो कषायनिवारणके लिए तैयार है वह सराग है। प्राणियोंकी रक्षा तथा इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिको रोकना संयम है। सरागके संयमको या रागसहित संयमको सराग-संयम कहते हैं। परतन्त्रताके कारण भोग-उपभोगका निरोध होनेपर उसे शान्तिसे सह जाना अकामनिर्जरा है। मिथ्यादृष्टियोंके अग्निप्रवेश, पंचाग्नितप आदि तपको बालतप कहते हैं। निरवद्य क्रियाके अनुष्ठानको योग कहते हैं। योग अर्थात् पूर्ण उपयोगसे जुट जाना। दूषणकी निवृत्तिके लिए योग शब्दका ग्रहण किया है। अर्थात् भूतव्रत्यनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदिका योग। शुभपरिणामोंसे क्रोधादिकी निवृत्ति करना क्षान्ति है। लोभके प्रकारोंसे निवृत्ति शौच है। स्वद्रव्यका त्याग नहीं करना, पर द्रव्यका अपहरण करना और धरोहरका हड़पना आदि लोभके प्रकार हैं। इति शब्द प्रकारार्थक है। अर्थात् इस प्रकार सद्वेद्यके आस्रव हैं।

§ १२-१४. यहाँ समास नहीं करनेका कारण है—ऐसे ही अन्य उपायोंका संग्रह करना। यद्यपि 'इति' शब्दका भी यही प्रयोजन है फिर भी समास न करना और 'इति' शब्दका ग्रहण करना स्पष्टताके लिए है। अर्हत्पूजा, बाल वृद्ध और तपस्वीकी वैयावृत्य, आर्जव और विनयशीलता आदि भी सातावेदनीयके आस्रव है। भूतानुकम्पासे व्रती-अनुकम्पामें प्रधानता दिखानेके लिए 'व्रती'का पृथक् ग्रहण किया है।

§ १५. द्रव्यदृष्टिसे नित्यताको न छोड़ने वाले और नैमित्तिक परिणामोंसे अनित्य पर्याय को प्राप्त करनेवाले नित्यानित्यात्मक जीवके ही अनुकम्पा आदि परिणाम हो सकते हैं। सर्वथा नित्य माननेपर किसी प्रकारकी विक्रिया नहीं होती अतः अनुकम्पारूप परिणति नहीं हो सकती। यदि अनुकम्पा परिणति मानी जाती है, तो नित्यता नहीं रह सकेगी। क्षणिक पक्षमें पूर्व और उत्तरपर्यायका ग्रहण एक विज्ञानसे न होनेसे स्मरणादिके विना अनुकम्पा नहीं हो सकती। संस्कार भी क्षणिक है। संस्कार यदि ज्ञानरूप है तो वह उसीकी तरह क्षणिक होगा। अतः वह भी स्मृति आदि नहीं करा सकता। यदि अज्ञानरूप है तो ज्ञानका कारण नहीं हो सकता।

मोहनीयके आस्रवके कारण-

**केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥**

केवली श्रुत संघ धर्म और देवोंका अवर्णवाद (अविद्यमान दोषोंका प्रचार) दर्शनमोह के आस्रवके कारण हैं।

§ १-६. ज्ञानावरणका अत्यन्त क्षय हो जानेपर जिनके स्वाभाविक अनन्तज्ञान प्रकट हो गया है, जिनका ज्ञान इन्द्रिय कालक्रम और दूर देश आदिके व्यवधानसे परे है और परिपूर्ण है वे केवली हैं। उनके द्वारा उपदेश दिया गया तथा बुद्ध्यतिशययुक्त गणधरोंके द्वारा धारण किया गया श्रुत है। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयभावनापरायण चतुर्विध श्रमणोंके समूहको संघ कहते हैं। यद्यपि संघ समूहवाची है फिर भी एक व्यक्ति भी अनेक व्रत गुण आदिका धारक होनेसे संघ कहा जाता है। कहा भी है–'गुण संघातको संघ कहते हैं। कर्मोंका नाश करने और दर्शन ज्ञान और चरित्रका संघटन करनेसे संघ कहा जाता है।' अहिंसादि धर्म हैं। देवगति नामकर्मके उदयसे भवनवासी आदि चार प्रकारके देव हैं।

§ ७. गुणवान् और महत्त्वशालियोंमें अपनी बुद्धि और हृदयकी कलुषतासे अविद्यमान दोषोंका उद्भावन करना अवर्णवाद है।

§ ८. 'केवली भोजन करते हैं, कम्बल आदि धारण करते हैं, तुंबड़ीका पात्र रखते हैं, उनके ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं' इत्यादि केवलीका अवर्णवाद है।

§ ९ मद्य-मांसका भक्षण, मधु और सुराका पीना, कामातुरको रतिदान तथा रात्रि-भोजन आदिमें कोई दोष नहीं है, यह सब श्रुतका अवर्णवाद है।

§ १०. ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान न करनेसे मलिन शरीरवाले हैं, अशुचि हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, इसी लोकमें ये दुखी हैं, परलोक भी इनका नष्ट है, इत्यादि संघका अवर्णवाद है।

§ ११. जिनोपदिष्ट धर्म निर्गुण है। इसके धारण करनेवाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि धर्मका अवर्णवाद है।

§ १२-१३. देव मद्य-मांसका सेवन करते हैं, अहल्या आदिमें आसक्त हुए थे, इत्यादि देवोंका अवर्णवाद है। ये सब सम्यग्दर्शनको नष्ट करनेवाले दर्शनमोहके आस्रवके कारण हैं।

चारित्रमोहके आस्रवके कारण—

**कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥**

§ १-३. बाँधे हुए कर्मका द्रव्यक्षेत्रादि निमित्तोंसे फल देने लगना उदय है। कषायों के तीव्र उदयसे होनेवाले संक्लिष्ट परिणाम चारित्रमोहके आस्रवके कारण हैं। जगदुपकारी शीलव्रती तपस्वियोंकी निन्दा, धर्मध्वंस, धर्ममें अन्तराय करना, किसीको शीलगुण देशसंयम और सकलसंयमसे च्युत करना, मद्य मांस आदिसे विरक्त जीवोंको उससे विचकाना, चरित्रदूषण, संक्लेशोत्पादक व्रत और वेषोंका धारण, स्व और परमें कषायोंका उत्पादन आदि कषायवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। उत्प्रहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकारपूर्वक हँसी, बहुप्रलाप तथा हरएक की हँसी मजाक करना हास्यवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। विचित्र क्रीड़ा, दूसरेके चित्तको आकर्षण करना, बहुपीड़ा, देशादिके प्रति अनुत्सुकता, प्रीति उत्पन्न करना, रति-विनाश, पापशील व्यक्तियोंकी संगति, अकुशल क्रियाका प्रोत्साहन देना आदि अरतिवेदनीयके आस्रव के कारण हैं। स्वशोक, प्रीतिके लिए परका शोक करना, दूसरेको दुःख उत्पन्न करना, शोकसे व्याप्तका अभिनन्दन आदि शोकवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। स्वयं भयभीत रहना, दूसरेको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, त्रास आदि भयवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। धर्मात्मा चतुर्वर्ण विशिष्ट वर्ग कुल आदिकी क्रिया और आचारमें तत्पर पुरुषोंसे ग्लानि करना, दूसरेकी बदनामी करनेका स्वभाव आदि जुगुप्सा वेदनीयके आस्रवके कारण हैं। अत्यन्त क्रोधके परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्या भाषण, छलकपट, प्रपंचतत्परता, तीव्र राग, परांगनागमन,

स्त्रीभावोंमें रुचि आदि स्त्रीवेदके आस्रवके कारण हैं। मन्द क्रोध, कुटिलता न होना, अभिमान न होना, निर्लोभ भाव, अल्पराग, स्वदारसन्तोष, ईर्ष्यारहित भाव, स्नान गन्ध माला आभरण आदिके प्रति आदर न होना आदि पुंवेदके आस्रवके कारण हैं। प्रचुर क्रोध मान माया लोभ, गुप्त इन्द्रियोंका विनाश, स्त्री पुरुषोंमें अनंगक्रीड़ाका व्यसन, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषोंको बिचकाना, परस्त्रीपर आक्रमण, तीव्र राग, अनाचार आदि नपुंसकवेदके आस्रव के कारण हैं।

नरकायुके आस्रवके कारण—

**बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥**

§ १–३. बहु अर्थात् बहुसंख्यक और बहुपरिमाणवाला, आरम्भ–हिंसकव्यापार। 'यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकारका ममत्व परिणाम परिग्रह है। बहुत आरम्भ और बहुपरिग्रह नरक आयुके आस्रवके कारण हैं। तात्पर्य यह कि–परिग्रहलोलुप व्यक्ति तीव्रतर-कषायपरिणामवाले होते हैं और हिंसामें तत्पर होते हैं यह बहुत बार देखा गया है और सुना गया है। वे तीव्र अनुशयसे लोहेके तपे हुए गोलेकी तरह कषायज्वालाओंसे सन्तप्त हो क्रूरकर्मा होते हैं और नरक आयुका आस्रव करते हैं।

मिथ्यादर्शन, अशिष्ट आचरण, उत्कृष्ट मान, पत्थरकी रेखाके समान क्रोध, तीव्र लोभ, अनुकम्पारहित परिणाम, परपरितापमें खुश होना, वध बन्धन आदिका अभिनिवेश, प्राण भूत सत्त्व और जीवोंकी सतत हिंसा करना, प्राणिवध, असत्यभाषणशीलता, परधनहरण, गुपचुप रागी चेष्टाएँ, मैथुनप्रवृत्ति, महाआरम्भ, इन्द्रियपरवशता, तीव्र कामभोगाभिलाष, निःशीलता, पापनिमित्तक भोजन, बद्धवैरता, क्रूरतापूर्वक रोना चिल्लाना, अनुग्रहरहित स्वभाव, यतिवर्गमें फूट पैदा करना, तीर्थंकरकी आसादना, कृष्णलेश्या रूप रौद्रपरिणाम, रौद्रभावपूर्वक मरण आदि नारक आयुके आस्रव हैं।

तिर्यञ्च आयुके आस्रव–

**माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥**

चारित्रमोहके उदयसे होनेवाला आत्माका कुटिल परिणाम तिर्यंच आयुके आस्रवका कारण है।

मिथ्यात्वयुक्त अधर्मका उपदेश, बहुआरम्भ, बहुपरिग्रह, अतिवंचना, कूटकर्म, पृथिवीकी रेखाके समान रोष आदि, निःशीलता, शब्द और संकेत आदिसे परवंचनका षड्यन्त्र, छलप्रपंचकी रुचि, भेद उत्पन्न करना, अनर्थोद्भावन, वर्ण रस गन्ध आदिको विकृत करनेकी अभिरुचि, जातिकुलशीलसंदूषण, विसंवादरुचि, मिथ्याजीवित्व, सद्गुणलोप, असद्गुणख्यापन, नील-कपोतलेश्यारूप परिणाम, आर्तध्यान, मरण समयमें आर्तरौद्रपरिणाम इत्यादि तिर्यंच आयुके आस्रवके कारण हैं।

मनुष्य आयुके आस्रव–

**अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥**

नरकायुके आस्रवके कारणोंसे विपरीत भाव अर्थात् अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं।

भद्रमिथ्यात्व, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव आर्जव परिणाम, सुख समाचार कहनेकी रुचि, रेतकी रेखाके समान क्रोध आदि, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, सन्तोषसुख, हिंसाविरक्ति, दुष्टकार्योंसे निवृत्ति, स्वागततत्परता, कम बोलना, प्रकृतिमधुरता,

लोकयात्रानुग्रह, औदासीन्यवृत्ति, ईर्षारहित परिणाम, अल्पसंक्लेश, गुरु देवता अतिथि पूजामें रुचि, दानशीलता, कपोतपीतलेश्यारूपपरिणाम, मरणकालमें धर्मध्यानपरिणति आदि मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं।

स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

§ १-२. उपदेशके बिना होनेवाला स्वाभाविक मृदुस्वभाव भी मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है। स्वभाव मार्दवका निर्देश पृथक् सूत्र बनाकर इसलिए किया है कि इस सूत्रका सम्बन्ध आगे बताये जानेवाले देवायुके आस्रवोंसे भी करना है।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

§ १-४. शील और व्रतोंसे रहितपना सभी आयुओंके आस्रवका कारण है। 'च' शब्दसे अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रहत्वका समुच्चय कर लेना चाहिए। 'सर्वेषाम्'से देवायुका ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु पीछे कही गई तीनों आयुओंका। यद्यपि पृथक् सूत्र बनानेसे ही बीती हुई आयुका बोध हो जाता है फिर भी 'सर्वेषाम्' पदका प्रयोजन यह है कि निःशीलत्व और निर्व्रतत्व भी देवायुके आस्रवके कारण होते हैं पर वह भोगभूमिया जीवोंकी अपेक्षा समझना चाहिए।

देवायुके आस्रवका कारण—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

सरागसंयम आदि शुभ परिणाम देवायुके आस्रवके कारण हैं। कल्याणमित्रसंसर्ग, आयतनसेवा, सद्धर्मश्रवण, स्वगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तपकी भावना, बहुश्रुतत्व, आगमपरता, कषायनिग्रह, पात्रदान, पीतपद्मलेश्यापरिणाम, मरणकालमें धर्मध्यानरूपपरिणति आदि सौधर्म आदि स्वर्गकी आयुके आस्रव हैं। अव्यक्त सामायिक, और सम्यग्दर्शनकी विराधना आदि भवनवासी आदिकी आयुके अथवा महर्धिक मनुष्यकी आयुके आस्रव कारण हैं। पंच अणुव्रतोंके धारक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच या मनुष्य सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं। यदि सम्यग्दर्शनकी विराधना हो जाय तो भवनवासी आदिमें उत्पन्न होते हैं। तत्त्वज्ञानसे रहित बालतप तपनेवाले अज्ञानी मन्द कषायके कारण कोई भवनवासी व्यन्तर आदि सहस्रार स्वर्गपर्यन्त उत्पन्न होते हैं, कोई मरकर मनुष्य भी होते हैं तथा तिर्यंच भी। अकामनिर्जरा, भूख प्यासका सहना, ब्रह्मचर्य, पृथ्वी पर सोना, मलधारण आदि परीषहोंसे खेदखिन्न न होना, गूढ़ पुरुषोंके बन्धनमें पड़नेपर भी नहीं घबड़ाना, दीर्घकालीन रोग होनेपर भी असंक्लिष्ट रहना, या पर्वतके शिखरसे झम्पापात करना, अनशन अग्निप्रवेश विषभक्षण आदिको धर्म माननेवाले कुतापस व्यन्तर और मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। जिनने व्रत या शीलोंको धारण नहीं किया किन्तु जो सदय हृदय हैं, जलरेखाके समान मन्दकषायी हैं तथा भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले व्यन्तर आदिमें उत्पन्न होते हैं।

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

सम्यक्त्व भी देवायुके आस्रवका कारण है।

§ १-२. पृथक् सूत्र बनानेसे ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व सौधर्मादि स्वर्गवासी देवोंकी आयुके आस्रवका कारण है। इस सूत्रसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सरागसंयम और संयमासंयम भी विमानवासियोंकी ही आयुके आस्रवके कारण होते हैं, भवनवासी आदिकी आयुके नहीं।

अशुभ नामकर्मके आस्रव करण—

योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

§ १–३. मनवचनकायकी कुटिलवृत्तिरूप योगवक्रता तथा अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति और प्रतिपादनरूप विसंवाद अशुभनामके आस्रवके कारण हैं। योगवक्रता आत्मगत है तथा विसंवादन परसे सम्बन्ध रखता है। कोई पुरुष सम्यक् अभ्युदय और निःश्रेयसकी कारणभूत क्रियाओंमें प्रवृत्ति कर रहा है उसे काय वचन और मन द्वारा 'ऐसा मत करो यह करो' आदि रूपसे कुटिल प्रवृत्ति कराना विसंवाद है।

§ ४. च शब्द अनुक्तके समुच्चयार्थ है। मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता, झूठे बांट तराजू आदि रखना, कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी गवाही, अंग उपांगोंका छेदन, वर्ण गन्ध रस स्पर्शका विपरीतपना, यन्त्र पिंजरा आदि बनाना, माया बाहुल्य, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह शौकीन वेष, रूपका घमंड, कठोर असभ्यभाषण, गाली बकना, व्यर्थ बकवास करना, वशीकरणप्रयोग, सौभाग्योपयोग, दूसरेमें कुतूहल उत्पन्न करना, भूषणोंमें रुचि, मंदिरके गन्ध माल्य धूप आदिका चुराना, लम्बी हँसी, ईंटोंका भट्टा लगाना, वनमें दावाग्नि जलाना, प्रतिमायतन-विनाश, आश्रय विनाश, आराम-उद्यान विनाश, तीव्र क्रोध मान माया लोभ और पापकर्मजीविका आदि भी अशुभ नामके आस्रवके कारण हैं।

शुभनामके आस्रवके कारण—

**तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥**

मन वचन कायकी सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं। च शब्दसे धार्मिक व्यक्तियोंके प्रति आदरभाव, संसार-भीरुता, अप्रमाद, निश्छलचारित्र आदि पूर्वोक्त अशुभ नामके आस्रवके विपरीत भावोंका समुच्चय कर लेना चाहिए।

अनन्त अनुपम अचिन्त्य विभूतिका कारण त्रैलोक्योत्कृष्ट तीर्थंकर नामके आस्रवके कारण—

**दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥**

दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवके कारण हैं।

§ १. जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गमें रुचि दर्शन विशुद्धि है। उसके आठ अंग हैं। इसलोक परलोक व्याधि मरण अगुप्ति अरक्षण और आकस्मिक इन सात भयोंसे मुक्त रहना, अथवा जिनोपदिष्ट तत्त्वमें 'यह है या नहीं' इस प्रकारकी शंका नहीं करना निःशंकित अंग है। धर्मको धारण करके इस लोक और परलोकमें विषयोपभोगकी आकांक्षा नहीं करना और अन्य मिथ्यादृष्टिसम्बन्धी आंकाक्षाओंका निरास करना निष्कांक्षित अंग है। शरीरको अत्यन्त अशुचि मानकर उसमें शुचित्वके मिथ्या संकल्पको छोड़ देना, अथवा अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनमें 'यह अयुक्त है, घोर कष्ट है, यह सब नहीं बनता' आदि प्रकारकी अशुभ भावनाओंसे चित्तविचिकित्सा नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। बहुत प्रकारके मिथ्यानयवादियोंके दर्शनोंमें तत्त्वबुद्धि और युक्तियुक्तता छोड़कर मोहरहित होना अमूढदृष्टिता है। उत्तम क्षमा आदि धर्मभावनाओंसे आत्माकी धर्मवृद्धि करना उपबृंहण है। कषायोदय आदिसे धर्मभ्रष्ट होनेके कारण उपस्थित होनेपर भी अपने धर्मसे परिच्युत नहीं होना, उसका बराबर पालन करना स्थितिकरण है। जिनप्रणीत धर्मामृतसे नित्य अनुराग करना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयके प्रभावसे आत्माको प्रकाशमान करना प्रभावना है।

§ २. सम्यग्ज्ञान आदि मोक्षके साधनोंमें तथा ज्ञानके निमित्त गुरु आदिमें योग्य रीति से सत्कार आदर आदि करना तथा कषायकी निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है।

§ ३. अहिंसा आदि व्रत तथा उनके परिपालनके लिए क्रोधवर्जन आदि शीलोंमें काय, वचन और मनकी निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार है।

§ ४. जीवादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे जाननेवाले मति आदि पाँच ज्ञान हैं। अज्ञाननिवृत्ति इनका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित फल हैं। इस ज्ञानकी भावनामें सदा तत्पर रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है।

§ ५. शारीर मानस आदि अनेक प्रकारके प्रियवियोग अप्रियसंयोग इष्टका अलाभ आदिरूप सांसारिक दुःखोंसे नित्यभीरुता संवेग है।

§ ६. परकी प्रीतिके लिए अपनी वस्तुको देना त्याग है। आहार देनेसे पात्रको उस दिन प्रीति होती है। अभयदानसे उस भवका दुःख छूटता है, अतः पात्रको सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्र भवोंके दुःखसे छुटकारा दिलानेवाला है। ये तीनों दान विधिपूर्वक दिये गये त्याग कहलाते हैं।

§ ७. अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है। यह शरीर दुःखका कारण है, अशुचि है, कितना भी भोग भोगो पर इसकी तृप्ति नहीं होती। यह अशुचि होकर भी शीलव्रत आदि गुणोंके संचयमें आत्माकी सहायता करता है यह विचारकर विषयविरक्त हो आत्मकार्यके प्रति शरीरका नौकरकी तरह उपयोग कर लेना उचित है। अतः मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है।

§ ८. जैसे भण्डारमें आग लगनेपर वह प्रयत्नपूर्वक शान्त की जाती है उसी तरह अनेक व्रतशीलोंसे समृद्ध मुनिगणके तप आदिमें यदि कोई विघ्न उपस्थित हो जाय तो उसका निवारण करना साधुसमाधि है।

§ ९. गुणवान् साधुओंपर आये हुए कष्ट रोग आदिको निर्दोष विधिसे हटा देना, उनकी सेवा आदि करना बहु उपकारी वैयावृत्त्य है।

§ १०. केवलज्ञान श्रुतज्ञान आदि दिव्यनेत्रधारी परहितप्रवण और स्वसमयविस्तारनिश्चयज्ञ अर्हन्त आचार्य और बहुश्रुतोंमें तथा श्रुतदेवताके प्रसादसे कठिनतासे प्राप्त होनेवाले मोक्षमहलकी सीढ़ीरूप प्रवचनमें भावविशुद्धिपूर्वक अनुराग करना अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचनभक्ति है।

§ ११. सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओंको यथाकाल विना नागा किये स्वाभाविक क्रमसे करते रहना आवश्यकापरिहाणि है। सर्व सावद्ययोगोंका त्याग करना, चित्तको एकाग्र रूपसे ज्ञानमें लगाना सामायिक है। तीर्थंकरोंके गुणोंका कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक खड्गासन या पद्मासनसे चार वार शिरोनति और बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है। कृत दोषोंकी निवृत्ति प्रतिक्रमण है। भविष्यमें दोष न होने देनेके लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। अमुक समयतक शरीरसे ममत्वका त्याग करना कायोत्सर्ग है।

१२. परसमयरूपी जुगुनुओंके प्रकाशको पराभूत करनेवाले ज्ञानरविकी प्रभासे, इन्द्रके सिंहासनको कँपा देनेवाले महोपवास आदि सम्यक् तपोंसे तथा भव्यजनरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यप्रभा समान जिनपूजाके द्वारा सद्धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।

§ १३. जैसे गाय अपने बछड़ेसे अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जनको

देखकर स्नेहसे ओतप्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो धार्मिकोंमें स्नेह है वही तो प्रवचन स्नेह है। ये सोलहकारण भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण होती हैं।

नीचगोत्रके आस्रवके कारण—

**परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥**

परनिन्दा आत्मप्रशंसा परके विद्यमान गुणका ढँकना और अपनेमें अविद्यमान गुणोंका ढिंढोरा पीटना ये नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

§ १-६. तथ्य या अतथ्य दोषके उद्भावनकी इच्छा या दोष प्रकट करनेकी चि वृत्ति निन्दा है। सद्भूत या असद्भूत गुणके प्रकाशनका अभिप्राय प्रशंसा है। प्रतिबन्धक कारणोंसे वस्तुका प्रकट नहीं होना छादन है और प्रतिबन्धकके हट जानेपर प्रकाशमें आ जाना उद्भावन है। जो गूयते अर्थात् शब्दव्यवहारमें आवे वह गोत्र है। जिससे आत्मा नीच व्यवहारमें आवे वह नीचगोत्र है।

जाति कुल बल रूप श्रुत आज्ञा ऐश्वर्य और तपका मद करना, परकी अवज्ञा, दूसरेकी हँसी करना, परनिन्दाका स्वभाव, धार्मिकजनपरिहास, आत्मोत्कर्ष, परयशका विलोप, मिथ्याकीर्ति अर्जन करना, गुरुजनोंका परिभव तिरस्कार दोषख्यापन विहेडन स्थानावमान भर्त्सन और गुणावसादन करना, तथा अंजलि-स्तुति-अभिवादन-अभ्युत्थान आदि न करना, तीर्थंकरोंपर आक्षेप करना आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

उच्चगोत्रके आस्रवके कारण—

**तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥**

§ १-४. तत्-नीचगोत्र, विपर्यय-उलटे। अर्थात् आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, परसद्गुणोद्भावन आत्मअसद्गुणच्छादन, गुणी पुरुषोंके प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति और ज्ञानादि होनेपर भी तत्कृत उत्सेक-अहंकार न होना ये सब उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं। जाति कुल बल रूप वीर्य ज्ञान ऐश्वर्य और तप आदिकी विशेषता होनेपर भी अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं आने देना, परका तिरस्कार न करना, अनौद्धत्य, असूया उपहास बदनामी आदि न करना, मान नहीं करना, साधर्मी व्यक्तियोंका सन्मान, उन्हें अभ्युत्थान अंजलि नमस्कार आदि करना, इस युगमें अन्य जनोंमें न पाये जानेवाले ज्ञान आदि गुणोंके होनेपर भी उनका रंचमात्र अहंकार नहीं करना, निरहंकार नम्रवृत्ति, भस्मसे ढँकी हुई अग्निकी तरह अपने माहात्म्यका ढिंढोरा नहीं पीटना और धर्मसाधनोंमें अत्यन्त आदर बुद्धि आदि भी उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

अन्तरायके आस्रवके कारण—

**विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥**

§ १. दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमें विघात करना-विघ्न उपस्थित करना अन्तरायके आस्रवके कारण है।

ज्ञानप्रतिषेध, सत्कारोपघात, दान लाभ भोग उपभोग वीर्य स्नान अनुलेपन गन्ध माल्य आच्छादन भूषण शयन आसन भक्ष्य भोज्य पेय लेह्य और परिभोग आदिमें विघ्न करना, विभवस्मृद्धिमें विस्मय करना, द्रव्यका त्याग नहीं करना, द्रव्यके उपयोगके समर्थनमें प्रमाद करना, देवताके लिए निवेदित किया या अनिवेदित किये गये द्रव्यका ग्रहण, निर्दोष उपकरणोंका त्याग, दूसरेकी शक्तिका अपहरण, धर्मव्यवच्छेद करना, कुशल चारित्रवाले तपस्वी गुरु तथा चैत्यकी पूजामें व्याघात करना, दीक्षित कृपण दीन अनाथको दिये जानेवाले वस्त्र पात्र आश्रय आदिमें विघ्न करना, पर निरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेद, कान नाक ओंठ आदिका काट देना प्राणिवध आदि अन्तरायकर्मके आस्रवके कारण हैं।

§ ३. 'क्षान्तिः शौचमिति' सूत्रसे प्रकारवाची 'इति' शब्दका सब जगह अनुवर्तन करना चाहिए। इससे अनुक्त प्रकारोंका संग्रह हो जाता है।

§ ४. जैसे शराबी मदमोहविभ्रमकरी सुराको पीकर उसके नशेमें अनेक विकारोंको प्राप्त होता है अथवा जैसे रोगी अपथ्य भोजन करके अनेक वात-पित्तादि विकारोंसे ग्रस्त होता है उसी तरह उक्त आस्रवविधिसे ग्रहण किये गये ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे यह आत्मा अनेक संसार-विकारोंको प्राप्त होता है।

§ ५-७. जैसे दीपक घटादिका प्रकाशक होता है उसी तरह शास्त्र भी पदार्थोंका प्रकाशक होता है। 'यह परिणमन या शक्ति अमुक फलको उत्पन्न करेगी' यह तो स्वभावव्याख्यान है। शास्त्र भी अतिशयज्ञानवाले युगपत् सर्वार्थावभासनसमर्थ प्रत्यक्षज्ञानी केवलीके द्वारा प्रणीत हैं, अतः प्रमाण हैं। इसीलिए शास्त्रमें वर्णित ज्ञानावरणादिके आस्रवके कारण आगमानुगृहीत हैं और ग्राह्य हैं। शास्त्र भी स्वभावको ही प्रकट करता है। 'शास्त्रसिद्ध भी पदार्थव्यवस्था होती है' इसमें किसी भी वादीको विवाद नहीं है। वैशेषिक पृथिव्यादि द्रव्योंका कठिन द्रव उष्ण और चलनस्वभाव, रूपादिगुणोंको उन उन इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत होनेका स्वभाव और उत्क्षेपण अवक्षेपण आदिका संयोग और विभागसे निरपेक्षकारण होनेका स्वभाव आगमसे ही स्वीकार करते हैं। सांख्य सत्त्व रज और तमगुणोंका प्रकाश प्रवृत्ति आदि स्वभाव मानते हैं। बौद्ध अविद्या आदिका संस्कार आदिको उत्पन्न करनेका प्रतिनियत स्वभाव स्वीकार करते हैं। अतः कोई उपालम्भ नहीं है।

§ ७. **प्रश्न**–आगममें ज्ञानावरणके बन्धकालमें दर्शनावरण आदिका भी बन्ध बताया है, अतः प्रदोष आदि ज्ञानावरणके ही आस्रवके कारण नहीं हो सकते, सभी कर्मोंके आस्रवके कारण होंगे ? **उत्तर**–प्रदोष आदि कारणोंसे ज्ञानावरण आदि उन कर्मोंमें विशेष अनुभाग पड़ता है। प्रदोष आदिसे प्रदेशबन्ध तो सबका होता है पर अनुभाग उन्हीं उन्हीं ज्ञानावरणादिमें पड़ता है। अतः अनुभागविशेषसे प्रदोष आदिका आस्रवभेद हो जाता है।

छठाँ अध्याय समाप्त

---

# सातवाँ अध्याय

आस्रवके विचारमें कहा गया पुण्यास्रव मोक्षमें परम्पराकारण होनेसे इस समय व्याख्येय है। अतः पुण्यास्रवके कारणभूत व्रतोंके लक्षण संख्या आदिका वर्णन करते हैं। अथवा, 'भूतव्रत्यनुकम्पा' सूत्रमें व्रती शब्द आया है, अतः उन व्रतोंका वर्णन करते हैं—

**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥**

हिंसा असत्य चोरी कुशील और परिग्रहसे विरक्त होना व्रत है।

§ १-३ हिंसादिके लक्षण आगे कहेंगे। चारित्रमोहके उपशम क्षय या क्षयोपशमसे औपशमिक आदि चारित्रोंकी प्रकटतामें जो विरक्ति होती है उसे विरति कहते हैं। बुद्धिपूर्वक परिणामोंसे 'यह ऐसा ही करना है' इस प्रकारके नियमको व्रत कहते हैं। व्रतमें किसी अन्य कार्यसे निवृत्ति ही मुख्य होती है।

§ ४-५. 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः' यह अपादानार्थक पञ्चमी विभक्ति है। यहाँ बुद्धिके अपायमें ध्रुवत्वविवक्षा करके जैसे 'ग्रामाद् आगच्छति' में ग्रामको ध्रुव मानकर पञ्चमी विभक्ति बनती है वैसे ही पञ्चमी बन जाती है। जैसे 'धर्माद् विरमति' यहाँ कोई हतबुद्धि 'धर्म बड़ा दुष्कर है, इसका फल श्रद्धामात्रगम्य है' यह विचार कर अपनी धर्मबुद्धिसे विरक्त होता है उसी तरह कोई विवेकी पुरुष 'हिंसादि परिणाम पापके कारण हैं, पापीको इसी लोकमें राजदंड आदि मिलते हैं, परलोकमें भी अनेकविध दुःख उठाने पड़ते हैं' यह विचारकर हिंसाबुद्धिसे विरक्त होता है। अतः बुद्धिकी दृष्टिसे ध्रुवत्व विवक्षामें पञ्चमी विभक्ति बन जाती है। अतः 'हिंसादि परिणाम क्षणिक है इस कारण उससे अपादान नहीं बनता। यदि हिंसापरिणत नित्य आत्माको हिंसा मानकर उससे विरक्ति करते हैं तो नित्य आत्मासे विरति हो नहीं सकती' यह आशंका निर्मूल हो जाती है।

§ ६. अहिंसा सभी व्रतोंमें प्रधान है, अतः उसका सर्वप्रथम कथन किया है। जैसे धानके खेतमें चारों ओर वारी लगा दी जाती है और उसी तरह अन्य सभी व्रत चारों ओरसे अहिंसा रूपी धानकी रक्षा करने वाले हैं

§ ७-९. विरति शब्दका सम्बन्ध 'हिंसाविरति अनृतविरति' आदि रूपसे प्रत्येकसे कर लेना चाहिए। यद्यपि गुड़ चावल आदि पकने योग्य पदार्थोंके भेदसे जैसे पाकमें भेद होता है उसी तरह त्याज्य हिंसा अनृत आदिके भेदसे 'विरति' भी अनेक प्रकारकी हो सकती है किन्तु विरतिसामान्यकी दृष्टिसे यहाँ एकवचनका प्रयोग किया है। विषयभेदसे भेद यहाँ विवक्षित नहीं है। इसीलिए सर्वसावद्यनिवृत्तिरूप सामान्य सामायिकव्रतकी अपेक्षा एक व्रत है और भेदाधीन छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच व्रत होते हैं।

§ १०-१४. प्रश्न—इन अहिंसा आदि व्रतोंको आस्रवके प्रकरणमें न कहकर संवरके प्रकरणमें कहना चाहिए; क्योंकि संवरके कारणभूत भाव काय विनय ईर्यापथ भैक्ष्य शयन आसन प्रतिष्ठापन और वाक्य इन आठ शुद्धिरूप संयमधर्ममें तथा सत्यादिमें इनका अन्तर्भाव हो जाता है। यदि प्रपञ्चके लिए इनका निरूपण करना है तो वहीं करना चाहिए, यहाँ व्यर्थ ही प्रकरण बढ़ानेसे क्या लाभ? उत्तर—व्रत संवररूप नहीं है; क्योंकि इनमें परिस्पन्द-प्रवृत्ति है। असत्य चोरी आदिसे विरक्त होकर सत्य अचौर्य आदि प्रवृत्ति देखी जाती है। हाँ, गुप्ति आदि संवरके लिए ये अहिंसादिव्रत सहायक होते हैं। व्रतोंका संस्कार रखनेवाला साधु सुखपूर्वक

संवर करता है। अतः संवरकी भूमिकारूप इन व्रतोंका पुण्यास्रवका हेतु होनेसे यहाँ ही निर्देश करना उचित है।

§ १५-२०. यद्यपि रात्रिभोजनविरति छठवें अणुव्रतके रूपमें निर्दिष्ट मिलता है, फिर भी अहिंसा व्रतकी 'आलोकितपानभोजन' नामक भावनामें अन्तर्भूत होनेसे उसका पृथक् निर्देश नहीं किया है। प्रश्न—यदि आलोकितपानभोजनकी विवक्षा है तो यह प्रदीप और चन्द्र आदिके प्रकाशमें रात्रिभोजन करने पर भी सिद्ध हो सकती है? उत्तर—इसमें अनेक आरम्भ दोष हैं। दीपकके जलानेमें और अग्नि आदिके करने करानेमें अनेक दोष होते हैं। दूसरेके द्वारा जलाये हुए प्रदीपके प्रकाशमें स्वयंका आरम्भ न भी हो तो भी गमन आदि नहीं हो सकते। 'ज्ञान सूर्य तथा इन्द्रियोंसे मार्गकी परीक्षा करके चार हाथ आगे देखकर यतिको योग्य देशकालमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए' यह आचारशास्त्रका उपदेश है। यह विधि रात्रिमें नहीं बनती। दिनको भिक्षा लाकर रात्रिमें भोजन करना भी उचित नहीं है; क्योंकि इसमें प्रदीप आदिके समारम्भके दोष बने ही रहते हैं। 'लाकर के भोजन करना' यह संयमका साधन भी नहीं है। निष्परिग्रही पाणिपुटभोजी साधुको भिक्षाका लाना भी संभव नहीं है। पात्र रखनेपर अनेक दोष देखे जाते हैं—अतिदीनवृत्ति आ जाती है और शीघ्र पूर्णनिवृत्तिके परिणाम नहीं हो सकते क्योंकि सर्व-सावद्यनिवृत्तिकालमें ही पात्रग्रहण करनेसे पात्रनिवृत्तिके परिणाम कैसे हो सकेंगे? पात्रसे लाकर परीक्षा करके भोजन करनेमें भी योनिप्राभृतज्ञ साधुको संयोग विभाग आदिसे होनेवाले गुणदोषोंका विचार करना पड़ता है, लानेमें दोष है, छोड़नेमें भी अनेक दोष होते है। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशमें स्फुट रूपसे पदार्थ दिख जाते हैं, तथा भूमि दाता गमन अन्नपान आदि गिरे या रखे हुए सब साफ साफ दिखाई देते हैं उस प्रकार चन्द्र आदिके प्रकाशमें नहीं दिखते। अतः दिनमें भोजन करना ही निर्दोष है।

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

§ १-२. देश अर्थात् एक भाग, सर्व—संपूर्णरूप। हिंसादिसे एकदेश विरक्त होना अणुव्रत है और सम्पूर्णरूपसे विरक्ति महाव्रत है। जो व्यक्ति 'हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, चोरी नहीं करूँगा, परस्त्रीगमन नहीं करूँगा, परिग्रह नहीं रखूँगा' इन अभिप्रायोंकी रक्षा करनेमें असमर्थ है उसे इन व्रतोंकी दृढ़ताके लिए ये भावनाएँ पालनी चाहिए—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

इन व्रतोंकी स्थिरताके लिए पाँच-पाँच भावनाएँ होतीं हैं।

§ १. वीर्यान्तरायक्षयोपशम चारित्रमोहोपशम-क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मोदयकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा जो भाई जातीं हैं—जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावना हैं।

§ २-३. प्रश्न—'पञ्च पञ्च' की जगह वीप्सा अर्थमें शस् प्रत्यय करके 'पञ्चशः' यह लघुनिर्देश करना चाहिए। 'भावयेत्' इस क्रियाका अध्याहार करनेसे यहाँ कारकका प्रकरण भी है ही। उत्तर—शस् प्रत्यय विकल्पसे होता है। फिर, क्रियाका अध्याहार करनेमें प्रतिपत्तिगौरव होता है, अतः स्पष्ट अर्थबोध करानेके लिए 'पञ्च पञ्च' यही विशद निर्देश उपयुक्त है।

अहिंसाव्रतकी भावनाएँ—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥

वचनगुप्ति मनोगुप्ति ईर्यासमिति आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥

क्रोधत्याग लोभत्याग भयत्याग हास्यत्याग और अनुवीचिभाषण-विचारपूर्वक बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

पुण्यास्रवका प्रकरण होनेसे अप्रशस्त क्रिया करनेवाले पापीके भाषणको अनुवीचिभाषण नहीं कह सकते।

**शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥**

शून्यागार-पर्वतकी गुफा वृक्षकी खोह आदिमें निवास करना, परके द्वारा छोड़े गये मकान आदिमें रहना, दूसरेको उसमें आनेसे नहीं रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षाचर्या, 'यह मेरा और यह तेरा' इस प्रकार साधर्मीजनोंसे विसंवाद नहीं करना, ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

**स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरस-**
**स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥**

स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जन, उनके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग, पूर्वभुक्त विषयोंके स्मरणका त्याग, उन्मादक भोजन आदिका त्याग और शरीर-संस्कारका त्याग ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

**मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥**

पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें राग और अनिष्ट विषयोंमें द्वेषका त्याग करना अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

हिंसादि पापोंके सम्बन्धमें ये विचार करने चाहिए—

**हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥**

हिंसादिक इस लोक और परलोकमें अपाय और अवद्य करनेवाले हैं।

§ १-२. अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनोंका नाशक अनर्थ अपाय है। अथवा इहलोकभय परलोकभय आदि सात प्रकारके भय अपाय हैं। अवद्य अर्थात् गर्ह्य निन्दनीय। हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत उसके वैरी रहते हैं, यहीं वह बन्ध क्लेश आदिको पाता है और मरकर अशुभगतिमें जाता है। लोकमें निन्दनीय भी होता है। अतः हिंसासे विरक्त होना कल्याणकारी है। मिथ्याभाषीका कोई विश्वास नहीं करता। वह यहीं जिह्वाछेद आदि दंड भुगतता है। जिनके सम्बन्धमें झूठ बोलता है वे उसके वैरी हो जाते हैं। अतः उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आतीं हैं। मरकर अशुभगतिमें जाता है निन्दनीय भी होता है। अतः असत्य बोलनेसे विरक्त होना कल्याणकारी है। चोरका सब तिरस्कार करते हैं। यहीं मार-पीट वध-बन्धन हाथ-पैर कान-नाक आदिका छेदन और सर्वस्वहरण आदि दंडोंको भोगता है। मरकर अशुभ गतिमें जाता है और निन्दित भी होता है। अतः चोरीसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। कुशीलसेवी मदोन्मत्त हाथीकी तरह हथिनीके पीछे घूमता हुआ विवश होता है और वध-बन्धन क्लेश आदिका अनुभव करता है। मोहाभिभूत होनेसे कार्याकार्यके विवेकसे वंचित होकर किसी शुभकर्मके करनेके लायक नहीं रहता। परस्त्रीगामी तो यहीं लिंगच्छेद वध बन्धन और सर्वस्वहरण आदि दंड भोगते हैं। मरकर अशुभगतिमें जाते हैं, निन्दित भी होते हैं अतः अब्रह्मसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। परिग्रही पुरुष मांसखण्डको लिये हुए पक्षीकी तरह अन्य पक्षियोंके द्वारा झपटा जाता है। चोरोंके द्वारा तिरस्कृत होता है। परिग्रहके अर्जन रक्षण और विनाशमें अनेक संक्लेशोंको पाता है। इन्धनसे अग्निकी तरह इसकी परिग्रहसे तृप्ति नहीं होती। लोभाभिभूत होनेसे कार्य-अकार्यसे अनभिज्ञ बन जाता है। मरकर अशुभगतिमें जाता है। 'लोभी है' इत्यादि

रूपसे निन्दनीय होता है। अतः परिग्रहसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। इस तरह हिंसादिकमें अपाय और अवद्यकी भावना करनी चाहिए।

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

असातावेदनीयके उदयसे होनेवाला परिताप दुःख है। ये हिंसादि दुःखरूप ही हैं।

§ १-४. जैसे प्राणके कारण अन्नको प्राण कह देते हैं उसी तरह दुःखके कारण हिंसादिमें कार्यभूत दुःखका उपचार करके उन्हें दुःख कह देते हैं। अथवा, जैसे धनसे अन्न आता है और अन्नसे प्राणस्थिति होती है अतः कारणके कारणमें कार्यका उपचार करके धनको प्राण कहते हैं उसी तरह हिंसादि असातावेदनीयके कारण हैं और असाता दुःखका कारण है, अतः हिंसादिको भी दुःख कहते हैं। कहा भी है–"धन मनुष्यका बाहिर घूमनेवाला प्राण है। जो किसीका धन हरता है वह उसके प्राण ही हरता है।" जैसे मुझे वध या परपीडा असह्य है उसी तरह सभी प्राणियोंको। जैसे मुझे मिथ्या बात या कटुक मर्मच्छेदी वचन सुनकर अतितीव्र अभूतपूर्व दुःख होता है उसी तरह सभी जीवोंको। जैसे मेरी चीज या धन चोरी जानेपर अपूर्व दुःख होता है उसी तरह अन्यको भी। जैसे कोई मेरी स्त्री आदिका परिभव करे तो तीव्र मानस पीड़ा होती है उसी तरह अन्यको भी। जिस तरह मुझे परिग्रह न प्राप्त हो या प्राप्त होकर नष्ट हो जाय तो आकांक्षा रक्षा या शोक आदिसे दुःख होता है उसी तरह सभी प्राणियोंको। इस तरह अपनी आत्माकी तरह परको समझकर हिंसादिसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। परांगना संस्पर्शमें सुखकी कल्पना निरी मूर्खता है क्योंकि वह सुख नहीं है, वह तो वेदनाका प्रतिकार है। जैसे खुजलीका रोगी अपनी खुजाल मिटानेके लिए नख या पत्थर आदिसे खुजाता है, फिर भी खुजली शान्त नहीं होती, लोहूलुहान होता है और दुःखी होता है, उस खुजानेके दुःखको भी थोड़ी देरके लिए खाज बन्द हो जानेके कारण सुख मान बैठता है उसी तरह मैथुनसेवी मोहवश दुःखको भी सुख मानता है। ये सब हिंसादि दुःखके कारण होनेसे दुःखरूप ही हैं।

अन्य भावनाएँ—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥

प्राणिमात्रमें मैत्री, गुणिजनोंमें प्रमोद, दुःखी जीवोंमें करुणा तथा विरुद्धचित्तवालोंमें माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए।

§ १-४. मन वचन काय कृतकारित और अनुमोदन हर प्रकारसे दूसरेको दुःख न होने देनेकी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। मुखकी प्रसन्नता नेत्रका आह्लाद रोमाञ्च स्तुति सद्गुण-कीर्तन आदिके द्वारा प्रकट होनेवाली अन्तरंगकी भक्ति और राग प्रमोद है। शारीर और मानस दुःखोंसे पीड़ित दीन प्राणियोंके ऊपर अनुग्रहरूप भाव कारुण्य है। रागद्वेषपूर्वक किसी एकपक्षमें न पड़नेके भावको माध्यस्थ्य भाव–तटस्थभाव कहते हैं।

§ ५-७. अनादिकालीन अष्टविध कर्मबन्धनसे तीव्र दुःखकी कारणभूत चारों गतियों में जो दुख उठाते हैं वे सत्त्व हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुष गुणाधिक हैं। असाता वेदनीयके उदयसे जो शारीर या मानस दुःखोंसे संतप्त हैं वे क्लिश्यमान हैं। तत्त्वार्थोपदेश श्रवण और ग्रहणके जो पात्र होते हैं उन्हें विनेय कहते हैं। अविनेय अर्थात् विपरीत वृत्तिवाले। इनमें मैत्री आदि भावनाएँ रखनी चाहिए। 'मैं सब जीवोंके प्रति क्षमा भाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरी सब जीवोंसे प्रीति है किसीसे वैर नहीं है' इत्यादि प्रकारकी मैत्री भावना सब जीवोंमें करनी चाहिए। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राधिक गुणिजनों की वन्दना स्तुति सेवा आदिके द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिए। मोहाभिभूत, कुमति कुश्रुत और विभंग ज्ञान-युक्त विषयतृष्णासे जलनेवाले हिताहितमें विपरीत प्रवृत्ति करनेवाले विविध दुःखोंसे पीड़ित दीन

अनाथ कृपण बाल वृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवोंमें करुणाभाव रखने चाहिए। ग्रहण धारण विज्ञान और ऊहापोहसे रहित महामोहाभिभूत विपरीतदृष्टि और विरुद्धवृत्ति प्राणियोंमें माध्यस्थ्यकी भावना रखनी चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि ऐसे जीवोंमें वक्ताका हितोपदेश सफल नहीं हो सकता। इस तरह इन भावनाओंके द्वारा अहिंसादिव्रत परिपूर्ण होते हैं।

## जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

संवेग और वैराग्यके लिए संसार और शरीरके स्वभावका विचार करना चाहिए।

§ १-४. स्वभाव-असाधारण धर्म। विविध वेदनाके आकरभूत संसारसे भीरुता संवेग है। चारित्रमोहके उदयके अभावमें उसके उपशम क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाले विषय विरक्त परिणाम वैराग्य है। आदिमान् और अनादिपरिणामवाले द्रव्योंका समुदाय ही संसार है। इसकी रचना अनादिनिधन है। इसमें जीव नाना गतियोंमें अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगते हुए परिभ्रमण करते हैं, इसमें कुछ भी नियत नहीं है, जीवन जलबुद्बुदके समान चपल है, बिजली और मेघ आदिके समान भोग-सम्पत्तियाँ क्षणभंगुर हैं, इत्यादि जगत्के स्वरूपकी भावना करनी चाहिए। शरीर अनित्य है, दुःख हेतु है, अशुचि है, निःसार है इत्यादि भावनाओंसे संवेग उत्पन्न होता है। इस तरह आरम्भ और परिग्रहमें दोष देखनेसे धर्ममें धार्मिकोंमें धर्मश्रवणमें और धार्मिकोंके दर्शन में आदरभाव और मनस्तुष्टि आदि होते हैं। आगे आगे गुणोंकी प्राप्तिमें श्रद्धा होती है और शरीर भोगोपभोग तथा संसारसे वैराग्य उत्पन्न होता है। इस तरह भावनाओंसे भावितचेता व्यक्ति व्रतोंके परिपालनमें दृढ़ होता है।

ये सभी भावनाएँ नित्यानित्यात्मक आत्मामें ही हो सकती हैं। सर्वथा नित्यपक्षमें विक्रिया न होनेसे भावनाएँ नहीं हो सकतीं। यदि विक्रिया मानते हैं तो नित्यता नहीं रहती। सर्वथा अनित्यपक्षमें अनेकक्षणमें रहनेवाला एक पदार्थ नहीं है तथा अनेक अर्थको विषय करनेवाला एक ज्ञान नहीं है, अतः स्मरण नहीं हो सकता और इसीलिए भावना भी नहीं हो सकती। अनेकान्तवादमें तो द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे नित्य और उभयनिमित्तजन्य उत्पादविनाशरूप पर्यायोंकी दृष्टिसे अनित्यताको प्राप्त आत्मद्रव्यमें परिणमन हो सकता है। अतः भावनाएँ बन सकती हैं।

हिंसाका लक्षण—

## प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

प्रमत्तयोगसे प्राणव्यपरोपणको हिंसा कहते हैं।

§ १-५. इन्द्रियोंके प्रचारविशेषका निश्चय न करके प्रवृत्ति करनेवाला प्रमत्त है। जैसे मदिरा पीनेवाला मदोन्मत्त होकर कार्याकार्य और वाच्यावाच्यसे अनभिज्ञ रहता है उसी तरह प्रमत्त जीवस्थान जीवोत्पत्तिस्थान और जीवाश्रयस्थान आदिको नहीं जानकर कषायोदयसे हिंसा व्यापारोंको ही करता रहता है और सामान्यतया अहिंसामें प्रयत्नशील नहीं होता। अथवा, चार विकथा चार कषाय पाँच इन्द्रियाँ निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादोंसे युक्त प्रमत्त है। योग-सम्बन्ध। यहाँ आत्माका परिणाम ही कर्ता है अतः जो प्रमादरूपसे परिणत होता है वह परिणाम प्रमत्त कहलाता है, उस परिणामके योग-सम्बन्धसे। अथवा योग अर्थात् मन वचन कायकी क्रिया। प्रमत्त-प्रमादपरिणत व्यक्तिके योग-व्यापारको प्रमत्तयोग कहते हैं।

§ ६-११. व्यपरोपण-वियोग करना। प्राणोंके वियोग करनेसे प्राणीकी हिंसा होती है अतः प्राणका ग्रहण किया है, क्योंकि स्वतः प्राणी तो निरवयव है उसका क्या वियोग होगा? प्राण आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं है, जिससे प्राणवियोग होनेपर भी हिंसा न मानी जाय किन्तु प्राणवियोग होनेपर आत्माको ही दुःख होता है अतः हिंसा है और अधर्म है। 'शरीरी आत्मा

प्राणोंसे भिन्न है अतः उसके वियोगमें भी आत्माको दुःख नहीं होना चाहिए' यह शंका ठीक नहीं है ; क्योंकि जब सर्वथा भिन्न पुत्र कलत्र आदिके वियोगमें आत्माको परिताप होता है तब कथंचित् भिन्न प्राणोंके वियोगमें तो होना ही चाहिए। यद्यपि शरीर और शरीरीमें लक्षणभेदसे नानात्व है फिर भी बन्धके प्रति दोनों एक हैं अतः शरीरवियोगपूर्वक होनेवाला दुःख आत्माको ही होता है, अतः हिंसा और अधर्म है । हाँ, जो आत्माको निष्क्रिय नित्य शुद्ध और सर्वगत मानते हैं उनके यहाँ शरीरसे बन्ध नहीं हो सकेगा और न दुःख ही होगा अतः उनके मतमें हिंसा नहीं हो सकती ।

§ १२. प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण ये दोनों विशेषण यह सूचना करते हैं कि दोनोंके होनेपर हिंसा होती है, एकके भी अभावमें हिंसा नहीं होती । तात्पर्य यह कि जब प्रमत्तयोग नहीं होता, केवल प्राणव्यपरोपण है तो वह हिंसा नहीं कही जायगी । कहा भी है—

"प्राणोंसे वियोग करता हुआ भी ( अप्रमत्त ) वधसे लिप्त नहीं होता"

"ईर्यासमितिपूर्वक गमन करनेवाले साधुके पैरके नीचे यदि कोई जीव आ जाय और मर जाय तो भी उसे तन्निमित्तक सूक्ष्म भी बन्ध नहीं होता । अध्यात्मप्रमाणसे तो मूर्च्छा-ममत्व-भावको ही परिग्रह कहा है ।"

**प्रश्न**—आपने दोनों विशेषणोंको आवश्यक बताया है पर शास्त्रमें तो प्राणव्यपरोपण नहीं होनेपर भी केवल प्रमत्तयोगसे भी हिंसा बताई है ? कहा भी है—"जीव मरे या न मरे परन्तु सावधानीपूर्वक नहीं बरतनेवालेको हिंसा है ही । जो प्रयत्नशील है उसके द्वारा हिंसा भी हो जाय पर उसे बन्ध नहीं होता" ? उत्तर—जहाँ प्रमत्तयोग है वहाँ स्वयंके ज्ञान दर्शन आदि भावप्राणोंका वियोग होता ही है । अतः भावप्राणोंके वियोगकी अपेक्षा दोनों विशेषण सार्थक हैं । कहा भी है—"प्रमादवान् आत्मा अपने प्रमादी भावोंसे पहिले स्वयं अपनी हिंसा करता ही है, दूसरे प्राणीका पीछे वध हो या न भी हो ।" अतः यह दोष भी नहीं होता है कि – "जलमें थलमें और आकाशमें सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं । इस जन्तुमय जगत्में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ?" क्योंकि ज्ञानध्यानपरायण अप्रमत्त भिक्षुको मात्र प्राणवियोगसे हिंसा नहीं होती । जीव भी स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारके हैं, उनमें जो सूक्ष्म हैं वे तो न किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं अतः उनकी तो हिंसा होती नहीं है । जो स्थूल जीव हैं उनकी यथा-शक्ति रक्षा की जाती है । जिनकी हिंसाका रोकना शक्य है उसे प्रयत्नपूर्वक रोकनेवाले संयतके हिंसा कैसे हो सकती है ?

§ १३. यदि प्राणी-आत्माका सद्भाव न माना जाय तो कर्ताका अभाव होनेसे कुशल और अकुशल कर्मपूर्वक होनेवाले प्राणोंका भी अभाव हो जायगा । अतः कर्मभूत प्राणोंका सद्भाव ही कर्तृभूत प्राणीका सद्भाव सिद्ध करता है, जिस प्रकार कि सँडसी आदि हथियारोंसे लुहारकी सत्ता सिद्ध होती है । एक आत्माकी सत्ता न मानने पर रूपण अनुभवन उपलम्भन निमित्तग्रहण और संस्करण आदि भिन्नलक्षणवाले रूप वेदना विज्ञान संज्ञा और संस्कार नामक पाँचों स्कन्ध जब परस्परोपकारके प्रति उत्सुकतासे रहित हैं और क्षणिक होनेसे अपना ही कार्य करनेमें अस-मर्थ हैं तो वे हिंसाव्यापारमें समर्थ नहीं हो सकते । स्मृति अभिप्राय और संकल्प रूप चित्त जब भिन्नाधिकरण हैं, एक कर्तारूपसे उनका प्रतिसन्धान नहीं होता, तब हिंसा आदि व्यापार कैसे हो सकेंगे ? उत्पत्तिके बाद ही तुरंत विनाश माननेपर तथा विनाशको निर्हेतुक माननेसे प्राणविनाशरूप हिंसाका भी कोई हेतु नहीं हो सकता, जब और हिंसक नहीं होगा तब किसीको क्यों हिंसाका फल लगेगा ? यदि हिंसाके अकारणको भी हिंसाका फल मिलता है तो जगत्में कोई अहिंसक ही नहीं रह सकेगा । 'भिन्न सन्तान-प्राणवियुक्तरूप क्षणोंको उत्पन्न करनेवाला हिंसक है' यह कल्पना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा असत्की उत्पत्तिका कोई

कारण ही नहीं हो सकता। यदि असत्की उत्पत्तिका हेतु माना जाता है तो सत्के विनाशका भी कारण मानना चाहिए। तात्पर्य यह कि विनाशका निर्हेतुक मानना खंडित हो जाता है।

असत्यका लक्षण—

## असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

असत्य कथन अनृत है।

§ १-४. 'सत्' शब्द प्रशंसावाची है, अतः 'न सत् असत्' का अप्रशस्त अर्थ होता है, शून्य अर्थ नहीं। अभिधान-कथन। अप्रशस्त अर्थका कहना। ऋत-सत्य और अनृत असत्य है। विद्यमान पदार्थोंके अस्तित्वमें कोई विघ्न उत्पन्न न करनेके कारण 'सत्सु साधु सत्यम्' यह व्युत्पत्ति भी सत्यकी हो सकती है।

§ ५. यदि 'मिथ्या अनृतम्' ऐसा लघुसूत्र बनाते तो पूरे अर्थका बोध नहीं होता, क्योंकि मिथ्या शब्द विपरीतार्थक है। अतः विद्यमानका लोप तथा अविद्यमानके उद्भावन करने वाले 'आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है, श्यामतंडुल बराबर आत्मा है, अंगूठेकी पौर बराबर आत्मा है, आत्मा सर्वगत है, निष्क्रिय है' इत्यादि वचन ही मिथ्या होनेसे असत्य कहे जाँयगे, किन्तु जो विद्यमान अर्थको भी कहकर प्राणिपीड़ा करनेवाले अप्रशस्त वचन हैं वे असत्य-कोटिमें नहीं आँयगे। 'असत्' कहनेसे जितने अप्रशस्त अर्थवाची हैं, वे सभी अनृत कहे जाँयगे। इससे जो विपरीतार्थवचन प्राणिपीड़ाकारी हैं वे भी अनृत ही हैं।

स्तेयका लक्षण—

## अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना स्तेय है।

§ १-६. प्रश्न—यदि अदत्तके आदानको चोरी कहते हैं तो आठ प्रकारके कर्म और नोकर्म तो बिना दिये हुए ही ग्रहण किये जाते हैं अतः उनका ग्रहण भी चोरी ही कहलायगा? उत्तर—जिनमें देनलेनका व्यवहार है उन सोना चाँदी आदि वस्तुओंके अदत्तादानको ही चोरी कहते हैं, कर्म-नोकर्मके ग्रहणको नहीं। यदि कर्मादान भी चोरी समझा जाय तो 'अदत्तादान' विशेषण निरर्थक हो जाता है। जिसमें 'दत्त' का प्रसंग है उसीका 'अदत्त' से निषेध किया जा सकता है। जैसे वस्त्र पात्र आदि हाथ आदिके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तथा दूसरोंको दिये जाते हैं, उस तरह कर्म नहीं। कर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उनका हाथ आदिके द्वारा देना-लेना नहीं हो सकता। स्व-परशरीर आहार तथा शब्दादि विषयोंमें राग-द्वेष रूप तीव्र विकल्प होनेसे कर्मबन्ध होता है। अतः स्वपरिणामोंके अधीन होनेसे इनका लेन-देन नहीं होता। जब गुप्ति समितिरूप संवरपरिणाम होते हैं तब आस्रवका निरोध हो जाता है—कर्मोंका आना रुक जाता है, अतः नित्य कर्मबन्धका प्रसंग नहीं है। अतः जहाँ लौकिक लेन-देन व्यवहार है वहीं अदत्तादानसे चोरीका प्रसंग होता है।

§ ७-९. प्रश्न—इन्द्रियोंके द्वारा शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेसे तथा नगरके दरवाजे आदिको बिना दिये हुए प्राप्त करनेसे साधुको चोरीका दोष लगना चाहिये। उत्तर—यत्नवान् अप्रमत्त और ज्ञानी साधुको शास्त्रदृष्टिसे आचरण करनेपर शब्दादि सुननेमें चोरीका दोष नहीं है; क्योंकि ये सब वस्तुएँ तो सबके लिए दी ही गई हैं, अदत्त नहीं हैं। इसीलिए साधु उन दरवाजोंमें प्रवेश नहीं करता जो सार्वजनिक नहीं हैं या बन्द हैं। 'वन्दना सामायिक आदि क्रियाओंके द्वारा पुण्यका संचय साधु बिना दिया हुआ ही करता है अतः उसको प्रशस्त चोर कहना चाहिए' यह आशंका भी निर्मूल है; क्योंकि यह पहिले कह दिया है कि जहाँ देन-लेनका व्यवहार होता है वहीं चोरी है। फिर, 'प्रमत्तयोग' का सम्बन्ध यहाँ होता है। अतः वन्दनादि

क्रियाओंको सावधानीपूर्वक करनेवाले साधुके प्रमत्तयोगकी सम्भावना ही नहीं है अतः चोरीका प्रसंग नहीं आता। तात्पर्य यह कि प्रमत्त व्यक्तिको परद्रव्यका आदान हो या न हो, पर प्राणिपीड़ाका कारण उपस्थित होनेके कारण पापास्रव होगा ही।

अब्रह्मका लक्षण—

## मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

मैथुनकर्मको अब्रह्म कहते हैं।

§ १–९. चारित्रमोहके उदयसे स्त्री और पुरुषका परस्पर शरीरसम्मिलन होनेपर सुखप्राप्तिकी इच्छासे होनेवाला रागपरिणाम मैथुन है। यद्यपि मैथुन शब्दसे इतना अर्थ नहीं निकलता फिर भी प्रसिद्धिवश इष्ट अर्थका अध्यवसाय कर लिया जाता है। मैथुन शब्द लोक और शास्त्र दोनोंमें स्त्री-पुरुषके संयोगसे होनेवाले रतिकर्ममें प्रसिद्ध है। व्याकरणमें भी 'अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम्' सूत्रमें मैथुनका यही अर्थ लिया गया है। जिस प्रकार स्त्री और पुरुषका रतिके समय शरीरसंयोग होनेपर स्पर्शसुख होता है उसी तरह एक व्यक्तिको भी हाथ आदिके संयोगसे स्पर्श सुखका भान होता है, अतः हस्तमैथुन भी मैथुन ही कहा जाता है। यह औपचारिक नहीं है अन्यथा इससे कर्मबन्ध नहीं हो सकेगा। यहाँ एक ही व्यक्ति चारित्रमोहोदयसे प्रकट हुए कामरूपी पिशाचके संपर्कसे दो हो गया है और दोके कर्मको मैथुन कहनेमें कोई बाधा नहीं है। अतः 'मिथुनस्य भावः' इस पक्षमें जो दो स्त्री-पुरुषरूप द्रव्योंकी सत्तामात्रको मैथुनत्वका प्रसंग दिया जाता है,वह उचित नहीं है; क्योंकि आभ्यन्तर चारित्रमोहोदयरूपी परिणामके अभावमें बाह्य कारण निरर्थक हैं। जैसे बठर चना आदिमें आभ्यन्तर पाकशक्ति न होनेसे बाह्य जल आदिका संयोग निष्फल है उसी तरह आभ्यन्तर चारित्रमोहोदयके स्त्रैण पौंस्नरूप रतिपरिणाम न होनेसे बाह्यमें रतिपरिणामरहित दो द्रव्योंके रहने पर भी मैथुनका व्यवहार नहीं होता। 'मिथुनस्य कर्म' इस पक्षमें दो पुरुषोंके द्वारा की जानेवाली बोझाढोनारूपक्रिया पाकक्रिया और नमस्कारादि क्रियाको भी मैथुनत्वका प्रसंग देना उचित नहीं है; क्योंकि कभी कभी दो पुरुषोंमें भी चारित्रमोहोदयसे मैथुनकर्म देखा जाता है। कहा भी है - "पुरुष पुरुषके साथ ही जो रतिकर्म करते हैं वह तीव्र रागकी ही चेष्टा है।" इसी तरह 'स्त्री और पुरुषके कर्म' पक्षमें पाकादि क्रिया और वन्दनादि क्रियामें मैथुनत्वका प्रसंग उचित नहीं है, क्योंकि स्त्री और पुरुषके संयोगसे ही होनेवाला कर्म यहाँ विवक्षित है, पाकादि क्रिया तो अन्यसे भी हो जाती है। फिर 'प्रमत्तयोग' की अनुवृत्ति यहाँ भी आती ही है। अतः चारित्रमोहके उदयसे प्रमत्त मिथुनके कर्मको ही मैथुन कह सकते हैं। नमस्करादि क्रियामें प्रमादका योग तथा चारित्रमोहका उदय नहीं है, अतः वह मैथुन नहीं कही जा सकती।

§ १०. जिसके परिपालनसे अहिंसादि गुणोंकी वृद्धि हो वह ब्रह्म है। अब्रह्मचारीके हिंसादि दोष पुष्ट होते हैं। मैथुनाभिलाषी व्यक्ति स्थावर और त्रसजीवोंका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, सचेतन और अचेतन परिग्रहका संग्रह भी करता है।

परिग्रहका लक्षण—

## मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

§ १–४. गाय भैंस मणि मुक्ता आदि चेतन अचेतन बाह्य परिग्रहोंके और राग द्वेष आदि आभ्यन्तर उपाधियोंके संरक्षण अर्जन संस्कारादि व्यापारको मूर्च्छा कहते हैं। वात पित्त और कफ आदिके विकारसे होनेवाली मूर्च्छा-बेहोशी यहाँ विवक्षित नहीं है। यद्यपि मूर्च्छि धातु मोहसामान्यार्थक है फिर भी यहाँ बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिके संरक्षण अर्थमें ही उसका प्रयोग है। आभ्यन्तर ममत्वपरिणाम रूप मूर्छाको परिग्रह कहनेपर बाह्य पदार्थोंमें अपरिग्रहत्वका

प्रसंग नहीं देना चाहिए ; क्योंकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है, उसके ग्रहण करनेसे बाह्यका ग्रहण तो हो ही जाता है। जिस प्रकार प्राणका कारण होनेसे अन्नको प्राण कह देते हैं उसी तरह कारणमें कार्यका उपचार करके मूर्च्छाके कारणभूत बाह्य पदार्थको भी मूर्च्छा कह देते हैं।

§ ५–६. 'प्रमत्तपद'की अनुवृत्ति यहाँ भी होती है। अतः ज्ञान दर्शन और चारित्र आदिमें होनेवाले ममत्वभावको मूर्च्छा या परिग्रह नहीं कह सकते। ज्ञान-दर्शनादिवालोंके मोह न होनेसे वे अप्रमत्त हैं और इसीलिए अपरिग्रही हैं। ज्ञानादि तो आत्माके स्वभाव हैं, अहेय हैं अतः वे परिग्रह हो ही नहीं सकते। रागादि कर्मोदयजन्य हैं। अनात्मस्वभाव हैं अतः हेय हैं, अतः इनमें होनेवाला 'ममेदम्' संकल्प परिग्रह है और यह परिग्रह ही समस्त दोषोंका मूल है। ममत्व संकल्प होनेपर उसके रक्षणादिकी व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसादि अवश्य-भावी हैं, उसके लिए झूठ भी बोलता है, चोरी करता है और क्या कुकर्म नहीं करता ? और इनसे नरकादि अशुभ गतियोंका पात्र बनता है, इस लोकमें भी सैकड़ों आपत्तियों और आकुलताओंसे व्याकुल रहता है।

व्रतीका लक्षण—

## निःशल्यो व्रती ॥१८॥

शल्यरहित व्रती होता है।

§ १–२. अनेक प्रकारकी वेदनारूपी सुइयोंसे प्राणीको जो छेदें वे शल्य हैं। जिस प्रकार शरीरमें चुभे हुए काँटा आदि प्राणीको बाधा करते हैं उसी तरह कर्मोदयविकार भी शारीर और मानस बाधाओंका कारण होनेसे शल्यकी तरह शल्य कहा जाता है।

§ ३. शल्य तीन प्रकारकी हैं—माया मिथ्यादर्शन और निदान। माया अर्थात् वंचना छल-कपट आदि। विषयभोगकी आकांक्षा निदान है। मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान। इन तीन शल्योंसे निकला हुआ निःशल्य व्यक्ति व्रती होता है।

§ ४–८. प्रश्न—निःशल्यत्व और व्रतित्व दोनों पृथक् पृथक् हैं, अतः निःशल्य होनेसे व्रती नहीं हो सकता। कोई भी दण्डके सम्बन्धसे 'छत्री' नहीं हो सकता। अतः व्रतके सम्बन्धसे व्रती कहना चाहिए और शल्यके अभावमें निःशल्य। यदि निःशल्य होनेसे व्रती होता है तो या तो व्रती कहना चाहिए या निःशल्य। 'निःशल्य हो या व्रती हो' यह विकल्प मानकर विशेषण-विशेष्य भाव बनाना भी उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेमें कोई विशेष फल नहीं है। जैसे 'देवदत्तको घी दाल या दहीसे भोजन कराना' यहाँ विभिन्न फल हैं वैसे यहाँ चाहे 'निःशल्य कहो या व्रती' दोनों विशेषणोंसे विशिष्ट एक ही व्यक्ति इष्ट है। उत्तर—निःशल्यत्व और व्रतित्वमें अंग-अंगिभाव विवक्षित है। केवल हिंसादिविरक्तिरूप व्रतके सम्बन्धसे व्रती नहीं होता जब तक कि शल्योंका अभाव न हो जाय। शल्योंका अभाव होनेपर ही व्रतके सम्बन्धसे व्रती होता है। जैसे 'बहुत घी दूधवाला गोमान्' यहाँ गायें रहनेपर भी यदि बहुत घी दूध नहीं होता तो उक्त प्रयोग नहीं किया जाता उसी तरह सशल्य होनेपर व्रतोंके रहते हुए भी व्रती नहीं कहा जायगा। जो निःशल्य होता है वही व्रती है। जैसे 'तेज फरसेसे छेदता है' यहाँ अप्रधान फरसा छेदनेवाले प्रधान कर्ताका उपकारक है उसीतरह निःशल्यत्वगुणसे युक्त व्रत व्रती आत्माके विशे-षक होते हैं।

व्रतीके भेद—

## अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अगारी-गृहस्थ और अनगारी–मुनिके भेदसे व्रती दो प्रकारके हैं।

§ १-२. आश्रयार्थियोंके द्वारा जो स्वीकार किया जाय वह अगार-घर है। यहाँ चारित्र-मोहके उदयसे घरके प्रति अनिवृत्त परिणामरूप भावागार विवक्षित है। अतः भावागारी व्यक्ति घर छोड़कर यदि किसी कारणवश वनमें भी रहता है तो वह अगारी ही है और विषयतृष्णाओंसे निवृत्त मुनि यदि शून्य घर मन्दिर आदिमें भी बस जाता है तो भी वह अनगारी है।

§ ३-४. जैसे घरके एक कोने या नगरके एक देशमें रहनेवाला भी व्यक्ति नगरवासी कहा जाता है उसीतरह सकल व्रतोंको धारण न कर एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाला भी भी नैगम संग्रह और व्यवहारनयोंकी अपेक्षा व्रती कहा जायगा। जैसे बत्तीस हजार देशोंके अधिपतिमें प्रयुक्त होनेवाला 'राजा' शब्द एक देश या आधे देशके अधिपतिमें भी प्रयुक्त होता है, वह भी 'राजा' कहलाता है उसी तरह अठारह हजार शील और चौरासी लाख गुणोंके धारक संपूर्णव्रती अनगारमें प्रयुक्त होनेवाला भी 'व्रती' शब्द अणुव्रतधारियोंमें भी प्रयुक्त होता है, उन्हें भी व्रती कहते हैं।

## अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अणुव्रतोंका धारक अगारी है।

§ १-५. समस्त सावद्यकी निवृत्ति न होनेसे अणुव्रत कहे जाते हैं। अहिंसाणुव्रती दो इन्द्रिय आदि त्रसजीवोंकी हिंसासे विरक्त होता है। सत्याणुव्रती स्नेह द्वेष और मोहके उद्रेकसे असत्य कथनमें प्रवृत्ति नहीं करता। अचौर्याणुव्रती अन्यपीडाकर और राजभय आदिसे अवश्य ही परित्यक्त जो अदत्त है, उससे निवृत्त होता है। उपात्त या अनुपात्त परस्त्रीमात्रसे विरक्त होना चौथा ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। धन-धान्य खेत आदि परिग्रहोंका स्वेच्छासे परिमाण कर लेना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।

## दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

गृही दिग्विरति देशविरति अनर्थदण्डविरति सामायिक प्रोषधोपवास उपभोगपरिभोग-परिमाण और अतिथिसंविभागव्रतसे भी युक्त होता है।

§ १-६. परमाणुओंसे मापे गये आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही सूर्यके उदय अस्त और गतिसे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण आदि दिशाओंका व्यवहार होता है। निश्चित संख्यावाले ग्राम नगर आदिके प्रदेशोंको देश कहते हैं। विना प्रयोजनके पाप कर्मोंमें प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है। विरति शब्दका प्रत्येकसे सम्बन्ध हो जाता है-दिग्विरति देशविरति और अनर्थदण्डविरति। यद्यपि प्रथमसूत्रमें विरतिशब्द है पर वह उपसर्जनीभूत-गौण होनेसे सम्बद्ध नहीं हो सकता अतः यहाँ उसका पुनः ग्रहण किया है।

§ ७. जैसे 'संगत घृत, संगत तैल'में 'सम्' शब्द एकीभाव अर्थमें है उसी तरह सामायिकमें भी। अर्थात् मन वचन और कायकी क्रियाओंसे निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्यमें लीन हो जाना। समय अर्थात् आत्माकी प्राप्ति जिसका प्रयोजन हो वह सामायिक है।

§ ८. पाँचों इन्द्रियोंका शब्द आदि विषयोंसे निवृत्त होकर आत्माके समीप पहुँच जाना उपवास है अर्थात् अशन पान भक्ष्य और लेह्य इन चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना उपवास है। प्रोषध अर्थ पर्वके दिन। पर्वमें किया जानेवाला उपवास प्रोषधोपवास है।

§ ९. उपभोग अर्थात् एकबार भोगे जानेवाले अशन पान गन्ध माला आदि। परिभोग अर्थात् जो एकबार भोगे जाकर भी दुबारा भोगे जा सकें जैसे वस्त्र अलंकार शय्या मकान सवारी आदि। उपभोग और परिभोगकी मर्यादा करना उपभोगपरिभोगपरिमाण है।

§ १०-११. चारित्रबलसे सम्पन्न होनेके कारण जो संयमका विनाश नहीं करके

गमन करता है वह अतिथि है। अथवा, जिसके आनेकी तिथि निश्चित न हो वह अतिथि है। अतिथिके लिए संविभाग–दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

§ १२-१३. 'व्रत' शब्द प्रथम सूत्रमें है पर गौण होनेसे उसका यहाँ सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। 'व्रतसम्पन्न' शब्दका सम्बन्ध दिग्विरतिव्रतसम्पन्न देशविरतिव्रतसम्पन्न आदि रूपसे प्रत्येकसे कर देना चाहिए।

§ १४–१८. जिनका बचाव नहीं किया जा सकता ऐसे क्षुद्र जन्तुओंसे दिशाएँ व्याप्त रहती हैं अतः उनमें गमनागमनकी निवृत्ति करनी चाहिए। दिशाओंका परिमाण पर्वत आदि प्रसिद्ध चिह्नोंसे तथा योजन आदिकी गिनतीसे कर लेना चाहिए। यद्यपि दिशाओंके भागमें गमन न करनेपर भी स्वीकृत क्षेत्रमर्यादाके कारण पापबन्ध होता है फिर भी दिग्विरतिका उद्देश्य निवृत्तिप्रधान होनेसे बाह्यक्षेत्रमें हिंसादिकी निवृत्ति करनेके कारण कोई दोष नहीं है। जो पूर्णरूपसे हिंसादिनिवृत्ति करनेमें असमर्थ है पर उस सकलविरतिके प्रति आदरशील है वह श्रावक जीवन-निर्वाह हो या न हो, अनेक प्रयोजन होनेपर भी स्वीकृत क्षेत्रमर्यादाको नहीं लाँघता अतः हिंसानिवृत्ति होनेसे वह व्रती है। किसी परिग्रही व्यक्ति को 'इस दिशामें अमुक जगह जानेपर बिना प्रयत्नके मणि मोती आदि उपलब्ध होते हैं' इस तरह प्रोत्साहित करनेपर भी दिग्व्रतके कारण बाहर जानेकी और मणि मोतीकी सहजप्राप्तिकी लालसाका निरोध होनेसे दिग्व्रत श्रेयस्कर है। अहिंसाणुव्रती भी परिमित दिशाओंसे बाहर मन वचन काय कृत कारित और अनुमोदना सभी प्रकारोंके द्वारा हिंसादि सर्वसावद्योंसे विरक्त होता है अतः वहाँ उसके महाव्रत ही माना जाता है।

§ १९. इसीतरह देशविरतिव्रत होता है। 'मैं इस घर और तालाबके मध्य भागको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाऊँगा।' इसतरह देशव्रत लिया जाता है। मर्यादाके बाहिरी क्षेत्रमें इसे भी महाव्रत कहते हैं। दिग्विरति यावज्जीवन-सर्वकालके लिये होती है जब कि देशव्रत शक्त्य-नुसार नियतकालके लिए होता है।

§ २०. अनर्थदण्ड पाँच प्रकारका है। 'दूसरेका जय पराजय वध बन्ध अंगच्छेद धनहरण आदि कैसे हो' यह मनसे चिन्तन करना अपध्यान है। क्लेशवणिज्या तिर्यग्‌वणिज्या वधकोपदेश और आरम्भोपदेश आदि पापोपदेश हैं। 'इस देशमें दास दासी सस्ते मिलते हैं, उन्हें अमुक देशमें बेचनेपर प्रचुर अर्थलाभ होगा' इत्यादि कहना क्लेशवणिज्या है। गाय भैंस आदि पशुओंके व्यापारका मार्ग बताना तिर्यग्वणिज्या है। जाल डालनेवाले पक्षी पकड़नेवाले तथा शिकारियोंको पक्षी मृग सुअर आदि शिकारके योग्य प्राणियोंका पता आदि बताना वधकोपदेश है। आरम्भकार्य करनेवाले किसान आदिको पृथिवी जल अग्नि और वनस्पति आदिके आरम्भके उपाय बताना आर-म्भोपदेश है। तात्पर्य यह कि हर प्रकारके पापवर्धक उपदेश पापोपदेश हैं। प्रयोजनके बिना ही वृक्ष आदिका काटना, भूमिको कूटना, पानी सींचना आदि सावद्यकर्म प्रमादाचरित हैं। विष शस्त्र अग्नि रस्सी कसन और दंड आदि हिंसाके उपकरणोंका देना हिंसादान है। हिंसा या काम आदिको बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंका सुनना और सिखाना आदि व्यापार अशुभश्रुति है। इन अनर्थदंडोंसे विरक्त होना अनर्थदंडविरतिव्रत है।

§ २१. पहिले कहे गये दिग्व्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जानेवाले उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रतमें स्वीकृत मर्यादामें भी निरर्थक गमन आदि तथा विषयसेवन आदि नहीं करना चाहिए, इस अतिरेकनिवृत्तिकी सूचना देनेके लिए बीचमें अनर्थदण्डविरतिका ग्रहण किया है।

§ २२-२४. जितने काल तथा जितने क्षेत्रका परिमाण सामायिकमें निश्चित किया जाता है उसमें स्थित सामायिक करनेवालेके स्थूल और सूक्ष्म हिंसा आदिसे निवृत्ति होनेके कारण महा-व्रतत्व समझना चाहिए। यद्यपि सामायिकमें सर्वसावद्यनिवृत्ति हो जाती है फिर भी संयमघाती चारित्रमोह कर्मके उदयके कारण इसे संयत नहीं कह सकते। इसे 'महाव्रती' तो उपचारसे

कहा है। जैसे राजमहलके कुछ भण्डार बैठक आदिमें व्यापार करनेवाला चैत्र अन्तःपुर शयनागार आदिमें नहीं जाकर भी 'राजकुलमें सर्वगत' यह समझा जाता है उसी तरह हिंसादि बाह्य व्यापारोंसे विरक्त होनेके कारण आभ्यन्तर संयमघाती कर्मके उदय रहनेपर भी सामायिकव्रतीको महाव्रती कह देते हैं। इसीलिए निर्ग्रन्थलिंगधारी और एकादशांगपाठी अभव्यकी भी बाह्यमहाव्रत पालन करनेके कारण देशसंयतभाव और संयतभावसे रहित होनेपर भी उपरिम ग्रैवेयकतक उत्पत्ति बन जाती है।

§ २५. श्रावक शरीरसंस्कारके कारणभूत स्नान गन्ध माला अलंकार आदिसे रहित होकर साधुनिवास चैत्यालय या प्रोषधोपवासालय आदि पवित्र स्थानोंमें धर्मकथाश्रवण श्रावण चिन्तन और ध्यान आदिमें मनको लगाता हुआ आरम्भ परिग्रहको छोड़कर उपवास करे।

§ २६. त्रसघात बहुघात प्रमाद अनिष्ट और अनुपसेव्य रूप विषयोंके भेदसे भोगोपभोगपरिमाणव्रत पाँच प्रकारका हो जाता है। त्रसघातकी निवृत्तिके लिए मधु और मांसको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए। प्रमादके नाश करनेके लिए हिताहितविवेकको नष्ट करनेवाली मोहकारी मदिराका त्याग करना अत्यावश्यक है। केतकी अर्जुनपुष्प आदि बहुत जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान हैं तथा मूली अदरख हलदी नीमके फूल आदि अनन्तकाय हैं, इनके सेवनमें अल्पफल और बहुविघात होता है, अतः इनका त्याग ही कल्याणकारी है। गाड़ी रथ घोड़ा तथा अलंकार आदि 'इतने मुझे इष्ट हैं, रखना हैं, अन्य अनिष्ट हैं' इस तरह अनिष्टसे निवृत्ति करनी चाहिये; क्योंकि जबतक अभिप्रायपूर्वक नियम नहीं लिया जाता तबतक वह व्रत नहीं माना जा सकता। जो विचित्र प्रकारके वस्त्र विकृतवेष आभरण आदि शिष्टजनोंके उपसेव्य-धारण करने लायक नहीं हैं वे अपनेको अच्छे भी लगते हों तब भी उनका यावज्जीवन परित्याग कर देना चाहिये। यदि वैसी शक्ति नहीं है तो अमुक समयकी मर्यादासे अमुक वस्तुओंका परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिये।

§ २७. अतिथिसंविभागव्रत आहार उपकरण औषध और आश्रयके भेदसे चार प्रकारका हो जाता है। मोक्षार्थी संयमी शुद्धमतिके लिए शुद्ध चित्तसे निर्दोष भिक्षा, सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रके बढ़ानेवाले धर्मोपकरण, योग्य औषध और आश्रय परमधर्म और श्रद्धापूर्वक देना चाहिये।

'च' शब्दसे गृहस्थधर्मोंमें संगृहीत होनेवाली सल्लेखनाका वर्णन-

**मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥**

मरणके समय होनेवाली सल्लेखनाको प्रेम पूर्वक धारण करना चाहिये।

§ १-५. अपने परिणामोंसे गृहीत आयु इन्द्रिय और बलका कारणवश क्षय होना मरण है। मरण दो प्रकारका है-नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिक्षण आयु आदिका क्षय होनेसे नित्यमरण होता रहता है। नूतन शरीर पर्यायको धारण करनेके लिए पूर्वपर्यायका नष्ट होना तद्भव मरण है। सूत्रमें मरणान्त शब्दसे तद्भवमरण लिया गया है। सल्लेखना अर्थात् भली प्रकार काय और कषायोंको कृश करना। बाह्यशरीर और आभ्यन्तर कषायोंका कारणनिवृत्तिपूर्वक क्रमशः क्षीण करते जाना सल्लेखना है। इसको सेवन करनेवाला 'गृही' होता है। यहाँ 'गृही' शब्दका अध्याहार कर लेना चाहिए। यद्यपि 'सेविता' शब्द देनेसे काम निकल सकता था, फिर भी 'जोषिता' पदसे 'प्रीतिपूर्वक सेवन करना' यह विशिष्ट अर्थ विवक्षित है। स्वयं की अन्तरंग प्रीतिके बिना जबरदस्ती सल्लेखना नहीं कराई जाती। अन्तरंग प्रीतिके होनेपर सल्लेखना की जाती है। यहाँ 'जोषिता' शब्दमें कर्ता अर्थमें 'तृन्' प्रत्यय है, अतः 'सल्लेखनायाः' ऐसा षष्ठीका प्रसंग नहीं है।

§ ६-९. प्रश्न-सल्लेखनामें अभिप्रायपूर्वक आयु और शरीर आदिका घात किया

जाता है, अतः इसमें आत्मवधका दोष लगना चाहिये ? उत्तर–प्रमादके योगसे प्राणव्यपरोपणको हिंसा कहते हैं। चूँकि सल्लेखनामें प्रमादका योग नहीं है अतः उसे आत्मवध नहीं कह सकते। राग द्वेष और मोह आदिसे कलुषित व्यक्ति जब विष शस्त्र आदिसे अभिप्रायपूर्वक घात करता है तब आत्मवधका दोष होता है, पर सल्लेखनाधारीके राग द्वेष आदि कलुषताएँ नहीं हैं अतः आत्मवधका दोष नहीं हो सकता। कहा भी है–"रागादिकी उत्पत्ति न होना अहिंसा है और रागादिका उत्पन्न होना ही हिंसा है।" फिर, मरण तो अनिष्ट होता है। जैसे अनेक प्रकारके सोने चाँदी कपड़ा आदि वस्तुओंका व्यापार करनेवाले किसी भी दुकानदारको अपनी दुकानका विनाश कभी इष्ट नहीं हो सकता, और विनाशके कारण आ जानेपर यथाशक्ति उनका परिहार करना संभव न हुआ तो वह बहुमूल्य पदार्थोंकी रक्षा करता है उसीतरह व्रतशील पुण्य आदि-के संचयमें लगा हुआ गृहस्थ भी इनके आधारभूत शरीरका विनाश कभी भी नहीं चाहता, शरीरमें रोग आदि विनाशके कारण आनेपर उनका यथाशक्ति संयमानुसार प्रतीकार भी करता है, पर यदि निष्प्रतीकार अवस्था हो जाती है तो अपने संयम आदिका विनाश न हो उनकी रक्षा हो जाय इसके लिए पूरा ः यत्न करता है। अतः व्रतादिकी रक्षाके लिए किये गये प्रयत्नको आत्मवध कैसे कहा जा सकता है ? अथवा, जिस प्रकार तपस्वी ठंड गरमीके सुख-दुःखको नहीं चाहता, पर यदि विनचाहे सुख-दुःख आ जाते हैं तो उनमें राग-द्वेष न होनेसे तत्कृत कर्मोंका बन्धक नहीं होता उसी तरह जिनप्रणीत सल्लेखनाधारी व्रती जीवन और मरण दोनोंके प्रति अनासक्त रहता है पर यदि मरणके कारण उपस्थित हो जाते हैं तो रागद्वेष आदि न होनेसे आत्मवधका दोषी नहीं है।

§ १०. जैसे क्षणिकवादीको 'सभी पदार्थ क्षणिक हैं' यह कहनेमें स्वसमयविरोध है उसी तरह 'जब सत्त्व सत्त्वसंज्ञा वधक और वधचित्त इन चार चेतनाओंके रहनेपर हिंसा होती है' इस मतवादीके यहाँ जब सल्लेखनाकारीके 'आत्मवधक' चित्त ही नहीं है तब आत्मवधका दोष देनेमें स्ववचनविरोध है। इसका अर्थ यह हुआ कि बिना अभिप्रायके ही कर्मबन्ध हो गया जो कि स्पष्टतः सिद्धान्तविरुद्ध है। यदि सिद्धान्तविरोधके भयसे चार प्रकारकी चेतनाओं के रहनेपर ही हिंसा स्वीकार की जाती है तो सल्लेखनामें आत्मवधक चित्त न होनेसे हिंसा नहीं माननी चाहिए। अथवा, जैसे 'मैं मौनी हूँ' यह कहनेवाले मौनीके स्ववचनविरोध है उसी तरह निरात्मकवादीके जब आत्माका अभाव ही है तब 'आत्मवधकत्व' का दोष देनेमें भी स्ववचन-विरोध ही है। यदि स्ववचनविरोधके भयसे निरात्मक पक्ष लिया जाता है तो 'आत्मवध' की चर्चा अप्रासंगिक हो जाती है। जो वादी आत्माको निष्क्रिय मानते हैं यदि वे साधुजनसेवित सल्लेखनाको करनेवालेके लिए 'आत्मवध' दूषण देते हैं तो उनकी आत्माको निष्क्रिय माननेकी प्रतिज्ञा खंडित हो जाती है और यदि वे निष्क्रियत्व पक्षपर दृढ़ रहते हैं तो जब आत्मवधकी प्रयोजक सल्लेखना नामक क्रिया ही नहीं हो सकती, तब आत्मवधका दोष कैसे दिया जा सकता है ?

§ ११. जिस समय व्यक्ति शरीरको जीर्ण करनेवाली जरासे क्षीणबलवीर्य हो जाता है और वातादिविकारजन्य रोगोंसे तथा इन्द्रियबल आदिके नष्टप्राय होनेसे मृतप्राय हो जाता है, उस समय सावधान व्रती मरणके अनिवार्य कारणोंके उपस्थित होनेपर प्रासुक भोजन पान और उप-वास आदि के द्वारा क्रमशः शरीरको कृश करता है और मरण होने तक अनुप्रेक्षा आदि का चिन्तन करके उत्तम आराधक होता है।

§ १२–१४. पूर्वसूत्रके साथ इस सूत्रको मिलाकर एकसूत्र इसलिए नहीं बनाया कि सल्लेखना कभी किसी सप्तशीलधारी व्रतीके द्वारा आवश्यकता पड़नेपर ही की जाती है, दिग्व्रत आदि की तरह वह सबके लिए अनिवार्य नहीं है। किसीके सल्लेखनाके कारण नहीं भी आते।

गृहस्थको दिग्व्रत आदि सात शीलोंका उपदेश दिया गया है। उसे घर छोड़ देनेपर श्रावकरूपसे ही सल्लेखना होती है इस विशेष अर्थकी सूचना देनेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। 'यह सल्लेखना विधि सातशीलधारी गृहस्थको ही नहीं है किन्तु महाव्रती साधुको भी होती है।' इस सामान्य नियमकी सूचना भी पृथक् सूत्र बनानेसे मिल जाती है।

सम्यग्दर्शनके अतिचार—

**शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥**

§ १. शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं। निःशंकित्व आदिके प्रतिपक्षी शंका आदि हैं। मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान चारित्र गुणोंका मनसे अभिनन्दन करना प्रशंसा है तथा वचनसे विद्यमान-अविद्यमान गुणोंका कथन संस्तव है।

§ २. यद्यपि अगारीका प्रकरण है और आगे भी रहेगा, पर इस सूत्रमें अगारी–गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके अतिचार नहीं बताये हैं किन्तु सम्यग्दृष्टिसामान्यके, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि।

§ ३–४. दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थश्रद्धानसे विचलित होना अतीचार है। अतिक्रम भी अतिचारका ही नाम है। यद्यपि सम्यग्दर्शनके अंग आठ बताये हैं और उनके प्रतिपक्षी दोष आठ हो सकते हैं, पर शेषका यहीं अन्तर्भाव करके पाँच ही अतिचार बताये गये हैं, यहाँ संस्तवको पृथक् गिना है।

**व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥**

व्रत और शीलोंके भी क्रमशः पाँच पाँच अतिचार हैं।

§१–२. यद्यपि दिग्विरति आदि शील भी अभिसन्धिपूर्वकनिवृत्ति होनेसे व्रत हैं किन्तु ये शील विशेषरूपसे व्रतोंके परिरक्षणके लिए होते हैं अतः इनका पृथक् निर्देश किया है। आगे बन्ध वध आदि अतिचार बताये जायँगे, उससे ज्ञात होता है कि ये अतिचार गृहस्थोंके व्रतके हैं।

§ ३-४. 'पञ्च-पञ्च' यह वीप्सार्थक द्वित्व है। तात्पर्य यह कि इसमें समस्त अर्थका बोध होता है, प्रत्येक व्रत–शीलके पाँच-पाँच अतिचार हैं यह सूचित होता है। यद्यपि 'पञ्चशः' ऐसा शस् प्रत्ययान्तपदसे काम चल सकता था पर स्पष्टबोधके लिए द्वित्वनिर्देश किया है। यथाक्रम शब्दसे आगे कहे जानेवाले अतिचारोंका निर्दिष्टक्रमसे अन्वय कर लेना चाहिए।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार—

**बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥**

§ १–५. बन्ध–खूँटा आदिसे रस्सीसे इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्टदेशको गमन न कर सके। डंडा कषा बेंत आदिसे पीटना वध है, न कि प्राणिहत्या ; क्योंकि हत्यासे विरति तो व्रतधारणकालमें हो चुकी है। कान नाक आदि अवयवोंका छेदन करना छेद है। अत्यन्त लोभके कारण उचित भारसे अधिक भार लादना अतिभारारोपण है। गाय बैल आदिको किसी कारणसे समय पर चारा-पानी नहीं देना अन्नपाननिरोध है। ये अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं।

**मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥**

§ १–५. अभ्युदय और निःश्रेयसार्थक क्रियाओंमें उलटी प्रवृत्ति करा देना या अन्यथा बात कहना मिथ्योपदेश है। स्त्री-पुरुषके एकान्तमें किये गये रहस्यका उद्घाटन रहोभ्याख्यान है। किसीके कहनेसे ठगनेके लिए झूठी बात लिखना कूटलेखक्रिया है। सुवर्ण आदि गहना रखनेवालेके द्वारा भूलसे कम माँगनेपर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस तरह कम

दे देना न्यासापहार है। प्रकरण और चेष्टा आदिसे दूसरेके अभिप्रायको समझकर ईर्षावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रतके अतिचार हैं।

## स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक- व्यवहाराः ॥ २७ ॥

§ १-५. चोरी करनेवालेको उपाय बताना और उसकी अनुमोदना करना स्तेनप्रयोग है। अपने द्वारा जिसे उपाय नहीं बताये और न जिसकी अनुमोदना ही की है, ऐसे चोरका चोरी किया हुआ माल खरीदना तदाहृतादान है। इसमें परपीड़ा राजभय आदि हैं। उचित-न्याय्य भागसे अधिक भाग दूसरे उपायोंसे ग्रहण करना अतिक्रम है। विरुद्धराज्य-राज्य परिवर्तनके समय अल्प मूल्यवाली वस्तुओंको अधिक मूल्यकी बताना। नापने तौलनेके तराजू आदिमें कम बाँटोंसे देना और अधिकसे दूसरेकी वस्तुको खरीदना हीनाधिकमानोन्मान है। कृत्रिम सोना चाँदी बनाकर या मिलाकर ठगी करना प्रतिरूपक व्यवहार है। ये अदत्तादानविरतिके अतिचार हैं।

## परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभि- निवेशाः ॥ २८ ॥

१-५. सातावेदनीय और चारित्रमोहके उदयसे कन्याके वरणको विवाह कहते हैं। परका विवाह कराना। गान नृत्यादि कला चारित्रमोह स्त्रीवेदका उदय विशिष्ट अंगोपांगके लाभसे गमन करनेवाली इत्वरिका है। जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसी वेश्या या पुंश्चली अपरिगृहीता है। जो एक पतिके द्वारा परिणीत है वह परिगृहीता है। इनसे सम्बन्ध रखना इत्वरिका परिगृहीता परिगृहीता-गमन है। काम सेवनके योनि आदि अंगोंके सिवाय अन्य अंगोंमें कामातिरेकवश क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। तीव्रकामप्रवृत्ति, सतत कामवासनासे पीड़ित रहकर विषयसेवनमें लगे रहना कामतीव्राभिनिवेश है। दीक्षिता अतिबाला तथा पशुओं आदिमें मैथुनप्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेशके ही फल हैं। इन कार्योंमें राजभय लोकापवाद आदि हैं। ये स्वदारसन्तोष-व्रतके अतिचार हैं।

## क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

§ १-२ क्षेत्र वास्तु आदि दो-दोका द्वन्द्व समास करके फिर कुप्यके साथ पूर्णद्वन्द्व करना चाहिये। क्षेत्र-खेत, वास्तु-मकान, हिरण्य-सोनेके सिक्के आदि, सुवर्ण-सोना, धन-गाय आदि, धान्य-चावल आदि, दासीदास-स्त्री और पुरुष भृत्य, कुप्य-कपास या कोसे आदिके वस्त्र और चन्दन आदि। 'मेरा इतना ही परिग्रह है इससे अधिक नहीं' इस तरह मर्यादित क्षेत्र आदिसे अतिलोभके कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादाका उल्लंघन करना परिग्रह-विरमण व्रतके अतिचार हैं।

## ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

§ १-९. दिशाओंकी की गई मर्यादाका लाँघ जाना अतिक्रम है। पर्वत और सीमाभूमि आदिसे ऊपर चढ़ जाना ऊर्ध्वातिक्रम है। कूप आदिमें नीचे उतरना अधोऽतिक्रम है। बिल गुफा आदिमें प्रवेश करके मर्यादा लाँघ जाना तिर्यग्व्यतिक्रम है। लोभ आदिके कारण स्वीकृत मर्यादा-का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। निश्चित मर्यादाको भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है। इच्छा-परिमाण नामक पाँचवे अणुव्रतमें इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें क्षेत्र वास्तु आदिका परिमाण किया जाता है और दिग्विरतिमें दिशाओंकी मर्यादा की जाती है। इस दिशामें लाभ होगा अन्यत्र लाभ नहीं होगा और लाभालाभसे ही जीवन-मरणकी समस्या जुटी है फिर भी स्वीकृत दिशामर्यादासे आगे लाभ होनेपर भी गमन नहीं करना दिग्विरति है। दिशाओंका

क्षेत्र वास्तु आदिकी तरह परिग्रहबुद्धिसे अपने अधीन करके परिमाण नहीं किया जाता। इन दिशाकी मर्यादाओंका उल्लँघन प्रमाद मोह और चित्तव्यासंगसे हो जाता है।

### आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

§ १-६. अपने संकल्पित देशसे बाहर स्थित व्यक्तिको प्रयोजनवश कुछ पदार्थ लानेकी आज्ञा देना आनयन है। स्वीकृत मर्यादासे बाहर स्वयं न जाकर और दूसरेको न बुलाकर भी नौकरके द्वारा इष्टव्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है। मर्यादाके बाहरके नौकर आदिको खाँसकर या अन्य प्रकारसे शब्द करके कार्य कराना शब्दानुपात है। 'मुझे देखकर काम जल्दी होगा' इस अभिप्रायसे अपने शरीरको दिखाना रूपानुपात है। नौकर चाकरोंको संकेत करनेके लिए कंकड़ पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप कहा जाता है। उक्त अतिचारोंमें स्वयं मर्यादाका उल्लँघन नहीं करके अन्यसे करवाता है, अतः इन्हें अतिक्रम कहते हैं। यदि स्वयं उल्लँघन करता तो व्रतका लोप ही हो जाता। ये देशव्रतके अतिचार हैं।

### कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

§ १-७. चारित्रमोहात्मक रागके उदयसे हास्ययुक्त अशिष्टवचनके प्रयोगको कन्दर्प कहते हैं। कायकी कुचेष्टाओंके साथ ही साथ होनेवाला हास्य और अशिष्ट प्रयोग कौत्कुच्य कहलाता है। शालीनताका त्यागकर धृष्टतापूर्वक यद्वा तद्वा प्रलाप-बकवास मौखर्य है। प्रयोजनके बिना ही आधिक्यरूपसे प्रवर्तन अधिकरण कहलाता है। निरर्थक काव्य आदिका चिन्तन मानस अधिकरण है। निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास वाचनिक अधिकरण है। बिना प्रयोजन बैठे या चलते हुए सचित्त या अचित्त पत्र पुष्प फलोंका छेदन मर्दन कुट्टन या क्षेपण आदि करना, तथा अग्नि विष क्षार आदि देना कायिक अधिकरण है। जिसके जितने उपभोग और परिभोगके पदार्थोंसे काम चल जाय वह उसके लिए अर्थ है उससे अधिक पदार्थ रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतमें इच्छानुसार परिमाण किया जाता है और सावद्यका परिहार किया जाता है, पर यहाँ आवश्यकताका विचार है। जो संकल्पित भी है पर यदि आवश्यकतासे अधिक है तो अतिचार है। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके अतिचारोंमें सचित्तसम्बन्ध आदि रूपसे मर्यादातिक्रम विवक्षित है अतः इसका वहाँ कथन नहीं किया। ये पाँच अनर्थदण्डविरतिके अतीचार हैं।

### योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

§ १-५. क्रोधादि कषायोंके वश होकर शरीरका विचित्र विकृतरूपसे हो जाना, निरर्थक अशुद्ध वचनोंका प्रयोग और मनका उपयोग नहीं लगना योगदुःप्रणिधान है। अनादर-अनुत्साह, कर्तव्यकर्मका जिस किसी तरह निर्वाह करना। चित्तकी एकाग्रता न होना और मनमें समाधिरूपताका न होना स्मृत्यनुपस्थान है। मनोदुष्प्रणिधानमें अन्य विचार नहीं आता, जिस विषयका विचार किया जाता है उसमें भी क्रोधादिका आवेश आ जाता है, किन्तु स्मृत्यनुपस्थानमें चिन्ताके विकल्प चलते रहते हैं और चित्तमें एकाग्रता नहीं आती; अथवा, रात्रि और दिनकी नित्यक्रियाओंको ही प्रमादकी अधिकतासे भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। ये पाँच सामायिकके अतीचार हैं।

### अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

§ १-४. प्रत्यवेक्षण-देखना, प्रमार्जन-शोधना। बिना देखे और बिना शोधे हुए भूमिपर मलमूत्रादि करना, बिना देखे बिना शोधे अर्हन्त या आचार्यकी पूजाके उपकरणोंका रखना उठाना गन्ध माला वस्त्र पात्र आदिका रखना, बिना देखे बिना शोधे संथारा आदि बिछाना, भूख आदिके

कारण आवश्यक क्रियाओंमें उत्साह नहीं रखना तथा स्मृत्यनुपस्थान-चित्तकी एकाग्रताका अभाव ये पाँच प्रोपधोपवास व्रतके अतिचार हैं।

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

§ १-६. सचित्त-चेतन द्रव्य। सचित्तसे सम्बन्ध और सचित्तसे मिश्र। सम्बन्धमें केवल संसर्ग विवक्षित है तथा सम्मिश्रणमें सूक्ष्म जन्तुओंसे आहार ऐसा मिला हुआ होता है जिसका विभाग न किया जा सके। प्रमाद तथा मोहके कारण क्षुधा तृषा आदिसे पीड़ित व्यक्तिकी जल्दी-जल्दीमें सचित्त आदि भोजन पान अनुलेपन तथा परिधान आदिमें प्रवृत्ति हो जाती है। द्रव सिरका आदि और उत्तेजक भोजन अभिषव कहलाता है। जो अच्छी तरह नहीं पकाया गया हो वह दुष्पक्व आहार है। इसके भोजनसे इन्द्रियाँ मत्त हो जाती हैं। सचित्तप्रयोगसे वायु आदि दोषोंका प्रकोप हो सकता है और उसका प्रतीकार करनेमें पाप लगता है, अतिथि उसे छोड़ भी देते हैं। कृच्छ्र विवक्षामें 'दुष्पच' शब्द बनता है, यहाँ वह विवक्षा नहीं है अतः दुष्पक्व प्रयोग किया है। ये पाँच उपभोगपरिभोगसंख्यान व्रतके अतिचार हैं।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

§ १-५. सचित्त-कमलपत्र आदिमें आहार रखना, सचित्तसे ढँक देना, 'दूसरी जगह दाता हैं, यह देय पदार्थ अन्यका है' इस तरह दूसरेके बहाने देना, दान देते समय आदरभाव नहीं रखना, साधुओंके भिक्षाकालको टाल देना कालातिक्रम है, ये अतिथिसंविभाग व्रतके अतीचार हैं।

सल्लेखनाके अतीचार-

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

§ १-६. अवश्य नष्ट होनेवाले शरीरके ठहरनेकी अभिलाषा जीविताशंसा-जीनेकी इच्छा है। रोग आदिकी तीव्र पीड़ासे जीनेमें संक्लेश होनेपर मरनेकी आकांक्षा करना मरणाशंसा है। जिनके साथ बचपनमें धूलमें खेले हैं, जिनने आपत्तिमें साथ दिया और उत्सवमें हाथ बटाया उन मित्रोंका स्मरण मित्रानुराग है। पहिले भोगे गये भोग क्रीड़ा शयन आदिका स्मरण करना सुखानुबन्ध है। आगे भोगोंकी आकाँक्षा करना निदान है। ये पाँच सल्लेखनाके अतीचार हैं।

दानका लक्षण-

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

§ १-२. स्वोपकार और परोपकारको अनुग्रह कहते हैं। पुण्यका संचय स्वोपकार है और पात्रकी सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि परोपकार है। स्व शब्दके आत्मा आत्मीय ज्ञाति धन आदि अनेक अर्थ होते हैं, पर यहाँ स्वशब्द धनका वाचक है। अनुग्रहके लिए धनका त्याग दान है।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

§ १-२. प्रतिग्रह उच्चस्थान पादप्रक्षालन अर्चन प्रणाम आदि क्रियाओंको विधि कहते हैं। यहाँ विशेषता गुणकृत समझनी चाहिए। विधिविशेष अर्थात् प्रतिग्रह आदिमें आदरपूर्वक प्रवृत्ति करना।

§ ३-५. जो अन्न आदि द्रव्य लेनेवाले पात्रके स्वाध्याय ध्यान और परिणामशुद्धि आदिकी वृद्धिका कारण हो वह द्रव्य विशेष है। पात्रमें ईर्षा न होना, त्यागमें विषाद न होना, देनेकी इच्छा करनेवालेमें देनेवालेमें या जिसने दान दिया है सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फलकी आकांक्षा न करना, निदान नहीं करना, किसीसे विसंवाद नहीं करना आदि दाताकी विशेषताएँ हैं। मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन आदि गुण जिनमें पाये जायँ वे पात्र हैं।

§ ६. जिस प्रकार भूमि बीज आदि कारणोंमें गुणवत्ता होनेसे विशेष फलोत्पत्ति देखी जाती है उसी तरह विधिविशेष आदिसे दानके फलमें विशेषता होती है।

§ ७-८. यदि सभी पदार्थोंको निरात्मक माना जाता है तो विधि आदिकी विशेषता नहीं बन सकती। जब ज्ञान क्षणिक है तब 'तप स्वाध्याय और ध्यानमें परायण यह ऋषि मेरा उपकार करेगा, इसे दिया गया दान व्रतशील भावना आदिकी वृद्धि करेगा, इसकी यह विधि है' इस प्रकार अनुसन्धान-प्रत्यभिज्ञान ही नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वोत्तरक्षणविषयक ज्ञान संस्कार आदिका ग्राहक एकज्ञान नहीं है। अतः इस पक्षमें दानविधि नहीं बन सकती।

§ ९-१०. जो वादी आत्माको अकारण होनेसे नित्य, ज्ञानदर्शनादि गुणोंसे भिन्न होनेके कारण अज्ञ, सर्वगत होनेसे निष्क्रिय आदि मानते हैं; उनके यहाँ भी दानविधि आदि नहीं बन सकती; क्योंकि ऐसी आत्मामें कोई विकार-परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है। समवायसे क्रिया-गुण आदिका सम्बन्ध माननेपर भी जबतक स्वयं वैसा परिणमन न होगा तबतक दानादि विधि नहीं बन सकती। जिस प्रकार दण्डका सम्बन्ध होनेपर भी देवदत्तमें दण्डरूप परिणमन नहीं होता उसमें दण्डस्वभाव नहीं आता उसी तरह क्रिया गुण आदिके समवायसे भी आत्मामें क्रिया और गुणस्वभावता नहीं आ सकेगी। ऐसी दशामें दानादिविधि नहीं बन सकती।

§ ११. 'महान् अहंकार आदि चौबीस प्रकारका अचेतन क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ पुरुष-चेतन है' इस सांख्यदर्शनमें भी क्षेत्रभूत प्रकृति जब अचेतन है तो उसे घटादिकी तरह विधि आदिका प्रतिसन्धान नहीं हो सकता। यदि प्रतिसन्धान होता है तो अचेतन नहीं कह सकते। क्षेत्रज्ञ पुरुष तो नित्य शुद्ध और निष्क्रिय है अतः उसे भी दानादिकी विधिका अनुसन्धान नहीं हो सकता।

§ १२. अनेकान्तवादी जैनदर्शनमें द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य आत्मामें विधिविशेष आदिका अनुसन्धान आदि सभी बन जाते हैं।

सातवाँ अध्याय समाप्त

---

# आठवाँ अध्याय

बन्ध-चेतन और अचेतन द्रव्योंके परिणमनरूप है। यद्यपि बन्ध नाम स्थापना आदिके भेदसे चार प्रकारका है पर उसके मुख्यतः द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ये दो भेद हैं। लाख और काष्ठ, रस्सी बेड़ी आदिके भेदसे द्रव्यबन्ध बहुत प्रकारका है। भावबन्ध कर्मबन्ध और नोकर्मबन्धके भेदसे दो प्रकारका है। माता पिता पुत्र आदिका स्नेहबन्ध नोकर्मबन्ध है। कर्मबन्ध सन्ततिकी अपेक्षा बीज और अंकुरकी सन्ततिकी तरह अनादि होकर भी उन उन हेतुओंसे बँधनेके कारण आदिमान् भी है। अब उन बन्ध हेतुओंको बताते हैं जिनसे बन्ध होता है, क्योंकि यदि बन्ध विना हेतुओंके माना जाता है तो कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। कार्य और कारणमें पहिले कारणोंका निर्देश करना उचित भी है। छठवें और सातवें अध्यायमें जिनका विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है वे बन्धनके हेतु ये हैं-

**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥**

मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं।

§ १-५. पचीस क्रियाओंमें आई हुई मिथ्यात्वक्रियामें मिथ्यादर्शन अन्तर्भूत है। अविरतिका व्याख्यान 'इन्द्रियकषायाव्रत' इसी सूत्रमें किया गया है। आज्ञाव्यापादन क्रिया और अनाकांक्ष क्रियामें प्रमादका अन्तर्भाव है। प्रमादका अर्थ है-कुशल क्रियाओंमें अनादर अर्थात् मनको नहीं लगाना। क्रोधादि कषायों तथा मन वचन और काय योगोंका वर्णन पहिले किया जा चुका है।

§ ६-१२. नैसर्गिक और परोपदेशके भेदसे मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है। परोपदेशके विना मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो तत्त्वार्थ-अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। परोपदेशसे होनेवाला मिथ्यादर्शन क्रियावादीमत अक्रियावादीमत आज्ञानिकमत और वैनयिक-मतके भेदसे चार प्रकारका है। कौकल काण्ठेविद्धि कौशिक हरि आदिके मतोंकी अपेक्षा ८४ क्रियावाद होते हैं। मरीचिकुमार उलूक कपिल गार्ग्य आदि दर्शनोंके भेदसे १८० अक्रियावाद हैं। साकल्य वाष्कल कुथुमि सात्यमुग्रि चारायण काठ माध्यन्दिनी मोद पैप्पलाद बादरायण स्विष्ठिकृदै-तिकायन वसु जैमिनि आदि मतोंके भेदसे ६७ अज्ञानवाद हैं। वशिष्ठ पाराशर जतुकर्ण आदि मतोंके भेदसे वैनयिक ३२ होते हैं। इस तरह कुल ३६३ मिथ्या मतवाद हैं।

§ १३-१४. प्रश्न-बादरायण वसु जैमिनि आदि तो वेदविहित क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, ये आज्ञानिक कैसे हो सकते हैं? उत्तर-इनने प्राणिवधको धर्मका साधन माना है। प्राणिवध तो पापका ही साधन हो सकता है, धर्मका नहीं। कर्ताके दोषोंकी संभावनासे रहित अपौरुषेय आगमसे प्राणिवधको धर्महेतु सिद्ध करना उचित नहीं है; क्योंकि आगम समस्त प्राणियोंके हितका अनुशासन करता है। हिंसाका विधान करनेवाले वचन जिसमें हों वह ठगोंके वचनकी तरह आगम ही नहीं हो सकता। फिर, वेदमें ही कहीं हिंसा और कहीं अहिंसाका परस्पर विरोधी कथन मिलता है, वह स्वयं अनवस्थित है। जैसे 'पुनर्वसु पहिला है और पुष्य पहिला है' ये वचन परस्परविरोधी होनेसे अप्रमाण हैं उसी तरह 'पशुवधसे समस्त इष्ट पदार्थ मिलते हैं, यज्ञ विभूतिके लिए हैं अतः यज्ञमें होनेवाला वध अवध है' इस प्रकार एक जगह पशुवधका विधान करनेवाले वचन और दूसरी जगह 'अज-जिनमें अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति न हो ऐसे तीनवर्ष पुराने बीजोंसे पिष्टमय बलिपशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए' ये अहिं-

सक वचन भी परस्परविरोधी होनेसे प्रमाण नहीं कहे जा सकते। इस तरह अव्यवस्थित होनेसे वेदको प्रमाण नहीं कह सकते।

§ १५-१९. अर्हन्त भगवान्के द्वारा प्रभाषित परमागममें सर्वत्र प्राणिवधका निषेध किया है, अहिंसाको ही धर्म माना है अतः प्राणिवध धर्महेतु नहीं हो सकता। अर्हन्तके परमागमको पुरुषकृति होनेसे अप्रमाण कहना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि वह अतिशय ज्ञानोंका आकर है। इस आगममें नय प्रमाण आदि अधिगमके उपायोंसे बन्ध मोक्ष आदिका समर्थन तथा जीवादि तत्त्वोंका निरूपण है। अतः रत्नाकरकी तरह आर्हत आगम ही समस्त अतिशय ज्ञानोंका आकर है।

**प्रश्न**–कल्प व्याकरण छन्द ज्योतिष् आदि अतिशय ज्ञान अन्यत्र भी देखे जाते हैं अतः आर्हत आगमको ही ज्ञानका आकर कहना उपयुक्त नहीं है? **उत्तर**–अन्यत्र देखे जानेवाले अतिशय ज्ञानोंका मूल उद्भवस्थान आर्हत प्रवचन ही हैं जैसे कि रत्नोंका मूल उद्भवस्थान समुद्र है। कहा भी है–"यह अच्छी तरह निश्चित है कि अन्य मतोंमें जो युक्तिवाद और अच्छी बातें चमकती हैं वे तुम्हारी ही हैं। वे सब चतुर्दश पूर्वरूपी महासागरसे निकली हुई जिन वाक्यरूपी विन्दुएँ हैं।" यह बात केवल श्रद्धामात्र गम्य नहीं है किन्तु युक्तिसिद्ध है। जैसे गाँव नगर या बाजारोंमें कुछ रत्न देखे जाते हैं फिर भी उनकी उत्पत्तिका स्थान रत्नाकर समुद्र ही माना जाता है क्योंकि अधिकतर रत्न वहीं है उसी तरह सर्वातिशय ज्ञानके मूल निधान होनेसे जैन प्रवचन ही उनका मूल आकर है। यह शंका भी ठीक नहीं है कि–'यदि वेद व्याकरण आदि आर्हत प्रवचनसे निकले हुए हैं तो उनकी तरह प्रमाण भी होने चाहिये, और उनमें बताये गये हिंसादि अनुष्ठान दानादिकी तरह निर्दोष माने जाने चाहिए।' क्योंकि वे निःसार हैं। जैसे नकली रत्न क्षार और सीप आदि भी रत्नाक से उत्पन्न होते हैं परन्तु निःसार होनेसे त्याज्य हैं उसी तरह जिनशासन समुद्रसे उत्पन्न भी वेदादि निःसार होनेसे प्रमाण नहीं हैं।

§ २०-२६. यदि हिंसाको धर्मसाधन माना जाय तो मछलीमार चिड़ीमार आदि हत्यारोंको भी धर्मप्राप्ति समान रूपसे होनी चाहिये और तब अहिंसाको धर्म कहना अयुक्त हो जायगा। 'यज्ञ हिंसाके सिवाय दूसरी हिंसा पापका कारण है' यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों हिंसाओंमें समानरूपसे प्राणिवध होता है और दुःखहेतुता भी समान है अतः फल भी एक जैसा ही होना चाहिये। यज्ञकी वेदीमें किया गया पशुवध पापका कारण है, क्योंकि वह प्राणवियोगका हेतु है जैसे अन्यत्र किया गया पशुवध। अथवा यज्ञमें किये गये पशुवधकी तरह बाहिर किये पशुवधको भी पुण्यहेतु मानना चाहिये "स्वयंभूने पशुओंकी सृष्टि यज्ञमें होमनेके लिए की है, अतः यज्ञवध पापहेतु नहीं हो सकता" यह पक्ष असिद्ध है; क्योंकि पशुसृष्टि ब्रह्माने की है यही बात अभी सिद्ध नहीं हो सकी है। यदि ब्रह्माने पशुसृष्टि यज्ञके लिए की है तो फिर उनका खरीद बिक्री आदि अन्य उपयोग नहीं करना चाहिये, अन्यथा दोष होगा, जैसे कि कफनाशक औषधिका अन्यथा उपयोग होनेपर दोष होता है। 'जैसे मन्त्रसंस्कृत विष मरणका कारण नहीं होता उसी तरह मन्त्र संस्कारपूर्वक होनेवाला पशुवध भी पापहेतु नहीं हो सकता' यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें प्रत्यस विरोध देखा जाता है। जैसे कि मन्त्रसे संस्कृत विष प्रत्यक्षसे ही अमृतमय देखा जाता है और जैसे रस्सी आदिके बिना केवल मन्त्र बलसे ही जलस्तम्भन मनुष्यस्तम्भन आदि कार्य प्रत्यक्षसे देखे जाते हैं उसी तरह यदि केवल मन्त्रबलसे ही यज्ञवेदीपर पशुओंका घात देखा जाता तो यहाँ मन्त्रबलपर विश्वास किया जाता, परन्तु याज्ञिक लोग जिस निर्दयतासे रस्सी आदिसे बाँधकर पशुवध करते हैं वह किसीसे छिपा नहीं है। अतः यहाँ मन्त्रसामर्थ्यकी कल्पना उचित नहीं है। और जिस प्रकार शस्त्र आदिसे प्राणिहत्या करनेवाले दोषी हैं और उन्हें अशुभ भावोंके कारण पापबन्ध होता है उसी तरह मन्त्रोंसे पशुवध करनेवाले

भी हिंसादोपके भागी हैं। शुभपरिणामोंसे पुण्य और अशुभपरिणामोंसे पापबन्ध नियत है, उसमें हेरफेर नहीं हो सकता। यदि हेरफेर किया जायगा तो असंचेतित कर्मबन्ध होनेसे बन्धमोक्ष-प्रक्रियाका ही अभाव हो जायगा।

§ २७. 'स्वर्गकामो अग्निहोत्र यज्ञ करें' इस अग्निहोत्र क्रियाका कर्ता भौतिक पिंड होगा या पुरुष ? भौतिक पिण्ड तो घटादिकी तरह अचेतन है अतः उसमें पुण्य-पाप क्रियाका अनुभव नहीं हो सकता और इसीलिए वह कर्ता नहीं हो सकता। पुरुष यदि क्षणिक है; तो उसमें मन्त्रार्थका अनुस्मरण उनके प्रयोगका अनुचिन्तन आदि अनुसन्धान न हो सकनेके कारण कर्तृत्व नहीं वन सकता। यदि पुरुष नित्य है; तो उसमें पूर्व और उत्तरकालमें कोई परिणमन नहीं होगा, इसलिए वह जैसेका तैसा रहनेसे कर्त्ता नहीं वन सकता। इस तरह कर्ता न होनेसे किसको क्रियाका फल मिलेगा ?

"जो कुछ हो चुका और आगे होगा वह सव पुरुष रूप है–ब्रह्मरूप है" इस एक ब्रह्म-वादमें 'यह वध्य है और यह वधक' यह भेद नहीं हो सकता। चेतनशक्ति ( ब्रह्म ) का ही परिणाम यदि माना जाता है तो घट पट आदि दृश्य जगत्का लोप हो जायगा। प्रमाण और प्रमाणाभासका भेद भी नहीं रहेगा, क्योंकि यह भेद बाह्यपदार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिपर निर्भर है। निर्विकल्प पुरुषतत्त्वकी कल्पनामें 'निर्विकल्प है' यह विकल्प यदि होता है तो वह निर्विकल्प कैसा ? यदि नहीं होता तो 'निर्विकल्प न होने से' वह सविकल्प ही हो जायगा–तव प्रतिज्ञाविरोध दोप होता है। इस तरह अनेक दोषयुक्त होनेसे वैदिक वचन प्रमाण नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामों और अनुभागकी दृष्टिसे असंख्य और अनन्त भी भेद होते हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच म्लेच्छ शवर और पुलिन्द आदि स्वामियोंके भेदसे अनेक प्रकारका है।

§ २८. अथवा, एकान्त विपरीत संशय वैनयिक और आज्ञानिकके भेदसे मिथ्यादर्शन पाँच प्रकारका है। 'यह ऐसा ही है' इस तरह धर्मी या धर्मके विषयमें एकान्त अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे 'यह सव ब्रह्मरूप ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि। 'सपरिग्रह भी निर्ग्रन्थ हो सकता है, केवली कवलाहारी है, स्त्री मुक्त हो सकती है' आदि विपरीत अभिप्राय विपरीत मिथ्यात्व है। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग हो सकते हैं या नहीं' इस प्रकार दोलित चित्तावृत्ति संशयमिथ्यात्व है। सभी देवताओं और सभी शास्त्रोंमें विना विवेकके समानभाव रखना वैनयिक मिथ्यात्व है। हित और अहितकी परीक्षाकी असामर्थ्य आज्ञानिक मिथ्यात्व है।

§ २९. पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति और त्रसकायका हनन तथा स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र और मनविषयक असंयम, इस प्रकार वारह प्रकारकी अविरति होती है। सोलह कपाय और नौ नोकषाय ये पच्चीस कषाय हैं। सत्य असत्य उभय और अनुभय ये चार मनोयोग, चार सत्य असत्य आदि वचनयोग तथा औदारिक औदारिकमिश्र आदि पाँच काय-योग ये तेरह प्रकारके योग हैं। प्रमत्तसंयतमें आहारक और आहारकमिश्रकी भी सम्भावना है, अतः कुल पन्द्रह योग होते हैं।

§ ३०. भाव काय विनय ईर्यापथ भैक्ष्य शयन आसन प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि इन आठ शुद्धियों तथा उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोंमें अनुत्साह या अनादरके भाव होना प्रमाद है। इस तरह यह प्रमाद अनेक प्रकारका है।

§ ३१. मिथ्यादर्शन आदि समुदित और पृथक् पृथक् भी वन्धके हेतु होते हैं। वाक्यकी

समाप्ति अनेक प्रकारसे देखी जाती है। मिथ्यादृष्टिके पाँचों ही बन्धके कारण हैं। सासादन-सम्यग्दृष्टि सम्यङ्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टिके अविरति आदि चार, संयतासंयतके अविरति प्रमाद कषाय और योग, प्रमत्तसंयतके प्रमाद कषाय और योग, अप्रमत्त आदि सूक्ष्म साम्परायान्त चार गुणस्थानवालोंके कषाय और योग, उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोग-केवलीके केवल योग ही बन्धका कारण है। अयोगकेवलीके बन्धहेतु नहीं है। इसी तरह मिथ्या-दर्शन आदिके जितने भेदप्रभेद हैं सब प्रत्येक बन्धके हेतु होते हैं।

§ ३२-३३. विरतके भी विकथा कषाय इन्द्रिय निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमादस्थान देखे जाते हैं, अतः प्रमाद और अविरति पृथक्-पृथक् हैं। कषाय कारण हैं और हिंसादि अविरति कार्य, अतः कारणकार्यकी दृष्टिसे कषाय और अविरति भिन्न हैं।

प्रश्न–अमूर्तिक आत्माके जब हाथ आदि नहीं हैं तब वह मूर्त कर्मोंका ग्रहण कैसे कर सकता है ? उत्तर—यहाँ 'पहिले आत्मा और बादमें कर्मबन्ध' इस प्रकार सादि व्यवस्था नहीं है, जिससे आत्माके ऐकान्तिक अमूर्त माननेमें यह प्रसंग दिया जाय, किन्तु अनादि कार्मण शरीरके सम्बन्ध होनेके कारण गरमलोहेके गोला जैसे पानीको खींचता है उसी तरह कषाय-सन्तप्त आत्मा कर्मोंको ग्रहण करता है—

**सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥**

जीव सकषाय होनेसे कर्मयोग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

§ १. 'जैसे जठराग्निके अनुसार आहारपाक होता है उसी तरह तीव्र मन्द और मध्यम कषायोंके अनुसार स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं' इस तत्त्वकी प्रतिपत्तिके लिए बन्धके कारणोंमें निर्दिष्ट भी कषायका यहाँ पुनः ग्रहण किया है।

§ २-३. जीवन–आयु, आयुसहित जीव ही कर्मबन्ध करता है, आयुसे रहित सिद्ध नहीं।

§ ४. 'कर्मणो योग्यान्' इस पृथक् विभक्तिसे दो पृथक् वाक्योंका ज्ञापन होता है–'कर्मसे जीव सकषाय होता है' और 'कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है।' पहिले वाक्यमें 'कर्मणः' शब्द हेतुवाचक है, अर्थात् पूर्वकर्मसे जीव सकषाय होता है, अकर्मकके कषायलेप नहीं होता, जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है। दूसरे वाक्यमें 'कर्मणः' शब्द षष्ठीविभक्तिवाला है अर्थात सकषाय-जीव कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। अर्थवश विभक्तिका परिणमन हो जाता है।

§ ५. 'कर्म पौद्गलिक है' यह पुद्गल शब्दसे सूचित होता है। वैशेषिकका कर्म अदृष्टको आत्माका गुण मानना उचित नहीं है क्योंकि अमूर्तिक गुण अनुग्रह और उपघात नहीं कर सकता उसी तरह अमूर्तकर्म अमूर्तआत्माके अनुग्रह और उपघातके कारण नहीं हो सकते।

§ ७-१०. आदत्ते–ग्रहण करता है, बन्धका अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि मिथ्या-दर्शन आदिके आवेशसे आर्द्रआत्मामें चारों ओरसे योगविशेषसे सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी एक क्षेत्राव-गाही कर्मयोग्यपुद्गलोंका अविभावात्मक बन्ध हो जाता है। जैसे किसी बर्तनमें अनेक प्रकारके रसवाले बीजफल फूल आदिका मदिरारूपसे परिणमन होता है उसी तरह आत्मामें ही स्थित पुद्गलोंका योग और कषायसे कर्मरूप परिणमन हो जाता है। 'यही बन्ध है, अन्य नहीं' यह सूचना देनेके लिए 'स' शब्द दिया है। इससे गुणगुणिबन्धका तात्पर्य है अदृष्टनामके गुणका आत्मानामक गुणीमें समवायसे सम्बन्ध हो जाना। यदि गुणगुणिबन्ध माना जाता है तो मुक्तिका अभाव हो जायगा; क्योंकि गुणी कभी भी अपने गुण-स्वभावको नहीं छोड़ता। यदि स्वभावको छोड़ दे तो गुणीका ही अभाव हो जायगा। तात्पर्य यह कि मुक्तका ही अभाव हो जायगा।

§ ११. बन्धशब्द करणादि साधन है। 'बध्यतेऽनेन–बँधता है जिनके द्वारा' ऐसी करणसाधन विवक्षामें मिथ्यादर्शन आदिको बँध कहते हैं। यद्यपि मिथ्यादर्शन आदि बन्धके

कारण है फिर भी पूर्वोपात्त कर्मके वे परिणाम हैं अतः कार्यरूपसे आत्माको परतन्त्र करनेके कारण बन्ध कहे जाते हैं। 'बध्यते इति बन्धः' अर्थात् मिथ्यादर्शनादि रूपसे जो बँधे वह बन्ध यह कर्मसाधन भी बन जाता है। इसी तरह 'ज्ञान दर्शन अव्याबाध अनाम अगोत्र और अनन्तराय आदि पुरुषशक्तियोंका जो प्रतिबन्ध करे वह बन्ध' यह कर्तृसाधन बन जाता है। मात्र परतन्त्र करनेकी विवक्षामें 'बन्धनं बन्धः' यह भावसाधन बनता है। भावसाधनमें भी 'ज्ञान ही आत्मा' की तरह अभेदविवक्षामें सामानाधिकरण्य बन जाता है।

§ १२. जैसे भण्डारसे पुराने धान्य निकाल लिये जाते हैं और नये भर दिये जाते हैं उसी तरह अनादि कार्मण शरीर रूप भण्डारमें कर्मोंका आना-जाना होता रहता है। पुराने कर्म फल देकर झड़ जाते हैं और नये कर्म आ जाते हैं। इस तरह उपचय-अपचय होता रहता है।

बन्ध के भेद—

## प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

§ १-३. 'स्त्रियां क्तिः' इस सूत्र में 'अकर्तरि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ज्ञानावरणादि की अर्थानवगम आदि प्रकृति की जाय जिससे वह प्रकृति है। प्रकृति शब्द अपादानसाधन है। स्थिति-अवस्थान। अनुभव-अनुभवन। ये दोनों शब्द भावसाधन हैं। 'प्रदिश्यते इति प्रदेशः' यह प्रदेश शब्द कर्मसाधन है।

§ ४-७. प्रकृति अर्थात् स्वभाव। जैसे नीमकी प्रकृति कड़ुआपन और गुड़की प्रकृति मधुरता है उसी तरह ज्ञानावरणकी प्रकृति है अर्थज्ञान नहीं होने देना। दर्शनावरणकी प्रकृति अर्थका अनालोचन, वेदनीयकी सुख-दुःखसंवेदन, दर्शनमोहकी तत्त्वार्थका अश्रद्धान, चारित्र-मोहकी असंयमपरिणाम, आयुकी भवधारण, नामकी नारक आदि नामव्यवहार कराना, गोत्र-की ऊँच-नीच व्यवहार तथा अन्तरायकी प्रकृति दानादिमें विघ्न करना है। यह जिससे हो वह प्रकृतिबन्ध है। जैसे बकरी, गाय और भैंस आदिके दूध अपने मधुर स्वभावको नहीं छोड़ते उसी तरह ज्ञानावरण आदिका अपने अर्थानवगम आदि स्वभावसे च्युत नहीं होना स्थिति है। जैसे बकरी आदिके दूधोंमें तीव्र मन्द और मध्यम रूपसे रसविशेष होता है उसी तरह कर्मपुद्गलोंकी फलदान शक्ति अनुभव कहलाती है। कर्मरूपसे परिणत पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओंकी गिनती प्रदेश बन्ध है। विध शब्द प्रकारार्थक है। अर्थात् प्रकृति-आदि बन्धके चार प्रकार हैं।

§ ८-१०. प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगोंसे होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग कषायोंसे। इनके तारतम्यसे बन्धमें विचित्रता होती है; क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य होता है।

§ ११. प्रकृतिबन्ध मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे दो प्रकारका है।

## आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अन्तराय ये मूल प्रकृति-बन्धके आठ भेद हैं।

§ १. द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे सामान्यतया एक ही प्रकृतिबन्ध है, अतः आद्य शब्दमें एकवचन दिया गया है। उसीके भेद ज्ञानावरण आदि हैं, अतः उनमें बहुवचनका प्रयोग किया है। समानाधिकरण होनेपर भी वचनभेद हो जाता है जैसे कि 'श्रोतारः प्रमाणम्, गावो धनम्' यहाँ, अतः आद्यशब्दमें बहुवचनकी आशंका नहीं करनी चाहिये।

§ २. ज्ञानावरण आदि शब्दोंकी यथासम्भव कर्तृसाधन आदिमें व्युत्पत्ति करनी चाहिये। जो आवरण करे या जिसके द्वारा आवरण किया जाय वह आवरण है। आवरण शब्दका सम्बन्ध ज्ञान और दर्शनमें कर लेना चाहिये। बहुलापेक्षया कर्तामें भी अनट् प्रत्यय

होता है। 'वेद्यते' जो अनुभव किया जाय वह वेदनीय है। जो मोहन करे या जिसके द्वारा मोह हो वह मोहनीय है। बहुलापेक्षया कर्त्तामें 'अनीय' प्रत्यय करनेसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय शब्द भी सिद्ध हो जाते हैं। जिससे नरकादि पर्यायोंको प्राप्त हो वह आयु है। जो आत्माका नरकादि रूपसे नामकरण करे या जिसके द्वारा नामकरण हो वह नाम है। उच्च और नीच रूपसे शब्दव्यवहार जिससे हो वह गोत्र है। दाता और पात्र आदिके वीचमें विघ्न आवे जिसके द्वारा वह अन्तराय है। अथवा, जिसके रहनेपर दाता आदि दानादि क्रियाएँ न कर सकें, दानादिकी इच्छासे पराङ्मुख हो जायँ वह अन्तराय है।

§ ३. जिस प्रकार खाये हुए भोजनका अनेक विकारमें समर्थ वात, पित्त, श्लेष्म, खल रस आदि रूपसे परिणमन हो जाता है उसी तरह बिना किसी प्रयोगके कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, नानाजाति नाम गोत्र और अन्तराय आदि शक्तियोंसे युक्त होकर आत्मासे बँध जाते हैं।

§ ४–५. प्रश्न–मोहके होनेपर भी हिताहितका विवेक नहीं होता अतः मोहको ज्ञानावरणसे भिन्न नहीं कहना चाहिये ? उत्तर–पदार्थका यथार्थ वोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थका अश्रद्धान मोह है, पर ज्ञानावरणसे ज्ञान तथा या अन्यथा ग्रहण ही नहीं करता, अतः दोनोंमें अन्तर है। जैसे अंकुररूप कार्यके भेदसे कारणभूत वीजोंमें भिन्नता है उसी तरह अज्ञान और मोह आदि कार्यभेदसे उनके कारण ज्ञानावरण और मोहमें भेद होना ही चाहिये।

§ ६–७. ज्ञान और दर्शन रूप कार्यभेद होनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें भेद है। जैसे मेघका जल पात्रविशेषमें पड़कर विभिन्न रसोंमें परिणमन कर जाता है उसी तरह ज्ञानशक्तिका उपरोध करनेसे ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी अवान्तर शक्तिभेदसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि रूपसे परिणमन करता है। इसी तरह अन्य कर्मोंका भी मूल और उत्तर प्रकृतिरूपसे परिणमन हो जाता है।

§ ८–१४. प्रश्न–पुद्गलद्रव्य जब एक है तो वह आवरण और सुख-दुःख आदि अनेक कार्योंका निमित्त नहीं हो सकता ? उत्तर–ऐसा ही स्वभाव है। जैसे एक ही अग्निमें दाह पाक प्रताप और प्रकाशकी सामर्थ्य है उसी तरह एक ही पुद्गलमें आवरण और सुख दुःखादिमें निमित्त होनेकी शक्ति है, इसमें कोई विरोध नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त रूप है। द्रव्यदृष्टिसे पुद्गल एक होकर भी अनेक परमाणुके स्निग्धरूक्षवन्धसे होनेवाली विभिन्न स्कन्ध पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक है, इसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार वैशेषिकके यहाँ पृथिवी जल अग्नि और वायु परमाणुओंसे निष्पन्न भिन्नजातीय इन्द्रियोंका एक ही दूध या घी उपकारक होता है उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं वैसे उनमें होनेवाली वृद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे पृथिवीजातीय दूधसे तेजोजातीय चक्षुका उपकार होता है उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है। अतः भिन्नजातीय द्रव्योंमें परस्पर उपकार माननेमें कोई विरोध नहीं है।

§ १५. वन्धके एकसे लेकर संख्याततक भेद होते हैं। जैसे सैनिक हाथी घोड़ा आदि भेदोंकी विवक्षा न होनेसे सामान्यतया सेना एक कही जाती है अथवा अशोक आम तिलक वकुल आदि वृक्षोंकी भेद-विवक्षा न होनेसे सामान्यतया वन एक कहा जाता है उसी तरह भेदोंकी विवक्षा न होनेसे सामान्यरूपसे कर्मवन्ध एक ही प्रकारका है। जैसे आफिसर और साधारण सैनिकके भेदसे सेना दो भागोंमें वँट जाती है उसी तरह पुण्य और पापके भेदसे कर्मवन्ध भी दो प्रकारका है। अनादि सान्त, अनादि अनन्त और सादि सान्तके भेदसे अथवा भुजकार अल्पतर और अवस्थितके भेदसे वन्ध तीन प्रकारका है। प्रकृति स्थिति अनुभव और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भवके भेदसे पाँच प्रकारका है। छह जीव निकायके भेदसे छह प्रकारका है। राग द्वेष मोह क्रोध मान माया और लोभके भेदसे

सात प्रकारका है। ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका है। इस तरह संख्यात विकल्प शब्दकी दृष्टिसे समझना चाहिये। अध्यवसाय-स्थानोंकी दृष्टिसे असंख्येय और अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धोंकी दृष्टिसे या ज्ञानावरणादिके अनुभवके अविभागप्रतिच्छेदोंकी दृष्टिसे अनन्त प्रकारका भी है। च शब्दसे इन सबका समुच्चय हो जाता है।

§ १६–२३. ज्ञानसे आत्माका अधिगम होता है अतः स्वाधिगमका निमित्त होनेसे वह प्रधान है, अतः ज्ञानावरणका सर्वप्रथम ग्रहण किया है। साकारोपयोगरूप ज्ञानसे अनाकारोपयोगरूप दर्शन अप्रकृष्ट है परन्तु वेदनीय आदिसे प्रकृष्ट है क्योंकि उपलब्धिरूप है, अतः दर्शनावरणका उसके वाद ग्रहण किया है। इसके वाद वेदनीयका ग्रहण किया है क्योंकि वेदना ज्ञान-दर्शनकी अव्यभिचारिणी है, घटादिरूप विपक्षमें नहीं पाई जाती। ज्ञान-दर्शन और सुख-दुःख वेदनका विरोधी होनेसे उसके बाद मोहनीयका ग्रहण किया है। यद्यपि मोही जीवोंके भी ज्ञान-दर्शन सुख आदि देखे जाते हैं फिर भी प्रायः मोहाभिभूत प्राणियोंको हिताहितका विवेक आदि नहीं रहते अतः मोहका ज्ञानादिसे विरोध कह दिया है। प्राणियोंको आयुनिमित्तक सुख-दुःख होते हैं अतः आयुका कथन इसके अनन्तर किया है। तात्पर्य यह कि प्राणधारियोंको ही कर्मनिमित्तक सुखादि होते हैं और प्राणधारण आयुका कार्य है। आयुके उदयके अनुसार ही प्रायः गति आदि नामकर्मका उदय होता है अतः आयुके वाद नामका ग्रहण किया है। शरीर आदिकी प्राप्तिके वाद ही गोत्रोदयसे शुभ-अशुभ आदि व्यवहार होते हैं अतः नामके वाद गोत्रका कथन किया गया है। अन्य कोई कर्म वचा नहीं है अतः अन्तमें अन्तरायका कथन किया गया है।

उत्तर प्रकृतिवन्ध—

**पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदो यथाक्रमम् ॥५॥**

§ १–४. पञ्च आदि संख्या-शब्दोंका द्वन्द्व करके पीछे वहुव्रीहि समास कर लेना चाहिए। पहिले सूत्रमें 'आद्य' पद दिया है, अतः 'द्वितीय' शब्दके विना भी इस सूत्रमें द्वितीय उत्तर प्रकृतिवन्धका बोध अर्थात् ही हो जाता है। भेदशब्द प्रत्येकमें लगा देना चाहिए–पञ्चभेद नवभेद आदि। यथाक्रम अर्थात् सूत्रमें निर्दिष्ट ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि क्रमसे ज्ञानावरणके पाँच भेद, दर्शनावरणके नव भेद आदि हैं।

**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥**

मत्यावरण श्रुतावरण अवध्यावरण मनःपर्ययावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण हैं।

§ १–३. मतिज्ञान आदिके लक्षण प्रथम अध्यायमें कहे जा चुके हैं। यदि 'मत्यादीनाम्' ऐसा लघु पाठ रखते तो 'मति आदिका एक आवरण है' इस अनिष्टार्थका प्रसंग होता अतः प्रत्येकसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि सम्बन्ध करनेके लिए सबका पृथक् ग्रहण किया है। 'ज्ञानावरणकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं' यहाँ 'पाँच' संख्याका निर्देश करनेसे मति आदि पाँच ज्ञानोंका क्रमशः सम्बन्ध हो जायगा' यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें मति आदि प्रत्येकके पाँच आवरणोंका प्रसंग होगा। अतः इष्टार्थकी प्रतीतिके लिए प्रत्येक मति श्रुत आदिका ग्रहण किया गया है।

§ ४–६. प्रश्न–विद्यमान मति आदिका आवरण होगा या अविद्यमान? यदि विद्यमानका; तो जब वह स्वरूपलाभ करके विद्यमान ही है तब आवरण कैसा? अविद्यमानका भी खरविषाणकी तरह आवरण नहीं हो सकता? उत्तर–द्रव्यार्थदृष्टिसे सत् और पर्यायदृष्टिसे असत् मति आदिका आवरण होता है। यदि सर्वथा सत् माना जाय तो फिर इन्हें क्षयोपशमजन्य नहीं कह सकेंगे। और यदि सर्वथा 'असत्' हैं; तब भी ये क्षयोपशमजन्य नहीं हो सकते। जैसे सत्

आकाशका मेघपटल आदिसे आवरण देखा जाता है उसी तरह विद्यमान भी मति आदिका आवरण माननेमें क्या विरोध है ? जैसे प्रत्याख्यान कोई प्रत्यक्ष पदार्थ नहीं है जिसके आवरणसे प्रत्याख्यानावरण हो किन्तु प्रत्याख्यानावरणके उदयसे आत्मामें प्रत्याख्यान पर्याय उत्पन्न नहीं होती इसीलिए वह प्रत्याख्यानावरण कहा जाता है उसी तरह मति आदिका कहीं प्रत्यक्षीभूत ढेर नहीं लगा है जिसको ढँक देनेसे मत्यावरण आदि कहे जाते हों, किन्तु मत्यावरण आदिके उदयसे आत्मामें मतिज्ञान आदि उत्पन्न नहीं होते इसीलिए उन्हें आवरण संज्ञा दी गई है।

§ ७-९. द्रव्यदृष्टिसे अभव्योंमें भी मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी शक्ति है, इसीलिए अभव्योंके भी मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण माने जाते हैं। मात्र इनकी शक्ति होनेसे उनमें भव्यत्वका प्रसंग भी नहीं दिया जा सकता; क्योंकि भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञान दर्शन और चारित्रकी शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा नहीं है किन्तु उस शक्तिकी प्रकट होनेकी योग्यता और अयोग्यताकी अपेक्षा है। जैसे जिसमें सुवर्णपर्यायके प्रकट होने की योग्यता है वह कनकपापाण कहा जाता है और अन्य अन्धपापाण, उसी तरह सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंकी अभिव्यक्तिकी योग्यतावाला भव्य तथा अन्य अभव्य हैं। अतः द्रव्य दृष्टिसे मनःपर्यय और केवलज्ञानकी शक्ति विद्यमान रहते हुए भी जिनके उदयसे वे प्रकट नहीं हो पाते वे मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण अभव्यके भी हैं।

§ १०. ज्ञानावरणके उदयसे आत्माके ज्ञान सामर्थ्य लुप्त हो जाती है, वह स्मृतिशून्य और धर्मश्रवणसे निरुत्सुक हो जाता है और अज्ञानजन्य अवमानसे अनेक दुःख पाता है।

दर्शनावरणके भेद–

**चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥**

§ १. चक्षु अचक्षु अवधि और केवलका 'दर्शनावरण'से सम्बन्ध करना है अतः उनमें पृथक् विभक्ति दी गई है।

§ २-६. मद खेद और क्लमके दूर करनेके लिए सोना निद्रा है। नींदके ऊपर भी नींद आना निद्रानिद्रा है। जिस नींदसे आत्मामें विशेप प्रचलन उत्पन्न हो वह प्रचला है। शोक, श्रम, मद आदिके कारण इन्द्रिय व्यापारसे उपरत होकर वैठे ही वैठे शरीर और नेत्र आदिमें विकार उत्पन्न करनेवाली प्रचला होती है। प्रचलापर वार-वार प्रचलाका होना प्रचलाप्रचला है। जिसके उदयसे स्वप्नमें विशेष शक्तिका आविर्भाव हो जाता है जिससे वह अनेक रौद्र कर्म तथा असम्भव कार्य कर डालता है और आकर सो जाता है, उसे पीछे स्मरण भी नहीं रहता वह स्त्यान गृद्धि है।

§ ७-८. वीप्सार्थक द्वित्व नाना अधिकरणमें होता है। निद्रानिद्रा आदि निर्देशमें भी काल आदिके भेदसे एक भी आत्मामें नाना अधिकरणता वन जाती है। जैसे एक ही व्यक्तिमें कालभेदसे गुणभेद होनेपर 'गत वर्ष यह पटु था और इस वर्ष पटुतर है' यह प्रयोग हो जाता है तथा देशभेदसे मथुरामें देखे गये व्यक्तिको पटनामें देखनेपर 'तुम तो वदल गये' यह प्रयोग होता है उसी तरह यहाँ भी कालभेदसे भेद होकर वीप्सार्थक द्वित्व वन जायगा। अथवा, अभीक्ष्ण-सततप्रवृत्ति–वार-वार प्रवृत्ति-अर्थमें द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा प्रयोग वन जाता है जैसे कि घरमें घुस-घुसकर वैठा है अर्थात् वार-वार घरमें घुस जाता है यहाँ।

§ ९. निद्रादि कर्म और सातावेदनीयके उदयसे निद्रा आदि आती है। नींदसे शोक क्लम श्रम आदि हट जाते हैं अतः साताका उदय तो स्पष्ट ही है, असाताका मन्दोदय भी रहता है।

§ १०-११. दर्शनावरणकी अनुवृत्ति करके निद्रा आदिका उससे अभेद सम्वन्ध कर लेना चाहिये अर्थात् निद्रा आदि दर्शनावरण हैं। यद्यपि चक्षु-अचक्षु आदिका भिन्न-भिन्न निर्देश है और उनसे षष्ठी-विभक्ति होनेसे भेदरूपसे ही दर्शनावरणका सम्वन्ध करना है और निद्रादिके

साथ अभेद रूपसे; फिर भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि भेद और अभेद रूपसे सम्बन्ध करना विवक्षाधीन है। जहाँ जैसी विवक्षा होगी वहाँ वैसा सम्बन्ध हो जायगा।

§ १२–१६. चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरणके उदयसे आत्माके चक्षुरादि इन्द्रियजन्य आलोचन नहीं हो पाता। इन इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानके पहिले जो सामान्यालोचन होता है उस पर इन दर्शनावरणोंका असर होता है। अवधिदर्शनावरणके उदयसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनावरणके उदयसे केवलदर्शन नहीं हो पाता। निद्राके उदयसे तम-अवस्था और निद्रा-निद्राके उदयसे महातम-अवस्था होती है। प्रचलाके उदयसे बैठे-बैठे ही घूमने लगता है, नेत्र और शरीर चलने लगते हैं, देखते हुए वह भी नहीं देख पाता। प्रचला-प्रचलाके उदयसे अत्यन्त ऊँघता है, बाण आदिसे शरीरके छिद जानेपर भी कुछ नहीं देख पाता।

वेदनीयकी उत्तर प्रकृतियाँ–

**सदसद्वेद्ये ॥८॥**

§ १-२. जिसके उदयसे अनेक प्रकारकी देव आदि विशिष्ट गतियोंमें इष्ट सामग्रीके सन्निधानकी अपेक्षा प्राणियोंके अनेक प्रकारके शारीरिक और मानस सुखोंका अनुभवन होता है वह सातावेदनीय है और जिसके उदयसे नरक आदि गतियोंमें अनेक प्रकारके कायिक मानस अतिदुःसह जन्म जरा मरण प्रियवियोग अप्रियसंयोग व्याधि वध और बन्ध आदिसे जन्य दुःखका अनुभव होता है वह असातावेदनीय है।

मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियाँ–

**दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥**

§ १. दर्शन आदिका तीन आदिसे क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिए। अर्थात् दर्शनमोहनीय तीन प्रकारका, चारित्र-मोहनीय दो प्रकारका, अकषाय वेदनीय नव प्रकारका और कषायवेदनीय सोलह प्रकारका है।

§ २. दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं–सम्यक्त्व मिथ्यात्व और मिश्र। दर्शनमोहनीयकर्म बन्धकी अपेक्षा एक होकर भी सत्ताकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। जिसके उदयसे सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे पराङ्मुख होकर तत्त्वश्रद्धानसे निरुत्सुक और हिताहित विभागमें असमर्थ मिथ्यादृष्टि हो जाता है, वह मिथ्यात्व है। शुभ-परिणामोंसे जब उसका अनुभाग रोक दिया जाता है और जब वह उदासीन रूपसे स्थित रहकर आत्मश्रद्धानको नहीं रोकता तब वही सम्यक्त्व प्रकृति रूप बन जाता है और उसके उदयमें भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। जब वही मिथ्यात्व आधा शुद्ध और आधे अशुद्ध रसवाला होता है तब धोनेसे क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंकी तरह मिश्र या तदुभय कहा जाता है। इसके उदयसे आधे शुद्ध कोदोंसे जिस प्रकारका मद होता है उसी तरहके मिश्रभाव होते हैं।

§ ३. चारित्रमोहनीय अकषाय और कषायके भेदसे दो प्रकारका है। जैसे 'अलोमिका' कहनेसे रोमका सर्वथा निषेध नहीं होता किन्तु काटने लायक बड़े रोमोंका अभाव ही द्योतित होता है उसी तरह अकषाय शब्दसे कषायका निषेध नहीं है किन्तु ईषत् कषाय विवक्षित है। ये स्वयं कषाय न होकर दूसरेके बलपर कषाय बन जाती हैं। जैसे कुत्ता स्वामीका इशारा पाकर काटनेको दौड़ता है और स्वामीके इशारेसे ही वापिस आ जाता है उसी तरह क्रोधादि कषायोंके बलपर ही हास्य आदि नोकषायोंकी प्रवृत्ति होती है, क्रोधादिके अभावमें ये निर्बल रहती हैं, इसीलिए इन्हें ईषत्कषाय अकषाय या नोकषाय कहते हैं।

§ ४. अकपायवेदनीय हास्य आदिके भेदसे नव प्रकारका है। जिसके उदयसे हँसी आवे वह हास्य कर्म है। जिसके उदयसे उत्सुकता हो वह रति है। रतिसे विपरीत अरति होती है अर्थात् अनौत्सुक्य। जिसका फल शोक हो वह शोक है। जिसके उदयसे उद्वेग हो वह भय है। कुत्सा-ग्लानिको जुगुप्सा कहते हैं। यद्यपि जुगुप्सा कुत्साका ही एक भेद है फिर भी कुछ अन्तर है–अपने दोपोंको ढँकना जुगुप्सा है तथा दूसरेके कुल शील आदिमें दोप लगाना आक्षेप करना और भर्त्सना करना आदि कुत्सा है। जिसके उदयसे कोमलता अस्फुटता क्लीवता कामावेश नेत्रविभ्रम आस्फालन और पुरुपकी इच्छा आदि स्त्री-भावोंको प्राप्त हो वह स्त्रीवेद है। जब स्त्रीवेदका उदय होता है तब पुरुपवेद और नपुंसकवेद सत्तामें रहते हैं। शरीरमें जो स्तन योनि आदि चिह्न हैं वे नामकर्मके उदयसे होते हैं, अतः द्रव्यपुरुपको भी स्त्रीवेदका उदय होता है। कभी स्त्रीको भी पुंवेदका उदय होता है। शरीरका आकार तो नामकर्मकी रचना है। जिसके उदयसे पुरुष-सम्बन्धी भावोंको प्राप्त तो वह पुंवेद और जिसके उदयसे नपुंसकोंके भावोंको प्राप्त हो वह नपुंसक वेद है।

§ ५. कपायवेदनीय अनन्तानुबन्धी क्रोध आदिके भेदसे सोलह प्रकारका है। अपने और परके उपघात या अनुपकार आदि करनेके क्रूर परिणाम क्रोध हैं। वह पर्वतरेखा, पृथ्वी रेखा, धूलिरेखा और जलरेखाके समान चार प्रकारका है। जाति आदिके मदसे दूसरेके प्रति नमनेकी वृत्ति न होना मान है। वह पत्थरका खम्भा, हड्डी, लकड़ी और लताके समान चार प्रकारका है। दूसरे को ठगनेके लिए जो कुटिलता और छल आदि हैं वह माया है। यह बाँस वृक्षकी गँठीली जड़, मेढ़ेका सींग, गायके मूत्रकी वक्ररेखा और लेखनीके समान चार प्रकारकी है। धन आदिकी तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है। यह किरमिची रंग, काजल, कीचड़ और हलदी के रंगके समान चार प्रकारका है। इन क्रोध, मान, माया और लोभकी अनन्तानुबन्धी आदि चार अवस्थाएँ होती हैं। अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शनको अनन्त कहते हैं, इस अनन्त मिथ्यात्वको बाँधने वाली कपाय अनन्तानुबन्धी है। जिसके उदयसे देशविरति अर्थात् थोड़ा भी संयम-संयमासंयम प्राप्त नहीं कर सकते वह देशविरतिका आवरण करनेवाली कपाय अप्रत्याख्यानावरण है। जिसके उदयसे संपूर्णविरति या सकलसंयम धारण न कर सकें वह समस्त प्रत्याख्यान-सर्वत्यागको रोकनेवाली कपाय प्रत्याख्यानावरण है। जो संयमके साथ ही जलती रहे अथवा जिसके रहनेपर भी संयम हो सकता हो वह संज्वलन कपाय है। इस तरह ४×४सोलह कपायें होती हैं।

आयुकी उत्तर प्रकृतियाँ–

## नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

§ १–४. नरकादिपर्यायोंके सम्बन्धसे आयु भी नारक तैर्यग्योन आदि कही जाती है, अर्थात् नरकादिमें होनेवाली आयुएँ। जिसके होनेपर जीवित और जिसके अभावमें मृत कहा जाता है वह भवधारणमें कारण आयु है। अन्न आदि तो आयुके अनुग्राहक हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें मृत्पिण्ड मूल कारण है और दण्ड आदि उसके उपग्राहक हैं उसी तरह भवधारणका अभ्यन्तर कारण आयु है और अन्न आदि उपग्राहक। फिर सर्वत्र अन्नादि अनुग्राहक भी नहीं होते; क्योंकि देवों और नारकियोंके अन्नका आहार नहीं होता, अतः भवधारण आयुके ही अधीन है।

§ ५–८. जिसके उदयसे तीव्र शीत और तीव्र उष्ण वेदनावाले नरकोंमें भी दीर्घजीवन होता है वह नरकायु है। क्षुधा तृष्णा शीत उष्ण दंशमशक आदि अनेक दुःखोंके स्थानभूत तिर्यंचोंमें जिसके उदयसे भवधारण हो वह तैर्यग्योन है। शारीरिक

और मानस सुख दुःखसे समाकुल मानुष पर्यायमें जिसके उदयसे भवधारण हो वह मनुष्यायु है। शारीर और मानस अनेक सुखोंसे प्रायः युक्त देवोंमें जिसके उदयसे भवधारण हो वह देवायु है। कभी-कभी देवोंमें भी प्रिय देवांगनाके वियोग और दूसरे देवोंकी विभूतिको देखकर तथा देवपर्यायकी समाप्तिके सूचक मालाका मुरझाना, आभूषण और देहकी कान्तिका मलिन पड़ जाने आदिको देखकर मानस दुःख उत्पन्न होता है। इसलिए 'प्रायः' पद दिया है।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ–

**गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वञ्च ॥११॥**

§ १. जिसके उदयसे आत्मा पर्यायान्तरके ग्रहण करनेके लिए गमन करता है वह गति है। 'गम्यते इति गतिः' ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी गति शब्द गो शब्दकी तरह रूढिसे एक गतिविशेषमें प्रयुक्त होता है। अन्यथा जब आत्मा गमन नहीं करता उस समय तथा कर्मकी सत्ता अवस्थामें गतिव्यपदेश नहीं हो सकेगा। नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतियाँ हैं। जिसके निमित्तसे आत्मामें नारक भाव हों वह नरक गति है। इसी तरह उन उन तिर्यंच आदि भावोंको प्राप्त करानेवाली तिर्यग्गति आदि हैं।

§ २. नरकादि गतियोंमें अव्यभिचारी सादृश्यसे एकीकृत स्वरूप जाति है। जातिव्यवहारमें निमित्त जाति नामकर्म है। जाति पाँच प्रकार की है–एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति और पंचेन्द्रिय जाति। जिसके उदयसे आत्मा 'एकेन्द्रिय' कहा जाय वह एकेन्द्रिय जाति है। इसी तरह अन्य भी समझना चाहिए।

§ ३. जिसके उदयसे आत्माकी शरीर रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मणके भेदसे शरीर पाँच प्रकारका है।

§ ४. जिसके उदयसे सिर, पीठ, जाँघ, बाहु, उदर, नल, हाथ और पैर ये आठ अंग तथा ललाट नासिका आदि उपांगोंका विवेक हो वह अंगोपांग नाम कर्म है। वह तीन प्रकारका है–औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, २ वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, और आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग।

§ ५. जिसके निमित्तसे अङ्ग और उपाङ्गोंकी रचना हो वह निर्माण नाम कर्म है। वह दो प्रकार है–स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। यह जाति नाम कर्मके उदयकी अपेक्षा चक्षु आदिके स्थान और प्रमाणकी रचना करता है। जिससे रचना की जाय वह निर्माण है।

§ ६. शरीर नाम कर्मके उदयसे गृहीत पुद्गलोंका परस्पर प्रदेशसंश्लेष जिससे हो वह बन्धन नाम कर्म है। इसके अभावमें शरीर लकड़ियोंके ढेर जैसा हो जाता।

§ ७. जिसके उदयसे औदारिकादि शरीरोंका निश्छिद्र परस्परसंश्लिष्ट संगठन होता है वह संघात नाम कर्म है।

§ ८. जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंके आकार बने वह संस्थान नाम कर्म है। वह छह प्रकारका है। ऊपर नीचे और मध्यमें कुशल शिल्पीके द्वारा बनाये गये समचक्रकी तरह समान रूपसे शरीरके अवयवोंकी रचना होना समचतुरस्रसंस्थान है। वड़के पेड़की तरह नाभिके ऊपर भारी और नीचे लघु प्रदेशोंकी रचना न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। इससे उलटा-ऊपर लघु और नीचे भारी, वाँवीकी तरह रचना स्वाति संस्थान है। पीठपर बहुत पुद्गलोंका पिंड हो जाना अर्थात् कुबड़ापन कुब्जक संस्थान है। सभी अंग और उपांगोंको छोटा बनानेमें कारण वामन संस्थान है। सभी अंग और उपांगोंको बेतरतीब हुंडकी तरह रचना हुंडक संस्थान है।

§ ९. जिसके उदयसे हड्डियोंके बन्धनविशेष होते हैं वह संहनन नाम कर्म है। यह

भी छह प्रकारका है। दोनों हड्डियोंकी सन्धियाँ वज्राकार हों। प्रत्येकमें वलयवन्धन और नाराच हों ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रर्षभनाराच संहनन है। वलयवन्धनसे रहित वही वज्र-नाराच संहनन है। वही वज्राकार बन्धन और वलयवन्धनसे रहित पर नाराचयुक्त होने पर सनाराचसंहनन है। वही एक तरफ नाराचयुक्त तथा दूसरी ओर नाराचरहित अवस्थामें अर्ध नाराच है। जब दोनों हड्डियोंके छोरोंमें कील लगी हों तब वह कीलकसंहनन है। जिसमें भीतर हड्डियोंका परस्पर बन्ध न हो मात्र वाहिरसे वे सिरा स्नायु मांस आदि लपेट कर संघटित की गई हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है।

§ १०. जिसके उदयसे विलक्षण स्पर्श आदिका प्रादुर्भाव हो वे स्पर्श आदि नामकर्म हैं। कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण ये आठ स्पर्श हैं। तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, और मधुर ये पाँच रस हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं। कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल ये पाँच वर्ण हैं। इन नाम कर्मोंके उदयसे शरीरमें उस-उस जातिके स्पर्श आदि होते हैं। यद्यपि ये पुद्गलके स्वभाव हैं पर शरीरमें इनका अमुक रूपमें प्रादुर्भाव कर्मोदयकृत है।

§ ११. जिसके उदयसे विग्रहगतिमें पूर्व शरीरका आकार वना रहता है, वह नष्ट नहीं होता वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है। जिस समय मनुष्य या तिर्यंच अपनी आयुको पूर्ण कर पूर्व शरीरको छोड़ नरक गतिके अभिमुख होता है उस समय विग्रहगतिमें उदय तो नरकगत्यानुपूर्व्यका होता है परन्तु उस समय आत्माका आकार पूर्व शरीरके अनुसार मनुष्य या तिर्यंचका वना रहता है। इसी तरह देवगत्यानुपूर्व्य मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य समझ लेना चाहिये। यह निर्माण नाम कर्मका कार्य नहीं है क्योंकि पूर्व शरीरके नष्ट होते ही निर्माण नाम कर्मका उदय समाप्त हो जाता है। उसके नष्ट होनेपर भी आठ कर्मोंका पिण्ड कार्मण शरीर और तैजसशरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले आत्मप्रदेशोंका आकार विग्रहगतिमें पूर्व शरीरके आकार वना रहता है। विग्रह गतिमें इसका काल अधिकसे अधिक तीन समय है। हाँ, ऋजुगतिमें पूर्व शरीरके आकारका विनाश होनेपर तुरन्त उत्तर शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण हो जाता है, अतः वहाँ निर्माण कर्मका ही व्यापार है।

§ १२. जिसके उदयसे लोहपिण्डकी तरह गुरु होकर न तो पृथ्वीमें नीचे ही गिरता है और न रूईकी तरह लघु होकर ऊपर ही उड़ जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। धर्म-अधर्म आदि अजीवोंमें अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुणके कारण अगुरुलघुत्व है। अनादि कर्मवन्धनवद्ध जीवोंमें कर्मोदयसे अगुरुलघुत्व है और कर्मवन्धनरहित मुक्त जीवोंमें स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है।

§ १३-१४. जिसके उदयसे स्वयंकृत वन्धन और पर्वतसे गिरना आदि उपघात हो वह उपघात नाम कर्म है। कवच आदिके रहनेपर भी जिसके उदयसे परकृत शस्त्र आदिसे उपघात होता है वह परघात नामकर्म है।

§ १५-१६. जिसके उदयसे सूर्य आदिमें ताप हो वह आतप नाम कर्म है तथा जिससे चन्द्र जुगनू आदिमें उद्योत-प्रकाश हो वह उद्योत नाम कर्म है।

§ १७. जिसके उदयसे श्वासोच्छ्वास हों वह उच्छ्वास नाम कर्म है।

§ १८. आकाशमें गतिका प्रयोजक विहायोगति नामकर्म है। हाथी, बैल आदिकी प्रशस्त गतिमें कारण प्रशस्त विहायोगति नाम कर्म होता है तथा ऊँट, गधा आदि की अप्रशस्त गतिमें कारण अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म है। मुक्तजीव और पुद्गलोंकी गति स्वाभाविकी है। विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियोंमें ही नहीं है किन्तु सभी प्राणियोंमें है क्योंकि सबकी आकाशमें ही गति होती है।

§ १९-२०. शरीर नामकर्मके उदयसे वना हुआ शरीर जिसके उदयसे एक ही आत्माके

उपभोग्य हो वह प्रत्येक शरीर नाम कर्म है तथा बहुत आत्माओंके उपभोग्य हो वह साधारण शरीर नाम कर्म है। साधारण जीवोंके साधारण आहार आदि चार पर्याप्तियाँ और साधारण ही जन्म-मरण श्वासोच्छ्वास अनुग्रह और उपघात आदि होते हैं। जब एकके आहार शरीर इन्द्रिय और प्राणापान पर्याप्ति होती हैं उसी समय शेष अनन्त जीवोंकी पर्याप्तियाँ होती हैं। जब एक जन्मता या मरता है उसी समय शेष अनन्त जीवोंके जन्म-मरण हो जाते हैं। जिस समय एक श्वासोच्छ्वास लेता या आहार करता या अग्नि विष आदिसे उपहत होता है उसी समय शेष अनन्त जीवोंके भी श्वासोच्छ्वास आहार और उपघात आदि होते हैं।

§ २१–२२. जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय आदि जंगम-प्राणियोंमें जन्म होता है वह त्रस नाम कर्म है तथा जिसके उदयसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायमें उत्पत्ति होती है वह स्थावर नाम कर्म है।

§ २३–२४. रूपवान् या अरूपी कैसा भी हो पर जिसके उदयसे दूसरोंको प्यारा लगे वह सुभग नाम कर्म है और रूपवान् होकर भी जिसके उदयसे दूसरोंको प्यारा न लगे किन्तु अप्रीतिकर प्रतीत हो वह दुर्भग नाम कर्म है।

§ २५–२६. जिसके उदयसे सुन्दर स्वर हो वह सुस्वर और जिसके उदयसे भद्दा स्वर हो वह दुःस्वर नामकर्म है।

§ २७–२८. जिसके उदयसे देखने या सुननेपर रमणीय प्रतीत हो वह शुभ तथा रमणीय प्रतीत न हो वह अशुभ है।

२९–३० जिसके उदयसे अन्य जीवोंके अनुग्रह या उपघातके अयोग्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति हो वह सूक्ष्म है तथा अन्यको बाधाकर स्थूल शरीर मिले वह बादर है।

§ ३१–३३. जिसके उदयसे आत्मा अन्तर्मुहूर्तमें आहार आदि पर्याप्तियोंकी पूर्णता कर लेता है वह पर्याप्ति तथा जिससे पर्याप्तियोंकी पूर्णता न कर सके वह अपर्याप्ति नामकर्म है। आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति तो सर्वसंसारी जीवोंके होती है पर वह अतीन्द्रिय है–कान या स्पर्शसे अनुभवमें नहीं आती, पर उच्छ्वास नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीवके जो शीत उष्ण आदिसे लम्बे उच्छ्वास-निःश्वास होते हैं वे श्रोत्र और स्पर्शनसे ग्राह्य होते हैं। यही दोनोंमें अन्तर है।

§ ३४–३५. जिसके उदयसे दुष्कर उपवास आदि तप करनेपर भी अंग-उपांग आदि स्थिर बने रहते हैं, कृश नहीं होते वह स्थिर नामकर्म है तथा जिससे एक उपवाससे या साधारण शीत उष्ण आदिसे ही शरीरमें अस्थिरता आ जाय, कृश हो जाय वह अस्थिर नामकर्म है।

§ ३६–३७. जिसके उदयसे प्रभायुक्त शरीर हो वह आदेय तथा निष्प्रभ शरीर हो वह अनादेय है। सूक्ष्म तैजसशरीरनिमित्तक सर्वसंसारी जीवोंके होनेवाली साधारण कान्ति आदेय नहीं है, अन्यथा सभी संसारी जीवोंके इसका उदय प्राप्त होगा किन्तु आदेयकर्मनिमित्तक लावण्य या सलौनापन जुदा ही है।

§ ३८–३९. जिसके उदयसे पुण्य गुणख्यापन हो वह यशस्कीर्ति तथा पाप दोषख्यापन हो वह अयशस्कीर्ति है। यशकी कीर्ति अर्थात् ख्याति प्रसिद्धि फैलाव हो जिससे वह यशस्कीर्ति है। यश और कीर्ति दोनों शब्द एकार्थक नहीं है।

§ ४०–४२. जिसके उदयसे अचिन्त्य विशेषविभूतियुक्त आर्हन्त्यपद प्राप्त होता है वह तीर्थंकर नाम है। गणधरत्वपद प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है, चक्रवर्तित्व वासुदेव बलदेव आदि पद उच्चगोत्रनिमित्तक हैं अतः इनका पृथक् निर्देश नहीं किया है। तीर्थकी प्रवृत्ति करना तीर्थंकर प्रकृतिका फल है। यह उच्चगोत्रसे नहीं हो सकता; क्योंकि उच्चगोत्री चक्रवर्ती आदिके नहीं पाया जाता। अतः इसका पृथक् निर्देश किया है।

§ ४३-४५. गति आदि विहायोगति पर्यन्त प्रकृतियाँ अकेली-अकेली हैं और प्रत्येक शरीर आदि प्रकृतियोंका सेतर-पतिपक्षसहितसे सम्बन्ध करना है अतः सबका एक समास नहीं किया है। तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट है और अन्त्य है, चरमशरीरीके ही इसका उदय देखा जाता है अतः पृथक् इसका निर्देश किया गया है।

गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ—

## उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

§ १-३. जिसके उदयसे लोकपूजित महत्त्वशाली इक्ष्वाकु उग्र कुरु हरि और ज्ञाति आदि वंशोंमें जन्म हो वह उच्चगोत्र है। जिसके उदयसे निन्द्य दरिद्र अप्रसिद्ध और दुःखाकुल कुलोंमें जन्म हो वह नीचगोत्र है।

अन्तरायकी उत्तर प्रकृतियाँ—

## दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

§ १-३. अन्तराय शब्दकी अनुवृत्ति करके उससे दानादिका सम्बन्ध कर लेना चाहिये-दानान्तराय आदि। जिसके उदयसे देनेकी इच्छा करते हुए नहीं दे पाता, लाभकी इच्छा रखते हुए भी लाभ नहीं कर पाता, भोगकी इच्छा होते हुए भी नहीं भोग पाता, उपभोगकी इच्छा होते हुए भी उपभोग नहीं कर पाता, कार्योंमें उत्साह करना चाहता है पर निरुत्साहित हो जाता है वे दानान्तराय आदि पाँच अन्तराय हैं। यद्यपि भोग और उपभोग दोनों सुखानुभवमें निमित्त होते हैं फिर भी एक बार भोगे जानेवाले गन्ध माला स्नान वस्त्र और अन्न पान आदिमें भोग-व्यवहार तथा शय्या आसन स्त्री हाथी रथ घोड़ा आदिमें उपभोग-व्यवहार होता है। इस तरह उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या है। ज्ञानावरण और नामकर्मकी असंख्यात भी प्रकृतियाँ होती हैं।

जबतक ये कर्म फल देकर नहीं झड़ जाते तबतकके कालको स्थिति कहते हैं। प्रकृष्ट प्रणिधानसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है तथा निकृष्ट प्रणिधानसे जघन्य।

उत्कृष्ट स्थितिबन्धका वर्णन—

## आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

§ १-३. आदिके ही ( मध्य और अन्तके नहीं ) तीन ही ( चार या दो नहीं ) कर्म अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तरायकी तीस कोड़ाकोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। समान स्थिति होनेसे सूत्रक्रमका उल्लँघन कर अन्तरायका निर्देश किया है।

§ ४. 'कोटीकोट्यः' में वीप्सार्थक द्वित्व नहीं है, वैसी अवस्थामें बहुवचनकी आवश्यकता नहीं थी किन्तु राजपुरुषकी तरह कोटियोंकी कोटी ऐसा षष्ठीसमास है।

§ ५-७. परा अर्थात् उत्कृष्टस्थिति। संज्ञी पञ्चेन्द्रियपर्याप्तकके यह उत्कृष्टस्थिति समझनी चाहिये। एकेन्द्रिय पर्याप्तकके $\frac{3}{7}$ सागर, द्वीन्द्रियपर्याप्तकके २५का $\frac{3}{7}$ सागर, त्रीन्द्रिय-पर्याप्तकके ५०का $\frac{3}{7}$ सागर, चतुरिन्द्रियपर्याप्तकके १००का $\frac{3}{7}$ सागर, असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके १०००का $\frac{3}{7}$ सागर,और संज्ञिपंचेन्द्रियापर्याप्तकके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तकके पल्योपमके असंख्यातभागकम स्वपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण तथा दो इन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय अपर्याप्तसंज्ञियोंके पल्योपमके संख्यातभागसे कम स्वपर्याप्तककी स्थिति समझनी चाहिये।

मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति—

## सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके मोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है। पर्याप्तक एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियोंके क्रमशः एकसागर पच्चीससागर पचाससागर और

सौ सागर स्थिति है। अपर्याप्तक एकेन्द्रियके पल्योपमके असंख्येयभाग कम स्वपर्याप्तककी उत्कृष्ट-स्थिति तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियोंके पल्योपमके संख्यातभागसे कम स्वपर्याप्तककी स्थिति प्रमाण उत्कृष्टस्थिति समझनी चाहिये। असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके एक हजार सागर तथा अपर्याप्तकके पल्योपमके संख्यातभाग कम एक हजार सागर स्थिति है। अपर्याप्तकसंज्ञीके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

नामगोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति—

**विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥**

संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके नाम और गोत्रकी उत्कृष्टस्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर है। एकेन्द्रिय पर्याप्तकके $\frac{2}{7}$ सागर, द्वीन्द्रिय पर्याप्तकके २५का $\frac{2}{7}$ सागर, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकके ५०का $\frac{2}{7}$ सागर, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकके १००का $\frac{2}{7}$ सागर, असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके १०००का $\frac{2}{7}$ सागर और संज्ञिपंचेन्द्रिय अपर्याप्तकके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थिति है। एकेन्द्रियअपर्याप्तकके पल्यके असंख्येय भागसे कम $\frac{2}{7}$ सागर तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक असंज्ञियोंके पल्योपमके संख्यात भागसे कम स्वपर्याप्तककी स्थिति ही उत्कृष्टस्थिति समझनी चाहिए।

आयुकी उत्कृष्ट स्थिति —

**त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥**

§ १. सागरोपम पदसे अत्र कोड़ाकोड़ी सागरकी व्यावृत्ति हो जाती है। संज्ञिपर्याप्तकके आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है। असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके पल्योपमके असंख्यातवें भाग तथा शेषके पूर्वकोटिप्रमाण उत्कृष्टस्थिति है।

अन्य कर्मोंकी जघन्यस्थितियोंसे जिनकी कुछ विशेष जघन्यस्थिति है उनका निरूपण करते हैं।

**अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥**

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें वेदनीयकी जघन्यस्थिति १२ मुहूर्त प्रमाण है।

**नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥**

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें नाम और गोत्रकी जघन्यस्थिति ८ मुहूर्त है।

**शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥**

ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायकी सूक्ष्मसाम्परायमें तथा मोहनीयकी अनिवृत्ति-वादर साम्परायमें और आयुकी संख्यातवर्षकी आयुवाले तिर्यंचों और मनुष्योंमें जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

अनुभव बन्धका वर्णन—

**विपाकोऽनुभवः ॥२१॥**

§ १. ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियोंके जो कि अनुग्रह और उपघात करनेवाली हैं, तीव्र मन्दभावनिमित्तक विशिष्ट पाकको विपाक कहते हैं। अथवा, द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव इन निमित्तोंके भेदसे नाना प्रकारके पाकको विपाक कहते हैं। इसीको अनुभव कहते हैं। शुभ परिणामोंकी प्रकर्षतामें शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट और अशुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट तथा अशुभ-परिणामोंकी प्रकर्षतामें अशुभप्रकृतियोंका उत्कृष्ट और शुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभाग बन्ध होता है।

अनुभव अर्थात् फलविपाक दो प्रकारसे होता है—स्वमुखसे और परमुखसे। सभी मूल प्रकृतियोंका स्वमुखसे ही विपाक होता है। उत्तर प्रकृतियोंमें आयु दर्शनमोह और चारित्र मोह-

को छोड़कर शेष सजातीय प्रकृतियोंका परमुखसे भी विपाक होता है। नरकायु नरकायु रूपसे ही फल देगी मनुष्यायु या तिर्यंचायु आदि रूपसे नहीं। इसी तरह दर्शनमोह चारित्रमोह रूपसे या चारित्रमोह दर्शनमोह रूपसे फल नहीं देगा। यह अनुभाग कर्मोंके अपने नामके अनुसार होता है।

## स यथानाम ॥२२॥

§ १. ज्ञानावरण आदि जिसका जैसा नाम है उसीके अनुसार ज्ञानका आवरण, दर्शनका आवरण आदि फल देते हैं। उत्तर प्रकृतियोंमें भी इसी तरह समझना चाहिए। सभी कर्म यथा नाम तथा गुणवाले हैं।

## ततश्च निर्जरा ॥२३॥

फल देनेके बाद कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है।

§ १-२. आत्माको सुख या दुःख देकर, खाये हुए आहारके मलकी तरह स्थितिके क्षय होनेसे झड़ जाना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकारकी है–विपाकजा और अविपाकजा। चतुर्गति-महासागरमें चिर परिभ्रमणशील प्राणीके शुभ अशुभ कर्मोंका औदयिकभावोंसे उदयावलिमें यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका जिस रूपमें बन्ध हुआ है उसका उसी रूपमें स्वाभाविक क्रमसे फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना विपाकजा निर्जरा है। जिन कर्मोंका उदयकाल नहीं आया है उन्हें भी तपविशेष आदिसे बलात् उदयावलिमें लाकर पका देना अविपाक निर्जरा है। जैसे कि कच्चे आम या पनस फलको प्रयोगसे पका दिया जाता है।

§ ३-५. 'च' शब्दसे संवरके प्रकरणमें कहे जानेवाले 'तप'का संग्रह हो जाता है। अर्थात् फल देकर भी निर्जरा होती है तथा तपसे भी। यद्यपि संवरके बाद निर्जराके वर्णनका क्रम आता है फिर भी लाघवके विचारसे विपाकके बाद ही निर्जराका वर्णन कर दिया है। अनुभाग बन्धमें पुण्य-पापकी तरह निर्जराका अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि दोनोंका अर्थ जुदा-जुदा है। फलदान शक्तिको अनुभव कहते हैं और जिनका फलानुभव किया जा चुका है ऐसे निर्वीर्य कर्मपुद्गलोंकी निवृत्ति निर्जरा कहलाती है। इसीलिए 'ततश्च' यह अपादान निर्देश बन जाता है। यदि भेद न होता तो अपादान प्रयोग नहीं हो सकता था।

§ ६-७. प्रश्न–यहाँ 'ततो निर्जरा तपसा च' ऐसा लघुसूत्र बना देना चाहिए, इसमें आगे 'निर्जरा' पदका ग्रहण नहीं करना पड़ेगा? उत्तर–संवरहेतुताका द्योतन करनेके लिए तपको संवरके प्रकरणमें ही ग्रहण करना उचित है, अर्थात् तपसे निर्जरा भी होती है और संवर भी। यद्यपि उत्तम क्षमा आदि धर्मोंमें किया गया तपका निर्देश संवरहेतुताका द्योतन कर देता है और यहाँ कह देनेसे उसकी निर्जराहेतुता मालूम पड़ जाती है अतः पृथक् 'तपसा निर्जरा च' सूत्र बनाना निरर्थक सा ज्ञात होता है फिर भी सभी संवर और निर्जराके कारणोंमें तपकी प्रधानता सूचित करनेके लिए तपको पृथक् रूपसे ग्रहण किया है। कहा भी है–"काय, मन और वचन गुप्तिसे युक्त होकर जो अनेक प्रकारके तप करता है वह मनुष्य विपुल कर्म निर्जराको करता है।" अतः यहाँ तपका निर्देश करनेमें गौरव होता।

ये कर्म प्रकृतियाँ घाती और अघातीके भेदसे दो प्रकारकी हैं। घाती भी सर्वघाती और देशघाती इन दो भेदोंवाली है। केवलज्ञानावरण निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि निद्रा प्रचला केवलदर्शनावरण बारह कषाय और दर्शनमोह ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। शेष चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, संज्वलन और नव नोकषायें देशघाती हैं। बाकी प्रकृतियाँ अघाती हैं। शरीरनाम से लेकर स्पर्श पर्यन्त नाम प्रकृतियाँ अगुरुलघु उपघात परघात आतप उद्योत प्रत्येकशरीर साधारणशरीर स्थिर-अस्थिर शुभ-अशुभ और निर्माण ये प्रकृतियाँ

पुद्गलविपाकी हैं। आनुपूर्व्य क्षेत्रविपाकी है। आयुका कार्य भवधारण कराना है। शेष प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं।

प्रदेशबन्धका वर्णन—

**नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥**

अपने नामके अनुसार सभी भवोंमें योग विशेषसे आनेवाले आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्म पुद्गल प्रदेशबन्ध है।

§ १–८. 'नामकर्म है प्रत्यय जिनका' ऐसा विग्रह नहीं करके नामके अनुसार यही अर्थ करना चाहिये। सर्वतः—सभी भूत भावी भवोंमें, योगविशेष-मन वचन कायरूप निमित्तसे कर्म पुद्गलोंका आगमन होता है। सूक्ष्म शब्दसे ग्रहणयोग्य पुद्गलोंका निर्देश किया गया है अर्थात् सूक्ष्म पुद्गल ही ग्रहण योग्य होते हैं स्थूल नहीं। एकक्षेत्रावगाहका अर्थ है कि आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल एक ही आकाश प्रदेशमें हैं क्षेत्रान्तरमें नहीं। स्थितिका तात्पर्य है कि कर्म पुद्गल ठहरे हुए हैं चलते आदि नहीं हैं। सर्वात्मप्रदेशेषु का अर्थ है कि आत्माको कोई भी ऐसा प्रदेश बाकी नहीं है जहाँ कर्म पुद्गल न हों, किन्तु ऊपर-नीचे-बीचमें सब जगह प्रत्येक आत्मप्रदेशमें स्थित हैं। वे अनन्तानन्त हैं न तो संख्यात न असंख्यात और न अनन्त ही। वे पुद्गलस्कन्ध अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भाग हैं। वे घनांगुलके असंख्येय भागरूप क्षेत्रावगाही एक-दो-तीन-चार संख्यात असंख्यात समयकी स्थितिवाले, पाँच वर्ण पाँच रस दो गन्ध और चार स्पर्शवाले तथा आठ प्रकारके कर्मरूपसे परिणमन करनेके योग्य हैं। वे योग-क्रियासे आते हैं और आत्मप्रदेशोंपर ठहर जाते हैं। यही प्रदेशबन्ध है।

**सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥**

§ १–३. शुभ-प्रशस्त। तिर्यगायु मनुष्यायु और देवायु ये तीन शुभ आयुएँ, मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रियजाति पाँच शरीर तीन अंगोपांग समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराच संहनन प्रशस्त वर्ण रस गन्ध स्पर्श मनुष्यगत्यानुपूर्व्य देवगत्यानुपूर्व्य अगुरुलघु परघात उच्छ्वास आतप उद्योत प्रशस्तविहायोगति त्रस बादर पर्याप्ति प्रत्येकशरीर स्थिर शुभ सुभग सुस्वर आदेय यशस्कीर्ति निर्माण और तीर्थंकर ये सैंतीस नामकर्म, उच्चगोत्र और सातावेदनीय, सब मिलकर ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

**अतोऽन्यत् पापम् ॥ २६ ॥**

पुण्य प्रकृतियोंसे भिन्न शेष ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं। पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, छब्बीस मोहनीय, पाँच अन्तराय, 'नरकगति तिर्यंचगति एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ पाँच संस्थान पाँच संहनन अप्रशस्त वर्ण रस गन्ध स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्व्य तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य उपघात अप्रशस्त विहायोगति स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्त साधारणशरीर दुर्भग दुःस्वर अनादेय अयशस्कीर्ति' ये चौंतीस नामकर्म, असातावेदनीय, नरकायु और नीचगोत्र ये ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं। यह सब बन्ध पदार्थ अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानरूप प्रत्यक्षप्रमाणसे गम्य है और उनके द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

आठवाँ अध्याय समाप्त

# नवाँ अध्याय

संवरका वर्णन—

**आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥**

आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं।

§ १–३. कर्मोंके आगमनके निमित्तों–मन-वचन और कायके प्रयोगोंका उत्पन्न नहीं होना आस्रव-निरोध है। आस्रवका निरोध होनेपर तत्पूर्वक अनेक सुख-दुःखोंके बीजभूत कर्मोंका ग्रहण नहीं होना संवर है। यहाँ 'अभिमतः' ऐसा वाक्य अध्याहृत होता है। जैसे अन्नको प्राणका कारण होनेसे अन्नके कार्यभूत प्राणोंमें अन्नका उपचार कर लिया जाता है उसी तरह आस्रव-निरोधके कार्यभूत संवरमें आस्रव-निरोधका उपचार कर लिया जाता है। अतः 'आस्रवके निरोध होनेपर संवर होता है' इस अर्थमें आस्रवनिरोधको ही संवर कह दिया है।

§ ४–५. अथवा, निरोध शब्द और संवर शब्द दोनों ही करणसाधन हैं अतः इनमें सामानाधिकरण्य बन जाता है। अथवा, इस सूत्रमें दो पद स्वतन्त्र मानकर योगविभाग कर लेना चाहिये। आस्रवनिरोधके साथ 'हितार्थीको करना चाहिये' इस वाक्यका अध्याहार करके एक वाक्य बनाना चाहिये। उसका प्रयोजन संवर है अर्थात् संवर है प्रयोजन जिसका वह संवर।

§ ६–९. मिथ्यादर्शन आदि आस्रवके प्रत्ययोंका निरोध होनेसे उनसे आनेवाले कर्मों-का रुक जाना संवर है। द्रव्यसंवर और भावसंवरके भेदसे संवर दो प्रकारका है। आत्माको द्रव्यादि निमित्तोंसे पर्यायान्तर-भवान्तरकी प्राप्ति होना संसार है। इस संसारमें कारणभूत क्रिया और परिणामोंकी निवृत्ति भावसंवर है। इस तरह भावबन्धके निरोधसे तत्पूर्वक आनेवाले कर्मपुद्गलोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है।

§ १०–११. संवरके स्वरूपका विशेष परिज्ञान करनेके लिए चौदह गुणस्थानोंका विवे-चन आवश्यक है। गुणस्थान चौदह हैं—मिथ्यादृष्टि सासादन-सम्यग्दृष्टि सम्यङ्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण-उपशमक-क्षपक अनिवृत्ति-बादर-उपशमक-क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक-क्षपक उपशान्तकषाय वीतराग-छद्मस्थ क्षीण-कषायवीतराग-छद्मस्थ सयोगकेवली और अयोगकेवली।

§ १२. जिसके मिथ्यादर्शनका उदय हो वह मिथ्यादृष्टि है। इसके कारण जीवोंका तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं होता। मिथ्यादृष्टिके ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले तीनों ज्ञान मिथ्या-ज्ञान होते हैं। सामान्यतया मिथ्यादृष्टि हिताहितपरीक्षासे रहित और परीक्षक इन दो श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं। संज्ञिपर्याप्तकको छोड़कर सभी एकेन्द्रिय आदि हिताहितपरीक्षासे रहित हैं। संज्ञिपर्याप्तक हिताहितपरीक्षासे रहित और परीक्षक दोनों प्रकारके होते हैं।

§ १३. मिथ्यादर्शनके उदयका अभाव होनेपर भी जिनका आत्मा अनन्तानुबन्धीके उदयसे कलुषित हो रहा है वे सासादन-सम्यग्दृष्टि हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके मोहकी छब्बीस प्रकृतियोंका सत्त्व होता है और सादिमिथ्यादृष्टिके २६, २७ या २८ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। ये जब प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके उन्मुख होते हैं तब निरन्तर अनन्तगुणी विशुद्धिको बढ़ाते हुए शुभपरिणामोंसे संयुक्त होते जाते हैं। उस समय ये चार मनोयोगोंमेंसे किसी एक मनोयोग चार वचनयोगोंमेंसे किसी एक वचनयोग औदारिक और वैक्रियिकमेंसे किसी एक काययोगसे युक्त होते हैं। इनके कोई एक कषाय अत्यन्त हीन हो जाती है। साका-

रोपयोग और तीनों वेदोंमेंसे किसी एक वेदसे युक्त होकर भी संक्लेश-रहित हो, वर्धमान परिणामोंसे सभी कर्म-प्रकृतियोंकी स्थितिको कम करते हुए, अशुभ कर्म प्रकृतियोंके अनुभागका खण्डन कर शुभप्रकृतियोंके अनुभागरसको बढ़ाते हुए तीन करणोंको प्रारम्भ करते हैं। अथाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंका काल अन्तर्मुहूर्त है। कालादि लब्धियोंसे संयुक्त वह मिथ्यादृष्टि कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण करके अथाप्रवृत्तकरण करनेको तैयार होता है। यह करण पहिले कभी नहीं हुआ अतः इसे अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। प्रथम समयमें अल्प-विशुद्धि होती है, द्वितीय समयमें जघन्य अनन्तगुणी, तृतीय समयमें जघन्य अनन्तानन्तगुणी इस तरह अन्तर्मुहूर्तकी समाप्तितक विशुद्धि बढ़ती जाती है। फिर प्रथम समयमें उत्कृष्ट अनन्तगुणी द्वितीय समयमें उत्कृष्ट अनन्तानन्तगुणी आदि अथाप्रवृत्तके चरम समयतक विशुद्धि बढ़ती जाती है। इस करणको करनेवाले असंख्य लोकप्रमाण नाना जीवोंके परिणाम सम और विषम होते हैं। यह अथाप्रवृत्तकरण है। अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अल्प जघन्य विशुद्धि होती है द्वितीय समयमें उत्कृष्ट उसकी अनन्तगुणी, फिर जघन्य अनन्तगुणी फिर उत्कृष्ट अनन्तगुणी इस तरह अन्तर्मुहूर्तकी परिसमाप्तितक क्रम समझना चाहिये। इस करणके धारी असंख्य लोक प्रमाण नानाजीवोंके परिणाम नियमसे विषम होते हैं। इनका समुदायरूप अपूर्वकरण है। अपूर्व-अपूर्व स्वाद होनेसे इसकी अपूर्वकरण संज्ञा सार्थक है। अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें नानाजीवोंके परिणाम एकरूप ही होते हैं, द्वितीय समयमें उससे अनन्तगुणे विशुद्ध होकर भी एकरूप ही रहते हैं। इस तरह अन्तर्मुहूर्त कालतक उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम होते हैं। इन सबका समुदाय अनिवृत्तिकरण है। परस्पर निवृत्ति-भेद न होनेसे इसकी अनिवृत्तिकरण संज्ञा सार्थक है। अथाप्रवृत्तकरणमें स्थितिखण्डन अनुभागखण्डन गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नहीं होता, केवल अनन्तगुणी विशुद्धि होनेसे वह अप्रशस्त प्रकृतियोंको अनन्तगुण अनुभागहीन और प्रशस्त प्रकृतियोंको अनन्तगुणरससमृद्धरूपसे बाँधता है। स्थिति भी पल्योपमके संख्येयभागसे हीन बाँधता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमें स्थितिखण्डन आदि होते हैं। स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। अशुभप्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणहीन और शुभप्रकृतियोंका अनन्तगुणसमृद्ध होता जाता है। अनिवृत्तिकरणकालके संख्येयभाग जानेपर अन्तरकरण प्रारम्भ होता है। इससे मिथ्यादर्शनका उदयघात किया जाता है। अन्तिम समयमें मिथ्यादर्शनके तीन खण्ड किये जाते हैं–सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियोंका तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभके उदयका अभाव होनेपर अन्तर्मुहूर्त कालतक प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। उसके कालमें जब अधिकसे अधिक वह आवली और कमसे कम एक समय शेष रहता है तब यदि अनन्तानुबन्धी क्रोधमान माया और लोभमेंसे किसी एकका उदय आजाता है तब सासादन सम्यग्दृष्टि होता है। आसादन-विराधना, आसादनके साथ होनेवाला सासादन कहलाता है। मिथ्यादर्शनका उदय न होनेपर भी इसके तीनों मतिश्रुत और अवधिज्ञान अज्ञान कहे जाते हैं। अनन्तमिथ्यादर्शनको बाँधनेवाली कषाय अनन्तनुबन्धी कही जाती है। यह कषाय मिथ्यादर्शनके फलोंको उत्पन्न करती है अतः मिथ्यादर्शनको उदयमें आनेका रास्ता खोल देती है।

§ १४. क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके उपभोगसे जैसे कुछ मिला हुआ मदपरिणाम होता है उसीतरह सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थश्रद्धान और अश्रद्धानरूप मिला हुआ परिणाम होता है। यह तीसरा सम्यङ्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। इसके तीनों ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं।

§ १५. औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनसे युक्त होकर भी जो चारित्रमोहके उदयसे अत्यन्त अविरत परिणामवाला होता है वह असंयत सम्यग्दृष्टि है। इसके

तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं। तत्त्वार्थश्रद्धान होनेसे आगेके सभी गुणस्थानोंमें नियमसे सम्यक्त्व होता है।

§ १६. पाँचवाँ तथा आगेके गुणस्थान चारित्रमोहके उपशम क्षय या क्षयोपशमसे होते हैं। अनन्तानुबन्धिकषाय क्षीण हों या अक्षीण ये तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाती हैं, इनका उदयक्षय या सदवस्थारूप उपशम होनेपर, तथा सर्वघाती प्रत्याख्यानावरणके उदयसे संयमलब्धिका अभाव होनेपर एवं देशघाती संज्वलन और नौ नोकषायोंके उदयमें संयमासंयम लब्धि होती है। इसके होनेपर प्राणी और इन्द्रियविषयक विरताविरत परिणामवाला संयतासंयत कहलाता है।

§ १७. क्षीण या अक्षीण अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदयक्षय होनेपर तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदयक्षय या सदवस्था उपशम होनेपर और संज्वलन तथा नोकषायोंका उदय होनेपर संयमलब्धि होती है। आभ्यन्तर संयम परिणामोंके अनुसार बाह्यसाधनोंके सन्निधानको स्वीकार करता हुआ यह प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमको पालता हुआ भी पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंके वश कहीं कभी चारित्रपरिणामोंसे स्खलितसा होता रहता है। अतः प्रमत्तसंयत कहलाता है।

§ १८. प्रमादका अभाव होनेसे अविचलित संयमी अप्रमत्तसंयत कहलाता है। इसके आगेके चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ हो जाती हैं–उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। जहाँ मोहनीयकर्मका उपशम करता हुआ आत्मा आगे बढ़ता है वह उपशमश्रेणी है और जहाँ क्षय करता हुआ आगे जाता है वह क्षपकश्रेणी है।

§ १९. अपूर्वकरणरूप परिणामोंकी विशुद्धिसे श्रेणी चढ़नेवाला अपूर्वकरण है। यद्यपि यहाँ न तो कर्मप्रकृतियोंका उपशम होता है और न क्षय फिर भी आगे होनेवाले उपशम या क्षयकी दृष्टिसे इस गुणस्थानमें भी उपशमक और क्षपक व्यवहार घीके घड़ेकी तरह हो जाता है।

§ २०. अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंकी विशुद्धिसे कर्मप्रकृतियोंको स्थूलरूपसे उपशम या क्षय करनेवाला उपशमक-क्षपक अनिवृत्तिकरण होता है।

§ २१. सम्पराय-कषायोंको सूक्ष्मरूपसे भी उपशम या क्षय करनेवाला सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक-क्षपक है।

§ २२. समस्तमोहका उपशम करनेवाला उपशान्तकषाय तथा क्षय करनेवाला क्षीणकषाय होता है।

§ २३. चार घातिया कर्मोंके अत्यन्त क्षयसे जिन्हें अचिन्त्य केवल ज्ञानातिशय प्रकट हुआ है वे केवली भगवान् हैं।

§ २४. 'योग सहित सयोग केवली तथा योगरहित–अयोगकेवली' इस प्रकार केवली दो प्रकारके हैं।

§ २५. मिथ्यात्वकी प्रधानतासे जो कर्म आते हैं, मिथ्यात्वका निरोध हो जानेसे उनका सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें संवर होता है। मिथ्यात्व नपुंसकवेद नरकायु नरकगति एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजाति हुंडकसंस्थान असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आतप स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारण शरीर ये सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्वनिमित्तक हैं।

§ २६–२७. अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानके भेदसे असंयम तीन प्रकारका है। अतः इन कषायनिमित्तक कर्मोंका इनके अभावमें संवर होता है। निद्रा निद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धीक्रोध मान-माया लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, चार संस्थान, चार संहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन अनन्तानुबन्धीनिमित्तक पचीस प्रकृतियोंका एकेन्द्रिय

आदि सासादन सम्यग्दृष्टि-पर्यन्त जीव बन्धक होते हैं। अनन्तानुबन्धीके अभावमें आगे इनका संवर हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध मान माया लोभ मनुष्यायु मनुष्यगति औदारिक शरीर औदारिकअंगोपांग वज्रर्षभनाराचसंहनन और मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य इन अप्रत्याख्यानावरण कषायहेतुक दश प्रकृतियोंको एकेन्द्रिय आदि असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त बन्धक होते हैं, उसके अभावमें आगेके गुणस्थानोंमें इनका संवर हो जाता है। सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थानमें आयुर्बन्ध नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया और लोभ इन चार प्रत्याख्यानावरणनिमित्तक प्रकृतियोंके एकेन्द्रिय आदि संयतासंयत पर्यन्त बन्धक होते हैं, उसके अभावमें आगेके गुणस्थानोंमें इनका संवर हो जाता है।

§ २८. असातावेदनीय अरति शोक अस्थिर अशुभ और अयशस्कीर्ति इन प्रमादनिमित्तक कर्मप्रकृतियोंका प्रमत्तसंयतसे आगे संवर हो जाता है। देवायुके बन्धके आरम्भका प्रमाद ही हेतु होता है और उसके समीपका अप्रमाद भी। अतः अप्रमत्तके आगे उसका भी संवर हो जाता है।

§ २९. कषायमात्रहेतुक कर्म प्रकृतियोंका कषायके अभावमें संवर होता है। प्रमादादिरहित कषाय तीनों गुणस्थानोंमें तीव्र मध्य और जघन्यरूपसे विद्यमान रहता है। अपूर्वकरणके आदि संख्येयभागमें निद्रा और प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं। उससे आगे संख्यातभागमें देवगति पंचेन्द्रिय जाति वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणशरीर समचतुरस्रसंस्थान वैक्रियिकअंगोपांग आहारक-अंगोपांग वर्ण गन्ध रस स्पर्श देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्‌वास प्रशस्त विहायोगति त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर शुभ-सुभग सुस्वर आदेय तीर्थंकर और निर्माण ये तीस प्रकृतियाँ बँधती हैं। उसीके चरमसमयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बँधती हैं। ये तीव्रकषायकी आस्रवप्रकृतियाँ उसके अभावमें निर्दिष्ट भागसे आगे संवरको प्राप्त हो जाती हैं। अनिवृत्तिबादरसाम्परायके प्रथम समयसे लेकर संख्यात भागोंमें पुंवेद और क्रोध संज्वलन बँधते हैं, उसके आगे शेष संख्येय भागोंमें मानसंज्वलन और मायासंज्वलन बँधते हैं, अन्तिमभागमें लोभसंज्वलन बन्धको प्राप्त होता है। ये मध्यकषायकी आस्रवप्रकृतियाँ हैं। अतः निर्दिष्ट भागोंसे ऊपर इनका संवर हो जाता है। पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण यशस्कीर्ति उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय ये मन्दकषायकी आस्रव प्रकृतियाँ हैं और सूक्ष्मसाम्परायमें इनका बन्ध होता है। उससे आगे इनका संवर हो जाता है।

§ ३०. सातावेदनीयका उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके केवल योगसे बन्ध होता है अतः अयोगकेवलीके इसका संवर हो जाता है।

संवरके कारण—

**स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीजषहजयचारित्रैः ॥२॥**

गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्रसे संवर होता है।

§ १-७. संसारके कारणोंसे आत्माके गोपन-रक्षणको गुप्ति कहते हैं। 'जिससे गोपन हो वह गुप्ति' यह अपादान साधन अथवा 'जो रक्षण करे वह गुप्ति' यह कर्तृसाधन भी गुप्ति शब्द बनता है। दूसरे प्राणियोंकी रक्षाकी भावनासे सम्यक् प्रवृत्ति करनेको समिति कहते हैं। भाव या कर्तृसाधन में 'क्ति' प्रत्यय होनेपर समिति शब्द निष्पन्न होता है। आत्माको इष्ट नरेन्द्र सुरेन्द्र मुनीन्द्र आदि स्थानोंमें धारण करे वह धर्म। धर्म शब्द उणादिसे निष्पन्न होता है। शरीर आदिके स्वभावका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रपूर्व ईक्षि धातुसे भावसाधनमें अकार होनेसे अनुप्रेक्षा शब्द बनता है। जो सहीं जायँ वे परीषह हैं, परीषहोंका जय परीषहजय है। कर्ममें घञ् करके तथा अनुबन्धकृत अनित्य मानकर दीर्घका निषेध करके परीषह शब्द बन जाता है। जो आचरण किया जाय वह चारित्र है।

§ ८-९. संवर करनेवालेकी संवरण क्रियामें गुप्ति आदि साधकतम होनेसे करण हैं। 'गुप्ति आदि संवर ही हैं अतः भेदनिर्देश नहीं होना चाहिये' यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि संवर शब्द करणसाधन न होकर 'संवरणं संवरः' ऐसा भावसाधन है अर्थात् आस्रवनिमित्त कर्मोंके संवरण करनेमें गुप्ति आदि करण होते हैं। अथवा 'संव्रियते इति संवरः' ऐसा कर्मसाधन माननेपर भी गुप्ति आदि पृथक् सिद्ध होते हैं; क्योंकि गुप्तिके द्वारा संवर होता है।

§ १०. यद्यपि संवरका अधिकार है फिर भी 'सः' पद विशेष रूपसे संवरका गुप्ति आदिसे साक्षात् सम्बन्ध जोड़ता है। इससे यह नियम हो जाता है कि यह संवर गुप्ति आदिसे ही होता है अन्य तीर्थस्नान दीक्षा शीर्षोपहार ( बलिदान ) देवताराधन आदि उपायोंसे नहीं होता है; क्योंकि राग द्वेष और मोहसे ग्रहण किये गये कर्मोंकी दूसरे प्रकारसे निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि तीर्थस्नानसे संवर हो तो सदा तीर्थजलमें डूबी रहनेवाली मछलियोंको संवरपूर्वक मोक्ष सहज ही हो जाना चाहिये और रागी द्वेषी मोही जीवोंको भी मात्र तीर्थस्नानसे मुक्ति मिल जानी चाहिये। इसी तरह बलिदान आदि भी संवर कारण नहीं हो सकते।

## तपसा निर्जरा च ॥३॥

§ १-५. यद्यपि तप दस धर्मोंमें अन्तर्भूत है फिर भी विशेष रूपसे निर्जराका कारण बतानेके लिए तथा सभी संवरके हेतुओंमें तपकी प्रधानता जतानेके लिए उसका यहाँ खास तौरसे पृथक् निर्देश किया है। 'च' शब्द 'तप संवरहेतु भी होता है' इस संवरहेतुताका समुच्चय करता है। तपके द्वारा नूतन कर्म बन्ध रुककर पूर्वोपचित कर्मोंका क्षय भी होता है; क्योंकि तपसे अविपाक निर्जरा होती है। इसी तरह तप सरीखे ध्यान आदि भी निर्जराके कारण होते हैं। जैसे एक ही अग्नि पाक और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती है उसी तरह तपसे देवेन्द्र आदि अभ्युदय स्थानोंकी प्राप्ति भी होती है तथा कर्मोंका क्षय भी होता है। एक ही कारणसे अनेकों कार्य होते हैं। अथवा जैसे किसान मुख्यरूपसे धान्यके लिए खेती करता है पयाल तो उसे यों ही मिल जाता है उसी तरह मुख्यतः तपक्रिया कर्मक्षयके लिए ही है, अभ्युदय की प्राप्ति तो पयालकी तरह आनुषंगिक ही है, गौण है। किसीको विशेष अभिप्रायसे, उसकी सहज प्राप्ति हो जाती है।

गुप्तिका लक्षण—

## सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

सम्यक् योगनिग्रहको गुप्ति कहते हैं।

§ १-४. पूजापूर्वक क्रिया सत्कार है, यह संयत महान् है' ऐसी लोकप्रसिद्धि लोकपंक्ति है इस तरह सत्कार लोकपंक्ति तथा परलोकमें विषय-सुखकी आंकाक्षा आदि हेतुओंसे परे रहकर जो मन वचन कायका यथेच्छ विचरण रोका जाता है वह योगनिग्रह गुप्ति है। इस संक्लेशसे रहित सम्यक् योग निरोध होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुक जाता है, यही संवर है। गुप्ति तीन हैं—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति। जो अयत्नाचारीके बिना देखे बिना शोधे भूमिपर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, सोना, बैठना आदि शारीरिक क्रियाएँ होती हैं और इस निमित्तक कर्मोंका आस्रव होता है वह काययोगके निग्रही अप्रमत्त संयमीके नहीं होता। इसी तरह असंवरी-संवररहित जीवके असत्प्रलाप अप्रिय वचन बोलने आदिसे जो वाचिक व्यापारनिमित्तक कर्म आते हैं वे वचननिग्रहीके नहीं आँयगे। जो राग द्वेषादिसे अभिभूत प्राणीके अतीत अनागत विषयाभिलाषा आदिसे मनोव्यापारनिमित्तक कर्म आते हैं वे मनोनिग्रहीके नहीं आयँगे। अतः योगनिग्रहीके संवर सिद्ध है।

'शरीरका परित्याग सम्पूर्ण रूपसे जबतक नहीं हुआ तबतक इसे प्राणयात्राके लिए कुछ

न कुछ बोलना, खाना, पीना, रखना, उठाना, मलमूत्र आदि विसर्जन करना ही पड़ेगा अतः संवर अशक्य है' इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए समिति-सम्यक् प्रवृत्तिका उपदेश देते हैं—

**ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥**

§ १–२. पूर्वसूत्रसे 'सम्यक्' पदका अनुवर्तन कर प्रत्येकसे उसका सम्बन्ध कर देना चाहिये–सम्यक् ईर्या सम्यक् भाषा आदि। समिति-अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। यह संज्ञा पाँचोंकी आगमसिद्ध है।

§ ३–४. जीवस्थान और विधिको जाननेवाले, धर्मार्थ प्रयत्नशील साधुका सूर्योदय होनेपर चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा दिखनेयोग्य मनुष्य आदिके आवागमनके द्वारा कुहरा क्षुद्र जन्तु आदिसे रहित मार्गमें सावधानचित्त हो शरीरसंकोच करके धीरे-धीरे चार हाथ जमीन आगे देखकर गमन करना ईर्यासमिति है। इसमें पृथ्वी आदि सम्बन्धी आरम्भ नहीं होते। सूक्ष्मैकेन्द्रिय बादरएकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय इन सातके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह जीवस्थान होते हैं। ये जीवस्थान पाँचो जाति सूक्ष्म बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक नाम कर्मोंके यथा सम्भव उदयसे होते हैं।

§ ५. स्व और परको मोक्षकी ओर ले जानेवाले स्व-परहितकारक, निरर्थकबकवास रहित मित स्फुटार्थ व्यक्ताक्षर और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है। मिथ्याभिधान असूया प्रियभेदक अल्पसार शंकित संभ्रान्त कषाययुक्त परिहासयुक्त अयुक्त असभ्य निष्ठुर अधर्मविधायक देशकालविरोधी और चापलूसी आदि वचनदोषोंसे रहित भाषण करना चाहिये।

§ ६. गुण रत्नोंको ढोनेवाली शरीर रूपी गाड़ीको समाधिनगरकी ओर ले जानेकी इच्छा रखनेवाले साधुका जठराग्निके दाहको शमन करनेके लिए औषधिकी तरह या गाड़ीमें ओंगन देनेकी तरह अन्न आदि आहारको विना स्वादके ग्रहण करना एषणा समिति है। देशकाल तथा शक्ति आदिसे युक्त अगर्हित उद्गम उत्पादन एषणा संयोजन प्रमाण कारण अङ्गार धूम और प्रत्यय इन नवकोटियोंसे रहित आहार ग्रहण किया जाता है।

§ ७. धर्माविरोधी और परानुपरोधी ज्ञान और संयमके साधक उपकरणोंको देखकर और शोधकर रखना और उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है।

§ ८. जहाँ स्थावर या जंगम जीवोंकी विराधना न हो ऐसे निर्जन्तु स्थानमें मलमूत्र आदिका विसर्जन करना और शरीरका रखना उत्सर्ग समिति है।

§ ९. यद्यपि वाग्गुप्तिमें भी सावधानी है पर उनमें भाषासमिति और ईर्यासमिति आदिका अन्तर्भाव नहीं होता; क्योंकि जब गुप्तिमें असमर्थ हो जाता है तब कुशल कर्मोंमें प्रवृत्ति करना समिति है। अतः जाना, बोलना, खाना, रखना उठना और मलोत्सर्ग आदि क्रियाओंमें अप्रमत्तसावधानीसे प्रवृत्ति करनेपर इन निमित्तोंसे आनेवाले कर्मोंका संवर हो जाता है।

§ १०–१२. **प्रश्न**—पात्रके अभावमें पाणिपात्रसे आहार लेनेवाले साधुको अन्न आदिके नीचे गिरनेसे हिंसा आदि दोषोंकी संभावना है, अतः एषणा समिति नहीं बन सकती? **उत्तर**—पात्रके ग्रहण करनेमें परिग्रहका दोष होता है। निर्ग्रन्थ-अपरिग्रही चर्याको स्वीकार करने वाला भिक्षु यदि पात्र ग्रहण करता है तो उसकी रक्षा आदिमें अनेक दोष होते हैं। अतः स्वाधीन करपात्रसे ही निर्बाध देशमें सावधानीसे एकाग्रचित्त हो आहार करनेमें किसी दोषकी संभावना नहीं है। कपाल या अन्य पात्रको लेकर भिक्षाके लिए जानेमें दीनताका दोष तो है ही। गृहस्थजनोंसे लाये गये पात्र सर्वत्र सुलभ होनेपर भी उनके धोने आदिमें पापका होना अवश्यम्भावी है। अपने पात्रको लेकर भिक्षार्थ जानेमें आशा-तृष्णाकी संभावना है। पहिले

जैसे विशिष्ट पात्रके न मिलने पर जिस किसी पात्रमें भोजन करनेसे चित्तमें दीनता और हीनताका अनुभव होना अनिवार्य है। अतः स्वावलम्बी भिक्षुको करपात्रके सिवाय अन्य प्रकार उपयुक्त नहीं हैं। 'जिस प्रकार पहिले प्राप्त हुए संस्कृत सुस्वादु अन्नको छोड़कर अन्यके घरमें जैसा तैसा नीरस भोजन करनेमें भिक्षुको दीनता नहीं आती उसी तरह कपाल आदिके ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं हैं' यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि चिरतपस्वी संयतकी शरीरयात्रा आहारके विना नहीं चल सकती, अतः नीरस प्रासुक आहार कभी कभी ले लिया जाता है उस तरह पात्रकी आवश्यकता अनिवार्य नहीं है।

धर्मका वर्णन—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागा-
किञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

उत्तमक्षमा आदि दस धर्म हैं।

§ १. गुप्तियोंमें प्रवृत्तिका सर्वथा निरोध होता है। जो उसमें असमर्थ है उन्हें प्रवृत्तिके सम्यक् प्रकार बतानेके लिए एषणा आदि समितियोंका उपदेश है। प्रवृत्ति करने वालेके प्रमाद परिहारके लिए—सावधानीसे वरतनेके लिए उत्तमक्षमा आदि धर्मोंका उपदेश है।

§ २. शरीर-यात्राके लिए पर-घर जाते समय भिक्षुको दुष्ट जनोंके द्वारा गाली हँसी अवज्ञा ताड़न शरीर-छेदन आदि क्रोधके असह्य निमित्त मिलनेपर भी कलुषताका न होना उत्तम क्षमा है।

§ ३. उत्तम जाति कुल रूप विज्ञान ऐश्वर्य श्रुत लाभ और शक्तिसे युक्त होकर भी इनका मद नहीं करना, दूसरेके द्वारा परिभवके निमित्त उपस्थित किये जानेपर भी अभिमान नहीं होना मानहारी मार्दव है।

§ ४. मन वचन और कायमें कुटिलता न होना आर्जव-सरलता है।

§ ५-८. आत्यन्तिक लोभकी निवृत्तिको शौच कहते हैं। शुचिका भाव या कर्म शौच है। मनोगुप्तिमें मनके व्यापार का सर्वथा निरोध किया जाता है। जो पूर्ण मनोनिग्रहमें असमर्थ हैं उन्हें पर वस्तुओं सम्बन्धी अनिष्ट विचारोंकी शान्तिके लिए शौच धर्मका उपदेश है। अतः इसका मनोगुप्तिमें अन्तर्भाव नहीं होता। आकिंचन्य धर्म स्वशरीर आदिमें संस्कार आदिकी अभिलाषा दूर करके निर्ममत्व बढ़ानेके लिए है और शौच धर्म लोभकी निवृत्तिके लिए, अतः दोनों पृथक् हैं। स्व और पर विषयक जीवनलोभ आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ इस तरह मुख्यतः चार प्रकारका लोभ होता है। इसीलिए शौच धर्म मुख्यतः चार प्रकारका होता है।

§ ९-१०. सज्जनोंसे साधुवचन बोलना सत्य है। भाषा समितिमें संयत साधु या असाधु किसीसे भी वचन व्यवहार यदि करे तो हित और मित करे अन्यथा राग और अनर्थदण्ड आदि दोष होते हैं। परन्तु सत्य धर्ममें अपने सहधर्मी साधुओं या भक्तोंसे धर्मवृद्धिनिमित्त या ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षाके लिए बहुत बोलना भी स्वीकृत हैं।

§ ११-१४. ईर्यासमिति आदिमें प्रवर्तमान मुनिको उनकी प्रतिपालनाके लिए प्राणिपीड़ाका परिहार और इन्द्रियोंसे विरक्तिको संयम कहते हैं। एकेन्द्रियादि जीवोंकी हिंसाका परिहार करना प्राणिसंयम है और शब्दादि विषयोंसे विरक्तिको इन्द्रियसंयम कहते हैं। अतः भाषादिकी निवृत्तिको संयम नहीं कह सकते; क्योंकि इसका निवृत्तिरूप गुप्तियोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। विशिष्ट कायादिप्रवृत्तिको भी संयम नहीं कह सकते क्योंकि वह समितिमें अन्तर्भूत हो जाती है। इसी तरह आत्यन्तिक त्रसस्थावरवधका निषेध भी संयम नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह परिहारविशुद्धि चारित्रमें अन्तर्भूत हो जाता है।

§ १५. संयम दो प्रकार का होता है–एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम। देश और कालके विधानको समझने वाले स्वाभाविक रूपसे शरीरसे विरक्त और तीन गुप्तियोंके धारक व्यक्तिके राग और द्वेष रूप चित्तवृत्तिका न होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयम उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका है। प्रासुक वसति और आहार मात्र हैं बाह्य साधन जिनके तथा स्वाधीन हैं ज्ञान और चारित्र रूप करण जिनके ऐसे साधुका बाह्य जन्तुओंके आनेपर उनसे अपनेको बचाकर संयम पालना उत्कृष्ट अपहृत संयम है। मृदु उपकरणसे जन्तुओंको बुहार देनेवालेके मध्यम और अन्य उपकरणोंकी इच्छा रखने वालेके जघन्य अपहृत संयम होता है।

§ १६. इस अपहृत संयमके प्रतिपादनके लिए ही इन आठ शुद्धियोंका उपदेश दिया गया है—भावशुद्धि कायशुद्धि विनयशुद्धि ईर्यापथशुद्धि भिक्षाशुद्धि प्रतिष्ठापनशुद्धि शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि। कर्मके क्षयोपशमसे जन्य, मोक्षमार्गकी रुचिसे जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवोंसे रहित है वह भावशुद्धि है। इसके होनेसे आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे कि स्वच्छ दीवालपर आलेखित चित्र। यह समस्त आवरण और आभरणोंसे रहित, शरीर संस्कारसे शून्य, यथाजात मलको धारण करनेवाली, अंगविकारसे रहित और सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान् प्रशमसुखकी तरह है। इसके होनेपर न तो दूसरोंसे अपनेको भय होता है और न अपनेसे दूसरोंको।

अर्हन्त आदि परमगुरुओंमें यथायोग्य पूजा-भक्ति आदि तथा ज्ञान आदिमें यथाविधि भक्तिसे युक्त गुरुओंमें सर्वत्र अनुकूलवृत्ति रखनेवाली, प्रश्न स्वाध्याय वाचना कथा और विज्ञप्ति आदिमें कुशल, देशकाल और भावके स्वरूपको समझनेमें तत्पर तथा आचार्यके मतका आचरण करनेवाली विनयशुद्धि है। समस्त सम्पदाएँ विनयमूलक हैं। यह पुरुषका भूषण है। यह संसार-समुद्रसे पार उतारनेके लिए नौकाके समान है।

अनेक प्रकारके जीवस्थान जीवयोनि जीवाश्रय आदिके विशिष्ट ज्ञानपूर्वक प्रयत्नके द्वारा जिसमें जन्तुपीड़ाका बचाव किया जाता है, जिसमें ज्ञान सूर्यप्रकाश और इन्द्रियप्रकाशसे अच्छी तरह देखकर गमन किया जाता है तथा जो शीघ्र विलम्बित सम्भ्रान्त विस्मित लीला-विकार अन्य दिशाओंकी ओर देखना आदि गमनके दोषोंसे रहित गतिवाली है वह ईर्यापथ-शुद्धि है। इस के होनेपर संयम उसी तरह प्रतिष्ठित होता है जैसे कि सुनीतिसे विभव।

जिसमें भिक्षाको जाते समय दोनों ओर दृष्टि रखी जाती है, पूर्वापर स्वांगदेशका परि-मार्जन होता है, आचारसूत्रोक्त काल देश प्रकृति आदिकी प्रतिपत्तिमें जो कुशल है, जिसमें लाभ-अलाभ मान-अपमान आदिमें समान मनोवृत्ति रहती है, लोकगर्हित कुलोंका परिवर्जन करनेवाली, चन्द्रकी तरह कम और अधिक गृहोंकी जिसमें मर्यादा हो, विशिष्ट विधानवाली, दीनअनाथदानशाला विवाह यज्ञ भोजन आदिका जिसमें परिहार होता है, दीनवृत्तिसे रहित, प्रासुक आहार ढूँढ़ना ही जिसका मुख्य लक्ष्य है, तथा आगमविधिसे प्राप्त निर्दोष भोजनसे ही जिसमें प्राणयात्रा चलाई जाती है वह भिक्षाशुद्धि है। जैसे साधुजनोंकी सेवासे गुणसम्पत्ति मिलती है उसी तरह भिक्षाशुद्धिसे चारित्र-सम्पत्ति। यह लाभ और अलाभ तथा सरस और विरसमें समान सन्तोष होनेसे भिक्षा कही जाती है। जैसे गाय गहनोंसे सजी हुई सुन्दर युवतीके द्वारा लाई गई घासको खाते समय घासको ही देखती है लानेवालीके अंग सौन्दर्य आदिको नहीं, अथवा अनेक जगह यथालाभ उपलब्ध होनेवाले चारेके पूरेको ही खाती है उसकी सजावट आदिको नहीं देखती उसी तरह भिक्षु भी परोसनेवालेके मृदुललित रूप वेष और विलास आदिके देखनेकी उत्सुकता नहीं रखता और न आहार सूखा है या गीला या कैसे चाँदी आदिके बर्तनोंमें रखा है या कैसी उसकी योजना की गई है आदिकी ओर ही उसकी दृष्टि

रहती है, वह तो जैसा भी आहार प्राप्त होता है वैसा खाता है। अतः भिक्षाको गौकी तरह चार-गोचार या गवेषणा कहते हैं। जैसे वणिक् रत्न आदिसे लदी हुई गाड़ीमें किसी भी तेलका लेपन करके-ओंगन देकर उसे अपने इष्ट स्थानपर ले जाता है उसी तरह मुनि भी गुणरत्नसे भरी हुई शरीररूपी गाड़ीको निर्दोष भिक्षा देकर उसे समाधिनगरतक पहुँचा देता है, अतः इसे अक्ष-म्रक्षण कहते हैं। जैसे भण्डारमें आग लग जानेपर शुचि या अशुचि कैसे भी पानीसे उसे बुझा दिया जाता है उसी तरह यति भी उदराग्निका प्रशमन करता है अतः इसे उदराग्निप्रशमन कहते हैं। दाताओंको किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये विना मुनि कुशलतासे भ्रमरकी तरह आहार ले लेते हैं, अतः इसे भ्रमराहार या भ्रामरी वृत्ति कहते हैं। जिस किसी भी प्रकारसे गड्ढा भरनेकी तरह मुनि स्वादु या अस्वादु अन्नके द्वारा पेटरूपी गड्ढेको भर देता है अतः इसे स्वभ्रपूरण भी कहते हैं।

प्रतिष्ठापन शुद्धिमें तत्पर संयत देश और कालको जानकर नख रोम नाक थूक वीर्य मलमूत्र या देहपरित्यागमें जन्तुबाधाका परिहार करके प्रवृत्ति करता है।

शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर संयतको स्त्री क्षुद्र चोर मद्यपान जुआ शराबी और पक्षियोंको पकड़नेवाले आदिके स्थानोंमें नहीं बसना चाहिये, और शृंगार विकार आभूषण उज्ज्वलवेष वेश्याक्रीड़ा मनोहर गीत नृत्य वादित्र आदिसे परिपूर्णशाला आदिमें रहना आदिका त्याग करना चाहिये। उन्हें तो प्राकृतिक गिरिगुफा वृक्षकी खोह तथा शून्य मकान या छोड़े हुए ऐसे मकानोंमें बसना चाहिये जो उनके उद्देश्यसे नहीं बनाये गये हों और न जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ ही किया गया हो।

पृथिवी कायिक आदि सम्बन्धी आरम्भ आदिकी प्रेरणा जिसमें न हो तथा जो परुष निष्ठुर और पर पीड़ाकारी प्रयोगोंसे रहित हो व्रतशील आदिका उपदेश देनेवाली हो वह सर्वतः योग्य हित मित मधुर और मनोहर वाक्यशुद्धि है। वाक्यशुद्धि सभी सम्पदाओंका आश्रय है।

§ १७. कर्मक्षयके लिए जो तपा जाय वह तप है।

§ १८-२०. सचेतन या अचेतन परिग्रहकी निवृत्तिको त्याग कहते हैं। आभ्यन्तर तपोंमें आये हुए उत्सर्गमें नियत समयके लिए सर्वोत्सर्ग किया जाता है पर त्यागधर्ममें यथा-शक्ति और अनियतकालिक त्याग होता है अतः दोनों पृथक् पृथक् हैं। इसी तरह शौचधर्ममें परिग्रहके न रहनेपर भी कर्मोदयसे होनेवाली तृष्णाकी निवृत्ति की जाती है पर त्यागमें विद्यमान परिग्रह छोड़ा जाता है। अथवा त्यागका अर्थ है स्वयोग्य दान देना। संयतके योग्य ज्ञानादि दान देना त्याग है।

§ २१. शरीर आदिमें संस्कार और राग आदिकी निवृत्तिके लिए 'ममेदम्-यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका त्याग आकिञ्चन्य है। 'इसके कुछ नहीं' इस प्रकार अकिंचन भावको आकिञ्चन्य कहते हैं।

§ २२-२३. 'मैंने उस कलागुण विशारदा स्त्रीको भोगा था' इस प्रकार अनुभूतांगनाका स्मरण स्त्रीकथाश्रवण रतिकालीन गन्ध द्रव्योंकी सुवास और स्त्रीसंसक्त शय्या आसन स्थान आदिका परिवर्जन करनेपर परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा, ब्रह्म अर्थात् गुरु, उसके अधीन अपनी वृत्ति रखना ब्रह्मचर्य है। गुरुकी आज्ञापूर्वक चलना भी ब्रह्मचर्य ही है।

§ २४-२५. यद्यपि ये सभी यथासंभव गुप्ति और समितियोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं फिर भी इन धर्मोंमें चूँकि संवरको धारण करनेकी सामर्थ्य है इसलिए 'धारण करनेसे धर्म' इस सार्थक संज्ञावाले धर्मोंका पृथक् उपदेश किया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। जैसे ऐर्यापथिक रात्रिन्दिनीय पाक्षिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक उत्तमस्थानिक ये सात प्रतिक्रमण

गुप्ति आदिकी प्रतिष्ठाके लिए किये जाते हैं उसी तरह उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मकी भावना भी गुप्ति आदिके परिपालनके लिए ही है, अतः इनका पृथक् उपदेश किया है।

§ २६. 'ये क्षमा आदि धर्म किसी दृष्टप्रयोजनकी प्राप्तिके लिए धारण नहीं किये जाते और इसलिए ये संवरके कारण होते हैं' इस विशेषताकी सूचना देनेके लिए उत्तम विशेषण दिया जाता है–उत्तमक्षमा उत्तम मार्दव आदि।

§ २७. इन उत्तमक्षमा आदि धर्मोंमें स्वगुण प्राप्ति तथा प्रतिपक्षी दोषकी निवृत्तिकी भावना की जाती हैं अतः ये संवरहेतु हैं। व्रतशीलका रक्षण इहलोक और परलोकमें दुःख न होना और समस्त जगत्‌में सम्मान सत्कार होना आदि क्षमाके गुण हैं। धर्म अर्थ काम और मोक्षका नाश करना आदि क्रोधके दोष हैं। यह विचार कर क्षमा धारण करनी चाहिए। दूसरा यदि अपने ऊपर क्रोध करता है और गाली देता है तो सोचना चाहिये कि ये दोष मुझमें विद्यमान ही हैं, यह क्या मिथ्या कहता है? यदि वे दोष अपने मनमें न हों तो सोचना चाहिये कि यह विचारा अज्ञानसे ऐसा कहता है, अतः क्षमा ही करनी चाहिये। जैसे कोई बालक यदि परोक्षमें गाली देता है तो क्षमा ही करनी चाहिये। सोचना चाहिये कि बालकोंका यह स्वभाव ही है। भाग्यवश हमें पीठ पीछे ही गाली देता है सामने तो नहीं। बालक तो मुँह पर गाली देते हैं अतः लाभ ही है। सामने गाली देनेपर सोचना चाहिये कि गाली ही तो दी है मारा तो नहीं है। बाल तो मारते भी हैं। मारनेपर सोचना चाहिये कि इसने मारा ही तो है प्राण तो नहीं ले लिये। बाल तो प्राण भी ले लेते हैं। प्राण ले लेने पर भी क्षमा ही करना चाहिये। सोचना चाहिये कि इसने प्राण ही लिये हैं धर्म तो नहीं ले लिया। इस तरह बालस्वभावके चिन्तन द्वारा चित्तमें क्षमाभावको पुष्ट करना चाहिये। सोचना चाहिये कि हमने ही ऐसा खोटा कर्म बाँधा था जिसके फलस्वरूप गाली सुननी पड़ रही है, यह तो इसमें निमित्तमात्र है।

निरभिमानी और मार्दवगुणयुक्त व्यक्तिपर गुरुओंका अनुग्रह होता है। साधुजन भी उसे साधु मानते हैं। गुरुके अनुग्रहसे सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति होती है और उससे स्वर्गादिसुख मिलते हैं। मलिन मनमें व्रतशील आदि नहीं ठहरते साधुजन उसे छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह कि अहंकार समस्त विपदाओंकी जड़ है। सरल हृदय गुणोंका आवास है, वे मायाचारसे डरते हैं। मायाचारीकी निन्द्यगति होती है। शुचि आचारवाले निर्लोभ व्यक्तिका इस लोकमें सन्मान होता है। विश्वास आदि गुण उसमें रहते हैं। लोभीके हृदयमें गुण नहीं रहते। वह इस लोक और परलोकमें अनेक आपत्तियों और दुर्गतिको प्राप्त होता है। सभी गुणसम्पदाएँ सत्यवक्तामें प्रतिष्ठित होती हैं। झूठेका बन्धुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं रहते। जिह्वाछेदन सर्वस्वहरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं। संयम आत्माका हितकारी है। संयमी पुरुषकी यहीं पूजा होती है, परलोककी तो बात ही क्या? असंयमी निरन्तर हिंसा आदि व्यापारोंमें लिप्त होनेसे अशुभ कर्मका संचय करता है। तपसे सभी अर्थोंकी सिद्धि होती है। इससे ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। तपस्वियोंको चरणरजसे पवित्र स्थान ही तीर्थ बने हैं। जिसके तप नहीं वह तिनकेसे भी लघु है। उसे सब गुण छोड़ देते हैं, वह संसारसे मुक्त नहीं हो सकता। परिग्रहका त्याग करना पुरुषके हितके लिए है। जैसे जैसे वह परिग्रहसे रहित होता है वैसे वैसे उसके खेदके कारण हटते जाते हैं। खेदरहित मनमें उपयोगकी एकाग्रता और पुण्य संचय होता है। परिग्रहकी आशा बड़ी बलवती है वह समस्त दोषोंकी उत्पत्तिका स्थान है। जैसे पानीसे समुद्रका बडवानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रहसे आशासमुद्रकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह आशा का गड्ढा दुष्पूर है। इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है वही समा कर मुँह बाने लगता है। शरीर आदिसे ममत्वशून्य व्यक्ति परम सन्तोषको प्राप्त होता है। शरीरादिमें राग करने वालेके सदा संसार परिभ्रमण सुनिश्चित है।

ब्रह्मचर्यको पालन करनेवालेके हिंसा आदि दोष नहीं लगते। नित्य गुरुकुलवासीको गुण सम्पदाएँ अपने आप मिल जाती हैं। स्त्रीविलास विभ्रम आदिका शिकार हुआ प्राणी पापोंका का भी शिकार बनता है। संसारमें अजितेन्द्रियता बड़ा अपमान कराती है। इस तरह उत्तम क्षमा आदि गुणोंका तथा क्रोधादि दोषोंका विचार करनेसे क्रोधादिकी निवृत्ति होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुककर महान् संवर होता है।

§ २८. सभी उत्तम क्षमादिमें एक संवर रूप धर्मभाव पाया जाता है अतः उसकी प्रधानतासे धर्म शब्दमें एक वचन दिया गया है। धर्म शब्द नित्य पुल्लिंग है अतः 'ब्रह्मचर्याणि'के साथ भी वह अपना लिंग नहीं छोड़ता।

अनुप्रेक्षाओंका वर्णन—

**अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥**

अनित्य अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं।

§ १. आत्माने रागादि परिणामोंसे कर्म और नोकर्म रूपमें जिन पुद्गल द्रव्योंका ग्रहण किया है वे उपात्त पुद्गलद्रव्य तथा परमाणु आदि अनुपात्त पुद्गल सभी द्रव्य-दृष्टिसे नित्य होकर भी पर्याय दृष्टिसे प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तन होनेसे अनित्य हैं। शरीर इन्द्रियोंके विषयभोग आदि जलबुद्बुदकी तरह विनश्वर हैं। गर्भादि अवस्थाओंमें जो संयोग थे वे आज नहीं है। इनमें अज्ञानवश मोही जीव नित्यताका भ्रम करता है। आत्माके ज्ञानदर्शनोपयोग स्वभावको छोड़कर अन्यपदार्थ ध्रुव नहीं है। इस प्रकार संसारके पदार्थोंमें अनित्य भावना भानी चाहिये। इस प्रकार विचार करनेसे भोगकर फेंकी गई माला गन्ध आदि द्रव्योंकी तरह इन पदार्थोंके वियोगमें भी मनस्ताप नहीं होगा।

§ २. शरण दो प्रकार की है एक लौकिक दूसरो लोकोत्तर। यह प्रत्येक जीव अजीव और मिश्रके भेदसे तीन तीन प्रकारकी है। राजा या देवता आदि लौकिक जीव शरण हैं। कोट आदि अजीव शरण हैं तथा गाँव नगर आदि मिश्र शरण हैं। पंचपरमेष्ठी लोकोत्तर जीवशरण हैं उनके प्रतिबिम्ब आदि अजीवशरण हैं तथा धर्मोपकरणसहित साधुजन मिश्र शरण हैं। भूखे मांसखोर व्याघ्रके पंजोंसे एकान्तमें पकड़े गये हिरणके बच्चेकी तरह जन्म जरा रोग मृत्यु प्रियवियोग अप्रिय संयोग अलाभ और दारिद्र्य आदि दुःखोंसे ग्रस्त इस जन्तुको कोई शरण नहीं है। यह परिपुष्ट शरीर मात्र भोजन करनेमें सहायक है आपत्ति पड़नेपर नहीं। प्रयत्नसे संचित धन आदि भी पर्यायान्तर तक नहीं जाते। सुख दुःखके साथी मित्र भी मरणसे रक्षा नहीं कर सकते। आस पास जुटे बन्धुजन भी रोगसे नहीं बचा सकते। यदि कोई एकमात्र तरणोपाय है तो वह अच्छी तरह आचरण किया गया धर्म ही है। यही आपत्ति-सागरसे पार उतार सकता है। मृत्युके पाश से इन्द्र आदि भी नहीं बचा सकते। अतः भवव्यसनोंसे बचानेवाला एकमात्र धर्म ही शरण है। मित्र धन आदि कोई शरण नहीं हैं। इस प्रकारकी विचारधारा अशरण भावना है। इस प्रकार 'मैं अशरण हूँ' इस भावनासे भय या उद्वेगके आनेपर सांसारिक भावोंमें ममत्व नहीं रहता और केवली भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत वचनोंकी ओर ही चित्त जाता है।

§ ३. द्रव्यादि के निमित्तसे आत्माकी पर्यायान्तरप्राप्तिको संसार कहते हैं।

आत्माकी चार अवस्थाएँ होती हैं—संसार असंसार नोसंसार और इन तीनोंसे विलक्षण। अनेक योनिवाली चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना संसार है। फिर जन्म न लेना—शिवपद प्राप्ति या परम सुख प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिमें परिभ्रमण न होनेसे तथा अभी मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे सयोगकेवलीकी जीवन्मुक्त अवस्था ईषत्संसार या नो संसार है। अयोगकेवली

इन तीनोंसे विलक्षण हैं। इनके चतुर्गति भ्रमण और असंसारकी प्राप्ति तो नहीं ही है पर केवलीकी तरह शरीरपरिस्पन्द भी नहीं है। जबतक शरीरपरिस्पन्द न होनेपर भी आत्मप्रदेशों का चलन होता रहता है तब तक संसार है। सिद्ध और अयोगकेवलियोंके आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द नहीं है। अन्य जीवोंके मनवचनकाययोग निमित्तक प्रदेश-परिस्पन्द होता रहता है। अभव्य तथा भव्यसामान्यकी दृष्टिसे संसार अनादि अनन्त है, भव्यविशेषकी अपेक्षा अनादि और उच्छेदवाला है। नो संसार सादि और सान्त है। असंसार सादि अनन्त है। त्रितय विलक्षणका काल अन्तर्मुहूर्त है। कर्म नोकर्म वस्तु और विषयाश्रयके भेदसे द्रव्य संसार चार प्रकारका है। स्वक्षेत्र और परक्षेत्रके भेदसे क्षेत्रसंसार दो प्रकारका है। लोकाकाशके समान असंख्य प्रदेशी आत्माको कर्मोदयवश संहरण-विसर्पण स्वभावके कारण जो छोटे-बड़े शरीरमें रहना है वह स्वक्षेत्र संसार है। सम्मूर्च्छन गर्भ उपपाद आदि नौ प्रकारकी योनियोंके अधीन परक्षेत्र संसार है। काल परमार्थ और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। परमार्थकालके निमित्तसे होनेवाले परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप परिणमन जिनमें व्यवहारकालका विभाग भी होता है कालसंसार है। भवनिमित्त संसार बत्तीस प्रकारका है—सूक्ष्म बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चार चार प्रकारके पृथिवी जल तेज और वायुकायिक, पर्याप्तक और अपर्याप्तक प्रत्येक वनस्पति, सूक्ष्म बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार साधारण वनस्पति, पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो दो प्रकारके द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, संज्ञी असंज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार पंचेन्द्रिय, इस प्रकार बत्तीस प्रकारका भवसंसार है। भावनिमित्तक संसारके दो भेद हैं—स्वभाव और परभाव। मिथ्यादर्शन आदि स्वभाव संसार हैं तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंका रस परभाव संसार हैं। इस तरह इस अनेक सहस्र योनियोंसे संकुल संसारमें कर्मयन्त्रपर चढ़ा हुआ यह जीव परिभ्रमण करता हुआ कभी पिता होकर भाई पुत्र या पौत्र होता है, माता होकर बहिन स्त्री या लड़की होता है। अधिक क्या कहा जाय स्वयं अपना भी पुत्र हो जाता है। इस तरह संसारके स्वभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। इस प्रकार भावना करते हुए संसारके दुःखोंसे भय और उद्वेग होकर वैराग्य हो जाता है और यह जीव संसारके नाशके लिए प्रयत्नशील होता है।

§ ४. एकत्व और अनेकत्व द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे चार चार प्रकारके हैं। द्रव्यैकत्व प्रत्येक जीवादि द्रव्यमें है। आकाशका एक परमाणुके द्वारा रोका गया प्रदेश क्षेत्रैकत्व है। एक समय कालैकत्व है और मोक्षमार्ग निश्चयसे भावैकत्व है। इसी तरह भेदविषयक अनेकत्व भी है। कोई एक या अनेक निश्चित नहीं है। सामान्य दृष्टिसे एक होकर भी विशेष दृष्टिसे अनेक हो जाता है। बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहका त्यागकर सम्यग्ज्ञानसे एकत्व निश्चयको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिके यथाख्यात चारित्र रूपसे एक मोक्षमार्ग भावैकत्व है। इसकी प्राप्तिके लिए मुझे अकेले ही प्रयत्न करना है, मेरे न कोई स्व है और न कोई पर। मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ और अकेले ही मरता हूँ, न मेरा कोई स्वजन है और न परजन जो व्याधि जरामरण आदिके दुःखोंको हटा सके। बन्धु और मित्र श्मसानसे आगे नहीं जाते। धर्म ही एक शाश्वत–सदाका साथी है। इत्यादि विचार एकत्वानुप्रेक्षा है। इस भावनासे स्वजनोंमें राग और परमें द्वेष नहीं होता और अपरिग्रहत्वको स्वीकार कर यह मोक्षके लिए ही प्रयत्न करने लगता है।

§ ५. नाम स्थापना द्रव्य और भावके भेदसे अन्यत्व भी चार प्रकारका है। आत्मा जीव यह नाम भेद है। काष्ठ प्रतिमा यह स्थापनाभेद है। जीवद्रव्य अजीवद्रव्य यह द्रव्यभेद है और एक ही जीवमें बाल युवा मनुष्य देव आदि पर्यायभेद भावभेद है। बन्धकी दृष्टिसे शरीर और आत्मामें भेद न होनेपर भी लक्षणकी अपेक्षा भेद है। कुशल पुरुषके चारित्र आदि प्रयोगोंसे शरीरसे अत्यन्त भिन्न रूपमें अपने स्वाभाविक ज्ञान आदि अनन्त अहेय गुणोंमें अवस्थानको

मुक्ति अन्यत्व या शिवपद कहते हैं। इस परम अन्यत्वकी प्राप्तिके लिए 'शरीर ऐन्द्रियक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञ हूँ, शरीर अनित्य है मैं नित्य हूँ, शरीर सादिसान्त है मैं अनादि अनन्त हूँ, मैंने लाखों शरीर धारण किये हैं, मैं उनसे भिन्न एक चेतन हूँ, जब शरीरसे ही मैं भिन्न हूँ तब बाह्यपरिग्रहोंकी तो बात ही क्या ?' इस प्रकार विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। अन्यत्व भावनासे शरीर आदिमें स्पृहा नहीं होती और यह मोक्षप्राप्तिके लिए प्रयत्न करने लगता है।

§ ६. लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे शुचित्व दो प्रकारका है। कर्ममल-कलङ्कोंको धोकर आत्माका आत्मामें ही अवस्थान लोकोत्तर शुचित्व है। इसके साधन सम्यग्दर्शन आदि, रत्नत्रयधारी साधुजन तथा उनसे अधिष्ठित निर्वाणभूमि आदि मोक्ष प्राप्तिके उपाय होनेसे शुचि हैं। काल अग्नि भस्म मृत्तिका गोबर पानी ज्ञान और निर्विचिकित्सा-ग्लानिरहितपना, इस प्रकार लौकिक-लोकप्रसिद्ध शुचित्व आठ प्रकारका है। कोई भी उपाय इस शरीरको पवित्र नहीं कर सकता क्योंकि यह अत्यन्त अशुचि है। आदि और उत्तर दोनों ही कारण इसके अत्यन्त अशुचि हैं। शरीरके आदि कारण वीर्य और रज हैं जो कि अत्यन्त अशुचि हैं, उत्तरकारण आहारका परिणमन आदि है। कवल-कवलकर खाया हुआ भोजन श्लेष्माशयमें पहुँचकर श्लेष्म जैसा पतला और अशुचि हो जाता है, फिर पित्ताशयको प्राप्त होकर अम्ल बनता है, फिर वाताशयको प्राप्त होते ही वायुसे विभक्त होकर खल और रस रूपसे विभाजित हो जाता है। खलभाग मूत्र मल पसीना आदि मलविकार रूपसे तथा रसभाग शोणित मांस मेद हड्डी मज्जा और शुक्ररूपसे परिणत होता है। ये सब दशाएँ अत्यन्त अपवित्र हैं। इन सबका स्थानभूत शरीर मैलाघरके समान है। इसकी अशुचिताके हटानेका कोई उपाय नहीं है। स्नान अनुलेपन धूप घिसना सुवास और माला आदिके द्वारा भी इसकी अशुचिता नहीं हटती। अंगारकी तरह अपने संसर्गमें आये हुए पदार्थोंको अपनी ही तरह बना लेता है। जलादि पदार्थ उसके संसर्गसे स्वयं अपवित्र हो जाते हैं। बार बार भावित सम्यग्दर्शन आदि जीवकी आत्यन्तिक शुद्धिको प्रकट करते हैं। इस तरह वस्तु विचार करना अशुचि भावना है। इस तरह स्मरण और अनुचिन्तन करनेसे शरीरसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मसमुद्रसे पार उतरनेके लिए चित्त तैयार होता है।

§ ७. यद्यपि आस्रव संवर और निर्जराके स्वरूपका निरूपण हो चुका है फिर भी भावनाओंमें उनका ग्रहण उनके गुण-दोषविचारके लिए किया गया है। आस्रवके दोषोंका विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है। आस्रव इसलोक और परलोकमें अपायसे युक्त हैं। इन्द्रिय आदिका उन्माद महानदीके प्रवाहकी तरह तीक्ष्ण है। बहुत यवयुक्त पानीदार और प्रमाथी आदि गुणोंसे सहित वनविहारी मदान्ध हाथी कृत्रिम हथिनियोंको देखकर स्पर्शनेन्द्रियके ज्वारसे मत्त हो गड्ढे में गिरकर मनुष्यके अधीन हो जाते हैं और वध बन्ध वाहन अंकुशताडन महावतका आघात आदिके तीव्र दुःखोंको भोगते हैं। प्रतिक्षण अपने झुण्डमें स्वच्छन्द वनविहार तथा हथिनीके प्रवीचार सुखका स्मरण करके महान् दुःखी होते हैं। जिह्वेन्द्रियके विषयमें लोल मरे हुए हाथीके मदजलमें डुबकी लगानेवाले पक्षियोंकी तरह अनेक आपत्तियोंके शिकार होते हैं। घ्राणेन्द्रियके वशंगत प्राणी जड़ीकी गन्धसे लुब्ध साँपकी तरह नाशको प्राप्त होते हैं। चक्षुइन्द्रियके वशंगत दीपकपर मरनेवाले पतंगोंकी तरह आपत्तिके सागरमें पड़कर दुःख उठाते हैं। श्रोत्रेन्द्रियके वशंगत प्राणी गीतध्वनिके सुननेसे तृणोंके चरनेको भूलकर जालमें फँसनेवाले हरिणोंकी तरह अनर्थोंके शिकार होते हैं। परलोकमें बहुविध दुःखोंसे प्रज्वलित अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार आस्रव दोषोंका विचार करनेसे इसको उत्तम क्षमा आदि धर्मोंमें श्रेयस्त्वकी बुद्धि बनी रहती है। कछवेकी तरह संकुचित अंगवाले संवरयुक्त जीवके ये आस्रव दोष नहीं होते। जैसे महासमुद्रमें पड़ी हुई महानावमें यदि छेद हो जाय और उसे बन्द न किया जाय तो क्रमशः जलविप्लव

होनेपर तदाश्रित प्राणियोंका विनाश अवश्यम्भावी है और छेद बन्द कर देनेपर निरुपद्रव इष्ट-देशतक पहुँच जाते हैं उसी तरह कर्मागमनद्वारोंका संवरण होनेपर कोई श्रेयःप्रतिवन्ध नहीं हो सकता। इस तरह संवरके गुणोंका अनुचिन्तन संवरानुप्रेक्षा है। इन विचारोंसे मनुष्य संवरकी ओर प्रयत्नशील होता है।

निर्जरा वेदनाके विपाकको कहते हैं। निर्जरा दो प्रकारकी है अबुद्धिपूर्वा और कुशल-मूला। नरकादिगतियोंमें कर्मफलविपाकसे होनेवाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है जिससे आगे अकुशलका ही वन्ध होता है। परीषहजय और तप आदिसे कुशलमूला निर्जरा होती है जो शुभका वन्ध करती है या वन्ध बिलकुल ही नहीं करती। इस तरह निर्जराके गुण-दोषोंकी भावना करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इससे चित्त निर्जराके लिए उद्युक्त होता है।

§ ८. अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें पुरुषाकार लोक है, उसके संस्थान आदिका वर्णन किया जा चुका है। उसका स्वरूपचिन्तन लोकानुप्रेक्षा है। इससे तत्त्वज्ञानादिकी शुद्धि होती है चित्तसे रागद्वेष हटते हैं।

§ ९. त्रसत्व आदिका पाना अत्यन्त दुर्लभ है और वोधिलाभ अत्यन्त दुर्लभ है यह विचार वोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। "एक निगोद शरीरमें द्रव्यप्रमाणसे जीवोंकी संख्या, सिद्धोंकी संख्यासे और समस्त अतीतकालके समयोंकी संख्यासे अनन्तगुणी है।" इस आगमप्रमाणसे अनन्त निगोदिया हैं। इन अनन्त स्थावरोंमें त्रसपर्यायका पाना उसी तरह दुर्लभ है जिस प्रकार अनन्त रेतके समुद्रमें गिरी हुई हीराकी कनीका फिर मिल जाना। त्रसोंमें भी विकलेन्द्रिय बहुत होते हैं अतः पञ्चेन्द्रियत्वका पाना उसी तरह दुर्लभ है जिस प्रकार गुणोंमें कृतज्ञताका मिलना। पञ्चेन्द्रियोंमें भी पशु-मृग-पक्षी सरीसृप आदि अनेक प्रकारकी पर्यायोंमें मनुष्य पर्यायका पाना चौराहेपर रखे हुए रत्नकी तरह दुर्लभ है। मनुष्यपर्याय नष्ट करके उसे पुनः पाना जले हुए पेड़में अंकुर निकलनेके समान कठिन है। मनुष्यपर्याय मिल भी जाय तो भी हिताहितविचारसे रहित असंख्य मानव समुद्रमें सुदेशकी प्राप्ति पाषाणोंमें मणिकी तरह कठिन है। सुदेश मिलनेपर भी सुकुलकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। सुकुलजन्मसे शील विनय और आचारकी परम्परा मिल जाती है। उसमें भी दीर्घायु इन्द्रियवल रूप आरोग्य आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। इन सबके मिलनेपर भी सद्धर्मकी प्राप्ति यदि नहीं हुई तो नेत्ररहित मुखकी तरह वह व्यर्थ ही है। उस सुदुर्लभ धर्मको पाकर भी विषयसुखमें समय विताना भस्मके लिए चन्दन जलानेके समान है। विषयविरक्त होनेपर भी तपोभावना धर्मप्रभावना सुखमरण आदि रूप समाधि अत्यन्त कठिन है। इस समाधिसे ही वोधिलाभ सफल कहा जा सकता है। इस प्रकार चिन्तन करना वोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा है इससे वोधिको प्राप्त करके जीव अप्रमादी बना रहकर स्वकल्याणमें लगा रहता है।

§ १०–११. जीवस्थान और गुणस्थानका गत्यादि मार्गणाओंमें अन्वेषण करना रूप धर्म जिनशासनमें अच्छी तरह कहा गया है यह भावना धर्मस्वाख्याततत्त्व है। गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयमदर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं। नरकादि गतियाँ कर्मोदयकृत हैं तथा मोक्षगति क्षायिकी है। इन्द्र अर्थात् आत्माका चिह्न या इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे सृष्ट इन्द्रियाँ हैं। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ और एकेन्द्रियादि भेद कर्मकृत हैं, आत्माकी अतीन्द्रियता क्षायिक है। आत्माकी प्रवृत्तिसे उपचित पुद्गलपिण्ड काय है। कायसम्बन्धी जीव छह प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक जलकायिक तेजस्कायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे ये होते हैं। नामकर्मका अत्यन्त उच्छेद कर देनेसे सिद्ध अकाय हैं। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्राप्त वीर्यलब्धि योगका प्रयोजक होती है। उस सामर्थ्यवाले आत्मा-

का मन वचन और कायवर्गणानिमित्तक आत्मप्रदेशका परिस्पन्द योग है। वह पन्द्रह प्रकारका है। सत्य मृषा उभय और अनुभयके भेदसे मनोयोग और वचनयोग चार-चार प्रकारके हैं। औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोग वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारक आहारकमिश्र और कार्मण ये सात काययोग हैं। आत्मामें सम्मोहरूप प्रवृत्ति उत्पन्न होना वेद है। वह नोकषायके उदयसे तीन प्रकारका है—स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद। आत्मामें अपगतवेद अवस्था औपशमिक भी होती है और क्षायिक भी। जो चारित्रपर्यायको कषे वह कषाय है। क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय हैं। अकषायत्व औपशमिक भी है और क्षायिक भी। तत्त्वार्थबोध ज्ञान है। मति आदि पाँच प्रकारके ज्ञान हैं। मिथ्यादर्शनके उदयसे मति श्रुत और अवधि कुज्ञान भी होते हैं। व्रत समिति कषायनिग्रह दण्डत्याग और इन्द्रियजय आदि संयम है। संयम और संयमासंयम आदि चारित्रमोहके उपशम क्षय और क्षयोपशमसे होते हैं। सबसे अतीत सिद्धत्व क्षायिक है। दर्शनावरणके क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाला आलोचन दर्शन है। चक्षु अचक्षु अवधि और केवलके भेदसे चार प्रकारका दर्शन है। कषायसे अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है। वह कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी है। निर्वाण पानेकी योग्यता जिसमें प्रकट हो सके वह भव्य और अन्य अभव्य हैं। ये दोनों पारिणामिक हैं। मुक्तजीव भव्य और अभव्य उभयसे अतीत हैं। तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व है। वह दर्शनमोहके उपशम क्षय या क्षयोपशमसे होता है। मिथ्यात्व औदयिक है। सासादनसम्यक्त्व अनन्तानुबन्धीके उदयसे होता है अतः औदयिक है। सम्यङ्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है। शिक्षा क्रिया और आलाप आदिको ग्रहण करनेवाला संज्ञी और विपरीत असंज्ञी है। संज्ञित्व क्षायोपशमिक है असंज्ञित्व औदयिक है और उभयसे परेकी अवस्था क्षायिक है। उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण आहार है, विपरीत अनाहार है। शरीर नाम कर्मके उदय और विग्रह गति नामके उदयसे आहार होता है। तीनों शरीर नाम कर्मके उदयके अभाव तथा विग्रहगति नामके उदयसे अनाहार होता है। ये चौदह मार्गणाएँ हैं।

इनमें जीव स्थानोंकी सत्ता का विचार करते हैं। तिर्यंच गतिमें चौदह ही जीवस्थान हैं। अन्य तीन गतियोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो ही जीवस्थान हैं। एकेन्द्रियमें चार विकलेन्द्रियोंमें दो दो और पञ्चेन्द्रियोंमें चार होते हैं। पृथिवी जल अग्नि और वायुकायिकोंमें प्रत्येकके चार, वनस्पति कायिकोंमें छह और त्रस कायिकोंमें दस जीवस्थान होते हैं। मनोयोगमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवस्थान हैं। वाग्योगमें द्वि त्रि चतुरिन्द्रिय संज्ञि-असंज्ञि पर्याप्तक ये पाँच जीवस्थान हैं। काययोगके चौदह ही जीवस्थान हैं। स्त्रीवेद पुरुषवेदमें संज्ञि असंज्ञि पर्याप्तक अपर्याप्तक ये चार जीवस्थान हैं। नपुंसकवेदमें चौदह हैं। अवेदमें एक संज्ञिपर्याप्तक स्थान है। चारों कषायोंमें चौदह और अकषायमें एक संज्ञिपर्याप्तक स्थान है। मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानमें चौदह, विभंगावधि और मनःपर्ययमें एक संज्ञिपर्याप्तक, तथा मति श्रुत अवधिज्ञानमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो और केवलज्ञानमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवस्थान हैं। सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यात संयममें एक ही संज्ञिपर्याप्तक जीवस्थान हैं। असंयममें चौदह ही जीवस्थान हैं। अचक्षुदर्शनमें चौदह, चक्षुदर्शनमें चतुरिन्द्रिय संज्ञि असंज्ञिपर्याप्तक ये तीन जीवस्थान होते हैं। इनके लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं निवृत्त्यपर्याप्तक नहीं। अवधि दर्शनमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो जीवस्थान होते हैं। केवलदर्शनमें एक संज्ञिपर्याप्तक हो स्थान होता है। आदिकी तीन लेश्याओंमें चौदह, तेज पद्म और शुक्ल लेश्यामें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो जीवस्थान होते हैं। अलेश्योंमें एक संज्ञिपर्याप्तक स्थान है। भव्य और अभव्यमें चौदह ही जीवस्थान हैं। औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और सासादन सम्यक्त्वमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो जीवस्थान,

सम्यक्‌मिथ्यात्वमें एक संज्ञिपर्याप्तक और मिथ्यात्वमें चौदह ही जीवस्थान हैं। संज्ञियोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो तथा असंज्ञियोंमें शेष बारह जीवस्थान होते हैं। संज्ञि असंज्ञि-व्यवहाररहित स्थानमें एक पर्याप्तक जीवस्थान होता है। कर्मोदयापेक्ष आहारमें चौदह ही जीवस्थान होते हैं। अनाहार अवस्था अपर्याप्तक सम्बन्धी सातमें, पर्याप्तकके केवलिसमुद्घात-कालमें तथा कर्मोदयकी अपेक्षा अयोगकेवलीमें होती है। सिद्ध अतीतजीवस्थान हैं।

मार्गणाओंमें गुणस्थान निरूपण—

नरक गतिमें पर्याप्तक नारकोंमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। प्रथम नरकमें अपर्याप्तकके पहला और चौथा दो गुणस्थान, अन्य पृथिवियोंमें अपर्याप्तकके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। तिर्यंच गतिमें तिर्यंच पर्याप्तकोंके आदिके पाँच गुण स्थान, अपर्याप्तकोंके मिथ्यादृष्टि सासादन और असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। पर्याप्त तिर्यंचियोंके आदिके पाँच गुणस्थान अपर्याप्तिकाओंमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। स्त्रीतिर्यंचोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता अतः सम्यग्दृष्टि गुणस्थान नहीं होता। मनुष्यगतिमें पर्याप्त मनुष्योंके चौदह ही गुणस्थान होते हैं तथा अपर्याप्तकोंके मिथ्यादृष्टि सासादन और असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान हैं। पर्याप्त मनुषिणियोंके भावलिंगकी अपेक्षा चौदह ही गुणस्थान होते हैं। द्रव्यलिंगकी अपेक्षा तो आदिके पाँच ही गुण स्थान हैं। अपर्याप्त स्त्रियोंमें आदिके दो मिथ्यादृष्टि और सासादन ही गुणस्थान होते हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता। भवअपर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्योंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। देवगतिमें पर्याप्तक भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें आदिके चार गुणस्थान अपर्याप्तकों आदिके दो गुणस्थान होते हैं। इनकी देवियों और सौधर्म ईशानस्वर्गकी देवियोंमें भी पूर्वोक्त क्रम हैं। सौधर्म ईशान आदि अन्तिम ग्रैवेयक तकके पर्याप्तकोंमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। अनुदिश अनुत्तरवासी पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंमें एक असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है।

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपञ्चेन्द्रियों तकमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पञ्चेन्द्रियसंज्ञियोंमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं। पृथिवीकायिक आदि वनस्पति पर्यन्त स्थावर कायिकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है, त्रसकायिकोंमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं। सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टिसे तेरहवाँ गुणस्थान तक होता है। सत्यमनोयोग और उभय मनोयोगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि बारहवाँ गुणस्थान तक होता है। अनुभय वाग्योगमें द्वीन्द्रिय आदि सयोगकेवली पर्यन्त सत्यवाग्योगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली पर्यन्त, मृषावाग्योग और उभयवाग्योगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थान होते हैं। औदारिक मिश्रकाययोगमें मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि असंयत-सम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिककाययोगमें आदिके चार गुणस्थान और मिश्रमें मिश्रगुणस्थानसे रहित तीन ही गुणस्थान होते हैं। आहारक और आहारकमिश्रमें एक ही प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। कार्मण काययोगमें मिथ्या दृष्टि सासादन असंयत सम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। अयोगमें एक अयोगी गुणस्थान है। स्त्रीवेद और पुंवेदमें असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि अनिवृत्ति बादरसाम्पराय तक नव गुणस्थान और नपुंसक वेदमें एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्पराय तक नव गुणस्थान होते हैं। नपुंसकवेदमें नारकियोंके चार गुणस्थान एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय पर्यन्तके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। असंज्ञिपंचेन्द्रिय आदि संयतासंयत गुणस्थानवर्ती तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं। मनुष्य तीनों वेदोंमें अनिवृत्तिबादरतक नव गुणस्थानवाले होते हैं। इसके आगेके मनुष्य अपगतवेद हैं। देव चारों गुणस्थानोंमें स्त्रीवेदी या पुंवेदी होते हैं। क्रोध मान और मायामें एके-

न्द्रिय आदि अनिवृत्तिबादर गुणस्थानतक तथा लोभकषायमें सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान तकके जीव होते हैं। इससे आगेके जीव अकषाय होते हैं। मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानमें एकेन्द्रिय आदि सासादनसम्यग्दृष्टि पर्यन्त जीव होते हैं। विभंगावधिमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि या सासादनसम्यग्दृष्टि पर्याप्तक ही होते हैं अपर्याप्तक नहीं। सम्यङ्मिथ्यादृष्टि अज्ञानसे मिश्रित तीनों ज्ञानोंमें होते हैं क्योंकि कारणसदृश कार्य होता है। मति श्रुत और अवधिज्ञानमें असंयत सम्यग्दृष्टि आदि क्षीणकषाय गुणस्थानतक, मनःपर्ययज्ञानमें प्रमत्तसंयत आदि क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त तथा केवलज्ञानमें सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान होते हैं। सामायिक छेदोपस्थापनाशुद्धि संयममें प्रमत्तसंयतसे अनिवृत्तिबादरसाम्पराय तक परिहारविशुद्धिमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत, सूक्ष्मसाम्परायमें एक सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयममें उपशान्तकषाय क्षीणकषाय सयोगी और अयोगी ये चार गुणस्थान, और संयमासंयममें एक संयतासयत गुणस्थान होता है। असंयममें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। चक्षुदर्शनमें चतुरिन्द्रियसे लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानतक, अचक्षुदर्शनमें एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक, अवधिदर्शनमें असंयत सम्यग्दृष्टिसे क्षीणकषाय गुणस्थानतक और केवल दर्शनमें सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान होते हैं। आदिकी तीन लेश्याओंमें एकेन्द्रिय आदि असंयत सम्यग्दृष्टितक, तेज और पद्मलेश्यामें संज्ञिमिथ्या दृष्टिसे अप्रमत गुणस्थानतक और शुक्लेश्यामें संज्ञिमिथ्यादृष्टिसे सयोगकेवलीतक होते हैं। अयोगकेवली अलेश्य हैं। भव्योंमें चौदहों गुणस्थान तथा अभव्योंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। क्षायिक सम्यक्त्वमें असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अयोगकेवलीतक, वेदक सम्यक्त्वमें असंयत सम्यग्दृष्टि-आदि अप्रमत्त संयततक, औपशमिक सम्यक्त्वमें असंयत सम्यग्दृष्टि आदि उपशान्त कषायतक तथा सासादन सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और मिथ्यात्वमें एक अपना अपना गुणस्थान होता है। नारकोंमें प्रथमपृथिवीमें क्षायिक वेदक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि तथा अन्य पृथिवियोंमें वेदक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। तिर्यंचोंमें असंयत सम्यग्दृष्टि स्थानमें क्षायिक वेदक और औपशमिक तीनों सम्यक्त्व हैं। संयतासंयत स्थानमें क्षायिक नहीं है अन्य दो हैं; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वके साथ पूर्वबद्धतिर्यंचायु प्राणी भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है। तिर्यंचियोंमें दोनों स्थानोंमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता क्योंकि क्षपणाको आरम्भ करनेवाला पुरुषलिंगी मनुष्य ही होता है। मनुष्योंमें असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत स्थानोंमें क्षायिक वेदक और औपशमिक तीनों सम्यक्त्व हैं। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों और उनकी देवियोंमें तथा सौधर्म ऐशान कल्पवासिनी देवियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टि स्थानमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता अन्य दो होते हैं। सौधर्म आदि उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त क्षायिक वेदक और औपशमिक तीनों सम्यक्त्व हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवोंमें क्षायिक और वेदक सम्यक्त्व हैं, औपशमिक भी उपशम श्रेणीमें मरनेवालोंकी अपेक्षा हो सकता है। संज्ञित्वमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषायपर्यन्त तथा असंज्ञित्वमें एकेन्द्रिय आदि असंज्ञि पञ्चेन्द्रिय तक होते हैं। संज्ञि-असंज्ञि उभय विकल्पसे परे जीवोंमें सयोगी और अयोगी दो गुणस्थान होते हैं। आहारमें एकेन्द्रिय आदि सयोगकेवलीपर्यन्त तथा अनाहारमें विग्रहगतिमें मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि, प्रतर और लोकपूरण अवस्थामें सयोगकेवली और अयोगकेवली ये पाँच गुण स्थान होते हैं। सिद्ध गुणस्थानातीत हैं।

इस प्रकार निःश्रेयसहेतु धर्मका भगवान् अर्हन्तने कितना सुन्दर व्याख्यान किया है, यह विचार करना धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा है। इससे धर्मके प्रति अनुराग होता है। इसतरह अनुप्रेक्षाओंसे उत्तमक्षमा आदि धर्मोंका संधारण होता है तथा महान् संयम होता है।

§ १२-१६. 'स्वाख्यात' में 'सु' उपसर्गके साथ समास है अतः उसके योगमें अकृच्छ्रा-

र्थक युच् प्रत्ययका प्रसंग नहीं है। अनुप्रेक्षा शब्द भावसाधन है। कृदन्तसे अभिहित भाव द्रव्यके समान होता है अतः अनुप्रेक्षितव्यके भेदसे भावभेद होकर बहुवचन निर्देश बन जाता है। कर्मसाधन मानकर भी अनुचिन्तनके साथ सामानाधिकरण्यमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि 'अनुचिन्त्यते इत्यनुचिन्तनम्' इस तरह अनुचिन्तन शब्द भी कर्मसाधन है। अनित्यत्व आदि स्वभावोंका अनुचिन्तन अनुप्रेक्षा है। लिंग और वचनभेद तो 'गावो धनम्' की तरह बन जाता है, क्योंकि उपात्तलिंग और वचनवाले शब्दोंके परस्पर सम्बन्धका नियम है।

§ १७. अनुप्रेक्षाओंकी भावना करनेवाला उत्तम क्षमा आदि धर्मोंका परिपालन करता है और परीषहोंके जीतनेके लिए उत्साहित होता है अतः दोनोंके बीचमें अनुप्रेक्षाका कथन किया है।

## मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

§ १-३. नाम छोटेसे छोटा रखा जाता है। यहाँ 'परीषह' इतना बड़ा नाम रखनेका तात्पर्य है कि यह सार्थक नाम है-जो सहे जाँय वे परीषह। मार्ग अर्थात् कर्मागमद्वारको रोकनेवाले संवरके जैनेन्द्र प्रोक्त मार्गसे च्युत न हो जाँय इसके पहिलेसे ही परीषहों पर विजय प्राप्त की जाती है। परीषहजयी संवरमार्गके द्वारा क्षपकश्रेणी पर चढ़नेकी सामर्थ्यको प्राप्त कर, उत्तरोत्तर उत्साहको बढ़ाते हुए सकल कषायोंकी प्रध्वंस शक्तिसे कर्मोंकी जड़को काटकर, जिनके पंखोंपर जमी हुई धूली झड़ गई है उन उन्मुक्त पक्षियोंकी तरह पंखोंको फड़फड़ाकर ऊपर उठ जाते हैं। इस तरह संवरमार्ग और निर्जराकी सिद्धिके लिए परीषहोंको सहना चाहिये। 'परिसोढव्याः' में 'सोढ' इस सूत्रसे षत्वका निषेध हो जाता है।

परीषहोंका वर्णन—

## क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

§ १. बाह्य और आभ्यन्तर द्रव्योंके परिणमनरूप शारीर और मानस पीड़ा देनेवाली क्षुधा आदि बाईस परीषहोंको जीतनेके लिए विद्वान् संयतको प्रयत्न करना चाहिये।

§ २. जिसने सभी संस्कार छोड़ दिये हैं, शरीरमात्र ही जिनका उपकरण है, तप और संयमके लोपका परिहार करनेमें उत्सुक कृत, कारित अनुमत संकल्पित उद्दिष्ट संक्लिष्ट क्रमागत प्रत्यात्त पूर्वकर्म और पश्चात्कर्म इन दस प्रकारके एषणादोषोंको टालने वाले और देश काल प्रान्त आदिकी व्यवस्थाको समझनेवाले संयतके भी अनशन मार्गश्रम रोग तप स्वाध्यायश्रम कालातिक्रम अवमोदर्य और असातावेदनीय आदि कारणोंसे क्षुधा उत्पन्न होती है। वे उसके प्रतीकारको भोजनकालके सिवाय या संयम विरोधी द्रव्योंसे न तो स्वयं करते हैं न अन्यसे कराते हैं और न मनमें ही यह विचार करते हैं कि—'यह वेदना दुस्तर है, बहुत समय है, बड़े बड़े दिन होते हैं' आदि। वे ज्ञानी साधु किसी भी प्रकारके विषादको प्राप्त नहीं करके शरीरमें हड्डी नसाजाल और चमड़ामात्र रह जाने पर भी आवश्यक क्रियाओंको बराबर नियमसे करते हैं और कारागार बन्धनमें पड़े हुए भूखसे छटपटाते हुए मनुष्य और पिंजरेमें बन्द पशुपक्षियोंकी भयानक क्षुधाका विचार करके संयम कुम्भमें भरे गये धैर्यरूपी जलसे क्षुधारूपी अग्निका प्रशमन करते हैं। वे उसकी भयंकर पीड़ाको कुछ नहीं समझते। यह क्षुधा परीषह जय है।

§ ३. स्नान अवगाहन परिषेक आदिके त्यागी, पक्षियोंकी तरह जिनका आसन या स्थान अनियत है, अत्यन्त खारा चिकना रूखा आदि विरुद्ध आहार गरमी पित्तज्वर और अनशन आदि कारणोंसे लगनेवाली शरीर और इन्द्रियोंको मथनेवाली भयंकर प्यासको भी कुछ न गिनकर उसके प्रतीकारकी इच्छा न रखने वाले, जेठकी दुपहरी सूर्यका तीव्र ताप, और जंगलमें जला-

शयके पास रहने पर भी जो जलकायिक जीवोंकी हिंसापरिहारके लिए उनके जलसे प्यास बुझानेकी इच्छा नहीं करनेवाले, पानी न मिलनेसे मुरझाई हुई लताकी तरह मुरझाये हुए शरीरकी परवाह नहीं करके तपकी मर्यादाओंका पालन करनेवाले, परमसंयमी साधु धैर्यकुम्भमें भरे हुए शील सुगन्धित प्रज्ञाजलसे तृष्णाग्निज्वालाको शान्त करते हैं और संयममें तत्पर रहते हैं। यह पिपासा परीषह जय है।

§ ४-५. भूख और प्यासकी सामर्थ्य जुदी जुदी है तथा दोनोंकी शान्तिके साधन भी पृथक् पृथक् हैं अतः अभ्यवहार सामान्य होनेपर भी दोनों जुदा जुदा हैं।

§ ६. निर्वस्त्र, पक्षियोंकी तरह अनियत आवासवाले और शरीर मात्र ही आधारवाले साधु शिशिर वसन्त और वर्षागममें वृक्षमूल मार्ग और गुफा आदि निवासोंमें गिरे हुए बरफ तुषार आदिसे युक्त मर्मभेदिनी वायुसे तीव्र कँपकँपी आनेपर भी शीतके विनाशक अग्नि आदिकी अभिलाषा नहीं करते किन्तु नरककी दुःसह तीव्र शीतवेदनाका स्मरण करके चित्तका समाधान करते हैं। वे विद्या मन्त्र औषध पत्ते बकला तृण और चर्म आदिकी आकांक्षा नहीं करके देहको पराई ही समझते हैं। वे तो धैर्यरूपी वस्त्रके द्वारा ही निर्विपाद संयम परिपालन करते हैं। पूर्वमें अनुभूत धूप सुवासित गर्भागार सुरतसुख और अंगनालिंगन आदिका स्मरण भी नहीं करते। इस तरह वे शीतपरीषहका जय करते हैं।

§ ७. जेठकी दुपहरियामें सूर्यके प्रखर तापसे अंगारकी तरह शरीरके जलनेपर भी तथा तृष्णा अनशन पित्तरोग घाम और श्रम आदिकी असह्य गर्मीकी वेदनासे पसीना कंठशोष दाह आदिकी तड़प होनेपर भी जलभवन जलावगाहन लेपन सिंचन ठंडी जमीन कमलपत्र केलेके पत्र शीतल वायु चंदन चन्द्र कमल और मुक्ताहार आदि पूर्वानुभूत शीतल उपचारोंकी ओर तिरस्कार भाव रखनेवाले साधु उस महाभयंकर गरमीमें यही विचार करते हैं कि—'आत्मन्, तूने बहुत बार नरकोंमें परवश होकर अत्यन्त दुःसह उष्णवेदनाएँ सही हैं। यह तप तेरे कर्मोंका क्षय कर रहा है, इसे तू स्वतन्त्र भावसे तप' इत्यादि पुनीत विचारोंसे प्रतीकारकी वाञ्छा न करके चारित्रकी रक्षा करना उष्णपरीषहजय है।

§ ८. शरीरके किसी भी प्रकारके आच्छादनसे रहित परकृत आवास गिरिगुहा आदि स्थानोंमें बसनेवाले साधुको रात दिन डांस मच्छर मक्खी पिस्सू कीड़ा जुँआ खटमल चींटी और बिच्छू आदिके तीव्रपातसे काटे जानेपर भी उन्हें कर्मफल मानकर मणि मन्त्र औषध आदिसे उसके प्रतीकारकी इच्छा न रखते हुए जबतक शरीर है तबतक शत्रुसेनापर पिल पड़नेवाले और शत्रुओंके अस्त्र घातकी परवाह न करनेवाले मदान्ध हाथीकी तरह कर्मसेनाके जयको सन्नद्ध बने रहना दंशमशक परीषहजय है।

§ ९. दंशमशक शब्द डँसनेवाले जन्तुओंके उपलक्षणके लिए है, जैसे कि दही संरक्षणमें 'काक' शब्द दहीखानेवाले प्राणियोंका उपलक्षक होता है। दंश या मशकमेंसे किसी एक का नाम लेनेसे उसी जन्तुका बोध होता अतः दूसरा शब्द उपलक्षणके लिए दे दिया है।

§ १०. गुप्ति समितिकी अविरोधी परिग्रहनिवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्य मोक्षके साधन भूत चारित्रको पुष्ट करनेवाले हैं। यथाजातरूप नग्नता उक्त चारित्रका मूर्तिमान् रूप है, अविकारी और संस्कारशून्य-स्वाभाविक है। यद्यपि मिथ्यादृष्टियों द्वारा इसके प्रति द्वेष प्रकट किया जाता है पर यह परममंगलरूप है। इस नग्नताको धारण करनेवाले साधु स्त्रीरूपको अशुचि बीभत्स और शव-कंकालके समान देखते हैं। वे सदा वैराग्य भावनासे मनोविकारोंको जीतते हैं। पुरुषविकार प्रकट न होनेसे नाग्न्यपरीषहजय कहलाता है। जातरूप धारण करना उत्तम है तथा श्रेयःप्राप्तिका कारण है। मनोविकारोंको तथा तत्पूर्वक होनेवाले अंगविकारोंको

रोकनेमें असमर्थ अन्य तापस उसे ढँकनेके लिए कौपीन फलक चीवर आदि आवरणोंको ग्रहण करते हैं। पर वह केवल अंगसंवरण कर सकता है कर्मसंवरण नहीं।

§ ११-१२. क्षुधादिकी बाधा, संयमरक्षा, इन्द्रियदुर्जयत्व, व्रतपरिपालनभार, गौरव, सदा अप्रमत्त रहना, देशभाषान्तरका न समझना और चपल जन्तुओंसे व्याप्त भयानक विषम वनोंमें नियत एक विहारी रहने आदि कारणोंसे होनेवाली संयमकी अरतिको धैर्यविशेषसे नष्ट करनेवाले और संयमविषयक रतिभावनासे विषयसुखरतिको विषाहारके समान विपाक कटु माननेवाले परम संयमीके इस प्रकार अरतिपरीषहजय होता है। यद्यपि सभी परीषहें अरति उत्पन्न करती हैं फिर भी क्षुधा आदिके न होनेपर भी मोहकर्मके उदयसे होनेवाली संयमकी अरतिका संग्रह करनेके लिए 'अरति'का पृथक् ग्रहण किया है।

§ १३. एकान्त उद्यान और भवन आदिमें रागद्वेष यौवनदर्प रूपमद विभ्रम उन्माद मद्यपान और आवेश आदि कारणोंसे स्त्रीबाधा होनेपर भी उनके नेत्रविकार भ्रूविकार शृंगार आकार विहार हावभाव विलास हास लीलाकटाक्ष सुकुमार-स्निग्ध-मृदु-पीन-उन्नत-स्तनकलश नितान्त-क्षीण उदर पृथु जघन रूप गुण आभरण गन्ध वस्त्र और माला आदिके प्रति पूर्ण निग्रहके भाव होनेसे जो दर्शन स्पर्शन आदिकी इच्छासे पूर्णतः रहित हैं तथा स्निग्ध मृदु विशद सुकुमार शब्द और तन्त्री वीणा आदिसे मिश्रित मधुरगान आदिके सुननेमें निरुत्सुक हैं, तथा स्त्रैण अनर्थोंको संसाररूपी समुद्रके व्यसनपाताल भयंकर दुःख रौद्र भंवर आदि रूप विचार करने वाले हैं ऐसे परमसंयमीके स्त्रीपरीषहजय होता है। अन्य ब्रह्मा आदि देव तिलोत्तमा देवगणिका आदिके रूपको देखकर विकारको प्राप्त हो गये थे, वे स्त्रीपरीषहरूपी पंकसे ऊपर नहीं उठ सके।

§ १४. दीर्घकाल तक जिनने गुरुकुलमें ब्रह्मचर्यवास किया है, बन्धमोक्षतत्त्वके मर्मज्ञ, कषायनिग्रहमें तत्पर, भावनाओंसे जिनका चित्त सुभावित है ऐसे साधु जब गुरुकी आज्ञापूर्वक आहारचर्याके लिए या विहारके लिए जाते हैं तब मार्गमें कठोर कंकड़-कंटक आदिसे पैरोंके कट जाने पर और छिल जाने पर भी खेदका अनुभव नहीं करते यह चर्यापरीषहजय है। अनेक देशके व्यवहारोंके ज्ञाता साधु गाँवमें एक रात और नगरमें पाँच रात तक ठहरते हैं। वे ठहर कर भी वायुकी तरह निःसंग रहते है, तथा भयंकर जंगल आदिमें सिंहकी तरह निर्भय और परसहायानपेक्ष वृत्तिवाले होते हैं।

§ १५. श्मशान उद्यान शून्यगृह गिरिगुहा गह्वर आदि नये नये स्थानोंमें संयम विधिज्ञ धैर्यशाली और उत्साहसंपन्न साधु जिस आसनसे बैठते हैं उस आसनसे उपसर्ग रोगविकार आदि होने पर भी विचलित नहीं होते और न मन्त्रविद्या आदिसे उपसर्ग आदिका प्रतीकार ही करना चाहते हैं। क्षुद्रजन्तुयुक्त विषमदेशमें भी काष्ठ या पत्थरकी तरह निश्चल आसन जमाते हैं उससमय वे पूर्वानुभूत मृदुशय्या आदि बिछौनोंका स्मरण भी नहीं करते। वे तो प्राणिहिंसाका पूर्णरूपसे परिहार करनेमें तत्पर रहते हैं, ज्ञान ध्यान भावना आदिसे चित्तको सुभावित करते हैं। वीरासन उत्कुटिकासन आदि जिस आसनसे बैठते हैं उसको निर्दोष रूपसे बाँधते हैं। इस प्रकार आसनदोषका जीतना निषद्यापरीषहजय है।

§ १६. स्वाध्याय ध्यान और मार्गश्रम आदिसे परिखेदित साधु जब खर विषम रेतीली कंकरीली पथरीली अत्यन्त गरम या ठंडी कैसी भी भूमिमें एक मुहूर्ततक एक करवटसे ठंठकी तरह सोते हैं तब वे संयमरक्षाके लिए हलन चलन आदिसे रहित होकर निश्चल रहते हैं, व्यन्तर आदिकी बाधा होने पर भागने या उसके प्रतीकारकी इच्छा नहीं रखते। वे मरणके भयसे भी निःशङ्क रहकर मृतककी तरह या लकड़ीकी तरह निश्चल पड़े रहते हैं। वे 'यह प्रदेश सिंह व्याघ्र साँप आदि दुष्ट जन्तुओंसे व्याप्त है, अतः यहाँसे जल्दी भाग जाना चाहिये, कब रात्रि पूरी होती है' इत्यादि संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर सुख मिलने पर भी हर्षोन्मत्त न बनकर, पूर्वानुभूत

नवनीतसम मृदुशय्या आदिका स्मरण भी न करके आगमविधिसे शयन करते हैं, उससे प्रच्युत नहीं होते। यह शय्यापरीषहजय है।

§ १७. मोहाविष्ट मिथ्यादृष्टि-आर्य म्लेच्छ खल पापाचार मत्त उद्धृत और शंकित आदि दुष्टोंके द्वारा कठोर कर्कश कान फाड़ देनेवाले हृदयभेदी क्रोधाग्निवर्धक धिक्कार और गाली आदि दुर्वचनोंको सुनकर भी स्थिर चित्त रहनेवाले, भस्म करनेकी शक्ति रहने पर भी क्षमाशील उन कटु शब्दोंके अर्थविचारसे पराङ्मुख 'मेरे पूर्व अशुभ कर्मका उदय ही ऐसा है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है' इत्यादि पुण्यभावनाओंसे सुभावित साधुका अनिष्ट वचनोंका सहना आक्रोश परीषहजय है।

§ १८. गाँव, बगीचा, जंगल, नगर आदिमें रात-दिन एकाकी निरावरण साधुको चोर, कुतवाल, म्लेक्ष, भील, कठोर, बहरा, पूर्वशत्रु और द्वेषाविष्ट आदिके द्वारा क्रोधपूर्वक ताड़न, आकर्षण, वन्धन, शस्त्राभिघात आदिसे मारनेपर भी वैरभाव नहीं होना, उलटे क्षमा-अमृतसे मारनेवालोंमें मित्रभाव करना वधपरीषहजय है। उस समय वे यही विचारते हैं कि यह शरीर अवश्य ही नष्ट होनेवाला है। यह कुशलता है कि हमारे व्रत शील भावना आदि नष्ट नहीं हुए केवल शरीर ही नष्ट हो रहा है। जलानेपर भी चन्दनकी तरह सुवास फैलाना ही हमारा धर्म है, इससे तो हमारे कर्मोंकी निर्जरा ही हो रही है। आदि।

§ १९. क्षुधा मार्गश्रम तप रोग आदिके द्वारा सूखे रूखकी तरह जिनके समस्त अवयव सूख गये हैं, जिनके हाड़ और नसें ऊपर नीचे हो रही हैं, आँखें धँस गई हैं, ओंठ सूख गये हैं, सारे शरीरका चमड़ा सुकड़ गया है, जाँघें पैर हाथ आदि अत्यन्त शिथिल हो गये हैं ऐसे परम-स्वाभिमानी मौनी आगमविहित विधिसे भिक्षा लेनेवाले साधुके परमक्षीणता होनेपर भी और प्राण जानेका समय आनेपर भी कभी दीनतापूर्वक अविहित आहार वसति औषध आदिकी याचना नहीं करना याचनापरीषहजय है। वे भिक्षाके समय केवल अपनेको दिखाते भर हैं। कभी भी मुखपर विवर्णता हीनवचनप्रयोग या किसी प्रकारका याचनासंकेत नहीं करते। जिस प्रकार जौहरी मणि दिखाता है उसी तरह स्वशरीर दिखा देना इतना ही पर्याप्त है। वन्दना करनेवालेको आशीर्वाद देनेके समय ही उनके हाथ फैलते हैं; याचनाके लिए नहीं। इस तरह ऊर्जितसत्त्व और प्रज्ञासे सन्तुष्टमना साधुका याचनापरीषहजय है।

§ २०. वायुकी तरह अनेकदेशविहारी, अपनी शक्तिका प्रकाश नहीं करनेवाले, एकभोजी, 'दो' इस असभ्य दीन वचनके विना स्वशरीरदर्शनमात्रसे भिक्षा स्वीकार करनेवाले, शरीरसे सर्वथा उदासीन, 'यह आज और यह कल' इत्यादि संकल्पोंसे रहित, पाणिपात्री सन्तोषी साधु-को बहुत दिनोंतक अनेक घरोंमें घूमनेपर भी निरन्तराय भिक्षा न मिलनेपर, ग्रामान्तर जानेकी आकांक्षा न होना तथा चित्तमें रंचमात्र संक्लेश न होना अलाभविजय है। वे यह नहीं सोचते और न कहते हैं कि 'यहाँ दाता नहीं हैं, वहाँ बड़े-बड़े दानी दाता थे' किन्तु सदा लाभसे अलाभको ही अपने स्वावलम्बी जीवनके लिए उत्कृष्ट तप समझते हैं।

§ २१. 'यह शरीर वात, पित्त, कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोगों और वेदनाओंका आकर है, दुखोंका कारण और अशुचि है। यह जीर्णवस्त्रकी तरह अवश्य ही छोड़ने योग्य है, इस तरह अपने शरीरमें परशरीरकी तरह उपेक्षाभाव धारण कर सब प्रकारकी चिकित्साओंसे चित्तको हटा शरीरयात्राके लिए मात्र विधिवत् आहारग्रहण करनेवाले साधुका जल्लौषधि आदि अनेक औषध ऋद्धियोंके होनेपर भी शरीरसे निःस्पृह रहकर 'पूर्वकृत पापका यह फल है, इसे भोगकर उऋण हो जाना ही अच्छा है' इत्यादि विचारोंके द्वारा रोगका प्रतीकार न कर उसे सहन करना रोगपरीषहजय है।

§ २२. सूखे तृण पत्र भूमि कण्टक काष्ठ फलक और शिलातल आदि किसी भी प्रासुक

असंस्कृत आधारोंपर व्याधि मार्गश्रम ठण्डी-गर्मी आदि निमित्तक क्रमको दूर करनेके लिए शय्या या आसन लगानेवाले साधुका तिनके आदिसे बाधा होनेपर या खुजली आदि चलनेपर भी दुःख नहीं मान निश्चल रहना तृणस्पर्शपरीषहजय है।

§ २३-२४. जलजन्तुओंकी हिंसाके परिहारके लिए जिनके अस्नानका व्रत है उन परम अहिंसक साधुको पसीनेके मलसे समस्त अंगोंके जल जानेपर दाद, खाज आदि चर्म रोगोंके प्रकोप होनेपर तथा नख रोम दाढ़ी, मूँछ आदिमें अनेक बाह्यमलके संपर्कसे चर्मविकार होनेपर भी स्वयं मलके हटानेकी या परके द्वारा हटवाये जानेकी जरा भी इच्छा नहीं करना और सदा कर्ममलको हटानेकी चेष्टा करना मलपरीषहजय है। साधुजन कभी भी पूर्वकृत स्नान अनुलेपन आदिका स्मरण नहीं करते और न अपनी शारीरिक मलीनतासे हीनत्वका ही अनुभव करते हैं। केशलुंचन या केशोंका संस्कार न करनेसे खेद होता है पर यह मलपरीषहमें ही अन्तर्भूत है अतः उसको पृथक् नहीं गिनाया है।

§ २५. 'चिरब्रह्मचर्यधारी महातपस्वी स्वपरसमयनिश्चयज्ञ हितोपदेशी कथामार्गकुशल तथा बहुशास्त्रार्थविजयी भी मुझे कोई प्रणाम भक्ति आदर आसन-प्रदान आदि नहीं करता' इस प्रकारकी दुर्भावनाको मनमें न लाकर मानअपमानमें समचित्तवृत्तिसे सत्कार पुरस्कारकी आकांक्षा न करना, मात्र श्रेयोमार्गका ही विचार करना सत्कार-पुरस्कार परीषहजय है। पूजा प्रशंसा आदि होना सत्कार है और स्थान देना आमन्त्रण आदि देना पुरस्कार है।

§ २६. 'मैं अंग पूर्व प्रकीर्णक आदिका ज्ञाता समस्त ग्रन्थार्थका पंडित अनुत्तरवादी त्रिकालविषयार्थवेदी शब्द न्याय अध्यात्म आदिमें निपुण हूँ, मेरे सामने सूर्यके समक्ष जुगनूकी तरह अन्यवादी निस्तेज हैं' इस प्रकारके विज्ञानमदको नहीं होने देना प्रज्ञापरीषह जय है।

§ २७. अध्ययन और अर्थग्रहणमें श्रम करनेवाले चिरप्रव्रजित विविधतपधारी सर्वतः अप्रमत्त अशुभ मन वचन कायकी क्रियाओंसे सर्वथा रहित मुझको 'यह अज्ञ है, कुछ नहीं जानता, पशुसम है' इत्यादि आक्षेप वचनोंको शान्तिसे सहने पर भी आज तक ज्ञानातिशय नहीं हुआ इस प्रकार अपनेमें अज्ञानसे हीनभावना नहीं होने देना और न दुःखी होना अज्ञानपरीषहजय है।

§ २८. संयमप्रधान दुष्कर तप तपनेवाले वैराग्य भावनासे शुद्धहृदययुक्त सकल तत्त्वार्थवेदी अर्हदायतन साधु और धर्मके प्रतिपूजक और चिरप्रव्रजित मुझ तपस्वीको आज तक कोई ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ। 'महोपवास करनेवालोंको प्रातिहार्य उत्पन्न हुए थे' यह सब झूठ है, यह दीक्षा व्यर्थ है, व्रतपालन निरर्थक है, इस प्रकारकी चित्तमें अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देना और अपने सम्यग्दर्शनको दृढ़ रखना अदर्शनपरीषहजय है। इस तरह असंकल्पोपस्थित परीषहोंको सहन करनेसे चित्त संक्लेशरहित होता है और रागादि परिणामोंके अभावमें महान् संवर होता है।

§ २९-३१. यद्यपि दर्शनके श्रद्धान और आलोचन ये दो अर्थ होते हैं पर यहाँ मति आदि पाँच ज्ञानोंके अव्यभिचारी श्रद्धान रूप दर्शनका ग्रहण है, आलोचन रूप दर्शन श्रुत और और मनःपर्यय ज्ञानोंमें नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं है। आगे दर्शनमोहके उदयसे ही अदर्शन परीषह बताई जायगी अतः दर्शनका श्रद्धान अर्थ केवल कल्पनामात्र नहीं है। यद्यपि अवधिदर्शन आदिके उत्पन्न न होने पर भी 'इसमें वे गुण नहीं हैं' आदि रूपसे अवधिदर्शन आदि सम्बन्धी परीषह हो सकती हैं पर वस्तुतः ये दर्शन अपने अपने ज्ञानोंके सहचारी हैं अतः अज्ञानपरीषहमें ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे सूर्यके प्रकाशके अभावमें प्रताप नहीं होता उसी तरह अवधिज्ञानके अभावमें अवधिदर्शन नहीं होता, अतः अज्ञानपरीषहमें ही

उन उन अवधिदर्शनाभाव आदि परीषहोंका अन्तर्भाव है। इसी प्रकार श्रद्धान रूप दर्शनको ज्ञानाविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञापरीषहमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि कभी कभी प्रज्ञाके होने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धानका अभाव देखा जाता है, अतः व्यभिचारी है।

## सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

दसवें ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषह होती हैं मोहनीय सम्बन्धी आठ परीषह नहीं होतीं।

§ १-२. चौदह ही होती हैं कम बढ़ नहीं। यद्यपि सूक्ष्मसाम्परायमें सूक्ष्म लोभसंज्व-लनका उदय है पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कार्यकारी नहीं है, मात्र उसका सद्भाव ही है अतः छद्मस्थ और वीतरागकी तरह उसमें भी चौदह ही परीषह होती हैं।

§ ३. प्रश्न-जिसके क्षुधाकी सम्भावना होती है उसीसे उसको जीतनेके कारण क्षुधा परीषहजय कहा जा सकता है। जब ११ वें और १२ वें गुणस्थानमें मोहका मन्दोदय उपशम और क्षय है तब मोहोदय रूप बलाधायकके अभावमें वेदना न होनेसे परीषहोंकी सम्भावना ही नहीं है अतः उनका जय या अभाव कैसा ? उत्तर-जैसे सर्वार्थसिद्धिके देवोंके उत्कृष्ट साताके उदय होने पर भी सप्तमपृथिवीगमन-सामर्थ्यकी हानि नहीं है उसी तरह वीतराग छद्मस्थके भी कर्मोदयसद्भावकृत परीषह व्यपदेश हो सकता है।

## एकादश जिने ॥ ११ ॥

जिन भगवान्में ग्यारह परीषह 'कोई मानते हैं' यह वाक्य शेष यहाँ समझना चाहिये।

§ १. प्रश्न-केवलीमें घातिया कर्मोंका नाश होनेसे निमित्तके हट जानेके कारण नाग्न्य अरति स्त्री निषद्या आक्रोश याचना अलाभ सत्कार पुरस्कार प्रज्ञा अज्ञान और अदर्शन परीषहें न हों, पर वेदनीय कर्मका उदय होनेसे तदाश्रित परीषहें तो होनी ही चाहिये ? उत्तर-घातिया कर्मोदय रूपी सहायकके अभावसे अन्य कर्मोंकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। जैसे मन्त्र औषधिके प्रयोगसे जिसकी मारणशक्ति उपक्षीण हो गई है ऐसे विषको खानेपर भी मरण नहीं होता उसीतरह ध्यानाग्निके द्वारा घातिकर्मेन्धनके जल जानेपर अनन्त चतुष्टयके स्वामी केवलीके अन्त-रायका अभाव हो जानेसे प्रतिक्षण शुभकर्मपुद्गलोंका संचय होते रहनेसे प्रक्षीणसहाय वेदनीय-कर्म विद्यमान रहकर भी अपना कार्य नहीं कर सकता, इसीलिए केवलीमें क्षुधा आदि नहीं होते। अथवा, 'केवलीमें ग्यारह परीषह कोई मानते हैं' ऐसा वाक्यशेष मानकर अर्थ नहीं करना चाहिये किन्तु 'ग्यारह परीषहें हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिये। ये ग्यारह परीषह केवलीमें ध्यानकी तरह उपचारसे मानी जाती हैं। जैसे समस्तज्ञानावरणका नाश करनेके कारण परिपूर्णज्ञानशाली केवलीमें एकाग्रचिन्तानिरोध न होनेपर भी कर्मनाशरूपी ध्यानफलको देखकर ध्यानका उपचारसे सद्भाव माना जाता है उसीतरह क्षुधा आदि वेदनारूप वास्तविक परीषहोंके अभावसे भी वेद-नीय कर्मोदयरूप द्रव्य परीषहका सद्भाव देखकर ग्यारह परीषहोंका उपचार कर लिया जाता है।

## बादरसाम्पराये सर्वे ॥१२॥

§ १-३. बादरसाम्पराय-अर्थात् प्रमत्तसंयत आदि बादरसाम्परायतकके साधुओंके ज्ञानावरणादि समस्त निमित्तोंके विद्यमान रहनेसे सभी परीषह होते हैं। सामायिक छेदोपस्था-पना और परिहारविशुद्धिके चारित्रमें सभी परीषहोंकी संभावना है।

## ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥१३॥

§ १-२. ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं। क्षायोपशमिकी प्रज्ञा

अन्य ज्ञानावरणके उदयमें मद उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणका क्षय होनेपर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान दोनों ज्ञानावरणसे उत्पन्न होते हैं। मोहनीयकर्मके भेद गिने हुए हैं और उनके कार्य भी दर्शन चारित्र आदिका नाश करना सुनिश्चित है अतः 'मैं बड़ा विद्वान् हूँ' यह प्रज्ञामद मोहका कार्य न होकर ज्ञानावरणका कार्य है। चारित्रवालोंके भी प्रज्ञापरीषह होती है।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

§ १-२. 'दर्शनमोह' इस विशिष्ट कारणका निर्देश करनेसे अवधिदर्शन आदिका सन्देह नहीं रहता। अन्तराय सामान्यका निर्देश होनेपर भी यहाँ सामर्थ्यात् लाभान्तराय ही विवक्षित है। अर्थात् अदर्शन परीषह दर्शनमोहके उदयसे और अलाभ परीषह लाभान्तरायके उदयसे होती है।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

§ १. पुंवेद आदि चारित्रमोहके उदयसे नाग्न्य अरति स्त्री निषद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होती हैं। मोहके उदयसे ही प्राणिहिंसाके परिणाम होते हैं अतः निषद्यापरीषह भी मोहोदयहेतुक ही समझनी चाहिये।

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

§ १-३. क्षुधा पिपासा शीत उष्ण दंशमशक चर्या शय्या वध रोग तृणस्पर्श और मल ये शेष ग्यारह परीषह वेदनीयसे होती हैं। 'वेदनीय'में सप्तमी विभक्ति कर्मसंयोगार्थक नहीं है किन्तु विद्यमानार्थक है। जैसे 'गोपु दुह्यमानासु गतः दुग्धासु आगतः' यहाँ सप्तमी है उसीतरह वेदनीयके रहनेपर ये परीषह होती हैं यहाँ समझना चाहिये।

एकसाथ कितनी परीषह होती हैं।—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

एकसाथ एकजीवके १९ परीषह तक होती हैं।

§ १-२. 'आङ्' अभिविधि अर्थमें है, अतः किसीके १९ भी परीषह होती हैं। शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा शय्या निषद्या और चर्यामेंसे कोई एक परीषह होनेसे १९ परीषह होती हैं।

§ ३-६. श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञाप्रकर्ष होनेपर भी अवधि आदिकी अपेक्षा अज्ञान हो सकता है अतः दोनोंको एक साथ होनेमें कोई विरोध नहीं है।

'प्रज्ञा और अज्ञानका विरोध होनेपर भी दंश और मशकको जुदी-जुदी परीषह मानकर उन्नीस संख्याका निर्वाह किया जा सकता है' यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि 'दंश-मशक' यह एक ही परीषह है। मशक शब्द तो प्रकारवाची है। दंश शब्दसे ही तुल्य जातियोंका बोध करके मशक शब्दको निरर्थक कहना उचित नहीं है; क्योंकि इससे श्रुतिविरोध होता है। जो शब्द जिस अर्थको कहे वही प्रमाण मानना चाहिये। दंश शब्द प्रकारार्थक तो है नहीं। यद्यपि मशक शब्दका भी सीधा प्रकार अर्थ नहीं होता पर जब दंशशब्द डाँस अर्थको कहकर परीषहका निरूपण कर देता है तब मशक शब्द प्रकार अर्थका ज्ञापन करा देता है।

§ ७. प्रश्न–चर्यादि तीन परिषह समान हैं, एक साथ नहीं हो सकतीं, क्योंकि बैठनेमें परीषह आनेपर सो सकता है, सोनेमें परीषह आनेपर चल सकता है, और सहनविधि एक जैसी है तब इन्हें एक परीषह मान लेना चाहिये और दंशमशकको दो स्वतन्त्र परीषह मानकर परी-षहोंकी कुल संख्या २१ रखनी चाहिये। फिर एक कालमें शीत-उष्णमें से एक तथा शय्या चर्या

और निषद्याकी प्रतिनिधि एक इस तरह दो परीषहोंको कम कर १७ की संख्याका निर्वाह कर लेना चाहिये' ? उत्तर—अरति यदि रहती है तो परीषहजय नहीं कहा जा सकता। यदि साधु चर्याकष्टसे उद्विग्न होकर बैठ जाता है या बैठनेसे उद्विग्न होकर लेट जाता है तो परीषहजय कैसा ? यदि 'परीषहोंको जीतूँगा' इस प्रकारकी रुचि नहीं है तो वह परीषहजयी नहीं कहा जा सकता। अतः तीनों क्रियाओंके कष्टोंको जीतना और एकके कष्टके निवारणके लिए दूसरेकी इच्छा न करना ही परीषहजय है। अतः तीनोंको स्वतन्त्र और दंशमशकको एक ही परीषहजय मानना उचित है।

चारित्र मोहके उपशम क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धिकी दृष्टिसे चारित्र एक है। प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा दो प्रकारका है। उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य विशुद्धिके भेदसे तीन प्रकारका है। छद्मस्थोंका सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञोंका सयोग और अयोग, इस तरह चार प्रकारका भी चारित्र होता है और—

**सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥**

§ १-५. आय-अनर्थ हिंसादि, उनसे सतर्क रहना। सभी सावद्य योगोंका अभेद रूपसे सार्वकालिक त्याग अथवा नियत समय तक त्याग सामायिक हैं। सामायिकको गुप्ति नहीं कह सकते क्योंकि गुप्तिमें तो मनके व्यापारका भी निग्रह किया जाता है जब कि सामायिकमें मानस प्रवृत्ति होती है। इसे प्रवृत्तिरूप होनेसे समिति भी नहीं कह सकते; क्योंकि सामायिक चारित्र-में समर्थ व्यक्तिको ही समितियोंमें प्रवृत्तिका उपदेश है। सामायिक कारण है और समिति कार्य। यद्यपि संयमधर्ममें चारित्रका अन्तर्भाव हो सकता है; पर चारित्र मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण है और वह समस्त कर्मोंका अन्त करनेवाला है इस बातकी सूचना देनेके लिए उसका पृथक् और अन्तमें वर्णन किया है।

§ ६-७. त्रस-स्थावर जीवोंकी उत्पत्ति और हिंसाके स्थान चूँकि छद्मस्थके अप्रत्यक्ष हैं अतः प्रमादवश स्वीकृत निरवद्यक्रियाओंमें दूषण लगनेपर उसका सम्यक् प्रतीकार करना छेदो-पस्थापना है। अथवा, सावद्यकर्म हिंसादिके भेदसे पाँच प्रकारके हैं, इत्यादि विकल्पोंका होना छेदोपस्थापना है।

§ ८. जिसमें प्राणिवधके परिहारके साथ ही साथ विशिष्ट शुद्धि हो वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। यह चारित्र तीस वर्षकी आयुवाले, तीन वर्षसे ९ वर्षतक जिसने तीर्थंकरके पादमूल की सेवा की हो, प्रत्याख्यान नामक पूर्वके पारङ्गत, जन्तुओंकी उत्पत्ति विनाशके देशकाल द्रव्य आदि स्वभावोंके जानकार अप्रमादी, महावीर्य, उत्कृष्ट निर्जराशाली, अतिदुष्कर चर्याका अनुष्ठान करनेवाले और तीनों संध्या कालके सिवाय दो कोश गमन करनेवाले साधुके ही होता है अन्यके नहीं।

§ ९-१०. स्थूल-सूक्ष्म प्राणियोंके वधके परिहारमें जो पूरी तरह अप्रमत्त है, अत्यन्त निर्बाध उत्साहशील, अखण्डितचारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी महापवनसे धोंकी गई प्रशस्त-अध्यवसायरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे जिसने कर्मरूपी ईंधनको जला दिया है, ध्यानविशेषसे जिसने कषायके विपांकुरोंको खोंट दिया है, सूक्ष्म मोहनीय कर्मके बीजको भी जिसने नाशके मुखमें ढकेल दिया है उस परम सूक्ष्म लोभ कषायवाले साधुके सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। यह चारित्र प्रवृत्ति निरोध या सम्यक् प्रवृत्ति रूप होने पर भी गुप्ति और समितिसे भी आगे और बढ़कर है। यह दसवें गुणस्थानमें, जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ टिमटिमाता है, होता है, अतः पृथक् रूपसे निर्दिष्ट है।

§ ११-१२. चारित्रमोहके सम्पूर्ण उपशम या क्षयसे आत्मस्वभावस्थितिरूप परम

उपेक्षापरिणत अथाख्यात चारित्र होता है। पूर्व चारित्रोंके अनुष्ठान करनेवाले साधुओंने जिसे कहा और समझा तो; पर मोहोपशम या क्षयके विना प्राप्त नहीं किया वह अथाख्यात है। अथ शब्दका आनन्तर्य अर्थ है। अर्थात् जो मोहके उपशम या क्षयके अनन्तर प्रकट हो। अथवा, इसे यथाख्यात इसलिए कहते हैं कि जैसा परिपूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप है वैसा ही इसमें आख्यात-प्राप्त होता है।

§ १३. इति शब्द हेतु एवं प्रकार व्यवस्था और विपर्यास आदिका वाची होता है पर यहाँ वह समाप्तिसूचक है अर्थात् इस यथाख्यात चारित्रसे सकल कर्मक्षयकी परिसमाप्ति होती है और चारित्रकी पूर्णता भी यहीं हो जाती है।

§ १४. इन चारित्रोंका क्रम अपने गुणानुसार है–आगे आगेके चारित्र प्रकर्षगुणशाली हैं। सामायिक और छेदोपस्थापना की जघन्य विशुद्धि अल्प है, उससे परिहारविशुद्धि की जघन्यलब्धि अनन्तगुणी है, फिर परिहारविशुद्धि की उत्कृष्ट लब्धि अनन्तगुणी है, फिर सामायिक और छेदोपस्थापनाकी उत्कृष्टलब्धि अनन्तगुणी है, फिर सूक्ष्मसाम्परायकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी फिर उसीकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। यथाख्यात चारित्रकी सम्पूर्ण विशुद्धि अनन्तगुणी है। इसमें जघन्य-उत्कृष्ट विभाग नहीं है। ये पाँच चारित्र शब्द की दृष्टिसे संख्यात बुद्धि और अध्यवसायकी दृष्टिसे असंख्यात तथा अर्थकी दृष्टिसे अनन्त भेदवाले हैं। यह चारित्र पूर्वास्रवका निरोध करता है अतः परम संवररूप है।

तप दो प्रकारका है–बाह्य और आभ्यन्तर। दोनोंके छह छह भेद हैं। बाह्यतपके भेद–

**अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥१९॥**

§ १–२. अनशन दो प्रकारका है–एक बार भोजन या एक दिन बाद भोजन आदि नियतकालिक अनशन है और शरीरत्याग पर्यन्त अनशन अनवधृतकालिक है। मन्त्रसाधन आदि दृष्टफलकी अपेक्षाके विना किया गया उपवास अनशन कहलाता है। संयमप्रसिद्धि रागोच्छेद कर्मविनाश ध्यान और आगमबोध आदिके लिए अनशनकी सार्थकता है।

§ ३. तृप्तिके लिए पर्याप्त भोजनमेंसे चौथाई या दो चार ग्रास कम खाना अवमोदर्य है। इससे संयमकी जागरूकता दोषप्रशम सन्तोष और स्वाध्यायसुख आदि प्राप्त होते हैं।

§ ४. आशा-तृष्णाकी निवृत्तिके लिए भिक्षाके समय साधुका एक दो या तीन घरका नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान है।

§ ५–८. जितेन्द्रियत्व तेजोवृद्धि और संयमबाधानिवृत्ति आदिके लिए घी दही गुड़ और तैल आदिका त्याग करना रसपरित्याग है। रस शब्द गुणवाची है, चूँकि गुणका त्याग न होकर गुणवान् द्रव्यका त्याग होता है, अतः यहाँ 'शुक्लः पटः'की तरह मतुप्का लोप समझ लेना चाहिये। अथवा गुणीको छोड़कर गुण भिन्न तो होता नहीं है, अतः सामर्थ्यसे गुणवान्का बोध हो जाता है। द्रव्यत्यागसे ही गुणत्यागकी सम्भावना है। यद्यपि सभी पुद्गल रसवाले हैं पर यहाँ प्रकर्षरसवाले द्रव्यकी विवक्षा है जैसे कि 'अभिरूपको कन्या देनी चाहिये' यहाँ सुन्दर या विशिष्ट रूपवान्की विवक्षा होती है। अतः सभी द्रव्योंके त्यागका प्रसंग नहीं है।

§ ९–११. प्रश्न–अनशन अवमोदर्य और रसपरित्यागका भिक्षानियमकारी वृत्ति-परिसंख्यानमें ही अन्तर्भाव कर देना चाहिये; क्योंकि ये भी भिक्षाका नियम करते हैं। यदि वृत्तिपरिसंख्यानके भेद मानकर भी इन्हें पृथक् गिनाया जाता है तो फिर गिनतीकी कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी? उत्तर–भिक्षाके लिए गया हुआ साधु इतने घरों तक या इतने क्षेत्र-तक कायचेष्टा करे कभी यथाशक्ति विषय नियम भी करे इस प्रकार कायचेष्टा आदिका

नियमन वृत्तिपरिसंख्यानमें होता है, अनशनमें भोजनमात्राकी निवृत्ति और अवमोदर्य और रसपरित्यागमें भोजनकी आंशिक निवृत्ति होती है। अतः तीनोंमें महान् भेद है।

§ १२. बाधानिवारण ब्रह्मचर्य स्वाध्याय और ध्यान आदिके लिए निर्जन्तु शून्यागार गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानमें बैठना सोना आदि विविक्तशय्यासन है।

§ १३-१६. अनेक प्रकारके प्रतिमायोग धारण करना मौन रहना आतापन वृक्षमूल-निवास आदिसे शरीरपरिखेद करना कायक्लेश है। इससे अचानक दुःख आनेपर सहनशक्ति बनी रहती है और विषय सुखमें अनासक्ति होती है। प्रवचनप्रभावना भी क्लेशका एक उद्देश्य है। अन्यथा ध्यान आदिके समय सुखशील व्यक्तिको द्वन्द्व आनेपर चित्तका समाधान नहीं हो सकेगा। काय क्लेश तप परीषहजातीय नहीं है; क्योंकि परीषह जब चाहे आते हैं और कायक्लेश बुद्धिपूर्वक किया जाता है। सभी तपोंमें ऐहलौकिक फलकी कामना नहीं होनी चाहिये। 'सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति आनेसे दृष्टफल निरपेक्षताका होना तपोंमें अनिवार्य है।

§ बाह्य अशन आदि द्रव्योंकी अपेक्षा रखनेसे, बाह्यजन अन्य मतवाले और गृहस्थ भी चूँकि इन तपोंको करते हैं तथा दूसरोंके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय होनेसे इन तपोंको बाह्यतप कहते हैं। जैसे अग्नि संचित तृण आदि ईंधनको भस्म कर देती है उसी तरह अनशनादि अर्जित मिथ्या-दर्शन आदि कर्मोंका दाह करते हैं तथा देह और इन्द्रियोंकी विषयप्रवृत्ति रोककर उन्हें तपा देते हैं अतः ये तप कहे जाते हैं। इनसे इन्द्रिय निग्रह सहज हो जाता है।

आभ्यन्तरतप—

**प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥**

§ १-३. प्रायश्चित्त आदि तप चूँकि बाह्य द्रव्योंकी अपेक्षा नहीं करते, अन्तःकरणके व्यापारसे होते हैं तथा अन्य मतवालोंसे अनभ्यस्त और अप्राप्तपार हैं अतः ये उत्तर अर्थात् आभ्यन्तर तप हैं।

**नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥**

§ १-२. नव आदि संख्यापदोंकी भेद शब्दके साथ अन्य पदार्थ प्रधान समास है। यद्यपि द्वन्द्वमें स्वन्त और अल्पाच्तर तथा अल्प संख्याका पूर्व निपात होता है फिर भी पूर्व सूत्रमें निर्दिष्ट प्रायश्चित्त आदिसे क्रमशः सम्बन्ध करनेके लिए द्वि शब्दका पूर्वनिपात नहीं किया। यदि यही आग्रह है कि प्रयोजन रहने पर भी व्याकरणका उल्लंघन नहीं किया जा सकता तो 'राजदन्तादि' में पाठ करके निर्वाह कर लिया जायगा। ध्यानसे पहिले पहिले क्रमशः नव आदि संख्याओंका सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

प्रायश्चित्तके भेद—

**आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥**

§ १. प्रायः साधुलोक, जिस क्रियामें साधुओंका चित्त हो वह प्रायश्चित्त। अथवा, प्राय-अपराध, उसका शोधन जिससे हो वह प्रायश्चित्त। प्रमाद दोष व्युदास, भावप्रसाद निःशल्यत्व अव्यवस्थानिवारण मर्यादाका पालन संयमकी दृढ़ता आराधना सिद्धि आदिके लिए प्रायश्चित्तसे विशुद्ध होना आवश्यक है।

§ २. एकान्तमें विराजमान प्रसन्नचित्त गुरुके समक्ष देशकालज्ञ शिष्यके द्वारा सविनय आत्मदोषोंका निवेदन करना आलोचन है। आलोचना दस दोष रहित करनी चाहिये।

वे दोष ये हैं—उपकरण देनेसे मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे इस विचारसे प्रायश्चित्तके समय उपकरण आदि देना पहिला दोष है। 'मैं दुर्बल हूँ रोगी हूँ उपवास आदि नहीं कर सकता' यदि

प्रायश्चित्त दें तो दोष कहूँ' यह कहकर दोष कहना दूसरा दोष है। दूसरोंके द्वारा जाने गये दोषोंका कहना तथा अज्ञात दोषोंको छिपा लेना मायाचार नामक तीसरा दोष है। आलस्य या प्रमादसे सूक्ष्म अपराधोंकी परवाह न करके स्थूल दोषोंका कहना चौथा दोष है। कठिन प्रायश्चित्तके भयसे बड़े दोषोंको छिपाकर अल्प दोषोंको कहना पाँचवां दोष है। 'ऐसा दोष होने पर क्या प्रायश्चित्त होगा' इस तरह तरकीबसे प्रायश्चित्त जानकर चापलूसीसे दोष कहना छठवाँ दोष है। पाक्षिक चातुर्मासिक या सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके समय बहुत साधुओंकी भीड़में कोलाहलमें दोष कहना सातवाँ दोष है। 'गुरुके द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त युक्त है या नहीं? आगमविहित है या नहीं?' इस प्रकार अन्य साधुओंसे पूछना आठवाँ दोष है। जिस किसी उद्देश्यसे अपनेमें रागशील साधुके समक्ष दोष निवेदन करना नवाँ दोष है। इसमें दिया गया कठोर प्रायश्चित्त भी विफल होता है, इसीके समान मेरा भी अपराध समान है, उसको यही जानता है, जो इसे प्रायश्चित्त दिया गया वही मैं शीघ्र ले लूँगा इस प्रकार अपने दोषका संवरण करना दसवाँ दोष है। अपने मनमें दोषोंको अधिक समय तक न रखकर निष्कपट वृत्तिसे बालककी तरह सरलतापूर्वक दोष निवेदन करनेमें न तो ये दोष होते हैं और न अन्य ही।

साधुका आलोचन तो एकान्तमें आलोचक और आचार्य इन दो की उपस्थितिमें हो जाता है पर आर्यिकाका आलोचन खुले सार्वजनिक स्थानमें तीन व्यक्तियोंकी उपस्थितिमें होता है। लज्जा और परतिरस्कार आदिके कारण दोषोंका निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी और खर्चका हिसाब न रखनेवाले कर्जदारकी तरह दुःखका पात्र होना पड़ता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्याएँ भी आलोचनाके बिना उसी तरह इष्टफल नहीं दे सकतीं जिस प्रकार विरेचनसे शरीरकी मलशुद्धि किये विना खाई गई औषधि। आलोचन करके भी यदि गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह विना संवारे धान्यकी तरह महाफलदायक नहीं हो सकता। आलोचनायुक्त चित्तसे किया गया प्रायश्चित्त माँजे हुए दर्पणमें रूपकी तरह निखरकर चमक जाता है।

§ ३. कर्मवश या प्रमाद आदिसे हुए दोषोंका 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' इस रूपसे प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है।

§ ४. कुछ दोष आलोचनामात्रसे शुद्ध होते हैं कुछ प्रतिक्रमणसे तथा कुछ दोनोंसे शुद्ध होते हैं। यह तदुभय है। सभी प्रतिक्रमण नियमसे आलोचनपूर्वक होते हैं। यह गुरुकी आज्ञासे शिष्य करता है। जहाँ केवल प्रतिक्रमणसे दोषशुद्धि होती है वहाँ वह स्वयं गुरुके द्वारा ही किया जाता है; क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्यसे आलोचना नहीं करता।

§ ५-१०. प्राप्त अन्न-पान और उपकरण आदिका त्याग विवेक है। कालका नियम करके कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग है। अनशन और अवमोदर्य आदि तप हैं। चिरप्रव्रजित साधुकी अमुक दिन पक्ष और माह आदिकी दीक्षाका छेद करना छेद है। पक्ष, माह आदितक संघसे बाहिर रखना परिहार है। महाव्रतोंका मूलच्छेद करके फिर दीक्षा देना उपस्थापना है।

विद्या और ध्यानके साधनोंके ग्रहण करने आदिमें प्रश्न विनयके विना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त मात्र आलोचना है। देश और कालके नियमसे अवश्यकर्तव्य विधानोंको धर्मकथा आदिके कारण भूल जानेपर पुनः करनेके समय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। भय शीघ्रता विस्मरण अज्ञान अशक्ति और आपत्ति आदि कारणोंसे महाव्रतोंमें अतिचार लगनेपर छेदसे पहिले के छहों प्रायश्चित्त होते हैं। शक्तिको न छिपाकर प्रयत्नसे परिहार करते हुए भी किसी कारणवश अप्रासुकके स्वयं ग्रहण करने या ग्रहण करानेमें छोड़े हुए प्रासुकका विस्मरण हो जाय और ग्रहण करनेपर उसका स्मरण आ जाय तो उसका पुनः उत्सर्ग करना ही प्रायश्चित्त है। दुःस्वप्न

दुश्चिन्ता मलोत्सर्ग मूत्रका अतिचार महानदी और महाअटवीके पार करने आदिमें व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। बार-बार प्रमाद, बहुदृष्ट अपराध, आचार्यादिके विरुद्ध वर्तन करना तथा विरुद्ध-दृष्टि-सम्यग्दर्शन की विराधना होनेपर क्रमशः अनुपस्थापन और पारंचिक विधान किया जाता है। अपकृष्ट आचार्यके मूलमें प्रायश्चित्त ग्रहण कराना अनुपस्थापन है। तीन आचार्यांतक एक आचार्यसे अन्य आचार्यके पास भेजना पारंचिक है। ये नवों प्रायश्चित्त देश काल शक्ति और संयम आदिके अविरोध रूपसे अपराधके अनुसार दोषप्रशमनके लिये औषधिकी तरह ग्रहण करने चाहिये। यद्यपि जीवके परिणाम असंख्येयलोकप्रमाण हैं और अपराध भी उतने ही हैं पर प्रायश्चित्त तो उतने प्रकारके नहीं हो सकते। अतः व्यवहारनयसे वर्गीकरण करके प्रायश्चित्तोंका स्थूल निर्देश किया है।

विनयके भेद—

## ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

§ १. विनयकी अनुवृत्ति करके प्रत्येकसे उसका सम्बन्ध कर देना चाहिये—ज्ञान-विनय दर्शन-विनय चारित्र-विनय और उपचार-विनय आदि।

§ २. आलस्यरहित हो देशकालादिकी विशुद्धिके अनुसार शुद्धचित्तसे बहुमानपूर्वक यथाशक्ति मोक्षके लिये ज्ञानग्रहण अभ्यास और स्मरण आदि करना ज्ञानविनय है।

§ ३. जिनेन्द्रभगवान्‌ने सामायिक आदि लोकबिन्दुसारपर्यन्त श्रुतमहासमुद्रमें पदार्थोंका जैसा उपदेश दिया है उसका उसी रूपसे श्रद्धान करने आदिमें निःशंक आदि होना दर्शनविनय है।

§ ४. ज्ञान और दर्शनशाली पुरुषके पाँच प्रकारके दुश्चर चारित्रोंका वर्णन सुनकर रोमांच आदिके द्वारा अन्तर्भक्ति प्रकट करना प्रणाम करना मस्तकपर अंजलि रखकर आदर प्रकट करना और उसका भावपूर्वक अनुष्ठान करना चारित्रविनय है।

§ ५–६. पूज्य आचार्यादिको सामने देखकर खड़े हो जाना, उनके पीछे चलना अंजलि जोड़ना और वन्दना आदि करना उपचारविनय हैं। यदि आचार्य परोक्ष हैं तब भी उनके प्रति अंजलि धारण करना, उनके गुणोंका संकीर्तन अनुस्मरण और मनवचनकायसे उनकी आज्ञाका पालन करना उपचारविनय है।

§ ७. ज्ञानलाभ आचारविशुद्धि और सम्यग्‌आराधना आदिकी सिद्धि विनयसे होती है और अन्तमें मोक्षसुख भी इसीसे मिलता है, अतः विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिये।

वैयावृत्त्यके भेद—

## आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥२४॥

§ १–२. वैयावृत्त्यकी अनुवृत्ति करके उसका आचार्यवैयावृत्त्य आदि रूपसे प्रत्येकके साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये। कामचेष्टा या अन्य द्रव्योंसे व्यावृत्त पुरुषका भाव या कर्म वैयावृत्त है।

§ ३–१४. जिन सम्यग्ज्ञानादि गुणोंके आधारभूत महापुरुषसे भव्यजीव स्वर्ग मोक्षसुख-दायक व्रतोंको धारणकर आचरण करते हैं वे आचार्य हैं। जिन व्रतशीलभावनाशाली महानुभावके पास जाकर भव्यजन विनयपूर्वक श्रुतका अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं। मासोपवास आदि तपोंको तपनेवाले तपस्वी हैं। श्रुतज्ञानके शिक्षणमें तत्पर और सतत व्रतभावनामें निपुण शैक्ष हैं। जिनका शरीर रोगाक्रान्त है वे ग्लान हैं। स्थविरोंकी सन्तति गण हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्य-परम्परा कुल है। चतुर्वर्णश्रमणोंके समूहको संघ कहते हैं। चिरप्रव्रजित पुराने साधक साधु हैं। अभिरूपको मनोज्ञ कहते हैं। अथवा, लोकमें जो विद्वान् वाग्मी महाकुलीन आदि रूपसे

प्रसिद्ध हो गये हों वे मनोज्ञ हैं। ऐसे लोगोंका संघमें रहना प्रवचनगौरवका कारण होता है। अथवा संस्कार सहित सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं।

§ १५-१६. इनपर व्याधि परीषह मिथ्यात्व आदिका उपद्रव होनेपर उसका प्रासुक-औषधि आहारपान आश्रय चौकी तख्ता और संथरा आदि धर्मोपकरणोंसे प्रतीकार करना तथा सम्यक्त्वमार्गमें दृढ़ करना वैयावृत्त्य है। औषध आदिके अभावमें अपने हाथसे खकार नाक आदि भीतरी मलको साफ करना और उनके अनुकूल वातावरणको बना देना आदि भी वैयावृत्त्य है।

§ १७-१८. समाधिधारण ग्लानिका जय प्रवचनवात्सल्य तथा दूसरोंमें सनाथवृत्ति जताने आदिके लिये वैयावृत्त्यका करना आवश्यक है। यद्यपि संघवैयावृत्त्य या गणवैयावृत्त्य इस संक्षिप्त कथनसे कार्य चल सकता था फिर भी वैयावृत्त्यके योग्य अनेक पात्रोंका निर्देश इसलिये किया है कि इनमेंसे किसीमें किसीकी प्रवृत्ति हो सकती है तथा करनी चाहिये।

स्वाध्यायके भेद—

**वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥**

§ १-६. निरपेक्षभावसे तत्त्वार्थज्ञके द्वारा पात्रको निरवद्य ग्रन्थ अर्थ या उभयका प्रतिपादन करना वाचना है। आत्मोन्नति परातिसन्धान परोपहास संघर्ष और प्रहसन आदि दोषोंसे रहित हो संशयच्छेद या निर्णयकी पुष्टिके लिये ग्रन्थ अर्थ या उभयका दूसरेसे पूछना पृच्छना है। पदार्थकी प्रक्रियाको जानकर गरम लोहपिण्डकी तरह चित्तको तद्रूप बना देना और उसका बार-बार मनसे अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। आचार-पारगामी व्रतीका लौकिकफलकी अपेक्षा किये बिना द्रुत विलम्बित आदि पाठदोषोंसे रहित होकर पाठका फेरना, घोखना आम्नाय है। लौकिक ख्याति लाभ आदि फलकी आकांक्षाके विना उन्मार्गकी निवृत्तिके लिये सन्देहकी व्यावृत्ति और अपूर्वपदार्थके प्रकाशनके लिये धर्मकथा करना धर्मोपदेश है।

प्रज्ञातिशय प्रशस्तअध्यवसाय प्रवचनस्थिति संशयोच्छेद परवादियोंकी शंकाका अभाव परमसंवेग तपोवृद्धि और अतिचारशुद्धि आदिके लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है।

व्युत्सर्गके भेद—

**बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥**

§ १. व्युत्सर्जनको व्युत्सर्ग कहते हैं। इसकी अपेक्षा षष्ठी विभक्ति दी गई है।

§ २-५. जो पदार्थ अन्यमें बलाधानके लिए ग्रहण किये जाते हैं वे उपधि हैं। जो बाह्य पदार्थ आत्माके साथ एकत्व अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए उनका त्याग बाह्योपधिव्युसर्ग है। क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व हास्य रति अरति भय और जुगुप्सा आदि अभ्यन्तर दोषोंकी निवृत्ति अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग है। नियतकाल या यावज्जीव शरीरके प्रति ममत्वका त्याग भी अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

§ ६-१०. परिग्रहत्यागमहाव्रतमें सोना चाँदी आदिके त्यागका उपदेश है और त्यागधर्म प्रासुक निर्दोष आहार औषधि आदिका अमुक समयतक त्यागके लिये है, अतः व्युत्सर्ग उनसे पृथक् है। प्रायश्चित्तोंमें गिनाया गया व्युत्सर्ग अतिचार होनेपर उसकी शुद्धिके लिये किया जाता है पर यह व्युत्सर्ग स्वयं निरपेक्षभावसे किया जाता है। 'यहाँ उसका वर्णन होनेसे अन्य अनेक जगह उसका ग्रहण निरर्थक है' यह आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि विभिन्न शक्ति आदिकी अपेक्षा उसके विभिन्न प्रयोजन हैं। कहीं सावद्यका प्रत्याख्यान होता है और कहीं निरवद्य भी पदार्थ अमुक कालके लिये या अनियत कालके लिये छोड़े जाते हैं। तात्पर्य यह कि त्याग पुरुषकी शक्तिके अनुसार ही होता है। उत्तरोत्तर गुणोंमें प्रकृष्ट उत्साह उत्पन्न करनेके लिये इसको

सार्थकता है। निःसंगत्व निर्भयत्व जीविताशात्याग दोषोच्छेद और मोक्षमार्गभावनातत्परत्व आदिके लिये दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग करना अत्यावश्यक है।

ध्यानका वर्णन–

**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥**

उत्तमसंहननवालेके एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहते हैं। वह अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

§ १–७. वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच और नाराच ये तीन संहनन उत्तम हैं। इनमें मोक्षका कारण प्रथम संहनन होता है और ध्यानके कारण तो तीनों हैं। अग्र अर्थात् मुख, लक्ष्य। चिन्ता–अन्तःकरणव्यापार। गमन भोजन शयन और अध्ययन आदि विविध क्रियाओंमें भटकनेवाली चित्तवृत्तिका एक क्रियामें रोक देना निरोध है। जिस प्रकार वायुरहित प्रदेशमें दीपशिखा अपरिस्पन्द–स्थिर रहती है उसी तरह निराकुल देशमें एक लक्ष्यमें बुद्धि और शक्तिपूर्वक रोकी गई चित्तवृत्ति बिना व्याक्षेपके वहीं स्थिर रहती है, अन्यत्र नहीं भटकती। अथवा अग्रशब्द अर्थवाची है, अर्थात् एक द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु या अन्य किसी अर्थमें चित्तवृत्तिको केन्द्रित करना ध्यान है।

§ ८ ९. ध्येयके प्रति अव्यापृत उदासीन भावमात्रकी विवक्षा होने पर 'ध्यातिः ध्यानम्' इस प्रकार ध्यान शब्द भावसाधन होता है। 'ध्यायतीति ध्यानम्' ऐसा कर्तृसाधन भी बहुलकी अपेक्षा होता है। करणकी विशेष प्रशंसा करनेके हेतु जैसे 'तलवार अच्छी तरह छेदती है' यहाँ करणमें कर्तृत्व धर्मका आरोप किया जाता है उसी तरह ध्यान करनेवाले आत्माका ध्यान परिणाम चूँकि ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके आधीन है अतः उसीको कर्ता कह दिया है। जब पर्याय और पर्यायीमें भेदकी विवक्षा होती है तब जैसे दाहादिमें प्रवृत्त अग्निकी स्वपर्याय ही करण कह दी जाती है उसी तरह आत्माकी ही पर्याय करण कही जाती है। यह समस्त व्यवस्था अनेकान्तवादमें ही बन सकती है; क्योंकि एकान्त पक्षमें अनेक दोष दिये जा चुके हैं।

§ १०–१५. मुहूर्त ४८ मिनिटका होता है। उत्तम संहननवाला जीव ही इतने समयतक ध्यान धारण कर सकता है अन्य संहननवाले नहीं। 'एकाग्र' शब्द व्यग्रताकी निवृत्तिके लिये है। ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। आहारादिका समय आ जानेसे चित्तवृत्ति ध्यानसे च्युत हो जाती है अतः ध्यानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद एक ही ध्यान लगातार नहीं रह सकता।

§ १६–१७. चिन्तानिरोध तुच्छ अभाव नहीं है किन्तु भावान्तररूप है। अन्य चिन्ताओंके अभावकी अपेक्षा ध्यान असत् होकर भी विवक्षित लक्ष्यके सद्भावकी अपेक्षा सत् है। अभाव भी वस्तु है क्योंकि वह (विपक्षाभाव) हेतुका अङ्ग होता है। अतः कोई दोष नहीं है।

§ १८–२२. स्पष्टताके लिये 'एकार्थचिन्तानिरोध' पद देनेमें अनिष्ट प्रसङ्ग होता है। ध्यानमें अर्थसंक्रम स्वीकार किया है। 'वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः' इस सूत्रमें द्रव्यसे पर्याय और पर्यायसे द्रव्यमें संक्रमका विधान किया गया है। एकाग्र पद देनेमें यह दोष नहीं है; क्योंकि अग्रका अर्थ मुख होता है, अतः ध्यान अनेकमुखी न होकर एकमुखी रहता है और उस एक मुखमें ही संक्रम होता रहता है। अथवा, अग्रशब्द प्राधान्यवाची है अर्थात् प्रधान आत्माको लक्ष्य बनाकर चिन्ताका निरोध करना। अथवा, 'अङ्गतीति अग्रम् आत्मा' इस व्युत्पत्तिमें द्रव्यरूपसे एक आत्माको लक्ष्य बनाना स्वीकृत ही है। ध्यान स्ववृत्ति होता है, इसमें

बाह्य चिन्ताओंसे निवृत्ति होती है। एक दिन या माहभर तक जो ध्यानकी बात सुनी जाती है वह ठीक नहीं है; क्योंकि इतने समयतक एक ही ध्यान रहनेसे इन्द्रियोंका उपघात ही हो जायगा।

§ २३-२४. श्वासोच्छ्वासके निग्रहको ध्यान नहीं कहते ; क्योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास रोकनेकी वेदनासे शरीरपात होनेका प्रसंग है। अतः ध्यानावस्थामें श्वासोच्छ्वासका प्रचार स्वाभाविक होना चाहिये। इसी तरह समय-मात्राओंका गिनना भी ध्यान नहीं है क्योंकि इसमें एकाग्रता नहीं है। गिनती करनेमें व्यग्रता स्पष्ट ही है।

§ २५-२७. ध्यानकी सिद्धि तथा विधि विधान बतानेके लिये ही गुप्ति समिति आदिके प्रकरण हैं। जैसे धान्य के लिये बनाई गई तलैयासे धान भी सींचा जाता है पानी भी पिया जाता है और आचमन भी किया जाता है उसी तरह गुप्ति आदि संवरके लिये भी हैं और ध्यानकी भूमिका बनानेके लिये भी। ध्यानप्राभृत आदि ग्रन्थोंमें ध्यानके समस्त विधिविधानोंका कथन है यहाँ तो उसका केवल लक्षण ही किया है।

ध्यानके भेद—

**आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥**

§ १-४. ऋत-दुःख अथवा अर्दन-आर्ति, इनसे होनेवाला ध्यान आर्त्तध्यान है। रुलानेवालेको रुद्र-क्रूर कहते हैं, रुद्रका कर्म या रुद्रमें होनेवाला ध्यान रौद्रध्यान है। धर्मयुक्त ध्यान धर्म्य ध्यान है। जैसे मैल हट जानेसे वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मलगुणरूप आत्मपरिणति भी शुक्ल है। इनमें आदिके दो ध्यान अपुण्यास्रवके कारण होनेसे अप्रशस्त हैं और शेष दो कर्मनिर्दहनमें समर्थ होनेसे प्रशस्त हैं।

**परे मोक्षहेतू ॥२९॥**

§ १-३. द्विवचननिर्देश होनेसे अन्तिम शुक्ल और उसके समीपवर्ती धर्मध्यानका पर शब्दसे ग्रहण होता है। व्यवहितमें भी परशब्दका प्रयोग होता है। धर्म्य और शुक्लध्यान मोक्षके हेतु हैं और पूर्वके दो ध्यान संसारके हेतु, तीसरा कोई प्रकार नहीं है।

आर्तध्यानका लक्षण—

**आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥**

§ १-२. विष कण्टक शत्रु और शस्त्र आदि बाधाकारी अप्रिय वस्तुओंके मिल जाने पर 'ये मुझसे कैसे दूर हों' इस प्रकारकी सबल चिन्ता आर्त है। स्मृतिको दूसरे पदार्थकी ओर न जाने देकर बार बार उसीमें लगाये रखना समन्वाहार है।

**विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥**

§ १. विपरीत अर्थात् मनोज्ञवस्तुका वियोग होनेपर उसकी पुनः प्राप्तिके लिए जो अत्यधिक चिन्ताधारा चलती है वह भी आर्त है।

**वेदनायाश्च ॥३२॥**

§ १-२. वेदना अर्थात् दुःखवेदनाके होनेपर उसके दूर करनेके लिए धैर्य खोकर जो अंगविक्षेप शोक आक्रन्दन और अश्रुपात आदिसे युक्त विकलता और चिन्ता होती है वह वेदनाजन्य आर्तध्यान है।

**निदानं च ॥३३॥**

§ १. प्रीतिविशेष या तीव्र कामादिवासनासे आगेके भवमें भी कायक्लेशके बदले विषयसुखोंकी आकांक्षा करना निदान है। 'विपरीतं मनोज्ञस्य' सूत्रसे निदानका संग्रह नहीं होता;

क्योंकि निदान अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए होता है, इसमें पारलौकिक विषयसुखकी गृद्धिसे अनागत अर्थप्राप्तिके लिए सतत चिन्ता चलती है।

ये चारों आर्तध्यान कृष्ण नील और कापोतलेश्यावालोंके होते हैं। ये अज्ञानमूलक, तीव्रपुरुषार्थजन्य, पापप्रयोगाधिष्ठान, नानासंकल्पोंसे आकुल, विषयतृष्णासे परिव्याप्त, धर्माश्रय-परित्यागी, कषायस्थानोंसे युक्त, अशान्तिवर्धक, प्रमादमूल, अकुशलकर्मके कारण, कटुकफलवाले असाताके बन्धक और तिर्यंच गतिमें ले जानेवाले हैं।

**तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥**

ये ध्यान अविरत अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त, देशविरत-संयतासंयत और प्रमत्त-संयत-पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंसे युक्त संयतोंके होते हैं।

§ १. प्रमत्तसंयतोंके प्रमादके तीव्र उद्रेकसे निदानको छोड़कर बाकीके तीन आर्तध्यान कभी-कभी हो सकते हैं।

**हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥**

§ १-४. हिंसा आदिको निमित्त लेकर ध्यानकी धारा चलती है अतः हिंसादिका हेतु रूपसे निर्देश किया है। हिंसादिके आवेश और परिग्रह आदिके संरक्षणके कारण देशविरतको भी रौद्रध्यान होता है। पर यह नरकादि गतियोंका कारण नहीं होता; क्योंकि वह सम्यग्दर्शनके साथ है। संयतके रौद्रध्यान नहीं होता; क्योंकि रौद्र भावोंमें संयम रह ही नहीं सकता। हिंसा-नन्द अनृतानन्द स्तेयानन्द और परिग्रहानन्द ये चारों रौद्रध्यान अतिकृष्ण नील और कापोत-लेश्यावालोंके होते हैं। ये प्रमादाधिष्ठान और नरक गतिमें ले जानेवाले हैं। आत्मा इन अशुभ ध्यानोंसे संक्लिष्ट होकर तप्त लौहपिण्ड जैसे जलको खींचता है उसी तरह कर्मोंको खींचता है।

धर्म्यध्यानका वर्णन—

**आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥**

आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार धर्म्य ध्यान हैं।

§ १-३ विचय विवेक और विचारणा सभी एकार्थक हैं। आज्ञा आदिके विचयके लिये जो स्मृतिसमन्वाहार-चिन्तनधारा है वह धर्म्य ध्यान है।

§ ४-५. इस कालमें उपदेष्टाका अभाव है, बुद्धि मन्द है, कर्मोंका तीव्र उदय है, पदार्थ सूक्ष्म हैं, उनकी सिद्धिके लिये हेतु और दृष्टान्त मिलते नहीं हैं, अतः सर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाण मानकर 'यह ऐसा ही है, जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं हो सकते' इस प्रकार गहन पदार्थोंका श्रद्धान करके पदार्थोंका निश्चय करना आज्ञाविचय है। अथवा, स्वसमय-परसमयके रहस्यके जानकार और विशुद्ध सम्यग्दृष्टि वक्ताके द्वारा सर्वज्ञप्रणीत अतिसूक्ष्म धर्मास्तिकाय आदि पदा-र्थोंका दृढ़ निश्चय करके स्वसिद्धान्ताविरोधी हेतु प्रमाण नय दृष्टान्त आदिकी सम्यक् योज-नासे परवादियोंके तर्कजालका भेदन कर उन्हें अपने मतके प्रति सहिष्णु बनाना और ऐसी धर्म कथा करना जिससे श्रुतकी प्रभावना हो, वह सर्वज्ञकी आज्ञाकी प्रकाशक होनेसे आज्ञाविचय धर्म्य ध्यान है।

§ ६-७. मिथ्यादर्शनसे जिनके ज्ञाननेत्र अन्धकाराच्छन्न हो रहे हैं उनकी आचार विनय अप्रमाद आदि विधियाँ अविद्याबहुल होनेसे संसारको ही बढ़ाती हैं। जैसे बलवान भी जात्यन्ध सत्पथसे प्रच्युत होकर कुशल मार्गदर्शकके बताये पथ पर न चलनेके कारण ऊँचे नीचे कंकरीले पथरीले जंगली मार्गमें भटक जाते हैं, वे प्रयत्न करने पर भी सन्मार्गको नहीं पा पाते उसी तरह सर्वज्ञप्रणीत आज्ञासे विमुख मोक्षार्थी सम्यक् पथका ज्ञान न होनेसे सन्मार्गसे दूर ही भटक रहे हैं, इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तन अपायविचय ध्यान है। अथवा, मिथ्या-

दर्शनसे आकुलित चित्तवाले प्रवादियोंके द्वारा प्रचारित कुमार्गसे ये प्राणी कैसे हटकर सुमार्गमें लगें और अनायतन सेवासे विरक्त हों, कैसे ये पापकारी वचन और भावनाओंसे निवृत होकर सुपथगामी बनें इस प्रकार अपायचिन्तन अपायविचय ध्यान है।

§ ८. ज्ञानावरण आदि कर्मोंके द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावनिमित्तक फलानुभवनका विचार विपाकविचय है। मिथ्यात्व एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति आतप स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारण इन दस प्रकृतियोंका प्रथम गुणस्थानमें ही उदय है आगे नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका प्रथम और द्वितीय गुणस्थानोंमें उदय है आगे नहीं। सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिका तीसरेमें ही उदय है आगे पीछे नहीं। अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ नरकायु देवायु नरकगति देवगति वैक्रियिक शरीर वैक्रियिक अंगोपांग चारों आनुपूर्वी दुर्भग अनादेय और अयशस्कीर्ति इन सत्रह कर्म प्रकृतियोंका उदय असंयत सम्यग्दृष्टि तक ही होता है आगे नहीं। चारों आनुपूर्वियोंका उदय मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता। प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ तिर्यंचगति उद्योत और नीच गोत्र इन आठ प्रकृतियोंका उदय देशसंयत गुणस्थान तक होता है आगे नहीं। निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन कर्म प्रकृतियोंका उदय आहारक शरीरकी निर्वृत्ति न करनेवाले प्रमत्तसंयतोंके होता है। आहारक शरीर और आहारक शरीर-अङ्गोपाङ्गका उदय अप्रमत्तसंयतमें ही होता है न ऊपर और न नीचे, सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत पर्यन्त होता है। अर्धनाराच संहनन कीलक संहनन और असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन इन तीन प्रकृतियोंका उदय अप्रमत्तसंयत तक होता है आगे नहीं। हास्य रति अरति शोक भय और जुगुप्सा इन छह कर्म प्रकृतियोंका उदय अपूर्वकरणके चरम समयतक होता है। तीनों वेद और क्रोध मान माया संज्वलनोंका उदय अनिवृत्तिबादरसाम्पराय तक है। इनका उदयच्छेद अनिवृत्तिबादरसाम्परायके सात भागोंके एक एक भागमें क्रमशः हो जाता है। लोभसंज्वलनका उदय दसवें गुणस्थान तक होता है। वज्रनाराच और नाराच संहननका उदय उपशान्त कषाय तक होता है। निद्रा और प्रचलाका उदय क्षीणकषायके उपान्त्य समय तक होता है। पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका उदय क्षीणकषायके चरम समय तक होता है। कोई एक वेदनीय औदारिक तैजस कार्मणशरीर छह संस्थान औदारिक-शरीराङ्गोपाङ्ग वज्रवृषभनाराचसंहनन वर्ण गन्ध रस स्पर्श अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति प्रत्येकशरीर स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ सुस्वर दुःस्वर और निर्माण इन तीस प्रकृतियोंका उदय सयोगकेवलीके चरम समय तक है, आगे नहीं। कोई एक वेदनीय मनुष्यायु मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति त्रस बादर पर्याप्तक सुभग आदेय यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र इन ग्यारह प्रकृतियोंका उदय अयोगकेवलीके चरम समय तक है आगे नहीं। तीर्थंकर प्रकृतिका उदय दोनों केवलियोंके होता है अन्यके नहीं।

§ ५. अयथाकाल–विना समय आगे होनेवाला कर्मविपाक उदीरणोदय है। मिथ्या-दर्शनका उदीरणोदय उपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके चरमावलीको छोड़कर अन्यत्र होता है। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति आतप स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारण इन नव प्रकृतियोंका उदीरणोदय मिथ्यादृष्टिके होता है आगे नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका उदीरणोदय मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टिके होता है ऊपर नहीं। सम्यङ्मिथ्यात्वका उदीरणोदय मिश्रमें ही होता है न आगे और न पीछे। अप्रत्याख्या-नावरण क्रोध मान माया लोभ नरकगति देवगति वैक्रियिकशरीर वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग दुर्भग अनादेय और अयशस्कीर्ति इन ग्यारह प्रकृतियोंकी उदीरणा असंयतसम्यग्दृष्टि तक होती है। नरकायु और देवायुकी मरणकालमें चरमावलीको छोड़कर असंयतसम्यग्दृष्टिमें ही उदीरणोदय होता है न ऊपर और न नीचे। चारों आनुपूर्वियोंकी विग्रहगतिमें ही मिथ्यादृष्टि सासादन और

असंयतसम्यग्दृष्टिमें उदीरणा होती है। प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ तिर्यंचगति उद्योत और नीचगोत्र इन सात प्रकृतियोंकी संयतासंयत तक उदीरणा होती है आगे नहीं। तिर्यंच आयुकी मरणकालमें चरमावलीको छोड़कर संयतासंयत तक उदीरणा होती है आगे नहीं। निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि सातावेदनीय और असातावेदनीयकी प्रमत्तसंयततक उदीरणा होती है, उत्तर-आहारकशरीरवालोंमें चरमावलीमें उदीरणा नहीं होती। आहारकशरीर और आहारकशरीरअङ्गोपाङ्गका प्रमत्तसंयतमें उदीरणोदय होता है आगे पीछे नहीं। मनुष्यायुकी उदीरणा मरणकालमें चरमावलीको छोड़कर मिश्रगुणस्थानके सिवाय प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होती है। वेदक सम्यक्त्वका उदीरणोदय असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक होता है आगे पीछे नहीं। अर्धनाराच कीलक असंप्राप्तासृपाटिकासंहननका उदीरणोदय अप्रमत्तसंयत तक होता है आगे पीछे नहीं। हास्य रति अरति शोक भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियोंका उदीरणोदय अपूर्वकरणके चरम समय तक होता है आगे पीछे नहीं। तीनों वेद और तीन संज्वलनकी उदीरणा अनिवृत्तिबादर साम्पराय तक होती है। उसके छह भागोंमें प्रत्येकमें एक एकका उदीरणाछेद हो जाता है। सूक्ष्मसाम्परायकी चरमावलीको छोड़कर शेष दशों गुणस्थानवर्तियोंके लोभसंज्वलनकी उदीरणा होती है। वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहननका उदीरणोदय उपशान्त कषायमें होता है आगे पीछे नहीं। बारहवें गुणस्थानकी एक समय अधिक चरमावलीको छोड़कर क्षीणकषायान्त जीवोंके निद्रा और प्रचलाकी उदीरणा होती है। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका उदीरणोदय चरमावलीरहित क्षीणकषायान्त जीवोंके होता है। मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक तैजस कार्मण शरीर छह संस्थान औदारिकशरीरांगोपांग वज्रवृषभनाराचसंहनन वर्ण गन्ध रस स्पर्श अगुरुलघु उपघात उच्छ्वास प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ सुस्वर दुःस्वर आदेय यशस्कीर्ति निर्माण और उच्चगोत्र इन अड़तीस प्रकृतियोंकी उदीरणा सयोगकेवलीके चरम समयतक होती है। तीर्थङ्कर प्रकृतिकी उदीरणा सयोगकेवलीके ही होती है आगे पीछे नहीं।

§ १०. लोकके स्वभाव संस्थान तथा द्वीप नदी आदिके स्वरूपका विचार संस्थान विचय है।

§ ११-१२. उत्तमक्षमा आदि दस धर्मोंसे ओत-प्रोत होनेके कारण यह धर्म्यध्यान कहलाता है। उत्तमक्षमादिभावनावालेके यह होता है। अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओंमें जब बार-बार चिन्तनधारा चालू रहती है तब वे ज्ञानरूप हैं पर जब उनमें एकाग्र चिन्तानिरोध होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है तब वे ध्यान कहलाती हैं।

§ १३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत सूत्रपाठमें धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयतके बताया है, पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है अतः वह असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत और प्रमत्तसंयतके भी होता है। यदि उक्त अवधारण किया जाता है तो इनकी निवृत्ति हो जायगी।

§ १४-१५. उपशान्तकषाय और क्षीणकषायमें शुक्लध्यान माना जाता है, उनमें धर्म्यध्यान नहीं होता। दोनों मानना उचित नहीं है; क्योंकि आगममें श्रेणियोंमें शुक्ल ध्यान ही बताया है धर्म्यध्यान नहीं।

## शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

§ १-३. पूर्ववित् अर्थात् श्रुतकेवलीके आदिके दो शुक्लध्यान होते हैं। च शब्दसे उनके धर्म्यध्यान भी होता है। धर्म्यध्यान श्रेण्यारोहणके पहिले होता है तथा श्रेण्यारोहणकालमें शुक्लध्यान होता है, यह बात व्याख्यानसे ज्ञात हो जाती है।

## परे केवलिनः ॥३८॥

§ १. केवली–अचिन्त्यविभूतिरूप केवलज्ञानसाम्राज्यके स्वामी सयोगी और अयोगी दोनों केवलियोंके अन्तिम दो शुक्लध्यान होते हैं छद्मस्थोंके नहीं।

## पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं।

## त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

§ १-२. तीनों योगवालोंके पृथक्त्ववितर्क, किसी एक योगवालेके एकत्ववितर्क, काययोगवालेके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और अयोगीके व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है।

## एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

§ १-३. आदिके दो शुक्लध्यान श्रुतकेवलीके द्वारा आरम्भ किये जाते हैं अतः एकाश्रय हैं तथा वितर्क और वीचारसे युक्त हैं।

## अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क और अविचार है।

## वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

विशेष प्रकारसे तर्कणा करना वितर्क है। वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान।

## वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थ–ध्येय द्रव्य या पर्याय, व्यञ्जन–शब्द, और योग–मन वचन कायके परिवर्तन को वीचार कहते हैं। द्रव्यको छोड़कर पर्यायको और पर्यायको छोड़कर द्रव्यको ध्यानका विषय बनाना अर्थसंक्रान्ति है। किसी एक श्रुतवचनका ध्यान करते करते वचनान्तरमें पहुँचना और उसे छोड़कर अन्यका ध्यान करना व्यञ्जनसंक्रान्ति है। काययोगको छोड़कर मनोयोग या वचनयोगका अवलम्बन लेना तथा उन्हें छोड़कर काययोगका आलम्बन लेना योगसंक्रान्ति है। इस तरह गुप्ति आदिकी भूमिकापर ध्याये गये ये ध्यान कर्मबन्धन काटनेमें समर्थ होते हैं। इनका प्रारम्भ करनेके लिए यह परिकर्म अर्थात् तैयारी अपेक्षित होती है—

उत्तमशरीरसंहनन होकर भी परीषहोंके सहनेकी क्षमताका आत्म-विश्वास हुए बिना ध्यान-साधना नहीं हो सकती। परीषहोंकी बाधा सहकर ही ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है। पर्वत, गुफा, वृक्षकी खोह, नदी,तट,पुल,श्मसान, जीर्णउद्यान और शून्यागार आदि किसी स्थानमें व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु-पक्षी, मनुष्य आदिके अगोचर, निर्जन्तु, समशीतोष्ण, अतिवायुरहित, वर्षा आतप आदिसे रहित, तात्पर्य यह कि सब तरफसे बाह्य आभ्यन्तर बाधाओंसे शून्य और पवित्र भूमिपर सुखपूर्वक पल्यङ्कासनसे बैठना चाहिये। उस समय शरीरको सम ऋजु और निश्चल रखना चाहिये। बाएँ हाथपर दाहिना रखकर न खुले हुए और न बन्द किन्तु कुछ खुले हुए दाँतोंपर दाँतोंको रखकर, कुछ ऊपर किये हुए सीधी कमर और गम्भीर गर्दन किये हुए प्रसन्न मुख और अनिमिष स्थिर सौम्यदृष्टि होकर निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदिको छोड़कर मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेनेवाला साधु ध्यानकी तैयारी करता है। वह नाभिके ऊपर हृदय, मस्तक या और कहीं अभ्यासानुसार चित्तवृत्तिको स्थिर रखनेका प्रयत्न करता है। इस तरह एकाग्रचित्त होकर राग, द्वेष, मोहका उपशम कर कुशलतासे

शरीरक्रियाओंका निग्रह कर मन्द श्वासोच्छ्वास लेता हुआ निश्चित लक्ष्य और क्षमाशील हो बाह्य आभ्यन्तर द्रव्य पर्यायोंका ध्यान करता हुआ वितर्ककी सामर्थ्ययुक्त हो अर्थ और व्यंजन तथा मन वचन कायकी पृथक्-पृथक् संक्रान्ति करता है। वह असीम बल और उत्साहसे मनको सबल बनाकर अव्यवस्थित और भोथरे शस्त्रसे वृक्षको छेदनेकी तरह मोह प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेवाला पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान ध्याता है। फिर शक्तिकी कमीसे योगसे योगान्तर व्यंजनसे व्यंजनान्तर और अर्थसे अर्थान्तरको प्राप्त कर मोहरजका विधूनन कर ध्यानसे निवृत्त होता है। यह पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान है।

इसी विधिसे मोहनीयका समूलतल उच्छेद करनेकी तीव्र इच्छासे अनन्तगुणविशुद्ध योग सहित हो ज्ञानावरणके सहायभूत बहुत-सी मोहनीय प्रकृतियोंके बन्धको रोकता हुआ उनकी स्थितिका ह्रास और क्षय करके श्रुतज्ञानोपयोगवाला वह अर्थ व्यंजन और योगसंक्रान्तिको रोककर एकाग्र निश्चल चित्त हो वैडूर्यमणिकी तरह निर्लेप क्षीणकषाय हो ध्यान धारण कर फिर वापिस नहीं होता। यह एकत्ववितर्क ध्यान है।

इस तरह एकत्ववितर्क शुक्लध्यानाग्निसे जिसने घातिकर्मरूपी ईंधनको जला दिया है, प्रज्वलित केवलज्ञानसूर्य जिसका प्रकाशमान है, मेघसमूहको भेदकर निकले हुए किरणोंसे सर्वतः भासमान भगवान् तीर्थङ्कर या अन्यकेवली लोकेश्वरों द्वारा अभिवन्दनीय अर्चनीय और अभिगमनीय होते हैं। वे कुछ कम पूर्वकोटिकालतक उपदेश देते रहते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और वेदनीय नाम और गोत्रकी स्थिति भी उतनी ही रहती है तब सभी वचन और मनोयोग तथा बादरकाययोगको छोड़कर सूक्ष्मयोगका आलम्बन ले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान प्रारम्भ करते हैं। जब आयु अन्तर्मुहूर्त हो तथा वेदनीय नाम और गोत्रकी स्थिति अधिक हो तब विशिष्ट आत्मोपयोगवाली परमसामायिकपरिणत महासंवररूप और जल्दी कर्मोंका परिपाक करनेवाली समुद्घातक्रिया की जाती है। वह इस क्रियासे शेष कर्मरेणुओंका परिपाक करनेके लिये चार समयोंमें दण्ड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण अवस्थामें आत्मप्रदेशोंको पहुँचाकर फिर क्रमशः चार ही समयोंमें उन प्रदेशोंका संहरण कर चारों कर्मोंकी स्थिति समान कर लेता है। इस दशामें वह फिर अपने शरीरपरिमाण हो जाता है। इस तरह सूक्ष्म काययोगसे सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति ध्यान ध्याया जाता है।

इसके बाद समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान प्रारम्भ होता है। श्वासोच्छ्वास आदि समस्त काय वचन और मन-सम्बन्धी व्यापारोंका निरोध होनेसे यह ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति कहलाता है। इस ध्यानमें समस्त आस्रव-बन्धका निरोध होकर समस्त कर्मोंके नष्ट करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। इसके धारक अयोगकेवलीके संसार दुःखजालके उच्छेदक साक्षात् मोक्षमार्गके कारण सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र ज्ञान और दर्शन आदि प्राप्त हो जाते हैं। वे ध्यानाग्निसे समस्त मल कलंक कर्मबन्धोंको जलाकर निर्मल और किट्टरहित सुवर्णकी तरह परिपूर्ण स्वरूपलाभ करके निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं।

इस तरह यह तप संवर और निर्जरा दोनोंका कारण होता है।

निर्जराकी विशेषता—

**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥**

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाले, दर्शनमोहका क्षय करनेवाले, चारित्रमोहके उपशमक, उपशान्तमोह, चारित्रमोहके क्षपक, क्षीणमोह तथा केवली जिन ये क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरावाले होते हैं।

प्रथम सम्यक्त्व आदिका लाभ होनेपर अध्यवसायकी विशुद्धिके प्रकर्षसे दसों स्थान क्रमशः असंख्येयगुण निर्जरावाले हैं। जैसे मद्यपायीके शराबका कुछ नशा उतरनेपर अव्यक्त ज्ञानशक्ति प्रकट होती है, या दीर्घनिद्राके हटनेपर जैसे ऊँघते-ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है, या विषमूर्च्छित व्यक्तिको विषका वेग कम होनेपर चेतना आती है अथवा पित्तादिविकारसे मूर्च्छित व्यक्तिको मूर्च्छा हटनेपर अव्यक्त चेतना आती है उसी तरह अनन्तकाय आदि एकेन्द्रियोंमें बार-बार जन्म-मरण-परिभ्रमण करके द्वीन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है। फिर वहीं एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। इस तरह अनेक बार चढ़-उतरकर नरकादि पर्यायोंमें दीर्घकालतक पंचेन्द्रियत्वका अनुभव करके घुणाक्षरन्यायसे मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। फिर भी भ्रमण कर दुर्लभ देश कुल आदिको प्राप्त कर अल्पसंक्लेशसे विशुद्धव्यवसाय और प्रतिभाशक्ति सम्पन्न हो शुद्ध परिणामोंसे अन्तरात्माका प्रक्षालन होनेपर भी यदि योग्य उपदेश नहीं मिला तो सन्मार्गकी प्राप्ति नहीं होती और वह कुतीर्थोंके मिथ्यामार्गमें भटककर फिर जन्माटवीमें परिभ्रमण करता है। इस तरह पूर्वोक्तक्रमसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशमसे विशुद्धियुक्त होकर उपदेश द्वारा जैनमतको कदाचित् सुनकर प्रतिबन्धी कर्मोंको मन्दकर कदाचित् श्रद्धान भी करता है। जैसे कतकफलके सम्पर्कसे जलका मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है उसी तरह असदुपदेशसे अतिमलिन मिथ्यात्वके उपशमसे आत्मनिर्मलताको पाकर श्रद्धानाभिमुख हो असंख्यातगुणी निर्जरा करता है और अभूतपूर्व परिणामोंसे प्रथम सम्यक्त्वके सम्मुख होता है तथा जिनेन्द्रके वचनोंमें परमरुचि और श्रद्धा करता हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। फिर सम्यक्त्वभावनारूप अमृतरससे विशुद्धिको बढ़ाता हुआ मिथ्यात्वघाती शक्तिका आविर्भाव होनेसे धान्यको कूटनेसे जैसे तुष कण और चाँवल जुदे हो जाते हैं उसी तरह मिथ्यादर्शनके मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन विभाग कर देता है। इसमें सम्यक्त्वका वेदन करता हुआ सद्भूत पदार्थका श्रद्धान करनेवाला वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। फिर प्रशम संवेगादि गुणोंका धारी जिनेन्द्रभक्तिसे बढ़ी हुई विपुल भावनाओंका आगार यह केवलीके पादमूलमें मोहका क्षय करना प्रारम्भ करता है। दर्शनमोहके क्षयकी समाप्ति तो चारों गतियोंमें हो सकती है। इस तरह मिथ्यात्वका निराकरण कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। शंकादि दोषोंसे रहित, कुसमयोंसे अक्षुब्ध बुद्धिवाला, सत्पदार्थोंकी उपलब्धि करनेवाला और मोहतिमिर पटलसे विमुक्तदृष्टियुक्त यह जैनेन्द्रपूजा प्रवचनवात्सल्य और संयमादि प्रशंसामें तत्पर रहकर देशघातिकर्मोंके क्षयोपशमसे संयमासंयमको प्राप्त कर श्रावक हो जाता है। फिर विशुद्धिप्रकर्षसे समस्त गृहस्थ-सम्बन्धी परिग्रहोंसे मुक्त हो निर्ग्रन्थताका अनुभव कर महाव्रती बन जाता है। इसी तरह आगे-आगे विशुद्धिप्रकर्षसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

§ १. क्षै धातुसे आत्व और मित्संज्ञा होकर ह्रस्वत्व होनेपर क्षपक शब्द बन जाता है।

निर्ग्रन्थोंके प्रकार—

## पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

§ १. उत्तरगुणोंकी भावनारहित व्रतोंमें भी कभी-कभी पूर्णताको न पानेवाले बिना पके धान्यकी तरह पुलाक होते हैं।

§ २. बकुश शब्द शबलका पर्यायवाची है। जो निर्ग्रन्थ मूलव्रतोंका अखण्ड भावसे पालन करते हैं, शरीर और उपकरणकी सजावटमें जिनका चित्त है, ऋद्धि और यशकी कामना रखते हैं, सात और गौरवके आधार हैं, चित्तसे जिनके परिवारवृत्ति नहीं निकली है और छेदसे जिनका चित्त शबल अर्थात् चित्रित है, वे बकुश हैं।

§ ३. कुशील दो प्रकार हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। परिग्रहकी भावना-

सहित मूल और उत्तरगुणोंमें परिपूर्ण कभी-कभी उत्तरगुणकी विराधना करनेवाले प्रतिसेवना-कुशील हैं। ग्रीष्मकालमें जंघाप्रक्षालन आदिका सेवन करनेकी इच्छा होनेसे जिनके संज्वलन-कषाय जगती है और अन्य कषायें वशमें हो चुकी हैं वे कषायकुशील हैं।

§ ४. जैसे पानीमें खींची गई रेखा शीघ्र ही विलीन हो जाती है उसी तरह जिनके कर्मोंका उदय अत्यन्त अनभिव्यक्त है और जिनके अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान और दर्शन प्रकट होनेवाले हैं, वे निर्ग्रन्थ हैं।

§ ५. ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोंके क्षयसे जिनके केवलज्ञानादि अतिशय प्रकट हुए हैं वे शीलके परिपूर्णस्वामी कृतकृत्य सयोगकेवली स्नातक हैं।

§ ६-१२. **प्रश्न**—जैसे गृहस्थ चारित्रभेदसे निर्ग्रन्थ नहीं कहा जाता उसी तरह पुलाक आदिको भी प्रकृष्ट अप्रकृष्ट मध्यम आदि चारित्रभेद होनेपर भी निर्ग्रन्थ नहीं कहना चाहिये ? **उत्तर**—जैसे चारित्र अध्ययन आदिका भेद होनेपर भी सभी ब्राह्मणोंमें जातिकी दृष्टिसे ब्राह्मण शब्दका प्रयोग समानरूपसे होता है उसी तरह पुलाक आदिमें भी निर्ग्रन्थशब्दका प्रयोग हो जाता है। संग्रह और व्यवहार नयकी अपेक्षा गुणहीनोंमें भी उस शब्दका प्रयोग सर्वसंग्रहार्थ कर लिया जाता है। भूषा वेष और आयुधसे रहित निर्ग्रन्थरूप और शुद्ध सम्यग्दर्शन ये सभी पुलाक आदिमें समान है अतः इनमें निर्ग्रन्थ शब्दका प्रयोग सकारण है। हम निर्ग्रन्थ रूपको प्रमाण मानते हैं, अतः भग्नव्रत निर्ग्रन्थमें निर्ग्रन्थशब्दका प्रयोग करके भी श्रावकमें उसका प्रयोग नहीं कर सकते; क्योंकि उसमें निर्ग्रन्थरूप नहीं है। यह आशंका भी नहीं करनी चाहिये कि–'जिस किसी मिथ्यादृष्टि नंगेमें निर्ग्रन्थ शब्दका प्रयोग होने लगेगा'; क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता। जहाँ सम्यग्दर्शनसहित निर्ग्रन्थरूप है वहीं निर्ग्रन्थ है। चारित्र-गुणका क्रमविकास और क्रमप्रकर्ष दिखानेके लिए इन पुलाकादि भेदोंकी चरचा की है।

पुलाकादिमें विशेषता—

**संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥**

§ १-३. तस् प्रत्यय अन्यसे भी हो जाता है, भवति आदिके योगके विना भी उसका प्रयोग सिद्ध है। जैसे, विसेवक शब्दमें षत्व नहीं हुआ उसी तरह क्रियान्तरका सम्बन्ध होनेसे प्रतिसेवनामें षत्व नहीं हुआ है।

§ ४. संयमादि आठ अनुयोगोंसे पुलाक आदिमें विशेषता है। संयम–पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों में होते हैं। कषायकुशील इनके साथ ही साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्परायमें भी होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यात संयममें ही होते हैं।

श्रुतकी दृष्टिसे—पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील अभिन्नाक्षर दशपूर्वके धारक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदहपूर्वके धारी होते हैं। जघन्यसे पुलाकका श्रुत आचारवस्तुके ज्ञानतक सीमित है। वकुश कुशील और निर्ग्रन्थोंका जघन्यश्रुत आठ प्रवचन मातृकाओं (पाँच समिति और तीन गुप्ति) के ज्ञान तक है। स्नातक केवली हैं, अतः वे श्रुतातीत हैं।

प्रतिसेवना—पुलाकके पाँच मूलगुण और रात्रिभोजनविरतिमेंसे किसी एककी परके दबावसे विरोधना हो जाती है। वकुश दो प्रकारके हैं–उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरणोंमें जिनका चित्त आसक्त है, जो विचित्र परिग्रहयुक्त हैं, जो सुन्दर सजे हुए उपकरणोंकी आकांक्षा करते हैं तथा इन संस्कारोंके प्रतीकारकी सेवा करनेवाले भिक्षु उपकरण-वकुश हैं। शरीरसंस्कारसेवी शरीरवकुश हैं। प्रतिसेवनाकुशीलके मूलगुणोंमें तो विराधना

नहीं होती पर कभी-कभी उत्तरगुणोंमें विराधना हो जाती है। कषायकुशील निर्ग्रन्थ और स्नातकोंके विराधना नहीं होती।

तीर्थ—सभी तीर्थंकरोंके तीर्थमें ये पुलाक आदि होते हैं।

लिंग—लिंग दो प्रकारका है। द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंगकी दृष्टिसे पाँचों निर्ग्रन्थलिंगी होते हैं, द्रव्यलिंगकी दृष्टिसे भाज्य हैं।

लेश्या—पुलाकके उत्तरकी तीन लेश्याएँ होती हैं। वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील और परिहारविशुद्धिवालेके उत्तरकी चार लेश्याएँ होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय और निर्ग्रन्थ स्नातकोंके एक शुक्ललेश्या होती है। अयोगकेवली अलेश्य होते हैं।

उपपाद—पुलाक उत्कृष्ट रूपसे सहस्रार स्वर्गके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न होता है। वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलका आरण अच्युत कल्पमें २२ सागरकी उत्कृष्ट स्थितिमें उपपाद होता है। कषायकुशील और निग्रन्थका तेतीस सागरकी स्थितिवाले सर्वार्थसिद्धिमें उपपाद है। सबका जघन्य उपपाद दो सागरकी स्थितिवाले सौधर्म कल्पमें होता है। स्नातकका निर्वाण ही होता है।

स्थान—असंख्यात संयमस्थान कषायनिमित्त होते हैं। पुलाक और कषायकुशीलके सर्वजघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे आगे असंख्येय स्थानोंको जाते हैं। इसके बाद पुलाक नहीं रहता। कषायकुशील आगे और भी असंख्येय स्थानोंको जाता है। कषाय कुशील प्रतिसेवनाकुशील और वकुश एक साथ असंख्येय स्थानोंको जाते हैं। फिर वकुश नहीं रहता। फिर असंख्येय स्थान आगे जाकर प्रतिसेवनाकुशील नहीं रहता। फिर असंख्येय स्थान आगे जाकर कषायकुशील नहीं रहता। इसके आगे अकषाय स्थानोंको निग्रन्थ प्राप्त होता है। वह भी आगे असंख्येय स्थानोंतक जाता है, आगे नहीं। उसके ऊपर एक स्थान जाकर निर्ग्रन्थ स्नातक निर्वाण प्राप्त करता है। इस तरह इनकी संयम लब्धि अनन्तगुणी होती है।

नवाँ अध्याय समाप्त

# दसवाँ अध्याय

संवरके बाद निर्जराका स्वतन्त्र प्रकरण इसलिए नहीं बनाया कि प्रायः संवरके कारणोंसे निर्जरा होती है, इसीलिए संवरके प्रकरणमें ही निर्जराका वर्णन कर दिया गया है।

मोक्षका वर्णन–

**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥**

संवरके द्वारा जिसकी परम्पराकी जड़ काट दी गई है और चारित्र-ध्यानाग्निके द्वारा जिसकी सत्ताका सर्वथा लोप कर दिया है उस मोहनीयका क्षय हो जानेपर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होते ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ 'उत्पन्न होता है ऐसा उपदेश दिया गया है' इस वाक्यशेषका अन्वय कर लेना चाहिये।

§ १–२. मोहक्षयका पृथक्प्रयोग क्रमिक क्षयकी सूचना देनेके लिए है। पहिले मोहक्षय करके अन्तर्मुहूर्त्ततक क्षीणकषाय पदको पाकर फिर एक साथ ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय कर कैवल्य प्राप्त करता है। मोहका क्षय ही मुख्यतया केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, यह जतानेके लिए पंचमी विभक्तिसे मोहक्षयकी हेतुताका द्योतन किया है।

§ ३. मोहादिका क्षय परिणामविशेषोंसे होता है। पूर्वोक्त तैयारीके साथ परम तपको धारण कर प्रशस्त अध्यवसायसे उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए साधकके शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग बढ़ता है और अशुभ प्रकृतियाँ कृश होकर विलीन हो जाती हैं। कोई वेदकसम्यग्दृष्टि अप्रमत्तगुणस्थानमें सात प्रकृतियोंके उपशमका प्रारम्भ करता है। कोई साधक असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत या अप्रमत्त संयत किसी भी गुणस्थानमें सात प्रकृतियोंका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो चारित्रमोहका उपशम प्रारम्भ करता है। फिर अथाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करके उपशमश्रेणी चढ़कर अपूर्वकरण-उपशमक व्यपदेशको प्राप्तकर वहाँ नवीन परिणामोंसे पापकर्मोंके प्रकृति स्थिति और अनुभागको क्षीणकर शुभकर्मोंके अनुभागको बढ़ाता हुआ अनिवृत्तिबादर साम्परायक गुणस्थानमें जा पहुँचता है। वहाँ नपुंसकवेद स्त्रीवेद नव नोकषाय पुंवेद अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध दो मायां दो लोभ क्रोधसंज्वलन और मानसंज्वलन इन प्रकृतियोंका क्रमशः उपशमन कर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें पहुँचता है। वहाँ प्रथमसमयमें मायासंज्वलनका उपशमकर लोभसंज्वलनको क्षीणकर सूक्ष्मसाम्परायोपशमक कहलाता है। फिर उपशान्तकषायके प्रथम समयमें लोभसंज्वलनका उपशम कर समस्त मोहका उपशम होनेसे उपशान्तकषाय कहलाता है। यहाँ आयुके क्षयसे मरण हो सकता है। अथवा फिर कषायोंकी उदीरणा होनेसे नीचे गिर जाता है। वही या अन्य कोई विशुद्ध अध्यवसायसे अपूर्व उत्साहको धारण करता हुआ पहिलेकी तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर बड़ी भारी विशुद्धिसे क्षपक श्रेणी चढ़ता है। अथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंसे अपूर्वकरणक्षपक अवस्थाको प्राप्त कर उससे आगे आठ कषायोंका नाश कर नपुंसक वेद और स्त्रीवेदको उखाड़कर छह नोकषायोंको पुंवेदमें, पुंवेदको क्रोधसंज्वलनमें, क्रोधसंज्वलनको मानमें, मानको मायामें, मायाको लोभमें डालकर क्रमशः क्षय करके अनिवृत्तिबादर साम्परायक क्षपक गुणस्थानमें पहुँचता हुआ लोभसंज्वलनको सूक्ष्म करके सूक्ष्मसाम्परायक हो जाता है। उससे आगे समस्त मोहनीय कर्मका निर्मूल क्षय करके क्षीणकषायगुणस्थानमें मोहनीय का समस्त भार उतार कर फैंक देता है। वह उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचलाका क्षय करके पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका अन्त समयमें विनाश कर अचिन्त्यविभूतियुक्त केवलज्ञान दर्शनस्वभावको निष्प्रतिपक्षीरूपसे प्राप्त

कर कमलकी तरह निर्लिप्त और निरुपलेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्त्ती सर्वद्रव्य पर्यायोंका ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनन्तदर्शनशाली कृतकृत्य मेघपटलोंसे विमुक्त शरत्कालीन पूर्णचन्द्रकी तरह सौम्यदर्शन और प्रकाशमानमूर्ति केवली हो जाता है। इन केवल ज्ञानदर्शनवाले सशरीरी ऐश्वर्यशाली घातिया कर्मोंके नाशक और वेदनीय आयु नाम और गोत्रकर्मकी सत्तावाले केवलीके बन्धके कारणोंका अभाव और निर्जराके द्वारा समस्त कर्मोंका विशेष और प्रकृष्टरूपसे मोक्ष होनेको मोक्ष कहा है।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां [ कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ] ॥२॥

§ १-२. मिथ्यादर्शन आदि बन्धहेतुओंके अभावसे नूतन कर्मोंका आना रुक जाता है। कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता ही है। पूर्वोक्त निर्जराके कारणोंसे संचित कर्मोंका विनाश होता है। इन कारणोंसे आयुके बराबर जिनकी स्थिति कर ली गई है ऐसे वेदनीय आदि शेष कर्मोंका युगपत् आत्यन्तिक क्षय हो जाता है।

§ ३. प्रश्न—कर्मबन्ध सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिये ? उत्तर—जैसे बीज और अंकुरकी सन्तान अनादि होनेपर भी अग्निसे अन्तिम बीजको जला देनेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह मिथ्यादर्शनादि प्रत्यय तथा कर्मबन्ध सन्ततिके अनादि होनेपर भी ध्यानाग्निसे कर्मबीजोंके जला देनेपर भवांकुरका उत्पाद नहीं होता। यही मोक्ष है। कहा भी है—"जैसे बीजके जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह कर्मबीजके जल जानेपर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।" कृत्स्नका कर्मरूपसे क्षय हो जाना ही कर्मक्षय है; क्योंकि विद्यमान द्रव्यका द्रव्यरूपसे अत्यन्त विनाश नहीं होता। पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अतः पर्यायरूपसे द्रव्यका व्यय होता है। अतः पुद्गलद्रव्यकी कर्मपर्यायका प्रतिपक्षी कारणोंके मिलनेसे निवृत्ति होना क्षय है। उस समय पुद्गलद्रव्य अकर्म पर्यायसे परिणत हो जाता है।

§ ४. मोक्षशब्द भावसाधन है। वह मोक्तव्य और मोचककी अपेक्षा द्विविषयक है, क्योंकि वियोग दो का होता है। कृत्स्न अर्थात् सत्ता बन्ध उदय और उदीरणा रूपसे चार भागोंमें बँटे हुए आठों कर्म। कर्मका अभाव दो प्रकारका होता है—एक यत्नसाध्य और दूसरा अयत्नसाध्य। चरमशरीरके नारक तिर्यंच और देवायुका अभाव अयत्नसाध्य है, क्योंकि इनका स्वयं अभाव है। यत्नसाध्य इस प्रकार है—असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें किसीमें अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियोंका विषवृक्षवन शुभाध्यवसायरूप तीक्ष्ण फरसेसे समूल काटा जाता है। निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि नरकगति तिर्यंचगति एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आतप उद्योत स्थावर सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंकी सेनाको अनिवृत्तिबादरसाम्पराय युगपत् अपने समाधिचक्रसे जीतता है और उसका समूल उच्छेद कर देता है। इसके बाद प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन आठ कषायोंका नाश करता है। वहीं नपुंसकवेद स्त्रीवेद तथा छह नोकषायोंका क्रमसे क्षय होता है। इसके बाद पुंवेद संज्वलन क्रोध मान और माया क्रमसे नष्ट होती हैं। लोभसंज्वलन सूक्ष्मसाम्परायके अन्तमें नाशको प्राप्त होता है। क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला क्षयको प्राप्त होते हैं। पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका बारहवेंके अन्तमें क्षय होता है। कोई एक वेदनीय देवगति औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणशरीर छह संस्थान औदारिक-वैक्रियिक आहारक अंगोपांग, छह संहनन पाँच प्रशस्तवर्ण पाँच अप्रशस्तवर्ण दो गन्ध पाँच प्रशस्तरस पाँच अप्रशस्तरस

आठ स्पर्श देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति अपर्याप्तक प्रत्येकशरीर स्थिर-अस्थिर शुभ-अशुभ दुर्भग सुस्वर-दुःस्वर अनादेय अयशस्कीर्ति निर्माण और नीचगोत्रसंज्ञक ७२ प्रकृतियोंका अयोगकेवलीके उपान्त्य समयमें विनाश होता है। कोई एक वेदनीय मनुष्यायु मनुष्यगति पंचेन्द्रियजाति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य त्रस बादर पर्याप्तक सुभग आदेय यशस्कीर्ति तीर्थंकर और उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियोंका अयोगकेवलीके चरम समयमें व्युच्छेद होता है।

## औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ॥३॥

§ १. भव्यत्वका ग्रहण इसलिये किया है कि जीवत्व आदिकी निवृत्तिका प्रसंग न आवे। अतः पारिणामिकोंमें भव्यत्व तथा औपशमिक आदि भावोंका अभाव भी मोक्षमें हो जाता है। प्रश्न--कर्मद्रव्यका निरास होनेसे तन्निमित्तक भावोंकी निवृत्ति अपने आप ही हो जायगी, फिर इस सूत्रके बनानेकी क्या आवश्यकता है? उत्तर--निमित्तके अभावमें नैमित्तिक-का अभाव हो ही ऐसा नियम नहीं है। फिर जिसका अर्थात् ही ज्ञान हो जाता है उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति करानेके लिए और आगेके सूत्रकी संगति बैठानेके लिए औपशमिकादि भावोंका नाम लिया है।

## अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

§ १-२. अन्यत्र शब्द 'वर्जन' के अर्थमें है, इसीलिए पंचमी विभक्ति भी दी गई है। यद्यपि अन्य शब्दका प्रयोग करके पंचमी विभक्तिका निर्वाह हो सकता था पर 'त्र' प्रत्यय स्वार्थिक है, अर्थात् केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन और सिद्धत्वसे भिन्नके लिए उक्त प्रकरण है।

§ ३. ज्ञान दर्शनके अविनाभावी अनन्तवीर्य आदि 'अनन्त' संज्ञक गुण भी गृहीत हो जाते हैं अर्थात् उनकी भी निवृत्ति नहीं होती। अनन्तवीर्यसे रहित व्यक्तिके अनन्तज्ञान नहीं हो सकता और न अनन्त सुख ही; क्योंकि सुख तो ज्ञानमय ही है।

§ ४-६. जैसे घोड़ा एक बन्धनसे छूट कर भी फिर दूसरे बन्धनसे बँध जाता है उस तरह जीवमें पुनर्बन्धकी आशंका नहीं है; क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि कारणोंका उच्छेद होनेसे बन्धनरूप कार्यका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी तरह भक्ति स्नेह कृपा और स्पृहा आदि रागविकल्पोंका अभाव हो जानेसे वीतरागके जगत्के प्राणियोंको दुःखी और कष्ट अवस्थामें पड़ा हुआ देखकर करुणा और तत्पूर्वक बन्ध नहीं होता। उनके समस्त आस्रवोंका परिक्षय हो गया है। बिना कारणके ही यदि मुक्त जीवोंको बन्ध माना जाय तो कभी मोक्ष ही नहीं हो सकेगा। मुक्तिप्राप्तिके बाद भी बन्ध हो जाना चाहिये।

§ ७-८. स्थानवाले होनेसे मुक्तजीवोंका पात नहीं हो सकता; क्योंकि वे अनास्रव हैं। आस्रववाले ही यानपात्रका अधःपात होता है। अथवा, वजनदार ताड़फल आदिका प्रति-बन्धक-डण्ठलसंयोग आदिके अभावमें पतन होता है, गुरुत्वशून्य आकाशप्रदेश आदिका नहीं। मुक्तजीव भी गुरुत्वरहित हैं। यदि मात्र स्थानवाले होनेसे पात हो तो सभी धर्मादिद्रव्योंका पात होना चाहिये।

§ ९-११. अवगाहनशक्ति होनेके कारण अल्प भी अवकाशमें अनेक सिद्धोंका अवगाह हो जाता है। जब मूर्तिमान् भी अनेक प्रदीप-प्रकाशोंका अल्प आकाशमें अविरोधी अवगाह देखा गया है तब अमूर्त सिद्धोंकी तो बात ही क्या है? इसीलिये उनमें जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों-की बाधा नहीं है; क्योंकि मूर्त अवस्थामें ही प्रीति परिताप आदि बाधाओंकी सम्भावना थी, पर सिद्ध अव्याबाध होनेसे परमसुखी हैं। जैसे परिमाण एक प्रदेशसे बढ़ते-बढ़ते आकाशमें अनन्तत्वको प्राप्त हो जाता है और उसका कोई उपमान नहीं रहता उसी तरह संसारी जीवोंका

सुख सान्त और सोपमान तथा प्रकर्ष-अप्रकर्षवाला हो सकता है पर सिद्धोंका सुख परम अनन्त-परिमाणवाला निरतिशय है।

§ १२-१६. मुक्त जीव चूँकि अनन्तर अतीत शरीरके आकार होते हैं अतः अनाकार होनेके कारण उनका अभाव नहीं किया जा सकता। लोकाकाशके समान असंख्य प्रदेशी जीवको शरीरानुविधायी माननेपर शरीरके अभावमें विसर्पण-फैलनेका प्रसंग भी नहीं आता; क्योंकि नामकर्मके सम्बन्धसे आत्मप्रदेशोंका गृहीत शरीरके अनुसार छोटे-बड़े सकोरे घड़े आदि आवरणोंमें दीपककी तरह संकोच और विस्तार होता है, पर मुक्त जीवके फिर फैलनेका कोई कारण नहीं है। मूर्त दीपकका दृष्टान्त आत्मामें भी लागू हो जाता है; क्योंकि आत्मा उपयोगस्वभावकी दृष्टिसे अमूर्त होकर भी कर्मबन्धकी दृष्टिसे मूर्त है। कहा भी है–"बन्धकी दृष्टिसे एकत्व होकर भी लक्षणकी दृष्टिसे शरीर और जीव जुदे-जुदे हैं। अतः आत्मामें एकान्तसे अमूर्तभाव नहीं है।" अतः कथञ्चित् मूर्त होनेसे दृष्टान्त समान ही है। जैसे चन्द्रमुखी कन्या कहनेसे एक प्रियदर्शनत्वके सिवाय अन्य चन्द्रगुणोंकी विवक्षा नहीं है उसी तरह प्रदीपकी तरह संहार-विसर्प कहनेसे आत्मामें अनित्यत्वका प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि दृष्टान्तके सभी धर्म दार्ष्टान्तमें नहीं आते, यदि सभी धर्म आ जायँ तो वह दृष्टान्त ही नहीं कहा जा सकता।

§ १७. प्रश्न–जैसे वत्ती तेल और अग्नि आदि सामग्रीसे जलनेवाला दीपक सामग्रीके अभावमें किसी दिशा या विदिशाको न जाकर वहीं अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाता है उसी तरह कारणवश स्कन्ध सन्ततिरूपसे प्रवर्तमान स्कन्धसमूह–जिसे जीव कहते हैं, क्लेशका क्षय हो जानेसे किसी दिशा या विदिशाको न जाकर वहीं अत्यन्त प्रलयको प्राप्त हो जाता है? उत्तर–प्रदीपका निरन्वय विनाश भी असिद्ध है जैसे कि मुक्त जीवोंका। दीपक रूपसे परिणत पुद्गलद्रव्यका भी विनाश नहीं होता। उनकी पुद्गलजाति बनी रहती है। जैसे हथकड़ी-बेड़ी आदिसे मुक्त देवदत्ताका स्वरूपावस्थान देखा जाता है उसी तरह कर्मबन्धके अभावसे आत्माका स्वरूपावस्थान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः यह शंका भी निर्मूल है कि जहाँ कर्मबन्धका अभाव हो वहीं मुक्तजीवको ठहरना चाहिये; क्योंकि अभी यह प्रश्न विचारणीय है कि उसे वहीं ठहरना चाहिए या बन्धाभाव और अनाश्रित होनेसे उसे गमन करना चाहिये।

'गौरव न होनेसे अधोगति तो उसकी होती नहीं और योग न होनेसे तिरछी आदि भी गति नहीं हैं; अतः वहीं ठहरना चाहिये', इस आशंकाके निवारणार्थ सूत्र कहते हैं—

**तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥**

§ १-२. तत्–कर्मोंका विप्रमोक्ष होते ही आत्मा समस्त कर्मभारसे रहित होनेके कारण लोकाकाश पर्यन्त ऊर्ध्व गमन करता है। यहाँ आङ् अभिविधि अर्थमें है। कैसे?

**पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वात् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥**

**आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥**

§ १. हेतु और दृष्टान्तोंका क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

§ २. जैसे कुम्हारके हाथ हटा लेनेपर भी चक्र पूर्वप्रयोगके कारण संस्कारक्षयतक बराबर घूमता रहता है उसी तरह संसारी आत्माने जो अपवर्ग प्राप्तिके लिए अनेकबार प्रणिधान और यत्न किये हैं उनके कारण उसका ऊर्ध्वगमन होता है।

§ ३-४. जैसे मिट्टीके लेपसे वजनदार तूँबड़ी पानीमें डूब जाती है पर ज्योंही मिट्टीका लेप धुल जाता है त्योंही वह ऊपर आ जाती है उसी तरह कर्मभारसे परवश आत्मा कर्मवश संसारमें इधर-उधर भटकता था पर जैसे ही वह कर्मबन्धनसे मुक्त होता है वैसे ही ऊर्ध्व-

गमन करता है। जीवकी दण्डकी तरह अनियतगति नहीं हो सकती; क्योंकि जीवोंको ऊर्ध्वगौरव धर्मवाला बताया है। अतः वे ऊपर ही जाते हैं।

§ ५. जैसे ऊपरके छिलकेके हटते ही एरंडबीज छिटक कर ऊपरको जाता है उसी तरह मनुष्यादिभवोंको प्राप्त करानेवाली गति आदि नाम कर्मके बन्धनोंके हटते ही मुक्तकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है।

जैसे तिरछी बहनेवाली वायुके अभावमें दीपशिखा स्वभावसे ऊपरको जलती है उसी तरह मुक्तात्मा भी नाना गतिविकारके कारण कर्मके हटते ही ऊर्ध्वगतिस्वभावसे ऊपरको ही जाता है।

§ ७. परस्परप्रवेश होकर एकमेक हो जाना बन्ध है और परस्पर प्राप्तिमात्र संग है, अतः दोनोंमें भेद है। अतः क्रियाके कारण पुण्य-पापके हट जानेपर मुक्तके स्वगतिपरिणामसे ऊर्ध्वगति होती है।

§ ८. अलाबू-तूँबड़ी वायु के कारण ऊपर नहीं आती; क्योंकि वायुका तिरछा चलनेका स्वभाव है अतः उसे तिरछा चलना चाहिये था। अतः मिट्टीके लेपके अभावमें ही ऊर्ध्वगमन मानकर अलाबूका दृष्टान्त संगत है।

§ ९-१०. प्रश्न—सिद्ध शिलापर पहुँचनेके बाद चूँकि मुक्त जीवमें ऊर्ध्वगमन नहीं होता अतः उष्ण स्वभावके अभावमें अग्निके अभावकी तरह मुक्त जीवका भी अभाव हो जाना चाहिये ? उत्तर—'मुक्तका ऊर्ध्व ही गमन होता है तिरछा आदि गमन नहीं' यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे अग्नि कभी ऊर्ध्वज्वलन नहीं करती तब भी अग्नि बनी रहती है उसी तरह मुक्तमें भी लक्ष्यप्राप्तिके बाद ऊर्ध्वगमन न होनेपर भी अभाव नहीं होता है।

अथवा, 'अग्निके तो तिर्यक् पवनके संयोगसे ऊर्ध्वज्वलनका अभाव माना जा सकता है पर मुक्त आत्माके आगे गमन न करनेमें क्या कारण है ?' इस शंकाके समाधानके लिए सूत्र कहते हैं—

## धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

लोकाकाशसे आगे गति-उपग्रह करनेमें कारणभूत धर्मास्तिकाय नहीं है। अतः आगे गति नहीं होती। आगे धर्मद्रव्यका सद्भाव माननेपर लोक-अलोकविभागका अभाव ही हो जायगा।

सिद्धोंमें भेद—

## क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

§ १. इन क्षेत्र आदि बारह अनुयोगोंको प्रत्युत्पन्न और अतीतकी अपेक्षा लगाकर सिद्धोंमें भेद करना चाहिये।

§ २. प्रत्युत्पन्ननयसे सिद्धिक्षेत्र स्वप्रदेश या आकाशप्रदेशमें सिद्धि होती है। भूतनयकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों और संहरणकी अपेक्षा मनुष्यलोकमें सिद्धि होती है। ऋजुसूत्र तथा शब्द नय प्रत्युत्पन्नग्राही हैं और शेष नय उभयको ग्रहण करते हैं।

§ ३. प्रत्युत्पन्नकी अपेक्षा एक समयमें ही सिद्ध होता है। भूतप्रज्ञापननयसे जन्मकी अपेक्षा सामान्यतया उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेषरूपसे अवसर्पिणीके सुषम-सुषमाके अन्तभाग और दुषमसुषमामें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुषम-सुषमामें उत्पन्न दुषमामें सिद्ध हो सकता है पर दुषमामें उत्पन्न हुआ कभी सिद्ध नहीं हो सकता। संहरणकी दृष्टिसे सभी कालोंमें सिद्ध हो सकता है।

§ ४. प्रत्युत्पन्न दृष्टिसे सिद्धगतिमें सिद्धि होती है और भूतनयकी दृष्टिसे अनन्तर गतिकी अपेक्षा केवल मनुष्यगतिसे सिद्धि होती है और एकान्तरगतिकी अपेक्षा चारों गतियोंसे सिद्धि होती है अर्थात् किसी भी गतिसे मनुष्य होकर सिद्ध हो सकता है।

§ ५. वर्तमान नयकी अपेक्षा अवेद अवस्थामें सिद्धि होती है। अतीतकी अपेक्षा साधारण रूपसे तीनों वेदोंसे सिद्धि होती है-भाव वेदकी अपेक्षा द्रव्यवेदकी अपेक्षा नहीं। द्रव्यवेदकी अपेक्षा तो पुल्लिंगसे ही सिद्धि होती है। अथवा लिंग दो प्रकारका है एक सग्रंथ लिंग और दूसरा निर्ग्रन्थ लिंग। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिंगसे सिद्धि होती है और भूतपूर्वनयकी अपेक्षा विकल्प है।

§ ६. तीर्थ सिद्धि दो प्रकारकी होती है-एक तीर्थंकर रूपसे तथा दूसरी तीर्थंकर भिन्न रूप में। वे दोनों तीर्थंकरकी मौजूदगी में भी सिद्ध होते हैं और गैरमौजूदगीमें भी।

§ ७. प्रत्युत्पन्ननयकी दृष्टिसे न तो चारित्रसे सिद्धि होती है और न अचारित्रसे किन्तु निर्विकल्पभावसे सिद्धि होती है। भूतपूर्वनयमें अनन्तरदृष्टिसे यथाख्यात चारित्रसे सिद्धि होती है। व्यवधानसे सामायिक छेदोपस्थापना सूक्ष्मसाम्पराय इन सहित चारसे या परिहारविशुद्धि सहित पाँचसे सिद्धि होती है।

§ ८. कुछ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होते हैं जो परोपदेशके विना स्वशक्तिसे ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं। कुछ बोधितबुद्ध होते हैं जो परोपदेशपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

§ ९ प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा एक केवलज्ञानसे सिद्धि होती है। भूतपूर्व गतिसे मति और श्रुत दो से मति श्रुत और अवधि या मति श्रुत और मनःपर्यय इन तीनसे अथवा मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंसे सिद्धि होती है।

§ १०. आत्मप्रदेशका व्यापित्व अर्थात् अवगाहन शरीरपरिमाण है। उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष और जघन्य ३॥ अरत्नि प्रमाण है। मध्यमें अनेक भेद होते हैं। भूतपूर्वनयसे इन अवगाहनाओं में सिद्धि होती है और प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा कुछ कम इन्हीं अवगाहनाओंमें।

§ ११-१२. एक सिद्धसे दूसरे सिद्ध होनेके मध्यका काल अन्तर है। अनन्तर जघन्यसे दो समय तक और उत्कृष्टसे आठ समय तक सिद्ध होते रहते हैं। अन्तर जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे छह मास है।

§ १३. एक समयमें जघन्यसे एक और उत्कृष्टसे १०८ तक सिद्ध होते हैं।

§ १४. क्षेत्रादि अनुयोगोंके भेदसे भिन्नोंका परस्पर संख्यातारतम्य अल्पबहुत्व है। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमें सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वनयकी अपेक्षा क्षेत्रसिद्ध दो प्रकारके हैं-एक जन्मकी दृष्टिसे और दूसरे संहरणकी दृष्टिसे। संहरणसिद्ध कम हैं, जन्मसिद्ध संख्यातगुणे हैं। संहरण दो प्रकारका है-एक स्वकृत और दूसरा परकृत। देवों द्वारा या चारण विद्याधरोंसे किया गया संहरण परकृत है और चारण विद्याधरोंका स्वयं संहरण स्वकृत है। क्षेत्र-कर्मभूमि और अकर्मभूमि समुद्र-द्वीप ऊपर नीचे तिरछे आदि अनेक प्रकारके हैं। उनमें ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे कम हैं। अधोलोकसिद्ध संख्येयगुणे हैं। तिर्यग्लोकसिद्ध संख्येयगुणे हैं। लवणोदसिद्ध सबसे कम हैं। कालोदसिद्ध संख्येयगुणे हैं। जम्बूद्वीपसिद्ध संख्येयगुणे हैं। धातकीखण्डसिद्ध संख्येयगुणे हैं। पुष्करद्वीपार्धसिद्ध संख्येयगुणे हैं।

काल विभाग तीन प्रकारका है-उत्सर्पिणी अवसर्पिणी और अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी। उत्सर्पिणीसिद्ध सबसे कम हैं, अवसर्पिणीसिद्ध विशेषाधिक हैं, अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणीसिद्ध संख्येयगुणे हैं। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है।

गतिकी दृष्टिसे प्रत्युत्पन्ननयसे सिद्धगतिमें सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतविषयकनयकी अपेक्षा अनन्तरगति मनुष्यगतिमें सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है।

एकान्तर गतिमें अल्पबहुत्व है–सबसे कम तिर्यग्योनिसे मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले हैं। मनुष्ययोनिसे मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले संख्यातगुणें हैं। नरक योनिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले संख्येयगुणें हैं।

वेदकी दृष्टिसे–प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा अवेद अवस्थामें ही सिद्धि होती है। भूतपूर्वनयकी अपेक्षा सबसे कम नपुंसकवेदसिद्ध हैं, स्त्रीवेदसिद्ध संख्येयगुणें हैं और पुंवेदसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

तीर्थानुयोगसे तीर्थंकरसिद्ध कम हैं और इतरसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

चारित्रानुयोगसे–प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा निर्विकल्प चारित्रसे सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वनयकी दृष्टिसे अनन्तर चारित्रकी अपेक्षा सभी यथाख्यात चारित्रसे सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं हैं। व्यवधानकी दृष्टिसे पंच चारित्रसिद्ध कम हैं और चतुश्चारित्रसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

प्रत्येकबुद्धबोधितबुद्धानुयोगसे—प्रत्येकबुद्ध कम हैं और बोधितबुद्ध संख्येयगुणें हैं।

ज्ञानानुयोगसे—प्रत्युत्पन्ननयकी दृष्टिसे केवली ही सिद्ध होते हैं, अतः अन्तर नहीं है। पूर्वभावप्रज्ञापननयसे द्विज्ञानसिद्ध सबसे कम हैं, चतुर्ज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं, त्रिज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं। मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानसिद्ध सबसे कम हैं, मतिश्रुतज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं, मतिश्रुतअवधिमनःपर्ययज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं और मतिश्रुतअवधिज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

अवगाहनानुयोग से–जघन्य अवगाहनासिद्ध सबसे कम हैं, उत्कृष्ट अवगाहनासिद्ध संख्येयगुणें हैं। यवमध्यसिद्ध संख्येयगुणें हैं, अधोयवसिद्ध संख्येयगुणें हैं। उपरि यवसिद्ध विशेषाधिक हैं।

अनन्तरानुयोगसे–आठ समयानन्तरसिद्ध सबसे कम हैं। सातसमयअनन्तरसिद्ध संख्येयगुणें हैं। इस तरह दो समयअनन्तरसिद्ध तक समझना चाहिये। सान्तरोंमें छह माहके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले सबसे कम हैं, एकसमयान्तरसिद्ध संख्येयगुणें हैं। यवमध्यान्तर सिद्ध संख्येयगुणे हैं। अधोयवमध्यान्तरसिद्ध संख्येयगुणें और उपरियवमध्यान्तरसिद्ध विशेषाधिक हैं।

संख्यानुयोगसे–१०८ सिद्ध होनेवाले सबसे कम हैं, १०८से लेकर ५० तक सिद्ध होनेवाले अनन्तगुणें हैं, ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले असंख्येयगुणें हैं, चौबीससे एक तक सिद्ध होनेवाले संख्येयगुणें हैं।

इस तरह निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होनेवाला तत्त्वार्थश्रद्धानरूप, शंकादि अतीचारोंसे रहित, प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यसे जिसका लक्षण प्रकट है, उस विशुद्ध सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर, निक्षेप प्रमाण निर्देशादि सत्संख्यादि अनुयोगोंसे जीवोंके पारिणामिक औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक भावोंके स्वतत्त्वको जानकर, चेतन-अचेतन भोगसाधनोंके उत्पत्ति विनाशस्वभावको जानकर, विरक्त वितृष्ण त्रिगुप्तियुक्त पञ्चसमितिसहित दशलक्षणधर्मानुष्ठान और उसका फल देखकर निर्वाण प्राप्तिकी दिशामें श्रद्धा संवेग भावना आदिकी वृद्धिसे आत्माको भावित कर, अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे चित्तको स्थिरकर, आत्माको चारों ओरसे संवरयुक्त करके, आस्रवशून्य होनेसे अभिनव कर्मोंके उपचयको नष्ट करता हुआ, परीषहजय बाह्य आभ्यन्तर तपोऽनुष्ठान और अनुभवसे सम्यग्दृष्टि विरत आदि जिन पर्यन्त परिणामविशुद्धि अध्यवसानविशुद्धि आदि स्थानोंको प्राप्त करके, असंख्येयगुणोत्कर्षकी प्राप्तिसे पूर्वोपचित कर्मोंकी निर्जरा करता है। वह सामायिक आदि सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्त संयमविशुद्धि स्थानोंको उत्तरोत्तर प्राप्त करके, पुलाकादि निर्ग्रन्थोंके

संयमपालन विशुद्धिस्थान आदिको उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ, आर्त रौद्र ध्यानसे रहित होकर, धर्म ध्यानकी विजयसे समाधि वल प्राप्त करके, पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्कमेंसे किसी एक शुक्ल ध्यानको ध्याता हुआ, अनेकविध ऋद्धियोंके मिलनेपर भी उनमें अनासक्तचित्त हो, पूर्वोक्त क्रमसे मोहादिका क्षय कर, सर्वज्ञ ज्ञानलक्ष्मीका अनुभव करता है। फिर शेष कर्मोंको ईंधनरहित अग्निकी तरह क्षय करता हुआ, पूर्वशरीरको छोड़कर और नये शरीरको उत्पत्तिका कारण न होनेसे जन्म न ले अशरीरी होता हुआ, संसारदुःखोंसे परे आत्यन्तिक ऐकान्तिक निरुपम और निरतिशय निर्वाण सुख प्राप्त करता है। यही तत्त्वार्थ भावनाका फल है। कहा भी है–

"इस तरह तत्त्व परिज्ञान करके विरक्त आत्मा जब आस्रव रहित हो नवीन कर्मसन्ततिका उच्छेद कर देता है और पूर्वोक्त कारणोंसे पूर्वार्जित कर्मोंका क्षय कर, संसारबीज मोहनीयको पूर्ण रूपसे नष्ट कर देता है। उसके बाद अन्तराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये तीनों कर्म एकसाथ नष्ट हो जाते हैं। जैसे गर्भसूची–मस्तकछत्रके नष्ट होते ही तालवृक्ष नष्ट हो जाता है उसी तरह मोहनीयके क्षय होते ही शेष घातिया कर्म नाशको प्राप्त हो जाते हैं। इसके बाद चार घातिया कर्मोंका नाश कर यथाख्यात संयमको प्राप्त करनेवाला मूल बन्धनोंसे रहित स्नातक परमेश्वर हो जाता है। शेष कर्मोंका उदय रहनेपर भी वह शुद्ध बुद्ध निरामय सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली जिन हो जाता है ॥ १–६॥

जैसे जली हुई अग्नि ईंधन आदि उपादान न रहनेपर बुझ जाती है उसी तरह समस्त कर्मोंका क्षय होनेपर आत्मा निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। जैसे बीजके अत्यन्त जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह कर्मबीजके जल जानेपर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता। इसके बाद ही वह पूर्वप्रयोग असङ्गत्व बन्धच्छेद और ऊर्ध्वगौरव धर्मके कारण लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन करता है।

जैसे कुम्हारके चक्र या बाणमें पूर्वप्रयोगवश क्रिया होती रहती है उसी तरह सिद्ध गति मानी गयी है। जिस प्रकार मिट्टीका लेप छूट जानेपर पानीमें डूबी हुई तूँबड़ी ऊपर आ जाती है उसी तरह कर्मलेपके हट जानेपर स्वाभाविक सिद्ध गति होती है। एरण्डबीज यन्त्र तथा पेला आदिमें जिस प्रकार बन्धच्छेद होनेपर ऊर्ध्वगति होती है उसी तरह कर्मबन्धनका विच्छेद होनेपर सिद्ध गति होती है। जीव ऊर्ध्वगौरवधर्मा तथा पुद्गल अधोगौरवधर्मा होते हैं यह बताया गया है। जिस प्रकार लोष्ठ वायु और अग्निशिखा स्वभावसे ही नीचे तिरछे और ऊपर को जाती है उसी तरह आत्माकी स्वभावतः ऊर्ध्व गति होती है। जीवोंमें जो विकृतगति पाई जाती है वह या तो प्रयोगसे है या फिर कर्मोंके प्रतिघातसे है।

जीवोंके कर्मवश नीचे तिरछे और ऊपर भी गति होती है पर क्षीणकर्मा जीवोंकी स्वभावसे ऊर्ध्वगति ही होती है ॥७–१६॥

जिस प्रकार परमाणुद्रव्यमें लोकान्तगामिनी क्रियाकी उत्पत्ति आरम्भ और समाप्ति युगपत् होती है उसी तरह संसारक्षयसे सिद्धकी गति होती है। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकारकी उत्पत्ति और विनाश एक साथ होते हैं उसी तरह निर्वाणकी उत्पत्ति और कर्मका विनाश भी युगपत् होते हैं ॥१७–१८॥

लोक शिखरपर अतिशय मनोज्ञ तन्वी सुरभि पुण्या और परमभासुरी प्राग्भारा नामकी पृथिवी है। यह मनुष्यलोकके समान विस्तारवाली शुभ और शुक्ल छत्रके समान है। लोकान्तमें इस पृथ्वीपर सिद्ध विराजमान होते हैं। वे केवलज्ञान केवलदर्शन सम्यक्त्व और सिद्धत्वमें तद्रूपसे उपयुक्त हैं और क्रियाका कारण न होनेसे निष्क्रिय हैं ॥१९–२१॥

'उससे भी ऊपर उनकी गति क्यों नहीं होती ?' इस प्रश्नका सीधा समाधान है कि आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, वही गतिका कारण है ॥२२॥

सिद्धोंका अव्यय सुख संसारके विषयोंसे अतीत और परम अव्याबाध होता है। 'अशरीरी नष्ट-अष्टकर्मा मुक्त जीवके कैसे क्या सुख होता होगा ?' इस प्रश्नका समाधान सुनिये–लोकमें सुख शब्दका प्रयोग विषयवेदनाका अभाव विपाक कर्मफल और मोक्ष इन चार अर्थोंमें देखा गया है। 'अग्नि सुखकर है वायु सुखकारी है' इत्यादिमें सुख शब्द विषयार्थक है। रोगादि दुःखोंके अभावमें भी पुरुष 'मैं सुखी हूँ' यह समझता है। पुण्य कर्मके विपाकसे इष्ट इन्द्रिय विषयोंसे सुखानुभूति होती है और कर्म और क्लेश के विमोक्षसे मोक्षका अनुपम सुख प्राप्त होता है ॥२३–२७॥

कोई इस सुखको सुपुप्त अवस्थाके समान मानते हैं, पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि उसमें सुखानुभव रूप क्रिया होती रहती है और सुपुप्त अवस्था तो दर्शनावरणी कर्मके उदयसे श्रम क्लम भय व्याधि काम आदि निमित्तोंसे उत्पन्न होती है और मोहविकाररूप है ॥२८–२९॥

समस्त संसारमें ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जिससे उस सुखकी उपमा दी जाय। वह परम निरुपम है ॥३०॥

लिंग और प्रसिद्धिसे अनुमान और उपमान उत्पन्न होते हैं, पर यह सुख न तो लिङ्गसे अनुमित होता है और न किसी प्रसिद्ध पदार्थसे उपमित होता है, अतः यह निरुपम है॥३०-३१॥

वह भगवान् अर्हन्तके प्रत्यक्ष है और हम छद्मस्थजन उन्हींके वचनप्रामाण्यसे उसके अस्तित्वको जानते हैं। यहाँ परीक्षाका अवकाश नहीं है ॥३२॥

इस तरह उत्तम पुरुषोंने तत्त्वार्थ सूत्रोंका भाष्य कहा है। इसमें तर्क है और न्याय तथा आगमसे निर्णय है ॥३३॥

दसवाँ अध्याय समाप्त

---

# तत्त्वार्थसूत्राणि-पाठभेदाश्च

| | | | |
|---|---|---|---|
| श्वे० | श्वेताम्बराम्नायीयपाठः | स० | सर्वार्थसिद्धिः |
| हा० | हारिभद्रीयवृत्तिः | रा० | राजवार्तिकम् |
| भा० | तत्त्वार्थभाष्यम् | श्लो० | श्लोकवार्तिकम् |
| सि०, सि०वृ० | सिद्धसेनीयावृत्तिः | पा० | पाठान्तरम् |
| | | वृ० | वृत्तिः |

---

## प्रथमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥
तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥
जीवाजीवा[1]स्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥
नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥
प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥
निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥
मतिश्रुतावधिमनः[2]पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥
तत्प्रमाणे ॥१०॥
[3]आद्ये परोक्षम् ॥११॥
प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥
मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥
तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥
अवग्रहेहावाय[4]धारणाः ॥१५॥
बहुबहुविधक्षिप्रानिः[5]सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥
अर्थस्य ॥१७॥
व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥
न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥
श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥
[6]भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥
[7]क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥
ऋजुविपुलमती [8]मनःपर्ययः ॥२३॥
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥
विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनः[9]पर्ययोः ॥२५॥
मतिश्रुतयोर्निबन्धो [10]द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥
रूपिष्ववधेः ॥२७॥
तदनन्तभागे [11]मनःपर्ययस्य ॥२८॥
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥
एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥
[12]मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥
सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥
नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र[13]शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

---

१ -वाश्रव-हा० । २ मनःपर्याय-श्वे० ।
३ तत्राद्ये-हा० । ४ -हापाय-श्वे० ।
५ निश्रितासन्दिग्धध्रु-श्वे०। निसृतानुक्तध्रु-श्लो० ।
-क्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रु-स० पा० ।
-क्षिप्रानिश्रितनुक्तध्रु-भा०, सि० वि० ।
-निश्रितानिश्रितध्रु-सि० वृ० पा० ।
६ द्विविधोऽवधिः ॥२१॥ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥२२॥ श्वे० । तत्र भवप्रत्ययो-सि० वृ० ।
७ यथोक्तनिमित्तः श्वे० । ८ मनःपर्यायः श्वे० ।
९ मनःपर्याययोः श्वे०। १० सर्वद्रव्येष्वसर्व-श्वे०।
११ मनःपर्यायस्य श्वे० ।
१२ मतिश्रुतविभङ्गा विप-हा० ।
१३ सूत्रशब्दा नयाः ॥३४॥ आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥३५॥ श्वे० ।

## द्वितीयोऽध्यायः

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥
द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥
सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥
ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥
ज्ञानाज्ञान[1]दर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः[2] सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥
गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध[3]लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥
जीवभव्या[4]भव्यत्वानि च ॥७॥
उपयोगो लक्षणम् ॥८॥
स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥
संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥
समनस्काऽमनस्काः ॥११॥
संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥
[5]पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥
[6]द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥
पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥
द्विविधानि ॥१६॥
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्[7] ॥१८॥
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥
स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः[8] ॥२०॥
श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥
[9]वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥
कृमिपिपीलिका[10]भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[11] ॥२३॥
संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥
विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥
अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥
अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥
विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥२८॥
[12]एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥
[13]एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥
सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा[14] जन्म ॥३१॥
सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥
[15]जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥
[16]देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥
शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥
औदारिकवै[17]क्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि [18]शरीराणि ॥३६॥
[19]परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥
प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥३८॥
अनन्तगुणे परे ॥३९॥
[20]अप्रतीघाते ॥४०॥
अनादिसंबन्धे च ॥४१॥
सर्वस्य ॥४२॥
तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः[21] ॥४३॥
निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥
गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥
[22]औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥
लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

---

१ –दर्शनदानादिलब्धयश्–श्वे० ।
२ –दाः यथाक्रमं सम्यक्त्व–श्वे० ।
३ –द्धत्वले–श्वे० । ४ भव्यत्वादीनि च श्वे० ।
५ पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥ श्वे० ।
६ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥१४॥ श्वे० ।
७ उपयोगः स्पर्शादिषु ॥१९॥ श्वे० ।
८ –तेषामर्थाः ॥२१॥ श्वे० ।
९ वाय्वन्तानामेकम् ॥२३॥ श्वे० ।
१० सिद्धसेनगणिनः उल्लिखन्ति यत् केचित् मनुष्यपदमनार्षमित्यामनन्ति ।
११ सिद्धसेनगणिनः लिखन्ति यत् केचित् एतदनन्तरम् 'अतीन्द्रियाः केवलिनः' इति सूत्रमपि पठन्ति ।
१२ एकसमयोऽविग्रहः ॥३०॥ श्वे० ।
१३ द्वौ वाऽनाहा–श्वे० । १४ –पपाता जन्म श्वे० ।
१५ जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥३४॥ श्वे० । जरायुजाण्डपोतजानां–हा० ।
१६ नारकदेवानामुपपातः ॥३५॥ श्वे० ।
१७ वैक्रियाहा–श्वे० ।
१८ सिद्धसेनगणिनः कथयन्ति यत्–केचित् 'शरीराणि' इति पृथक्सूत्रं पठन्ति ।
१९ तेषां परं श्वे० । भाष्यटीकाकारः 'तेषाम्' इति पदं भाष्यवाक्यमामनन्ति ।
२० अप्रतिघाते श्वे० । २१ –कस्याचतुर्भ्यः श्वे० ।
२२ वैक्रियमौपपातिकम् ॥४७॥ श्वे० ।

तैजसमपि[1] ॥४८॥
शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहा[2]रकं प्रमत्तसंयत-
स्यैव ॥४९॥
नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥
न देवाः ॥५१॥
[10]शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥
[11]औपपादिकचरमोत्तमदेहा[12]ऽसंख्येयवर्षायुषोऽ-
नपवर्त्यायुषः ॥५३॥

## तृतीयोऽध्यायः ।

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः[3]॥१॥
[4]तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैक-
नरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्॥२॥
[5]नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदना-
विक्रियाः ॥३॥
परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥
संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥
तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्साग-
रोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥
[6]जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीप-
समुद्राः ॥७॥
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलया-
कृतयः ॥८॥
तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो
जम्बूद्वीपः ॥९॥
[7]भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः
क्षेत्राणि ॥१०॥
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्नि-
षधनीलरुक्मिशिखरिणो [8]वर्षधरपर्वताः
॥११॥
[9]हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥
मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्य-
विस्ताराः ॥१३॥
पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्ड-
रीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥
प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो
ह्रदः ॥१५॥
दशयोजनावगाहः ॥१६॥
तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥
तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥
तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धि-
लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरि-
षत्काः ॥१९॥
गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीता-
सीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्ता-
रक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥
द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥
शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥
चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो
नद्यः ॥२३॥
भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चै-
कोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥
तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदे-
हान्ताः ॥२५॥
उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥
भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पि-
ण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥
ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥
एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदै-
वकुरवकाः ॥२९॥
तथोत्तराः ॥३०॥
विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

---

१ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।
२ –रकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥४८॥ श्वे० ।
३ –धः पृथुतराः ॥१॥ श्वे० । "पृथुतराः इति केषाञ्चित् पाठः" रा० ।
४ तासु नरकाः ॥२॥ श्वे० ।
५ 'नारका' इति पदं नास्ति श्वे० । तेषु नार-
कानि सि० ।
६ लवणादयः श्वे० । ७ तत्र भरत–श्वे० ।
८ वंशधरपर्वता सि० ।
९ 'हेमार्जुन'''१२। इत्यादि भरतस्य विष्कम्भो ॥३२॥ इत्यन्तं एकविंशतिसूत्राणि न सन्ति श्वे० ।
१० सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।
११ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसं–श्वे० ।
१२ "चरमदेहाः इति वा पाठः"–स०, रा० ।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशत-
भागः ॥३२॥
द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥
पुष्करार्द्धे च ॥३४॥
प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥
आर्या म्लेच्छाश्च[11] ॥३६॥
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तर-
कुरुभ्यः । ३७॥
नृस्थिती परावरे[12] त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥
तिर्यग्योनिजानां[13] च ॥३९॥

## चतुर्थोऽध्यायः

देवाश्चतुर्णिकायाः[1] ॥१॥
[2]आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥
दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः
॥३॥
इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिं[3]शत्पारिषदात्मरक्षलोकपा-
[4]लानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिका-
श्चैकशः ॥४॥
[5]त्रायस्त्रिंशल्लोकपाल[6]वर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः
॥५॥
पूर्वयोर्द्वीन्द्राः[6] ॥६॥
कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥
शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः[7] ॥८॥
परेऽप्रवीचाराः ॥९॥
भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्त-
नितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥
व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगग[8]न्धर्वयक्षराक्ष-
सभूतपिशाचाः ॥११॥
[9]ज्योतिष्काः [10]सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्ण-
कतारकाश्च ॥१२॥
मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥
तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥
बहिरवस्थिताः ॥१५॥
वैमानिकाः ॥१६॥
कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥
उपर्युपरि ॥१८॥
सौधर्मैशानसानत्कुमार[14]माहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरला-
न्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र[15]शतारसहस्रारेष्वा-
नतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु
विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु [16]सर्वार्थ-
सिद्धौ च ॥१९॥
स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-
विषयतोऽधिकाः ॥२०॥
गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥
पीत[17]पद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥
प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥
ब्रह्मलोकालया[18] लौकान्तिकाः ॥२४॥
सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबा[19]-
धारिष्टाश्च ॥२५॥
विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥
[20]औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः॥२७॥
[21]स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रि-
पल्योपमार्धहीनमिताः ॥२८॥

---

१ -श्चतुर्निकायाः श्वे० ।
२ तृतीयः पीतलेश्यः ॥२॥ श्वे० ।
३ त्रायस्त्रिंशपारिषद्या-श्वे० ।
४ त्रायस्त्रिंशलोक-श्वे० । ५ -वर्जा व्य-सि० ।
६ एतदनन्तरम् 'पीतान्तलेश्याः ॥७॥' इत्यधिकं सूत्रम् श्वे० ।
७ -प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥९॥ श्वे० ।
८ -गान्धर्व-श्वे० । -गन्धर्व हा० ।
९ सूर्याश्चन्द्रमसो श्वे० ।
१० प्रकीर्णतारकश्च ॥१३॥ श्वे० । प्रकीर्णताराश्च हा० ।
११ आर्या म्लिशश्च हा० । १२ परापरे श्वे० ।
१३ तिर्यग्योनीनां च ॥१८॥ श्वे० ।
१४ -माहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारे श्वे०।
१५ -सतार-श्वे० । १६ सर्वार्थसिद्धे च ॥२०॥ श्वे०।
१७ 'पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेषु' इति पाठान्तराश्रयणम् ।
१८ लोकान्ति-श्वे० ।
१९ -बाधमरुतोऽरिष्टाश्च ॥२६॥ श्वे० ।
२० औपपातिक-श्वे० ।
२१ स्थितिः ॥२९॥ भवनेषु दक्षिणार्धपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥३०॥ शेषाणां पादोने ॥३१॥ असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥३२॥ सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥३३॥ सागरोपमे ॥३४॥ अधिके च ॥३५॥ एतानि सूत्राणि श्वे० ।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥
[1]सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥
[2]त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥
आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु [3]सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥
अपरा पल्योपममधिकम्[4] ॥३३॥
परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तराः ॥३४॥
नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥
भवनेषु च ॥३७॥
व्यन्तराणां च ॥३८॥
परा [10]पल्योपममधिकम् ॥३९॥
ज्योतिष्काणां च[11] ॥४०॥
[12]तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥
लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्[13] ॥४२॥

## पञ्चमोऽध्यायः

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥
[5]द्रव्याणि ॥२॥
जीवाश्च ॥३॥
नित्यावस्थितान्यरूपाणि[6] ॥४॥
रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥
आ [7]आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥
निष्क्रियाणि च ॥७॥
असंख्येया प्रदेशा [8]धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥
आकाशस्यानन्ताः ॥९॥
संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥
नाणोः ॥११॥
लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥
धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥
एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥
असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥
[9]प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥
गतिस्थित्युपग्रहौ[14] धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥
आकाशस्यावगाहः ॥१८॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥
सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥
परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥
[15]वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥
स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥
अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥
[16]भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥
भेदादणुः ॥२७॥
भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः[17] ॥२८॥
[18]सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥
तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥
अर्पितानर्पितसिद्धे ॥३२॥

---

१ सह सानत्कुमारे ॥३६॥
२ विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥३७॥ श्वे० ।
३ –सर्वार्थसिद्धे च ॥३८॥ श्वे० ।
४ –कञ्च ॥३९॥ सागरोपमे ॥४०॥ अधिके च ॥४१॥ श्वे० ।
५ द्रव्याणि न जीवाश्च ॥२॥ श्वे० ।
६ सिद्धसेनगणिनः कथयन्ति यत् केचित् 'नित्यावस्थितानि' इति सूत्रद्वयं पठन्ति । ते हि 'नित्यावस्थितारूपाणि' 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इति पाठान्तरे अपि सूचयन्ति ।
७ आकाशादेक– श्वे० ।
८ धर्माधर्मयोः ॥७॥ जीवस्य ॥८॥
९ –विसर्गाभ्याम् श्वे० ।
१० –पल्योपमम् ॥४७॥ श्वे० ।
११ –ष्काणामधिकं ॥४८॥ ग्रहाणामेकम् ॥४९॥ नक्षत्राणामर्धम् ॥५०॥ तारकाणां चतुर्भागः ॥५१॥ श्वे० ।
१२ जघन्या त्वष्टभागः ॥५२॥ चतुर्भागः शेषाणाम् ॥५३॥ श्वे० ।
१३ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० । त० श्लोकवार्तिकेऽपि नास्ति एतत्सूत्रम् ।
१४ –पग्रहो श्वे० ।
१५ वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे श्वे० ।
१६ संघातभेदेभ्यः श्वे० ।
१७ चाक्षुषाः ॥२८॥ श्वे० ।
१८ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥
न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥
गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥
द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥
[1]बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥
[7]गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥
कालश्च[8] ॥३९॥
सोऽनन्तसमयः ॥४०॥
द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥
तद्भावः परिणामः[9] ॥४२॥

## षष्ठोऽध्यायः

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥
स आस्रवः ॥२॥
[2]शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥
सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥
[3]इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥
तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात[4]भावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥
अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥
आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥
निवर्तन निक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥
तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥
दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥
[5]भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥
केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥
कषायोदयात्ती[6]व्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥
बह्वारम्भपरिग्रहत्वं[10] नारकस्यायुषः ॥१५॥
माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥
[11]अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥
स्वभावमार्दवं च ॥१८॥
निःशील[12]व्रतित्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥
सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥
सम्यक्त्वं च ॥२१॥
योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥
तद्विपरीतं[13] शुभस्य ॥२३॥
दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण[14]ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी[15] साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य[16] ॥२४॥
परात्मनिन्दाप्रशंसे [17]सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥
तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥
विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

---

१ बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥३६॥ श्वे० । 'च' नास्ति स० श्लो० ।
२ शुभः पुण्यस्य ॥३॥ अशुभः पापस्य ॥४॥ श्वे० । 'शुभः पुण्यस्य । शेषं पापम्' हा० ।
३ अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः श्वे० । इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः हा०, सि० ।
४ –भाववीर्याधिकरणविशे– श्वे० ।
५ भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादि योगः– श्वे० ।
६ –त्तीव्रात्मपरिणाम– श्वे० ।
७ गुणपर्याय– श्वे० ।
८ कालश्चेत्येके ॥३८॥ श्वे० ।
९ एतदनन्तरम् 'अनादिरादिमाँश्च ॥४२॥ रूपादिष्वादिमान् ॥४३॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥४३॥– एतानि सूत्राणि अधिकानि श्वे० ।
१० –त्वं च नारक– श्वे० ।
११ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ॥१८॥– श्वे० ।
१२ –व्रतत्वं– श्वे० ।
१३ विपरीतं श्वे० ।
१४ भीक्ष्णज्ञानो– श्वे० ।
१५–सी संघसाधु– श्वे० ।
१६ तीर्थकृत्त्वस्य ॥२३॥ श्वे० ।
१७ सदसद्गुणाच्छादनो– श्वे० । सदसद्गुणोच्छा– स० । सदसद्गुणच्छा– रा०, श्लो०, सि० ।

## सप्तमोऽध्यायः

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥
देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥
तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥
[1]वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥
क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥
शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥
स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥
मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥
हिंसादिष्विहामुत्रा[2]पायावद्यदर्शनम् ॥९॥
दुःखमेव वा[3] ॥१०॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि[4] च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥
जगत्कायस्वभावौ[5] वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥
प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥
असदभिधानमनृतम् ॥१४॥
अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥
मैथुनमब्रह्म ॥१६॥
मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥
निःशल्यो व्रती ॥१८॥
अगार्यनगारश्च ॥१९॥
अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥
दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक[6]प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग[7]परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥
मारणान्तिकीं सल्लेखनां[8] जोषिता ॥२२॥
शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः[9] ॥२३॥
व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥
[10]बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥
मिथ्योपदेशरहो[11]भ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥
स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥
परविवाहकरणेत्व[12]रिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥
क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्त[13]राधानानि ॥३०॥
[14]आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः[15] ॥३१॥
कन्दर्पकौत्कु[16]च्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभो[17]गपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥
योगदुःप्रणिधानानादर[18]स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

---

१ 'वाङ्मनो' इत्यादि पञ्चसूत्राणि न सन्ति श्वे०।
२ -मुत्र चापायावद्य- श्वे० ।
३ सिद्धसेनगणिनः सूत्रयन्ति यत् केचित् 'व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म, तथा परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे वाऽवितृप्तिः' एतयोः भाष्यवाक्ययोः पृथक् सूत्रत्वमामनन्ति ।
४ -माध्यस्थानि च श्वे० ।
५ -वौ च संवेग- श्वे० ।
६ -पौषधो-श्वे०।
७ -परिभोगातिथि-भा०। सि०।
८ संलेखनां श्वे० । ९ -रतिचाराः श्वे० ।
१० बन्धवधच्छविच्छेदा- श्वे० ।
११ रहस्याभ्याख्यान- श्वे० ।
१२ -त्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामा- श्वे० । सिद्धसेनगणिनः 'परविवाहकरणम् इत्वरिकागमनं परिगृहीतागमनम् अनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेशः' इति सूत्रपाठान्तरं सूत्रयन्ति ।
१३ स्मृत्यन्तर्धानानि श्वे० ।
१४ आनायन- हा० पाठान्तरसूचनम् ।
१५ -पुद्गलप्रक्षेपाः ॥२६॥ भा० ।
१६ -कौकुच्य- भा० हा० ।
१७ -करणोपभोगाधिकत्वानि ॥२७॥ श्वे० ।
१८ -स्मृत्यनुपस्थापनानि ॥२८॥

[1]अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादा[2]नसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥
सचित्तसंबन्ध[3]सम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥
सचित्तनिक्षेपापि[4]धानपरव्यपदेशमात्सर्य्यकालातिक्रमाः ॥३६॥
जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्ध[12]निदानानि ॥३७॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥
विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

## अष्टमोऽध्यायः

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥
सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते[5] स बन्धः ॥२॥
प्रकृतिस्थित्यनुभाग[6]प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥
आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायु[7]र्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥
पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा[8] यथाक्रमम् ॥५॥
[9]मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च[10] ॥७॥
सदसद्वेद्ये ॥८॥
[11]दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥
नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥१०॥
गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरु[13]लघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च[14] ॥११॥
उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥
[15]दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥
आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥
सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥
[16]विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः[17] ॥१७॥
अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥
नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥
शेषाणामन्तर्मुहूर्ता[18] ॥२०॥
विपाकोऽनुभवः[19] ॥२१॥
स यथानाम ॥२२॥
ततश्च निर्जरा ॥२३॥
नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रा[20]-

---

१ अप्रत्युपेक्षि- हा० ।
२ -दाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥२९॥ श्वे० ।
३ सचित्तसम्बद्धस- श्वे० ।
४ निक्षेपपिधान- श्वे० ।
५ -दत्ते ॥२॥ सम्बन्धः ॥३॥ श्वे० ।
६ -भावप्रदेशा- श्वे० ।
७ -यायुष्कनाम- । ८ भेदो रा० ।
९ मत्यादीनाम् ॥७॥ श्वे० ।
१० -स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ॥८॥ श्वे० । स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठः'-सि० ।
११ दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ॥१०॥ श्वे० ।
१२ निदानकरणानि ॥३२॥ श्वे० ।
१३ -पूर्व्यागुरु- श्वे० ।
१४ -देययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥१२॥ श्वे० ।
१५ दानादीनाम् ॥१४॥ श्वे० ।
१६ नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥१७॥ श्वे० ।
१७ -स्त्यायुष्कस्य- श्वे० ।
१८ -मन्तर्मुहूर्तम् ॥२०॥ श्वे० । १९ -नुभावः श्वे० ।
२० गाढस्थिताः श्वे० ।

वगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः ॥२४॥

[8]सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

[9]अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

## नवमोऽध्यायः

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥२॥

तपसा निर्जरा च ॥३॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

[1]उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्माः ॥६॥

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वा[2]शुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः[3] ॥७॥

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाञ्चालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि[4] ॥९॥

[5]सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

एकादश जिने ॥११॥

[6]बादरसाम्पराये सर्वे ॥१२॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाञ्चासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः[7] ॥१७॥

सामायिकच्छेदोप[10]स्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथा[11]ख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अनशनाव[12]मौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा[13] यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः[14] ॥२२॥

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्य[15]ग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्[16] ॥२४॥

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो [17]ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

आर्त्तरौद्रधर्म्य[18]शुक्लानि ॥२८॥

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

आर्त्तममनोज्ञस्य[19] संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

विपरीतं मनोज्ञस्य[20] ॥३१॥

---

१ उत्तमः क्षमा…धर्मः ॥६॥ श्वे० ।

२ –शुचित्वास्रव– श्वे० ।

३ "अपरे पठन्ति अनुप्रेक्षा इति अनुप्रेक्षितव्या इत्यर्थः । अपरे अनुप्रेक्षाशब्दमेकवचनान्तमधीयते"– सि० वृ० ।

४ प्रज्ञाज्ञानसम्यक्त्वानि ।– हा० ।

५ सूक्ष्मसम्पराय– श्वे० ।

६ बादरसम्पराये श्वे० ।

७ –देकान्नविंशतेः हा० । युगपदेकोनविंशतेः ॥१७॥ श्वे० ।

८ सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२६॥ श्वे० ।

९ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।

१० –दोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातानि चारित्रम् । श्वे० ।

११ अथाख्यात– सि० रा० ।

१२ –वमौदर्य– । श्वे० । १३ द्विभेदं यथा– श्वे० ।

१४ –पस्थापनानि ॥२२॥ श्वे० । १५ –शैक्ष– श्वे० ।

१६ –साधुसमनोज्ञानाम् ॥२४॥ श्वे० ।

१७ –ध्यानम् ॥२७॥ आमुहूर्तात् ॥२८॥ श्वे० ।

१८ –धर्म– श्वे० । १९ –मनोज्ञानां सम्प्र– श्वे० ।

२० –हारः ॥३१॥ वेदनायाश्च ॥३२॥ विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥३३॥ श्वे० ।

वेदनायाश्च ॥३२॥
निदानं च ॥३३॥
तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥
हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥
आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्[1] ॥३६॥
शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥
परे केवलिनः ॥३८॥
पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि[2] ॥३९॥
[3]त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥
एकाश्रये [6]सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥
[7]अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥
वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥
[8]वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥
सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥
पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥
संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपा[9]दस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

## दशमोऽध्यायः

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥
वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां[4] कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥
[5]औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥
अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥
तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥
पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् वन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च[10] ॥६॥
[11]आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालावुवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥
[12]धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥
क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

---

१ –धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥३७॥ उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥३९॥ शुक्ले… श्वे० ।
२ –निवृत्तीनि ॥४१॥ श्वे० ।
३ तत्त्र्येककाययोगायोगानाम् ॥४२॥ श्वे० ।
४ –राभ्याम् ॥२॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥३॥ श्वे० ।
५ औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवल…
६ सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४३॥ श्वे० ।
७ –अविचारं श्वे० । ८ विचारो– श्वे० ।
९ –पपातस्थान– श्वे० ।
१० –माच्च तद्गतिः ॥६॥ श्वे० ।
११ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।
१२ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।

# तत्त्वार्थसूत्राणामकारादिकोशः

# तत्त्वार्थसूत्रस्थशब्दानामकाराद्यनुक्रमः

घ



च



छ



ज



त





द

# अवतरण-सूची

## ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च

# भौगोलिकशब्द-सूची

# तत्त्वार्थवार्तिकगता विशिष्टाः शब्दाः

# तत्त्वार्थवार्तिकगता विशिष्टाः शब्दाः

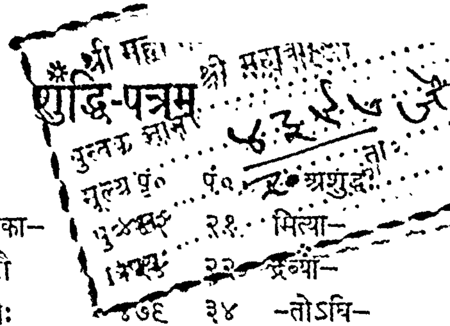
### श

# मूल-टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केत-विवरणम्

अङ्गप०—अङ्गपण्णत्ती
अभिध०—अभिधर्मकोश [ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी]
अभिधानचि०—अभिधानचिन्तामणि
अभिध० टी०—अभिधर्मकोश टीका [ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी]
अभि० व्या०—अभिधर्मकोश व्याख्या
अमर०—अमरकोश
आप्तमी०—आप्तमीमांसा [जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता]
आव० नि०—आवश्यकनिर्युक्ति [आगमोदय समिति, सूरत]
उणादि०—उणादि प्रकरण। जैनेन्द्र व्याकरणान्तर्गत।
ऋग्०—ऋग्वेद [आनन्दाश्रम सीरिज, पूना]
खुद्दा०—खुद्दाबन्ध पट्खण्डागमनान्तर्गत।
गरुडपु०—गरुडपुराण [निर्णयसागर]
गो० जीव०; गो० जी०—गोम्मटसार, जीवकाण्ड [रायचन्द्रशास्त्रमाला बम्बई]
चतुःश०—चतुःशतकम् [विश्वभारती ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन]
छक्खं० वग्ग०—षट्खण्डागम वर्गणा खण्ड [जैन साहित्योद्धारक फण्ड, भेलसा]
जयध०—जयधवलाटीका [दि० जैनसंघ, मथुरा]
जैनेन्द्र०—जैनेन्द्रव्याकरण [भारतीय ज्ञानपीठ, काशी]
जैनेन्द्रवा०—जैनेन्द्रमहावृत्ति वार्तिक, [भारतीय ज्ञानपीठ, काशी]
तत्त्वसं०—तत्त्वसंग्रह [गायकवाड़ सीरिज, वड़ौदा]
त० भा०—तत्त्वार्थभाष्य [देवचन्द्र लालभाई, सूरत]
त० सू०—तत्त्वार्थसूत्र [सर्वार्थसिद्धि सम्मत सूत्रपाठान्वितम्]
तत्त्वाधि०—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र [तत्त्वार्थभाष्य सम्मत सूत्रपाठ]
तत्त्वोप०—तत्त्वोपप्लवसिंह [गायकवाड़सीरिज, वड़ौदा]
ति० प०—तिलोयपण्णत्ती [जैनसंस्कृति संरक्षकसंघ, सोलापुर]
ध० टी० भावा०—धवलाटीका भावानुयोग [जैनसाहित्योद्धारक फण्ड, भेलसा]
ध० टी० सं०—धवलाटीका संतपयपरूवणा [जैनसाहित्योद्धारक फण्ड, भेलसा]
न्यायकुमु०—न्यायकुमुदचन्द्रः [माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई]
न्यायसू०—न्यायसूत्रम्। [वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई]
पञ्चसं०—पञ्चसंग्रहः [पं० परमानन्द सत्कः, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली]
पञ्चास्ति०, पञ्चा०—पञ्चास्तिकाय [रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई]
पाणिनिशि०—पाणिनिशिक्षा। [चौखम्बा सीरिज, काशी]
पा० सू०—पाणिनि व्याकरणम्। [चौखम्बा सीरिज, काशी]
पा० वा०; पा० सू० वा० —पाणिनि व्याकरणम्, वार्तिकम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
पात० महा०—पातञ्जलमहाभाष्यम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
पात० महा० पस्पशा०—पातञ्जलमहाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
पात० महा० प्रत्याहा०—पातञ्जलमहाभाष्यम्, प्रत्याहारसूत्रम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
प्रमाणवा०—प्रमाणवार्तिकम् [बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना]
प्रमाणवार्तिकाल०—प्रमाणवार्तिकालङ्कारः [बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना]
प्रमाणसमु०—प्रमाणसमुच्चय [मैसूर यूनिवर्सिटी सीरिज]
प्रवचनसा०—प्रवचनसार [रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई]
प्रश० भा०—प्रशस्तपादभाष्यम् [विजयनगर सीरिज, काशी]
प्रशम० व्यो०—प्रशस्तपादभाष्यस्य व्योमवती टीका [चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी]
प्र० स० टी०—प्रमाणसमुच्चयटीका [मैसूर यूनि० सीरिज]

ब्रह्मसू० शा० भा०—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् [निर्णयसागर प्रेस, बम्बई]
भग० आरा०—भगवती आराधना [कल्याण प्रेस, सोलापुर]
भग० गी०—भगवद्गीता [आनन्दाश्रम, पूना]
भग० सू०— भगवतीसूत्रम् [गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर, अहमदाबाद]
मध्यान्त० सू० टी०—मध्यान्तविभागसूत्रटीका [शान्तिनिकेतन]
मनु०—मनुस्मृतिः [निर्णयसागर, बम्बई]
महाभा०—महाभाष्यम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
माध्यमकवृ०—माध्यमिकवृत्तिः [बिब्लोथिका बुद्धिका, रशिया],
माध्यमका०—माध्यमकावतारः
मी० द०—मीमांसादर्शनम् [आनन्दाश्रम, पूना]
मी० श्लो० शब्दनि०—मीमांसाश्लोकवार्तिकम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
मूलाचा०—मूलाचारः [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई]
मैत्रा०—मैत्राण्युपनिषद् [निर्णयसागर, बम्बई]
युक्त्यनु०—युक्त्यनुशासनम् [माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला, बम्बई]
योगभा०—योगसूत्र व्यासभाष्यम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
योगसू०—योगसूत्रम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
रत्नक०—रत्नकरण्डश्रावकाचारः [माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला, बम्बई]
वाक्यप०—वाक्यपदीयम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
वैशे०—वैशेषिकसूत्रम् [चौखम्बा सीरिज, काशी]
वैशे० उप०—वैशेषिकसूत्रोपस्कार [चौखम्बा सीरिज, काशी]
व्याख्याप्रज्ञ० अभ०—व्याख्याप्रज्ञप्ति अभयदेवीया टीका [शारदामुद्रण, अहमदाबाद]
श० च०—शब्दार्णवचन्द्रिका [जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता]
शा० / शाक० / शाकटा० — शाकटायनव्याकरणम् [लाजरस प्रेस, काशी]
शिक्षासमु०—शिक्षासमुच्चयः [बिब्लोथिका बुद्धिका, रशिया]
षट्खं०—षट्खण्डागमः [जैनसाहित्योद्धारक फण्ड, भेलसा]
सन्ताना० सि०—सन्तानान्तरसिद्धिः [राहुल सांकृत्यायनसत्का]
सन्मति०— सन्मतितर्कटीका [गुजरात पुरातत्त्वमंदिर, अहमदाबाद]
सर्वार्थसि० / स० सि० — सर्वार्थसिद्धिः [सोलापुर]
सांख्यका०—सांख्यकारिका [चौखम्बा सीरिज, काशी]
सिद्धि० द्वा०—सिद्धसेनद्वात्रिंशिका [भावनगर]
सिद्धिवि०—सिद्धिविनिश्चयटीका [सम्पादकसत्का]
स्फु० अभि० / स्फुटार्थ० अभिध० — स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या। [बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया]
हेतुबि० टी०—हेतुबिन्दुटीका [बड़ौदा सीरिज]
आ०—आराके जैनसिद्धान्तभवन की लिखित प्रति।
का०—कारिका
गा०—गाथा
ज०—जयपुरके भंडारकी प्रति
ता०—ताडपत्रीय प्रति ऐलकपन्नालाल सरस्वतीभवन व्यावर।
द०—दिल्लीके पंचायती जैनमन्दिरकी प्रति।
ब०—बनारस स्याद्वादविद्यालयकी प्रति।
भा० १—भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूनाकी प्रथम प्रति के पाठांतर डॉ० जगदीशचन्द्रजैन द्वारा संगृहीत।
भा० २—भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूनाकी द्वितीय प्रति के पाठांतर डॉ० जगदीशचन्द्रजैन द्वारा संगृहीत।
मु०—मुद्रित प्रति—जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता।
मू०—मूडबिद्री भंडारकी ताडपत्रीय प्रति।
सम्पा०—सम्पादककृत टिप्पणी।
श्र०—श्रवणबेलगोला मठकी ताडपत्रीय प्रति।
श्र० टि०—श्रवणबेलगोला मठकी ताडपत्रीय प्रतिके टिप्पण।
श्लो०—श्लोक।

# शुद्धि-पत्रम्



| पृ० | पं० | अशुद्धः | शुद्धः | पृ० | पं० | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १० | २५ | –दि का– | –दिविका– | [illegible] | २१ | मित्या– | मिथ्या– |
| १४ | २१ | प्रविष्टो | प्रविष्टौ | [illegible] | २२ | द्रव्यां– | द्रव्या– |
| १८ | १७ | पूर्वयोः | पूर्वयोः | [illegible]७६ | ३४ | –तोऽग्धि– | –तोऽधि– |
| १९ | १४ | –का त्वा– | कार्थत्वा– | ४६३ | ३१ | प्रायर्श– | प्रायदर्श– |
| ४३ | १८ | –याथम् | –यार्थम् | ५१६ | ३२ | दुष्प्रमा– | दुष्प्रमा– |
| ५४ | १५ | –शाद् व्यति– | –शाव्यति– | ५२५ | १७ | –थन– | –थुन– |
| ७० | २ | एवमोभि– | एवमाभि- | ५४१ | १० | शक्याते | शक्यास्ते |
| ८६ | २७ | पर्याप्तकेपू– | गर्भजेपू– | ५४२ | ३६ | –पूर्वकमूनि– | –पूर्वकमि– |
| ९४ | १९ | मध्ययया | मध्यमया | ५४३ | ३७ | अन्या– | १ अन्या |
| १८६ | २५ | ध्या | श्या । | ५५२ | २६ | व्रतशाले– | व्रतशीले– |
| १९२ | १२ | मिभूपु | भूमिपु | ६२५ | २४ | वज्रे– | वज्रे– |
| २०७ | २५ | पल्यासा– | पल्यसा– | ६४९ | १५ | सान्तः | शान्तः |
| २०८ | ३४ | स्वावगाढप्र– | स्वावगाढाकाशप्र– | ६५० | १५ | यत्रन् | यत्र |
| २०८ | ३५ | निपिद्धो | निरुद्धो | ८३४ | ४ | तत्त्वभा– | तत्त्वं भा– |
| २०८ | ३५ | आवलिका असं– | आवलिकैका सं– | ८३४ | १३ | सर्वसंसाराः | सर्वसंस्काराः |
| २०९ | ७ | संज्ञा | संज्ञाः | ८३४ | २१ | –स्थापा | स्थास्नापा– |
| २१२ | ६ | –कादयोः | कादयो | ८३४ | २४ | द्विपिनं | द्वीपिनं |
| २२२ | ५ | समहः | समूहः | ८३५ | ३३ | भूत्यै | भूत्यै |
| ४३२ | २० | जीव | अजीव | ८३५ | ३९ | शाद्व्य– | शाव्य– |
| ४३५ | २७ | पण्णा– | पएणा– | | | | |

—०—

# विषय-सूची

## पाँचवाँ अध्याय

## छठवाँ अध्याय

## सातवाँ अध्याय

## आठवाँ अध्याय

o

## नवाँ अध्याय

●

## दसवाँ अध्याय



—o—

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितं

# तत्त्वार्थवार्तिकम्

## पञ्चमोऽध्यायः

[1]इदानीं सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपक्षिप्तेषु जीवादिषु अजीवपदार्थो विचारप्राप्तः, तस्य भेदसंज्ञासंकीर्तनार्थमिदमुच्यते तत्पूर्वकत्वादितरस्येति—

### अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

अजीवकाया इति समानाधिकरणा वृत्तिः ।१। अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरियं वेदितव्या । कथं वृत्तिः ? "विशेषणं विशेष्येण" [ जैनेन्द्र० १।३।१२ ] इति सति व्यभिचारे नीलोत्पलादिषु वृत्तिः ? इहाप्यस्ति व्यभिचारः, कायशब्दस्य जीवेष्वपि वृत्तेः, अजीवशब्दस्यापि काले । भिन्नाधिकरणवृत्तौ को दोषः ?

भिन्नाधिकरणत्वे हि अर्थान्तरभावप्रसङ्गः ।२। यथा राज्ञः पुरुषः राजपुरुष इति अर्थान्तरभावे भिन्नाधिकरणत्वं भवति, तथा अजीवानां कायः अजीवकायः इति भिन्नाधिकरणत्वे गृह्यमाणेऽर्थान्तरभावः प्रसज्येत ।

दृष्टत्वात् सुवर्णाङ्गुलीयकवदिति चेत्; न; तत्रान्यविशेषनिवृत्त्यर्थत्वात् ।३। स्यान्मतम्–भिन्नाधिकरणत्वेऽपि नार्थान्तरभावः । कुतः ? दृष्टत्वात् । कथम् ? सुवर्णाङ्गुलीयकवत् । यथा सुवर्णस्य अङ्गुलीयकं सुवर्णाङ्गुलीयकमिति भिन्नाधिकरणत्वेऽपि नार्थभेदः, तथा इहापि न दोष इति । तन्न; किं कारणम् ? तत्रान्यविशेषनिवृत्त्यर्थत्वात् । तत्र हि सुवर्णशब्दप्रयोगः रूप्यादेः प्रमाणान्तरस्य च निवृत्त्यर्थम्, सुवर्णस्येदमङ्गुलीयकं न रूप्यादेर्न माषादेर्वेति, न तथेह अजीवस्य काया अजीवकाया इति विशेषणेन कदाचिदर्थान्तरनिवृत्तिरस्ति ।

---

१ अतः पृष्ठद्वयस्य प्राचीनटिप्पणी पाठान्तरं च प्रभ्रष्टम्–सम्पा० ।

अस्तु वाऽविरोधात् । ४ । अथवा अस्तु भिन्नाधिकरणा वृत्तिः । कुतः ? अविरोधात् । यस्माज्जीवोऽपि कायः पञ्चास्तिकायोपदेशात् अतस्तन्निवृत्त्यर्थोऽत्राजीवशब्दप्रयोगः । अजीवस्य कायो न जीवस्येति । किञ्च,

कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः । ५ । केनचित्प्रकारेण संज्ञालक्षणप्रयोजनादिना भेद उपपद्यते । यथा ५ सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्र सुवर्णं सामान्यं तद्विशेषोऽङ्गुलीयकं तयोः सामान्यविशेषयोः संज्ञालक्षणादिभिः कथञ्चिन्नानात्वम् । यदि सर्वथैकत्वं स्यात्; सुवर्णसामान्यस्याङ्गुलीयकवत् कुण्डलादिषु वृत्तिर्न स्यात् । सुवर्णसामान्यवद्वा अङ्गुलीयकत्वस्य कुण्डलादिषु वृत्तिः स्यात् । त एवाऽन्यनिवृत्त्यर्थः प्रयोगो युक्तः, सुवर्णस्येदमङ्गुलीयकं न रूप्यादेरिति । यदि सर्वथैकत्वं स्यात्; व्यपदेश एव न स्यात् । तथा अजीवानां काया इत्यत्रापि कायशब्दः प्रदेशवाची । प्रदेशाश्च धर्मा- १० दीनां वक्ष्यन्ते । ते च तेभ्यः संज्ञालक्षणादिभिः कथञ्चिद्भिन्नाः । अन्यथा ऐकान्तिकैकत्वे धर्मादीनामेकत्ववत् प्रदेशानामप्येकत्वं स्यात्, प्रदेशानां बहुत्ववत् धर्मादीनां बहुत्वं प्रसज्येत । तत एव अन्यनिवृत्त्यर्थः प्रयोगो युक्तः अजीवानां काया न जीवस्येति । यदि सर्वथैकत्वं स्यात्; व्यपदेश एव न स्यात् । ततो भेदोपपत्तेः युक्ता भिन्नाधिकरणा वृत्तिः । ननु चाभेदेऽपि लोके व्यपदेशो दृष्टः यथा शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिर इति । न हि शिलापुत्रकादन्यच्छरीरमस्ति, नापि १५ राहोरन्यच्छिरः, शिरोमात्रत्वादिति । तत्राप्यस्ति भेदः । कुतः ? शक्तितः । योऽनेकक्रियानिष्पादनशक्तिभेदेन भिन्नरूपः शिलापुत्रकः तस्येदं शरीरं एकक्रियाविषयमिति शब्दप्रकल्पितताद् बुद्धिभेदाद्वा कथञ्चित्पृथक्त्वमध्यवसेयम् । अतश्चैतदेवं तदन्यनिवृत्त्यर्थं विशेषणम् उपादीयते–शिलापुत्रकस्येदं शरीरं न मनुष्यादेः, राहोरिदं शिरः नान्यस्य इति । ऐकान्तिकैकत्वे हि अन्यनिवृत्तिर्न स्यात् यथा सुवर्णस्य सुवर्णं घटस्य घट इति ।

२० जीव इत्यभावमात्रप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावान्तरप्रतिपत्तेरनश्ववत् । ६ । स्यान्मतम्–न जीवोऽजीव इत्युक्तेऽभावमात्रं प्रसज्येत यथा न भावः अभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? भावान्तरप्रतिपत्तेः । कथम् ? अनश्ववत् । यथा नायमश्वः अनश्व इत्युक्ते नाभावसंप्रत्ययः किन्तु "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः [ पात० महा० ३।१।१२] इति, अन्यस्मिन् भाव एव तुल्योदरैकशफादिलक्षणे गर्दभे संप्रत्ययो भवति । एवमिहापि नायं जीव इति प्रतिषेधात् नाभावे २५ संप्रत्ययः, किन्तु अन्यस्मिन् भाव एव अनुपयोगलक्षणे धर्मादौ प्रतिपत्तिर्भवति । सादृश्याभावात् अप्रतिपत्तिरिति चेत्; न; सत्त्वद्रव्यत्वादिभिः सादृश्योपपत्तेः । यच्चोक्तम्–यथा 'न भावः अभावः' इत्युक्ते अभावमात्रसंप्रत्यय इति; तदप्ययुक्तम्; सत एव पररूपत्वादिभिः अभावशब्दगोचरत्वोपपत्तेः ।

अभ्यन्तरीकृतेवार्थः कायशब्दः । ७ । इवार्थमभ्यन्तरीकृत्य अत्र कायशब्दः प्रयुक्तः काया ३० इव काया इति । क उपमार्थः ? यथौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशात् पुद्गलैश्चीयन्ते कायाः तथा धर्मादीनामनादिपारिणामिकप्रदेशचयनात् कायत्वम् ।

तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थम् । ८ । तस्य कायशब्दस्य ग्रहणं क्रियते । किमर्थम् ? प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थम् । मुख्यरूपेणाऽविद्यमानत्वेऽपि श्रोतॄणां सुखावबोधार्थं प्रज्ञया द्रव्यपरमाण्ववगाहमात्रत्वेन प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः, प्रदेशा एवावयवाः प्रदेशावयवाः तेषां बहुत्वस्य ३५ ज्ञापनार्थम् ।

न, असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानामिति शास्त्रप्रवृत्तेः । ९ । न तत्प्रयोजनम् उपपद्यते । कुतः ? अन्यत एव तत्सिद्धेः । वक्ष्यते हि–"असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्" [ त० सू० ५।८ ] इति । अत एवैषां प्रदेशबहुत्वं सिद्धं नार्थः कायग्रहणेन ।

[1]प्रदेशसंख्यावधारणार्थमिति चेत्; न; अतोऽप्यनिश्चयात्। १०। स्यादेतत् "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् [ त० सू० ५।८ ] इत्यनेन न प्रदेशसंख्यावधारणं क्रियते। कुतः? त्रयाणां संभूय प्रदेशासंख्येयत्वप्रतिपत्तेः। ततः एकैकस्याऽसंख्येयप्रदेशख्यापनार्थं कायग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? अतोऽप्यनिश्चयात्। कायग्रहणादपि नास्ति निश्चयः, प्रदेशप्रचयमात्रप्रतिपत्तेः। कुतस्तर्हि तन्निश्चयः[2]? ५

"लोकाकाशेऽवगाहः" [ त० सू० ५।१२ ] इत्यादि वचनात् तन्निश्चयः। ११। यदयं "लोकाकाशेऽवगाहः" इत्युक्त्वा "धर्माधर्मयोः कृत्स्ने" [ त० सू० ५।१३ ] इत्यादि वक्ष्यते, तेन तस्य प्रदेशपरिमाणस्य निश्चयो भवति।

[3]अप्रदेशैकद्रव्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात्। १२। स्यादेतत्-कायग्रहणादृते अप्रदेशैकद्रव्यता प्राप्नोति, अतस्तन्निवृत्त्यर्थं कायग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्-'असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् इति वक्ष्यते' इति। १०

आर्षानुवादार्थमिति चेत्; न; तदवस्थत्वात्। १३। स्यादेतत्-आर्षमेवं प्रवृत्तम् "पञ्चास्तिकायाः" [ ] इति। अतः तदनुवादार्थं कायग्रहणमिति; तच्च न, कस्मात्? तदवस्थत्वात् 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यनेनैव आर्षानुवादस्य कृतत्वात्।

स्वभावापरित्यागार्थमिति चेत्; न; नित्यावस्थितवचनात् सिद्धेः। १४। स्यान्मतं कायस्वभावापरित्यागार्थं कायग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? नित्यावस्थितवचनात् सिद्धेः वक्ष्यते हि "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" [ त० सू० ५।४ ] इति, तत एव स्वभावापरित्यागः सिद्धः। [4]तत्तर्हि कायग्रहणं न कर्तव्यम्? [5]कर्तव्यं च। किं प्रयोजनम्? १५

तत्सिद्धावसंख्येयप्रदेशावधारणसिद्धेः। १५। तस्य कायशब्दस्य पञ्चस्वपि अस्तिकायेषु प्रदेशावयवबहुत्वार्थस्य सिद्धौ सत्याम् उत्तरवचनमवधारणार्थं युज्यते-असंख्येयाः प्रदेशाः न संख्येयाः नाप्यनन्ताः इति, विधिपूर्वकत्वादवधारणस्य। २०

अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च। १६। अद्धाशब्दो निपातः कालवाची, स वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणं क्रियते। यथाऽणोः प्रदेशमात्रत्वात् द्वितीयादयोऽस्य प्रदेशा न सन्तीत्यप्रदेशोऽणुः, तथा कालपरमाणुरपि एकप्रदेशत्वादप्रदेश इति।

धर्मादयः संज्ञाः सामा (म) यिक्यः। १७। धर्मादयः संज्ञाः सामा (म) यिक्यो द्रष्टव्याः। आर्हते हि प्रवचनेऽनादिनिधने अर्हदादिभिः यथाकालमभिव्यक्तज्ञानदर्शनातिशयप्रकाशैरवद्योतितार्थसारे रूढा एताः संज्ञा ज्ञेयाः। २५

क्रियानिमित्ता वा। १८। अथवा क्रियानिमित्ता एताः संज्ञाः वेदितव्याः। कथमिति चेत्? उच्यते-

स्वयं क्रियापरिणामिनां [6]साचिव्यधानाद्धर्मः। १९। स्वयं क्रियापरिणामिनां जीवपुद्गलानां यस्मात्साचिव्यं दधाति तस्माद्धर्म इत्याख्यायते। ३०

तद्विपरीतोऽधर्मः। २०। तस्य विपरीतलक्षणः अधर्म इत्याम्नायते।

---

१ कश्चित्तटस्थः प्रत्यवतिष्ठते तमपि प्रतिवदति परः। २ इति परं पृच्छति तटस्थः। ३ अथ तटस्थमुल्लिख्य आह परः। ४ तर्हि श्र०। ५ अथ शृण्वत्नियन्तं कालमाचार्यः प्राह कर्त्तव्यमित्यादिना। ६ व्याधाना- मु०, द०।

आकाशन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशत इत्याकाशम् ।२१। जीवादीनि द्रव्याणि स्वैः स्वैः पर्यायैः अव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशन्ते[1] प्रकाशन्ते तदाकाशम्, स्वयं चाऽऽत्मीयपर्याय-मर्यादया आकाशत इत्याकाशम् ।

अवकाशदानाद्वा ।२२। अथवा इतरेषां द्रव्याणाम् अवकाशदानादाकाशमिति पृषोदरादिपु ५ निपातितः शब्दः ।

अलोकाकाशस्यावकाशदानाभावात्तदभाव इति चेत्; न; तत्सामर्थ्याऽविरहात् ।२३। स्यान्मतम्–यद्यवकाशदानादाकाशमित्युच्यते अलोकाकाशे जीवाद्यवकाशदानाभावात् आकाशव्य-पदेशो नोपपद्यते इति; तन्न, किं कारणम्? तत्सामर्थ्याऽविरहात्। यथैष्यत्कालस्यातिदूरस्यापि वर्तमानप्राप्त्यर्हत्वात् तत्प्राप्त्यभावेऽपि भविष्यद्व्यपदेशो भवति, एवमलोकाकाशस्यावगाहिद्र-१० व्याभावेऽपि अवगाहनशक्तिरविरुद्धा इत्यवकाशदानात् आकाशत्वं युज्यते । अथवा, क्रियानिमित्त-त्वेऽपि रूढिविशेषबललाभात् गोशब्दवत् तदभावेऽपि प्रवर्तते ।

पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः ।२४। यथा भासं करोति भास्कर इति भासनार्थ-मन्तर्नीय भास्करसंज्ञाऽन्वर्था प्रवर्तते तथा भेदात् संघातात् भेदसंघाताभ्यां च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः पृषोदरादिषु निपातितः, यथा शवशायनं १५ श्मशानमिति ।

परमाणुषु तदभावात् पुद्गलत्वाभाव इति चेत्; न; गुणापेक्षया तत्सिद्धेः ।२५। स्यान्म-तम्–अणूनां निरवयवत्वात् पूरणगलनक्रियाभावात् पुद्गलव्यपदेशाभावप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? गुणापेक्षया तत्सिद्धेः । रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणवः एकगुणरूपादिपरिणताः द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणत्वेन वर्धन्ते, तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणापेक्षया पूरणग-२० लनक्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम् । अथवा गुण उपचार[2]कल्पनम् पूरणगलनयोः भावित्वात् भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः ।

पुङ्गिलानाद्वा ।२६। अथवा पुमांसो जीवाः, तैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः । अण्वादिपु तदभावाद[3]पुद्गलत्वमिति चेत्; उक्तोत्तरमेतत् ।

बहुवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् ।२७। धर्माधर्माकाशपुद्गला इति बहुवचनं स्वातन्त्र्य-२५ प्रतिपत्त्यर्थं द्रष्टव्यम् । किं पुनः स्वातन्त्र्यम्? धर्मादयो गत्याद्युपग्रहान् प्रति वर्तमानाः स्वयमेव तथा परिणमन्ते न परप्रत्ययाधीना तेषां प्रवृत्तिः इत्येतदत्र विवक्षितं स्वातन्त्र्यम् । ननु च बाह्य-द्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिनां परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति; नैष दोषः; बाह्यस्य [4]निमित्तमात्रत्वात् । न हि गत्यादिपरिणामिनो जीवपुद्गलाः गत्याद्युपग्रहे[5] धर्मा-दीनां प्रेरकाः । ननु [6]इतरेतरयोगलक्षणे द्वन्द्वे न्यायप्राप्तं बहुवचनं तेन कथं स्वातन्त्र्यं प्रतीयते? ३० [7]समाहारे समुदायप्रधाने एकवचनेन सिद्धे बहुवचनं ज्ञापकं स्वातन्त्र्यस्य । यथा "हृतः" [जैनेन्द्र० ३।१।६१] इत्यत्र एकवचनेन सिद्धे बहुवचनं ज्ञापकम्–अनुक्तस्यापि हृत उत्पत्तिर्यथा स्यात् इति, तेन सिद्धः अन्ते भवः अन्तिमः, यमेन प्रोक्तं याम्यं धर्मशास्त्रमित्यादि ।

प्रशस्ताभिधानाद्धर्मग्रहणमादौ ।२८। धर्मशब्दोऽयं लोके प्रशस्तार्थः ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

---

१ विराजन्ते ।–न्ते तदा–श्र० । २–चारात् क–मु०, द०, ब० । ३–भावत्वाद–श्र० । ४ निमि-त्तत्वात् ब०, द० । निमित्तवशात् मु० । ५ उपकारे । ६ आविर्भूतावयवभेदः । ७ तिरोहितावयवभेदः ।

तदनन्तरमधर्मग्रहणं लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् ।२९। तदनन्तरम् अधर्मग्रहणं क्रियते। कुतः ? लोकव्यवस्थाहेतुत्वात्। पञ्चास्तिकायाः कालश्च लोकः, अवतिष्ठन्ते पदार्था अनया आकृत्येत्यवस्था, विविधा अवस्था व्यवस्था विविधसन्निवेशो वेत्रासनाद्याकार इत्यर्थः, लोकस्य व्यवस्था लोकव्यवस्था तस्या हेतुत्वात् लोकव्यवस्थाहेतुत्वात्। असति हि अधर्मास्तिकाये गतिमतां द्रव्याणां गतिविपयनियमाभावात्। विष्वग्भावे सति लोकव्यवस्था विशिष्टा न स्यात्, ५ अतोऽस्य धर्मानन्तरं ग्रहणं न्याय्यम्।

तत्प्रतिपक्षत्वाच्च ।३०। तस्य धर्मास्तिकायस्य प्रतिपक्षोऽधर्मास्तिकायः स्थितिकारणत्वात्। ततश्चानन्तरं ग्रहणं क्रियते।

तत्परिच्छेद्यत्वात्तदनन्तरम् आकाशग्रहणम् ।३१। ताभ्यां धर्माधर्माभ्याम् आकाशं परिच्छिद्यते–यत्र धर्माधर्मौ तल्लोकाकाशम् इतरदलोकाकाशमिति। अतः तदनन्तरम् आकाशग्रहणं क्रियते। १०

अमूर्तत्वसाधर्म्याच्च ।३२। यथा धर्माधर्मावमूर्तौ रूपादिविरहात् एवमाकाशमप्यमूर्तम्, अतश्चानन्तरमुक्तम्।

तदवगाहित्वात् तत्समीपे पुद्गलवचनम् ।३३। तदाकाशमवगाह्य पुद्गला वर्तन्ते इति तत्समीपे तेषां वचनं क्रियते। १५

आकाशग्रहणमादौ धर्मादीनामाधारत्वादिति चेत्; न; लोकविनिवेशस्यानादित्वात् ।३४। स्यान्मतम्–धर्मादीनां पञ्चानामपि द्रव्याणामाकाशम् आधारः साधारणः, ततस्तस्य ग्रहणं सर्वेषामादौ न्याय्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? लोकविनिवेशस्यानादित्वात्। नाऽयं नियमोऽस्ति लोकविनिवेशे आकाशमाधारः इतराणि द्रव्याणि आधेयानि इति। किन्तु लोकविनिवेशक्रम एवायमनादिसिद्ध इति नाकाशमाधारः। आदिमतां हि कुण्डबदरादीनां दृष्ट आधाराधेयभावः। २०

आर्षविरोध इति चेत्; न; आदेशवचनात् ।३५। स्यादेतत्–यद्याधाराधेयभावो नेष्यते यदुक्तमार्षे[3]–"स्वप्रतिष्ठमाकाशम् आकाशप्रतिष्ठं तनुवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तत्प्रतिष्ठं घनोदधिवलयम्" [                    ] इत्यादि, तद्विरोधः इति; तन्न; किं कारणम् ? आदेशवचनात् ? यदि एकान्तेनाधाराधेयभावो न स्यात् स्यादार्षविरोधः, यदा तु 'स्यादाधाराधेयभाव इति स्यान्नाधाराधेयभावः' इति आदेशवचनादिष्यते ततो नास्त्यार्षविरोधः। कथमिति चेत् ? २५ उच्यते–आकाशादीनां द्रव्यार्थादेशात् स्यादाधाराधेयत्वाभावो यतः पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् प्रतिनियतानादिपारिणामिकद्रव्यार्थेनादिष्टाना[4]माकाशादीनां षण्णामाधाराधेयपर्यायाभावः। द्रव्यार्थिकगुणभावे च पर्यायार्थिकप्राधान्यात् षण्णामपि द्रव्याणाम् आदिमत्त्वोपपत्तेराधाराधेयभावो युज्यते। ततस्तदपेक्षया आधाराधेयभाव आर्षे प्रणीत इति नास्ति विरोधः। अथवा व्यवहारन[5]यादेशात् स्यादाधाराधेयता, यतोऽनादिपारिणामिकलोकविनि- ३० वेशेऽपि व्यवहार एवं प्रवृत्तः 'आकाशमाधारः अन्यानि द्रव्याणि आधेयानि' इति। एवम्भूतनयादेशात् स्यादनाधाराधेयता, यतोऽनादिपारिणामिकलोकविनिवेशस्यैवंभूतत्वात् 'स्वात्मप्रतिष्ठान्येव सर्वद्रव्याणि' इति। न[6]नु च व्यवहारनयापेक्षया आधाराधेयभावाभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः–घनोदधिवलयस्य घनवातवलयमाधारः, घनवातवलयस्य तनुवातवल[7]यमाधारः, तनुवातवलयस्य आका-

१ सप्तैकपञ्चाकृत्या। २ ग्रहणं श्र०। ३ तुलना–"घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम्, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठम्, आकाशमात्मप्रतिष्ठं तस्यैवाधाराधेयत्वात्।" –स० सि० ३।१। ४ उपदिष्टानाम्। ५ नयस्यादे–श्र०, ता०। ६ ननु व्य–मु०, द०, ब०। ७–लयं तनु–मु०, मू०, द०, ब०, ता०।

शम्, आकाशस्याऽन्यत्, तस्यान्यत्, तस्याप्यन्यदिति; नैषः दोषः; आकाशस्य सर्वगतत्वात् अनन्तत्वाच्च। यद्धि सर्वगतमनन्तं च तस्य सर्वत्र सान्निध्यात् 'तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यत्' इति व्यवहाराभावात् अनवस्था नास्ति। परिशेषादसर्वगतस्यान्तवतो मूर्तिमतः सावयवस्यैन्द्रियकस्य स्यादनवस्था, तद्विपरीतलक्षणञ्चाकाशम्, अतो नास्त्यनवस्था। यदि सर्वगतत्वादिलक्षणस्यानवस्था ५ दृष्टा सोच्यताम्, नैषोच्यते ततो विमुच्यतामनवस्थादोषकल्पना। तस्मान्निःप्रतिद्वन्द्वः[1] पूर्वोक्त एवास्तु क्रमहेतुः।

कालोपसंख्यानमिति चेत्; न; वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्।३६। स्यादेतत्-कालोऽपि कश्चिद-जीवपदार्थोऽस्ति। अतश्चास्ति यद्भाष्ये बहुकृत्वः "षड्द्रव्याणि" [ ] इत्युक्तम्, अतोऽस्योप-संख्यानं कर्तव्यमिति? तन्न; किं कारणम्; वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्। वक्ष्यते हि तस्य लक्षणमु-१० परिष्टात्।

अत्राह "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" [त० सू० १।२९] इत्येवमादिषु द्रव्याण्युक्तानि कानि तानीति? अत्रोच्यते—

## द्रव्याणि ॥२॥

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि।१। स्वश्च परश्च १५ स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोः तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्चोत्पादविगमौ स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषां ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः। के पुनस्ते? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभाव-लक्षणो बाह्यः प्रत्ययः परः प्रत्ययः तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरम् आस्क-न्दति इति। तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः। तावुभौ संभूय भावानाम् उत्पादविगमयोः हेतू भवतः नान्यतरापाये कुशूलस्थमाष-पच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्। एवमुभयहेतुकोत्पादविगमैः तैस्तैः २० स्वपर्यायैः द्रूयन्ते गम्यन्ते द्रवन्ति गच्छन्ति तान् पर्यायानिति द्रव्याणीति व्यपदिश्यन्ते। भेदनयव-शात् कर्तृकर्मणोर्भेदं कृत्वा निर्देशः क्रियते स्वजात्यपरित्यागेनावस्थितिरन्वयैरुपलब्धस्वरूपाणां[3] मुहुर्मुहुरुत्पादविगमवर्तां च भेदोपपत्तेः। यदा द्रव्याणां कर्मविवक्षा तदा न्यायप्राप्तः कर्मणि यः। यदा कर्तृविवक्षा तदा बहुलापेक्षया कर्तरि यः। अथवा उत्पादकविनश्वरनानापर्यायोत्पाद-विनाशाविच्छेदेऽपि सान्ततिकद्रव्यार्थादेशवशेन द्रवणात् गमनात् संप्रत्ययाद् द्रव्याणि। कुत एतत्? २५ गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्।

इवार्थे वा निपातितो द्रव्यशब्दः।२। अथवा "द्रव्यं भव्ये" [जैनेन्द्र० ४।१।१५८] इत्य-नेन निपातितो द्रव्यशब्दो वेदितव्यः। द्रु इव भवतीति द्रव्यम्। क उपमार्थः? द्रु इति दारु नाम यथा अग्रन्थि अजिह्मं दारु तक्षणोपकल्प्यमानं तेन तेन अभिलषितेनाकारेण आविर्भवति, तथा द्रव्यमपि आत्मपरिणामगमनसमर्थं पाषाणखननोदकवदविभक्तकर्तृकरणमुभयनिमित्तवशोपनीता-३० त्मना तेन तेन पर्यायेण द्रु इव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते।

द्रव्यत्वादिति चेत्; न; तदभावात्।३। स्यान्मतम्-यथा दण्डसम्बन्धात् दण्डीत्यभिधानं प्रत्ययश्च देवदत्ते भवति तथा द्रव्यत्वं नाम सामान्यविशेषोऽस्ति पृथिव्यादिषु द्रव्यं द्रव्यमिति प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिदर्शनात्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्त्युपलब्धेश्चानुमीयमानान्वयव्यतिरेकः तेन

---

१ यदि श्र०। २ पक्षः। ३ द्रव्याणाम्। णां तु मु–मु०। ४ पर्यायाणाम्। ५ द्रव्यार्थे मु०। ६ अचिह्मम् द०, ब०, मु०। अकुटिलम्–ता०, दि०।

योगाद् द्रव्यं न पर्यायद्रवणादिति; तन्न; किं कारणम्? तदभावात्। यथा दण्डसम्बन्धात् प्राक् देवदत्तो जात्यादिभिः सिद्धः। देवदत्तसंवन्धाच्च प्राग्दण्डो वृत्तत्वद्राघिमादिभिः प्रसिद्धः, ततस्तयोः संवन्धो युक्तः। न च तथा द्रव्यत्वयोगात् प्राक् द्रव्यमुपलभ्यते। यद्युपलभ्येत संवन्धकल्पनमनर्थकं स्यात्। द्रव्यत्वमपि द्रव्यसंबन्धात् प्राङ् नोपलब्धस्वरूपम्, अतः तयोरसतोर्न युक्तः संवन्धः। अस्तित्वे चाभ्युपगम्यमाने पृथगनुपलभ्यमानशक्तिकयोः संबन्धेऽपि न तच्छक्तिप्रादुर्भावोऽस्ति, यथा जात्यन्धयोः पृथग्दर्शनशक्तिविरहात्, न योगेऽपि रूपालोकनशक्तिसंभवः। तथा द्रव्यद्रव्यत्वयोरपि द्रव्यप्रत्ययाभिधानोपत्त्यसामर्थ्ये तत्संबन्धेऽपि न सामर्थ्यम्। तत्र द्रव्यं तावत् प्राक् द्रव्यत्वसमवायात् द्रव्यात्मनैव नात्मनि द्रव्यप्रत्ययाभिधानयोरुत्पादकम्। यदि स्यात्; द्रव्यत्वसंवन्धस्य वैयर्थ्यं स्यात्। तथा द्रव्यत्वमपि प्राग्द्रव्यसमवायात् द्रव्यत्वात्मन्येव न द्रव्यप्रत्ययाभिधाननिमित्तमस्ति। माभूद् द्रव्यत्वस्य[1] द्रव्येण समवायस्य वैयर्थ्यमिति अतस्तयोः पृथगनुपलभ्यमानसामर्थ्ययोः संबन्धेऽपि न तत्सामर्थ्यमस्ति इत्यवेमः न द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यमिति। ननु च द्रव्यत्वसंवन्धात् प्राक् द्रव्यव्यपदेशो नास्ति, अस्ति तु तत्, ततः सतो[2] द्रव्यत्वस्य युक्तः संवन्धः; नैषोऽस्ति परिहारः। कुतः? सतोऽसत्त्वात्। नहि तद्द्रव्यं स्वतोऽस्ति सत्तायोगादेव सत्स्यात्[3] स च नास्तीत्युक्तम्[4]। अथासतामपि संवन्धः स्यात् खरविषाणादीनामपि स्यात्। किञ्च, द्रव्यत्वं नाम सर्वगतः पदार्थः, स यदि अतदात्मकेन संवन्ध्यते गुणकर्मभिः, खरविषाणादिभिश्च संबन्ध्येत, न चेष्यते संवन्धः। अथ तदात्मकेनैव संवन्ध्यते द्रव्यत्वसंबन्धो व्यर्थः प्रागपि तदात्मकत्वात्, ततः स्वतो द्रव्यसिद्धिः।

आह–समवायिकारणत्वाद् द्रव्यत्वेन द्रव्यमेव सम्बध्यते न गुणकर्माणि नापि खरविषाणादीनि, द्रव्यत्वस्य हि द्रव्यमेव समवायिकारणमिष्टं नेतराणि इति। उच्यते–

न, स्वतोऽसिद्धत्वात्। यदि द्रव्यत्वादन्यद्द्रव्यं स्वतःसिद्धं स्यात् अतस्तत्समवायिकारणमिति व्यपदेशार्हं स्यात्, न च तत्स्वतःसिद्धं किञ्चिदस्ति, अतः स्वतोऽसिद्धत्वात् न तत्समवायिकारणम्। अथ तत्स्वतोऽसिद्धमपि समवायिकारणं खरविषाणादिषु को मत्सरः? अथाऽसत्त्वान्न समवायिकारणं तानि; नन्वसत्त्वाद् द्रव्यमपि द्रव्यत्वस्य न समवायिकारणम्।

किञ्च, अतस्तत्सिद्धेः। यत एव द्रव्यत्वस्य समवायिकारणं द्रव्यं न गुणकर्माणि[5] अतस्तद्द्रव्यत्वं द्रव्य एव समवैति न गुणकर्मादिषु इति विवक्षितम्, ननु अत एव द्रव्यात्मैव द्रव्यत्वम्, आभ्यन्तरोऽर्थो[6]ऽनादिपारिणामिकः द्रव्यापरित्यागी न द्रव्याद् वहिरन्यः सामान्यविशेषाख्यः इत्येतत्सिद्ध्यति।

आह–विशेषोपलब्धेर्द्रव्यमेव समवायिकारणं द्रव्यत्वस्य। को विशेषः? आश्रयभावः, यस्माद् द्रव्यमितरेषां पदार्थानामाधारः उच्यते–न द्रव्यमाश्रयः स्वतोऽसिद्धत्वात्। लोके स्वतःसिद्ध आधेयानामाश्रयो भवति यथा घटो जलादीनां न तथा द्रव्यत्वात् पृथक् द्रव्यं स्वतःसिद्धमस्ति यदाधारो द्रव्यत्वस्येति व्यपदिश्येत।

किञ्च,

द्रव्याभिधानानुपपत्तिश्च।४। यस्य वादिना द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यमित्यभिमतं तस्य द्रव्यमित्यभिधानं नोपपद्यते। कथमिति चेत्? उच्यते–इहाऽभेदेन वा व्यपदेशः स्यात्, भेदेन वा? यदि अभेदेन व्यपदेशः; यथा यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरित्युच्यते तथा द्रव्यत्वसहचरितं द्रव्यत्वमिति व्यपदिश्येत न द्रव्यमिति। अथ मतं द्रव्यत्वस्य द्रव्यत्वमित्यभिधानमस्ति द्रव्यमिति च, तेन द्रव्यत्वेन द्रव्यमित्यभिधीयमानेन योगाद् द्रव्यमिति; तदिदमसिद्धमसिद्धेन

१ सहजायमानस्य। २ द्रव्यत्वमात्रेणैव द्रव्यव्यपदेशमन्तरेण विघनानस्य। ३ इति चेत्। ४ प्रथमाध्याये। ५ गुणकर्मणी त०। ६ द्रव्यत्वम्।

साध्यते। द्रव्यत्वस्य द्रव्यमित्यभिधानं कुतः ? स्वत एवेति चेत्; द्रव्ये कोऽपरितोषः ? अर्थान्तरादिति चेत्; तत्रापि स एव दोषः[1], द्रव्यत्वाभिधानप्रसङ्गश्च। कुतो ह्येतत्–उभयशब्दवाच्यत्वे द्रव्यत्वस्य तद्योगात् द्रव्ये द्रव्यमित्यभिधानं भवति न द्रव्यत्वमिति। अथ भेदेन व्यपदेशः; यथा यष्टिरस्यास्तीति यष्टिमानिति व्यदिश्यते, एवं द्रव्यत्वमस्यास्तीति द्रव्यत्ववद्द्रव्यमित्यभिधानं
५ प्रसज्येत न द्रव्यमिति। अथ मतमेतत्–यथा शुक्लगुणयोगात् शुक्लः पटः इति मत्वर्थीयस्य निवृत्तिः, एवमिहापि मत्वर्थीयस्याभाव इति; विषम उपन्यासः[3]। युज्यते तत्र मत्वर्थीयस्याभावः गुणवचनेभ्यो निवृत्तेरन्वाख्यातत्वात्[4]। अनन्वाख्याने वा 'उभयवचनाः शुक्लादयः' इति व्याकरणाभ्युपगमात्। अयं तु द्रव्यत्वशब्दो न गुणवचनः[6] तेन अस्मान्मतोर्निवृत्तिर्दुरुपपादा। किञ्च, त्वस्यापि निवृत्तिर्नान्वाख्याता ततो द्रव्यमित्यभिधानं नोपपद्यते।

१० त्वोत्पत्त्यभावश्चोभयथा दोषात्। ५। द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति त्वस्य चोत्पत्तिर्न प्राप्नोति। कुतः ? उभयथा दोषात्। इदमिह संप्रधार्यम्–असौ भावः द्रव्यस्य आत्मभूतो वा स्यात्, अनात्मभूतो वा ? [10]यद्यात्मभूतः; अनादिपारिणामिकद्रव्यस्य आत्मभवने त्वस्य विधानात्, नान्यद् द्रव्याद् द्रव्यत्वमिति संसर्गवादहानिः। अथ अर्थान्तरभूतः; द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति विग्रहो नोपपद्यते, द्रव्यानात्मभूतत्वात् द्रव्यत्वस्य। न हि घटस्य भाव इति पटे वृत्तिरुपपद्यते।

१५ किञ्च, द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति यथा अन्यो भावः तथा द्रव्यत्वस्यान्यो भावः स्याद्वा, न वा ? यदि नास्ति; तस्य स्वभावाभावादभावः स्यात्। अथास्ति; तस्मिन्नभिधेये [11]त्वत्तोत्पत्तेः द्रव्यत्वत्वमिति प्राप्नोति, तथा सति अनवस्था। अथ मतमेतत्–यथा अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति, तथा द्रव्यत्वस्य भाव इति विगृह्य द्रव्यशब्दादेव त्वोत्पत्तिर्भवतीति; नैतद्युक्तम्; अर्थान्तरविषयत्वात्। युज्यते अवेर्मांसमविकस्य मांसमिति
२० केवलो विग्रहभेदो नार्थभेद इति एकेन विग्रहः अपरस्मादुत्पत्तिरिति। इह तु द्रव्य-द्रव्यत्वशब्दयोः पदार्थान्तरविषयत्वात् विग्रहभेदे अर्थभेद इति नासौ न्यायः कल्पयितुं शक्यः।

[12]एकस्यानेकत्र वृत्त्यभावो बहुत्वप्रसङ्गो वा। ६। तद्द्रव्यत्वमेकमित्यभ्युपगम्यते तद्वादिभिः। तत्कथमेकं निरवयवम् अनेकत्र पृथिव्यादौ वर्तितुमुत्सहते ? अथ वर्तेत; बहुत्वमेवास्य स्यात् अनेकत्र वृत्तेः रूपादिवत्। आकाशवदेकं सत् अनेकमवगाहत इति चेत्; न; वैषम्यात्।
२५ युज्यते महापरिमाणं वियदवगाहते सकलमिति गुणानां तु द्रव्यपदार्थविषयत्वात् कथममहद्द्रव्यत्वं कृत्स्नं वेवेष्टि। एकत्वसंख्यागुणवदुपचारतो महत्त्वमस्येति चेत्; तदिदमसिद्धेन साध्यते। [13]सिद्धसा[14]ध्यव्यवस्थाश्रया हि [15]कथामार्गाः। उपचरितस्य मुख्यकार्यसाधनाशक्तेश्च। अपि च द्रव्यत्वेन एकमाकाशं प्रदेशभेदेन त्वनन्तमितीष्टत्वात् [16]दृष्टान्ताभावः।

नीलद्रव्यवदिति चेत्; न; असिद्धत्वात्। ७। स्यान्मतम्–यथा [17]नीलीद्रव्यमेकम् अनेकशाटी-
३० पटकम्बलसंबन्धि दृष्टं तथैकं द्रव्यत्वमपि अनेकद्रव्यसंबन्धीति। तन्न; किं कारणम् ? असिद्धत्वात्। नैतत् सिद्धं शाटीपटकम्बलेषु एकमेव नीलीद्रव्यमिति। यथा शाट्यादिभेदः तथा

---

१ अर्थान्तरस्य द्रव्यमित्यभिधानं कुतः ? स्वत एवेति चेत् द्रव्ये कोऽपरितोषः ? अर्थान्तरादिति चेत्; तत्रापि स एव दोषः। २ यथा द्रव्यत्वस्य द्रव्यमित्यभिधानं तथा द्रव्यस्यापि। ३ कुतः। ४ "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः।" –पा० वा० ५।२।९४। ५ व्यवहार। ६ किन्तु सामान्यवचनः। ७ मत्वर्थस्यापि मु०। ८ अङ्गीकृत्यापि दूषयति द्रव्यत्ववद् द्रव्यमित्यत्र यथाकथञ्चन मतोर्निवृत्तिर्भवतु तथापि द्रव्यत्वेन योगात् द्रव्यमित्यत्र त्वस्यापि निवृत्तिर्नान्वाख्यातेति। ९ विचारणीयम्। १० यदात्मभू–ता०, श्र०। ११ त्वत्वोत्प- ता०, श्र०। १२ तावताऽपरितुष्टः सन् पुनरपि सम्बन्धं निराकर्तुकाम आह। १३ धूमवत्त्व। १४ अग्निमत्त्व। १५ वादः। १६ अस्माकम्। १७ नीलद्र–ता०, द०, ब०, मु०।

तद्रञ्जकस्य नीलीद्रव्यस्यापि भेदोपपत्तेः। एकस्मिन्नपि पटे यन्मध्ये नीलीद्रव्यं न तत्प्रान्तयोः; यच्च प्रान्तयोः न तन्मध्ये इति भेदोऽभ्युपगन्तव्यः किमुत भिन्नेषु द्रव्येषु। नीलत्ववदिति चेत्; न; तदपि साध्यसमम्। अथ मतमेतत्–

**दृष्टान्ताभावेऽपि एकत्वमस्य सिद्धमग्निवदिति चेत्; न; प्रतिज्ञाहानेः।८।** यथा अग्नेरन्यस्मिन्नुष्णे दृष्टान्ते असत्यपि औष्ण्यम्। एवमसत्यपि एकस्मिन् अनेकसंबन्धिनि दृष्टान्ते द्रव्यत्वस्य द्रव्येषु वृत्तिः सिद्ध्यतीति; तदपि नोपपद्यते; प्रतिज्ञाहानेः। ननु दृष्टान्तो नास्तीति प्रतिज्ञाय दृष्टान्तं ब्रुवतस्ते प्रतिज्ञा हीयते। किञ्च, युक्त्यभावेऽपि यदि द्रव्यत्वमेकमनेकसंबन्धीति मन्यते स्वत एव द्रव्यं द्रव्यमिति कस्मान्न प्रतिपद्यते? समवायादिति चेत्; न; तस्य प्रत्युक्तत्वात्।

**गुणसंद्रावो द्रव्यमिति चेत्; न; एकान्ते दोषोपपत्तेः।९।** स्यादेतद्–गुणसंद्रावो द्रव्यमित्येतल्लक्षणमनवद्यम्। गुणैः संद्रूयते प्राप्यते गुणान्वा संद्रवति प्राप्नोति[2] इति द्रव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? एकान्ते दोषोपपत्तेः। कथमिति चेत्? उच्यते–गुणेभ्यो द्रव्यम् अन्यद्वा स्यात्, अनन्यद्वा? यद्यनन्यत्; कर्तृकर्मभेदाभावात् निर्देशो नोपपद्यते। अपि च, एकान्तानन्यत्वे हि गुणा एव वा स्युः, द्रव्यमेव वा। यदि गुणा एव; द्रव्याभावे तदविनाभाविनां गुणानामपि निराधारत्वादभावः स्यात्। अथ द्रव्यमेव; एवमपि अलक्षणत्वात् खरविषाणत्वकल्पना द्रव्यस्य स्यात्। [3]अथान्यत्वं गृह्येत एवमप्येकान्तेन पृथग्भावे स्वरूपशून्यत्वं स्यात्। अभ्युपगम्योच्यते गुणैः संद्रूयते द्रव्यमिति लक्षणं नोपपद्यते; गुणानां निष्क्रियत्वे द्रव्यं प्रत्याभिमुख्येन द्रवणाभावात्। "दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निष्क्रियाणि। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः निःक्रियाः।" [वैशे० द० ५।२।२१,२२] इति वचनात्। गुणान् संद्रवति इति च लक्षणं नोपपद्यते निःक्रियद्रव्याणां गुणान् प्रति द्रवणाभावात्।

किञ्च, स्वतोऽसिद्धत्वात्। यथा वाटी[4]परिक्षेपादिलक्षणान् ग्रामादीन् स्वतःसिद्धान् देवदत्तः प्राप्नोति न तथा गुणाः[5] स्वतःसिद्धाः सन्ति यान् प्राप्नुयाद् द्रव्यम्।

आह–पाकजदर्शनात् तत्सिद्धिः। पार्थिवेषु परमाणुषु अग्निसंयोगात् औष्ण्यापेक्षात् [6]श्यामाद्युच्छेदेन रक्ताद्यारम्भे च ननु प्राप्यते गुणैर्द्रव्यम्। उच्यते–ननु युतसिद्धत्वप्रसङ्गात्। यदि द्रव्यमवतिष्ठते रूपादयो विनश्यन्ति प्रादुर्भवन्ति च। ननु [7]युतसिद्धा द्रव्यरूपादय इत्यासक्तम्। अथ अयुतसिद्धाः समवायसंबन्धात् इति मतम्; ननु द्रव्यवत्तन्नित्यत्वप्रसङ्गः। एवं सति अयुतसिद्धिर्भवति–यदा रूपादयस्तदा द्रव्यं यदा द्रव्यं तदा रूपादय इति; नन्वेवं सति यथा द्रव्यं नित्यं तथा रूपादयोऽपि नित्याः यथा रूपादीनामनित्यत्वं तथा द्रव्यस्येति [8]प्राप्तं तुल्यवृत्तित्वम्।

किञ्च, विरोधात् पण्डितमूर्खवत्। यदि पण्डितो न मूर्खः अथ मूर्खो न पण्डितः तथा यदि समवायसंबन्धात् द्रव्यादयुतसिद्धाः रूपादयः[10] न विनङ्क्ष्यन्ति न वोत्पत्स्यन्ते। अथ विनश्यन्त्युत्पद्यन्ते च[11] नाऽयुतसिद्धाः। अथवा, अयुतसिद्धाश्च नाम रूपादयः विनश्यन्ति उत्पद्यन्ते च द्रव्यं चावतिष्ठत इति कुतस्त्योऽयं न्यायः। [12]न च गुणैर्द्रूयते गम्यते उपलभ्यते[13] तदिति द्रव्यम्, कस्मात्? अर्थान्तरत्वात्। न हि घटेन पट उपलभ्यते [14]अन्यत्वात्। अथोपलभ्यते [15]द्रव्यगुणलक्षणभेदकल्पनाविरोधः।

---

१ "गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।" –पात० महा० ५।१।११९। २–ति द्र–द०, मू०, ब०, ता०, श्र०। ३ अथवान्य–श्र०। ४ वाद्रिप–मु०। वादपरि–ब०, द०,। वाडूपरि भा० २। वृत्तिः। ५ ते। ६ आमघटस्य। ७ कुण्डबदरवत्। ८ पटादि। ९ प्रोक्तं श्र०। १० तर्हि। ११ तर्हि। १२ ननु गु–द०। न तु गु–ब०,मु०। ज्ञानार्थपक्षेऽपि दोषमुत्पादयन्नाह। १३ ज्ञायते। १४ अनन्वयत्वात् मु०,द०,ब०। १५ समवायिकारणं द्रव्यम्, सामान्यवानसमवायिकारणम्, अस्पन्दात्मा गुण इति।

आह–भेदे एव [1]उपलभ्योपलम्भकभावो दृष्टः अग्निधूमादिषु, नाऽभेदे [2]स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न[3] ह्यङ्गुल्यग्रमात्मानं स्पृशति इति ? उच्यते–युज्यते अग्निधूमादिषु भिन्नेष्वेव लक्ष्यलक्षणभावः पृथक्सिद्धरूपत्वात्। न च द्रव्यगुणानां पृथक् प्रसिद्धरूपता[4] व्यतिरेकेण अनुपलब्धेः।

५ यच्चोक्तम्–स्वात्मनि वृत्तिविरोध इति; तदप्येकान्तग्रहणात् सूक्तं न भवति। दृश्यते हि स्वात्मन्यपि वृत्तिः यथा प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति, न तस्य स्वरूपप्रकाशने प्रदीपान्तरमपेक्षते। यद्यपेक्षेत; पटादिवदप्रकाशकत्वमेवाऽस्य स्यात्।

किञ्च, तस्य तत्त्वस्योपदेष्टा स्वात्मानं वेत्ति वा, न वा ? यदि न वेत्ति; स्ववचनविरोधः– "आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषात् आत्मप्रत्यक्षम्।" [वैशे० ९।१।११] इति वचनात्।

१० असर्वज्ञत्वप्रसङ्गश्च। यद्यात्मानमेवासौ न वेत्ति कथम् इतरद्विजानीयात् ततोऽस्य स्वपरविशेषानभिज्ञत्वात् असर्वज्ञत्वं प्रसज्यते। अथ वेत्ति; ननु स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् इति प्रतिज्ञातं हीयते। तस्मात् स्वात्मनि वृत्त्यविरोधात् द्रव्यात्मका एव पर्यायाः द्रव्यं लक्षयन्तीति साधूक्तम्।

यो हि मन्यते–गुणसमुदायमात्रं द्रव्यं नातोऽन्यत् किञ्चिदिति; तस्यापि गुणसंद्रावो द्रव्यमिति १५ एतल्लक्षणं नोपपद्यते। कुतः ? कर्तृकर्मभेदाभावादेव। गुणसमुदायमात्रद्रव्यवादिनो हि वादिनो न गुणाः पृथक् सन्ति नापि समुदायः ततोऽन्योऽस्ति येषां कुतश्चित् भेदात् कर्तृकर्मभावो[5] भवेत्। ननु चाऽभेदेऽपि कर्तृकर्मभावो दृष्टः यथा आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयति इति, तत्रापि कथञ्चिद् भेदेन भवितव्यम्, भासुरस्य रूपस्य द्रव्यस्य च स्याद् भेददर्शनात्। यदि सर्वथैवाऽभेदः स्यात्; सर्वं[6] द्रव्यं[7] भासुररूपं[8] स्याद् भासुरस्य च द्रव्यस्य सर्वदैव तांद्रूप्यं प्रसज्येत। दृश्यते च २० माँषादिभावः।

न च समुदायकल्पना युज्यते गुणानां[10] पृथक्स्वरूपानुपलब्धेः। दृश्यते मापादीनां पृथगुपलभ्यमानरूपाणां समुदायः। नापि गुणकल्पनोपपद्यते, गुण्यते विशेष्यते यैरर्थास्ते गुणाः विशेषणानीत्यर्थः। न च गुणिनं विशेष्यं कञ्चिदन्तरेण गुणानां गुणत्वं भवति।

किञ्च, समुदायो गुणेभ्योऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा, अवक्तव्यो वा ? अन्यत्वानन्यत्वयोः २५ विहिता दोषाः। यद्यवक्तव्यः; स्ववचनविरोधः प्रसज्यते। यदि समुदायोऽस्ति नावक्तव्यः, अथ अवक्तव्यो न समुदायोऽस्ति, सतः संज्ञोपपत्तेः, अवक्तव्यस्य च सर्ववाग्गोचरात्यये निरात्मकत्वप्रसङ्गात् इति शिष्टेतरवचनवत् अन्यत्वोपपत्तेश्च। यदि वक्तव्यलक्षणा गुणाः समुदायो न वक्तव्यलक्षणः; ननु च लक्षणभेदादन्यत्वं सिद्धम्।

किञ्च, रूपादिपरमाणुसमुदायमात्रत्वे [11]तुट्यादेः [12]धर्मान्तरस्याऽप्रादुर्भावात्, अणूनामती- ३० न्द्रियस्वभावव्यतिक्रमाभावात् दृश्यमिदं भ्रान्तिरूपं स्यात्। [13]सत्यमेवेदमिति चेत्, प्रत्यक्षानुमानयोः [14]तदाभासयोश्च अविशेषप्रसङ्गः स्यात्।

---

१ ज्ञाप्यज्ञापक। २ कुतः। ३ यथा। "स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न हि तदेव अङ्गुल्यग्रं तेनैव अङ्गुल्यग्रेण स्पृश्यते, सैवासिधारा तयैवासिधारया छिद्यते।"–स्फुटार्थ० अभिध० पृ० ७८। ४ द्धस्वरू–ता०, मु०। ५ स्वात्मनि क्रियाविरोधं यो वादी वदति तस्य। ६ कर्माभावो श्र०। ७ घटपटादि। ८ इदं द्रव्यम् इदं द्रव्यमिति द्रव्यसामान्यात्। ९ कल्मापादि। मष्यादि–मू०। १० कुतः। ११ गुर्वादेः मु०। गुट्यादेः द०। तुटीशब्दोऽयं कुटीपर्यायः तथा चोक्तं शाकटायनलिङ्गानुशासने स्त्रीलिङ्गप्रकरणे कुटीतुटीदीधितिकाकणीरात्रिच्छविनीविवेणिपेश्यश्रीरित्यादि इति। १२ दृश्यमानत्व। १३ स एवेदमिति मु०, द०, व०। १४ मरुमरीचिकादि-धूमायमानमशकराजि।

'द्रव्यं भव्ये' इत्ययमपि द्रव्यशब्दः कान्तवादिनां न संभवति; स्वतोऽसिद्धस्य द्रव्यस्य भव्यार्थासंभवात्। संसर्गवादिनस्तावत् गुणकर्मसत्ताद्रव्यत्वादिसामान्यविशेषेभ्यो द्रव्यस्यात्यन्तमन्यत्वे खरविषाणकल्पस्य स्वतोऽसिद्धत्वात् न भवनक्रियायाः कर्तृत्वं युज्यते। परतः सिद्धिरपि स्वतोऽसिद्धस्य न संभवति खरविषाणवत्। गुणसमुदायमात्रत्वेऽपि समुदायस्य संवृत्या[1] कल्पितस्याऽसत्त्वात् गुणानां च प्रत्येकं अनुपलभ्यत्वात् तदव्यतिरेकाच्चाऽसत्त्वमिति भवनक्रियायाः कर्तृता दुरुपपादा। अनेकान्तवादिनस्तु गुणसंद्रावो द्रव्यम्, द्रव्यं भव्य इति चोपपद्यते, पर्यायिपर्याययोः कथञ्चिद्भेदोपपत्तेरित्युक्तं पुरस्तात्।

धर्मादिसामानाधिकरण्याद्बहुवचनम् ।१३। प्रकृताः धर्मादयो बहवः तत्सामानाधिकरण्याद् बहुवचनेन निर्देशः क्रियते। धर्मादीन्येव द्रव्याणि नान्यानीति।

पुल्लिङ्गप्रसङ्ग इति चेत्; न; आविष्टलिङ्गत्वात् ।१४। स्यादेतत्—यदि तत्सामानाधिकरण्याद्बहुवचनं क्रियते तत एव पुल्लिङ्गमपि प्राप्नोति इति। ते हि अजीवकाया उक्ताः पुल्लिङ्गा इति; तन्न; किं कारणम्? आविष्टलिङ्गत्वात्। आविष्टो ह्ययं द्रव्यशब्दः [3]वचनादिवत् स्वलिङ्गं न जहाति।

अनन्तरत्वाच्चतुर्णामेव द्रव्यव्यपदेशप्रसङ्ग अन्यावापार्थमिदमुच्यते—

## जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीवशब्दो व्याख्यातार्थः।

जीवत्वादिति चेत्; न; प्रतिषिद्धत्वात् ।१। स्यादेतत्—जीवत्वं नाम सामान्यविशेषोऽस्ति तेन योगात् जीवा इति; तन्न; किं कारणम्? प्रतिषिद्धत्वात्। द्रव्यत्ववदस्य प्रतिषेधो वेदितव्यः। किञ्च,

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गात् ।२। यो जीवत्वसंयोगाज्जीव इति प्रत्ययाभिधाने कल्पयति स प्रष्टव्यः—जीवत्वे केन योगात् प्रत्ययाभिधानवृत्तिरिति? तत्रापि अन्यत एवेति चेत्; अनवस्थाप्रसङ्गः। अथाऽनवस्थादोषो माक्लृपत् इति जीवत्वे स्वत एव वृत्तिरभ्युपगम्यते; ननु प्रतिज्ञाहानिस्ते [6]अर्थान्तरसंसर्गात् सर्वत्र वृत्तिरिति, तद्वज्जीवेऽपि स्यात्।

अथ मतमेतत्—जीवत्वे प्रदीपवत् स्वत एव वृत्तिरिति; जीवे कोऽपरितोषः। आह—पदार्थान्तरत्वादेव जीवजीवत्वयोः न जीवत्ववत् जीवे स्वतः प्रत्ययाभिधानसिद्धिः, यस्मात् न पदार्थान्तरधर्मः पदार्थान्तरे भवितुमर्हति पदार्थान्तरत्वादेव, अन्यथा पदार्थसंकरप्रसङ्गः, स च नास्ति, अतो नानवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषौ स्त इति। उच्यते— न पदार्थान्तरत्वासिद्धेः। यदि जीवजीवत्वयोः पदार्थान्तरत्वमभविष्यत् अपि तर्हि धर्मसंकराभावोऽसेत्स्यत्। न तु पदार्थान्तरत्वमस्ति इत्युक्तं पुरस्तात् 'स्वतोऽसिद्धत्वात्' इति।

किञ्च, प्रतिज्ञाहानिस्ते प्रसजति यदि पदार्थान्तरधर्मः पदार्थान्तरे न भवेत्; सत्तायाः सदिति प्रत्ययाभिधानहेतुत्वलक्षणो धर्मः द्रव्यगुणकर्मसु न स्यात्। अथ योगेऽपि सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वं सत्ताया एवेति चेत्; न सन्ति द्रव्यगुणकर्माणि सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वविरहात् खरविषाणवत् इत्यासक्तम्। ततः सिद्धमेतत्—जीवनक्रियोपलक्षितद्रव्यविशेषविषयाऽनादिपारिणामिकी जीवसंज्ञेति।

---

१ मिथ्यारूपेण। २ लब्धत्वात् मु०, द०, ब०। अनुपलब्धत्वं परमाणुरूपत्वात्। ३ एकवचनद्विवचनादिवत्। ४ द्रव्याणीति सूत्रस्य। ५ अन्यसारोपार्थम्। अन्योपादानार्थ—मु०, द०। ६ तव।

द्रव्यलक्षणयोगाद्द्रव्याणीति चेत्; न; नियमार्थत्वात् ।३। स्यान्मतम् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [५।२६] इति द्रव्यलक्षणं वक्ष्यते, तेन योगाद् धर्मादीनां द्रव्यत्वं सिद्धं नार्थोऽनेन[1] द्रव्यसंख्यानेन इति; तन्न; किं कारणम्? नियमार्थत्वात्। नियमार्थोऽयमारम्भः। धर्मोऽधर्मोऽऽकाशपुद्गला जीवाश्च वक्ष्यमाणलक्षणेन कालेन सह षडेव द्रव्याणीति। तेनान्यवादिपरिकल्पितानां
५ दिगादीनां निवृत्तिः सिद्धा। कथमिति चेत्? उच्यते-पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्ये अन्तर्भवन्ति रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्। वायोर्मनसश्च रूपादियोगाभाव इति चेत्; न; रूपादिमत्त्वात्। वायुस्तावत् रूपादिमान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावात् रूपाद्यभाव इति चेत्; न; परमाण्वादिषु अतिप्रसङ्गात्।

मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र भावमनो ज्ञानं तस्य जीवगुणत्वादात्मन्य-
१० न्तर्भावः। द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकारः। तद्योगाभावोऽनुपलभ्यत्वात् इति चेत्; परमाण्वादिषु विधर्मस्वपि वृत्तेः[5] संशयहेतुत्वम्।

रूपादिमन्मनो ज्ञानोपयोगकरणत्वात् चक्षुरिन्द्रियवत्। अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनात् व्यभिचारी हेतुरिति चेत्; न; तस्य पौद्गलिकत्वात् मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः। परमाण्वादीनामतीन्द्रियत्वेऽपि रूपादिमत्कार्यदर्शनात् रूपादिमत्त्वमनुमीयते न तथा वायूनां मनसां च
१५ रूपादिमत्कार्यमुपलभ्यते यतोऽवसीयते रूपादिमत्त्वमेषामिति चेत्; न; तेषामपि तदुपपत्तेः। सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्यताभ्युपगमात्। न च केचित् पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति; जातिसंकरेण[10] आरम्भदर्शनात्। दिशोऽप्याकाशे अन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः।

जीवा इति बहुवचनं वैविध्यख्यापनार्थम् ।४। जीवा इति बहुवचनं क्रियते वैविध्यख्या-
२० पनार्थम्। विविधा हि जीवाः संसारिणो मुक्ताश्चेति। संसारिणोऽपि गतीन्द्रियादिचतुर्दशमार्गणास्थानविकल्पात् मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानभेदात् सूक्ष्मबादरादिचतुर्दशजीवस्थानविकल्पाच्च विविधाः। मुक्ताश्च एकद्वित्रिःचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तसमयसिद्धपर्यायभेदाश्रयात् मुक्तिहेतुशरीराकारानुविधायिस्वक्षेत्रपरक्षेत्रावगाहनादिभेदाच्च विविधाः।

एकयोग इति चेत्; न; जीवानामेव प्रसङ्गात् ।५। स्यान्मतम्-एक एव योगः कर्तव्यः
२५ द्रव्याणि जीवा इति। एवं च सति चशब्दाकरणात् लघ्विति; तन्न; किं कारणम्? जीवानामेव प्रसङ्गात्। तथा सति जीवा एव द्रव्याणि न धर्मादीनि इत्यनिष्टमासज्यते।

बहुवचनादिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।६। स्यादेतद्-द्रव्याणीति बहुवचनात् धर्मादीनां जीवानां च द्रव्यसंज्ञा सिद्ध्यतीति; तन्न, किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत् 'जीवा इति बहुवचनं वैविध्यख्यापनार्थम्' इति। तत्सामानाधिकरण्यात् द्रव्याणि इति बहुवचनं न्यायप्राप्तम् इति
३० इति न ततो धर्मादिगतिः।

अधिकारादिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।७। स्यादेतत्-"अजीवकायाः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" [५।१] इत्यजीवाधिकारात् एकयोगेऽपि जीवाजीवयोर्द्रव्यसंज्ञा सेत्स्यति इति; तन्न; किं कारणम्? जीवावबद्धत्वात्। द्रव्यशब्दोऽयं जीवावबद्ध इति जीवानामेव द्रव्यसंज्ञा प्राप्नोति।

---

१ सूत्रेण। २ वैशेषिकादि-सम्पा०। ३ रूपादियोगाभावः-स०। ४-पलभ्यमानत्वात् मु०, द०, ब०। ५ अनुपलभ्यत्वादिति हेतोः। ६ स्वमतमाश्रित्याह परः। ७ कथम्। ८ तद्यथा। ९ कालान्तरेण। १० कुतः। ११ चन्द्रकान्तपाषाणादपो जायते, सूर्यकान्तादग्निः काष्ठाच्च जलान्मौक्तिकमित्यादि।

सत्यप्यधिकारे यत्नाभावाच्च ।८। अनुवर्तमाना अपि विधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति । किं तर्हि ? यत्नाद्भवन्तीति । जीवानामेव द्रव्यसंज्ञा स्यात् अजीवानां न स्यात् यत्नाभावात् । ततः पृथक्योगग्रहणं न्याय्यम् । एवं च कृत्वा चशब्दोऽप्यर्थवान् भवति ।

उक्तानां द्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

## नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥ ५

नित्यशब्दो ध्रौव्यवचनः ।१। अयं नित्यशब्दः ध्रौव्यवचनो वेदितव्यः । नेर्ध्रुवे त्योऽन्वाख्यातः[1] । किं पुनरिह नित्यत्वम् ?

तद्भावाव्ययो नित्यत्वम् ।२। येन भावेन उपलक्षितं द्रव्यं तस्य भावस्याऽव्ययो नित्यत्वमुच्यते । वक्ष्यते "तद्भावाव्ययं नित्यम्" [५।३१] इति । धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादिविशेषलक्षणद्रव्यार्थादेशात् अस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न व्ययन्तीति नित्यानि । १०

इयत्तानतिवृत्तेरवस्थितानि ।३। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते, ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते । अथवा, धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वम्, अलोकाकाशस्य पुद्गलानां चाऽनन्तप्रदेशत्वमित्येतदियत्त्वम्, तस्यानतिवृत्तेः अवस्थितानीति व्यपदिश्यन्ते । १५

गतार्थत्वादवक्तव्यमिति चेत्; न; परिणामानेकत्वात्[2] ।४। स्यान्मतम्—नित्यवचनेनैव गतार्थत्वात् अवस्थितानीति न वक्तव्यम्, न हि नित्यत्वमतिक्रम्यावस्थितत्वमस्तीति; तन्न; किं कारणम् ? परिणामानेकत्वात् । धर्मादीनामनेकः[3] परिणामोऽस्ति गतिस्थित्युपग्रहादिपर्यायोत्पादव्ययव्यवस्थितिलक्षणः । अतः किम् ? अमुष्मिन् परिणामानेकत्वेऽपि न मूर्तिमत्त्वोपयोगपरिणामो भवति धर्माधर्मकालाकाशानाम्, नापि जीवानामचेतनत्वम्, पुद्गलानां च अमूर्तत्वम् २० [4]अवस्थितवचनात् ।

विरोधादयुक्तमिति चेत्; न; उभयनयसद्भावात् ।५। स्यादेतत्—परिणामानेकत्वं येषामिष्टमवस्थितत्वं चेति एतद्विरुद्धमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयनयसद्भावात् । धर्मादीनां सर्वेषां द्रव्याणां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाऽन्यतरगुणप्रधानभावार्पणाभेदात् स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकमविरुद्धम् । २५

अवस्थितविशेषणं वा नित्यग्रहणम् ।६। अथवा, नित्यग्रहणमिदमवस्थितविशेषणं विज्ञायते । यथा गमनागमनाद्यनेकपर्यायसद्भावेऽप्यभीक्ष्णप्रजल्पनसद्भावात् 'नित्यप्रजल्पितो देवदत्तः' इत्युच्यते, तथोभयकारणवशोपनीतोत्पादनिरोधसंभवेऽपि अमूर्तत्वादिस्वभावं कदाचिदपि धर्माधर्मादीनि न जहतीति नित्यावस्थितानीत्युच्यन्ते ।

क्रियावत्त्वनिवृत्त्यर्थमवस्थितवचनमिति चेत्; नः निःक्रियाणीत्याम्नातत्वात् ।७। ३० स्यादेतत्—परिस्पन्दात्मिकायाः क्रियायाः निवृत्त्यर्थमवस्थितवचनमिति; तन्न; किं कारणम् ? निष्क्रियाणीत्याम्नातत्वात् ।

---

१ "त्यब् नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्"—पा० वा० ४।२।१०४ । २ नित्यशब्देन परिणामानेकत्वं विवक्षितम् । ३—कगतिपरिणामो—द०, मु० । ४ अवस्थितवचनमनर्थकमित्युक्ते परिणामानेकत्वादित्युक्तम्, अतः प्रश्नात् किमुक्तं भवतीत्यत आह । ५ कुतः ।

अरूपग्रहणं द्रव्यस्वतत्त्वनिर्ज्ञानार्थम् ।८। अरूपग्रहणं क्रियते द्रव्यस्वतत्त्वनिर्ज्ञानार्थम्। न विद्यते रूपं येषां तान्यरूपाणि । रूपव्युदासात्तदविनाभाविनां रसादीनामपि व्युदासो वेदितव्यः । अरूपाणि अमूर्तानीति यावत् ।

वृत्तौ पञ्चवचनात्[1] षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेत्; न; अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् ।९।
५ स्यान्मतम्-वृत्तावुक्तम्-"अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पञ्चत्वं व्यभिचरन्ति" [ ] इति, ततः षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति; तन्न; किं कारणम् ? अभिप्रायापरिज्ञानात्। अयमभिप्रायो वृत्तिकारस्य[3]-"कालश्च" [५।३८] इति पृथग् द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते, तदनवेक्ष्य[4] अधिकृतानि पञ्चैव द्रव्याणीति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः ।

यथा सर्वेषां द्रव्याणां नित्यावस्थितानि इत्येतत् साधारणं लक्षणं तथा अरूपत्वमपि
१० प्राप्तम्, अतस्तदपवादार्थमाह—

## रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

रूपशब्दस्याऽनेकार्थत्वे मूर्तिपर्यायग्रहणं शास्त्रसामर्थ्यात् ।१। रूपशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिद् द्रव्ये वर्तते-गोरूपाणि गोद्रव्याणि इत्यर्थः । क्वचित् स्वभावे वर्तते-"चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [योगभा० १।९] स्वभाव इत्यर्थः। क्वचिदभ्यासे वर्तते, दशरूपमध्ययनं कार्यम्-दशवारानभ्यासः कार्य
१५ इत्यर्थः। क्वचिच्छ्रुतौ[5] वर्तते-स्वं रूपं शब्दस्य स्वा श्रुतिरित्यर्थः। क्वचिन्महाभूतेषु वर्तते-"रूपं चत्वारि महाभूतानि उपादाय रूपं चेति ।" [ ] इति । क्वचित् गुणविशेषे वर्तते-चक्षुर्ग्रहणयोग्यो[6] योऽर्थस्तद्रूपमिति । क्वचिन्मूर्तिपर्यायवचनः-रूपिद्रव्यं मूर्तिमद्-द्रव्यमित्यर्थः । तत्रेह मूर्तिपर्यायवचनो रूपशब्दो ग्रहीतव्यः । कुतः ? शास्त्रसामर्थ्यात् । अर्हत्प्रोक्ते हि गणधरावधारिते श्रौते[7] शास्त्रे अभिहितम्-"रूपिद्रव्यं [8]मूर्तिद्रव्यम्" [ ] इति । तस्मात् रूपिणः पुद्गला मूर्तिमन्तः पुद्गला
२० इत्यर्थः । कापुनः मूर्तिः ?

रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः ।२। रूपमादिर्येषां त इमे रूपादयः । के पुनस्ते ? रूपरसगन्धस्पर्शाः, परिमण्डलत्रिकोणचतुरस्रायतचतुरस्रादिराकृतिः संस्थानम्, तै रूपादिभिः संस्थानैश्च परिणामो मूर्तिरित्याख्यायते ।

गुणविशेषवचनग्रहणं[9] वा ।३। अथवा रूपमित्यनेन गुणविशेषो गृह्यते चक्षुर्ग्रहणयोग्यः ।
२५ रसाद्यग्रहणमिति चेत्; न; तदविनाभावात् तदन्तर्भावसिद्धेः ।४। स्यादेतत्-गुणविशेषग्रहणे सति रसादीनामग्रहणं प्रसक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? तदविनाभावात् तदन्तर्भावसिद्धेः। रूपाविनाभाविनो हि रसादयो रूपग्रहणेन गृह्यन्ते ।

इनोऽनुत्पत्तिरभेदादिति चेत्; न; कथञ्चिद् व्यतिरेकसिद्धेः ।५। स्यादाकूतम्-सति भेदे इन उत्पत्तिर्दृष्टा यथा दण्डोऽस्यास्तीति दण्डीति । न च तथा रूपं द्रव्याद्भिन्नमस्ति तस्यैव रूपादिपर्याय-
३० परिणामात् । तत इन उत्पत्तिर्नोपपद्यते 'रूपमेषामस्ति ते रूपिणः' इति; तन्न; किं कारणम् ? कथञ्चिद्व्यतिरेकसिद्धेः। यद्यपि पुद्गलद्रव्यादनन्यद्रूपं तत्परिणामात्[10], द्रव्यार्थादेशाद् व्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेः । तथापि पर्यायार्थिकनयविवक्षाविजृम्भितैः[11] रूपविनाशे[12] पुद्गलावस्थानात् उत्पाद्या-

---

१ पंचत्वव-मु०, ब० । २ तत्त्वार्थवृत्तिरित्यपरस्मिन् शास्त्रे । तुलना-"अवस्थितानि च, न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति"-त० भा० ५।३ । ३ वृत्तिकरणस्य मु० । वृत्तिकारणस्य द०, ब० । ४ तदनपेक्षादिकृतानि मु० । ५ श्रवणगोचरत्वे इत्यर्थः । ६ नीलादिः । ७ गणधरावधारितशास्त्रस्य श्रुतिरिति संज्ञा अन्यैः स्मृतिरिति । ८ मूर्तिमद्द्रव्य-मु०, द० । ९-षग्रहणवचनं वा श्र० । १०-णामद्रा-श्र० । ११-ते रूप-मु० । १२ आमघटस्य श्यामरूपविनाशे पीतरूप ।

नुत्पाद्यत्वाद् आदिमदनादिमत्त्वात् अन्वयव्यतिरेकरूपवाग्विज्ञानवृत्तिहेतुत्वादित्येवमादिभिः हेतुभिः कथञ्चिद् व्यतिरेकः सिद्ध्यतीति तदपेक्ष इनः प्रादुर्भावः सिद्धः।

तेनैवं[2] व्यपदेशाच्च ।६। अनन्यत्वेऽपि लोके व्यपदेशो दृष्टः 'आत्मवान् आत्मा, सारवान् वृक्षः' इति। नहि आत्मनोऽन्य आत्मास्ति, नापि वृक्षादन्यः सारः, तथापि व्यपदेशो दृश्यते। एवमिह अनन्यत्वेऽपि व्यपदेशो वेदितव्यः। ५

पुद्गला इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थम् ।७। पुद्गला इति बहुवचनं क्रियते। किं प्रयोजनम्? भेदप्रतिपादनार्थम्। भिन्ना हि पुद्गलाः परमाणुभेदात् स्कन्धभेदाच्च। तद्विकल्पा उपरिष्टाद्वक्ष्यन्ते।

अत्राह– किं पुद्गलवद्धर्मादीन्यपि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नानि इति? अत्रोच्यते—

## आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥ १०

अभिविधावाङ्प्रयोगः ।१। अभिविधिरभिव्याप्तिः, तस्मिन्नर्थे अयमाङ् प्रयुज्यते, तेनाऽऽकाशस्यापि एकद्रव्यत्वं[3] संकीर्तितं भवति। यदि हि मर्यादायां गृह्यते आकाशस्यान्तर्भावो न स्यात्[4]। [5]सौत्रीमानुपूर्वीमाश्रित्य इदमुक्तं तेन धर्माधर्माकाशानि गृह्यन्ते।

एकशब्दः संख्यावचनः ।२। अन्याऽसहायाद्यनेकार्थसंभवेऽप्ययमेकशब्दः संख्यावचनो द्रष्टव्यः। १५

तत्संबन्धाद् द्रव्यशब्दस्यैकवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः ।३। स्यान्मतम्–यद्ययमेकशब्दः संख्यावचनः तेन सामानाधिकरण्याद् द्रव्यशब्दस्याप्येकवचनमेव प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः। धर्मादीनि बहूनि द्रव्याणि तदपेक्षया बहुवचनं युज्यते एकस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्तियोगात्।

एकैकमित्यस्तु लघुत्वात् ।४। अत्र कश्चिदाह–'आ आकाशादेकैकम्' इत्येव तावदस्तु सूत्रम्; कुतः? लघुत्वात्। कथं द्रव्यगतिः? २०

प्रसिद्धत्वाद् द्रव्यगतिः ।५। धर्मादीनि षड्द्रव्याणि इति प्रसिद्धमतो[6] द्रव्यगतिर्भवति, तस्मादनर्थकं द्रव्यग्रहणमिति।

न वा द्रव्यापेक्षयैकत्वख्यापनार्थत्वात् ।६। न वानर्थकम्। किं कारणम्? द्रव्यापेक्षया एकत्वख्यापनार्थत्वात्। एकैकमित्युक्ते न ज्ञायते किं द्रव्यतः क्षेत्रतः[7] भावत इति? अतोऽसन्देहार्थं द्रव्यग्रहणं क्रियते। तेनाऽयमर्थो गृह्यते–गतिस्थितिपरिणामिविविधजीवपुद्गलद्रव्यानेकपरिणामनिमित्तत्वेन सत्यपि भावतो बहुत्वे, सति च प्रदेशभेदादसंख्येयक्षेत्रत्वे धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं च द्रव्यत एकैकमेव। अवगाह्यनेकद्रव्यविविधावगाहननिमित्तत्वेन अनन्तभावत्वेऽपि प्रदेशभेदात् सति चानन्तक्षेत्रत्वे द्रव्यतः एकमेवाकाशमिति न जीवपुद्गलवदेषां बहुत्वम्, नापि धर्मादिवत् जीवपुद्गलानामेकद्रव्यत्वम्। यदि हि स्यात्, दृष्टस्य क्रियाकारकभेदस्य[8] इष्टस्य[9] च संसारमोक्षक्रियाविस्तरस्य विरोधः स्यात्। २५ ३०

आह कालद्रव्यं किम् एकमनेकमिति? उत्तरत्र तस्य निर्णयो वक्ष्यते।

अधिकृतानामेवैकद्रव्याणां[10] विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

---

१ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयेन। २ अभेदेऽपि इन उत्पत्तिर्घटत इत्याह। ३ एकद्रव्यत्वं संकीर्तनं ब०, द०, मु०। ४ असंहितया निर्देशश्च असन्देहार्थः। ५ अजीवादि। ६–द्धमिति द्र–मु०, द०, ब०। ७–त्रतः कालतः भा– मु०, ब०। ८ वृक्षात् पर्णं पतति कटे आस्ते देवदत्त इत्यादि। ९ अनुमानस्य। १० अखण्ड।

## निष्क्रियाणि च ॥७॥

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया ।१। अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यम्, बाह्यं च नोदनाभिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेत्युपदिश्यते[1]। उभयनिमित्त इति विशेषणं[2] द्रव्यस्वभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि द्रव्यस्वभावः स्यात् परिणामिनो द्रव्यस्याऽनुप[3]रतक्रियत्वप्रसङ्गः। द्रव्यस्य पर्यायविशेष इति विशेषणम् अर्थान्तरभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि क्रिया द्रव्यादर्थान्तरभूता स्यात्[4] द्रव्यस्य निश्चलनत्वप्रसङ्गः। देशान्तरप्राप्तिहेतुरिति विशेषणं ज्ञानादिरूपादिनिवृत्त्यर्थम्।

तस्याः प्रादिवृत्त्या अन्यपदार्थगतिः ।२। तस्याः क्रियायाः[5] प्रादिवृत्त्या अन्यपदार्थगतिर्भवति[6]—निष्क्रान्तानि क्रियायाः निष्क्रियाणीति।

निष्क्रियत्वादुत्पादाभाव इति चेत्; न; अन्यथोपपत्तेः ।३। स्यादेतत्—धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषाम् उत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः, उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रितयरूपकल्पनाव्याघात इति; तन्न; किं कारणम्? अन्यथोपपत्तेः। क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽपि एषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा, द्विविध उत्पादः—स्वनिमित्तः, परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादेर्गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्, क्षणे क्षणे तेषां भेदात्[7] तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।

निष्क्रियत्वात् गतिस्थित्यवगाहनक्रियाहेतुत्वाभाव इति चेत्; न; बलाधानमात्रत्वादिन्द्रियवत् ।४। स्यादेतत्—यद्येतानि निष्क्रियाणि गतिस्थित्यवगाहनक्रियाहेतुत्वमेषां नोपपद्यते। क्रियावन्ति हि जलादीनि मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानि इति; तन्न; किं कारणम्? बलाधानमात्रत्वात् इन्द्रियवत्। यथा दिदृक्षोश्चक्षुरिन्द्रियं[8] रूपोपलब्धौ बलाधानमात्रमिष्टं न तु चक्षुषः तत्सामर्थ्यम्[9] इन्द्रियान्तरोपयुक्तस्य तदभावात्। यथा वा, आयुःसंक्षयात् आत्मनि शरीरान्निष्क्रान्ते सदपीन्द्रियम् रूपाद्युपलब्धौ समर्थं न भवति, ततो ज्ञायते आत्मन एवैतत्सामर्थ्यम् इन्द्रियाणां तु बलाधानमात्रत्वमिति[10], तथा स्वयमेव गतिस्थित्यवगाहनपर्यायपरिणामिनां जीवपुद्गलानां धर्माधर्माकाशद्रव्याणि गत्यादिनिर्वृत्तौ बलाधानमात्रत्वेन विवक्षितानि न तु स्वयं क्रियापरिणामीनि। कुतः पुनरेतदेवमिति चेत्? उच्यते—

द्रव्यसामर्थ्यात् ।५। यथा आकाशमगच्छत् सर्वद्रव्यैः संबद्धम्, न चास्य सामर्थ्यमन्यस्यास्ति। तथा च निष्क्रियत्वेऽप्येषां गत्यादिक्रियानिर्वृत्तिं प्रति बलाधानमात्रत्वमसाधारणमवसेयम्।

चशब्दोऽभिहितसंबन्धार्थः ।६। चशब्दः क्रियते अभिहितानामेकद्रव्याणां संबन्धार्थः। अतो धर्माऽधर्माकाशानां निष्क्रियत्वनियमाज्जीवपुद्गलानां स्वतः परतश्च क्रियापरिणामित्वं सिद्धम्[11]।

---

१–त्यपदि–अ०, ब०, द०, मू०। २ क्रियायाः। ३ अपर्यवसान। ४ द्रव्यनिश्चलनत्व–ता०, मू०। द्रव्यनिश्चलत्वप्र–मु०, ब०, द०। ५ गत्यादिषु प्रादयः [ शाक० २।१।२१ ] इति। ६ तेन प्रकृतैकद्रव्याणां गतिः। ७ गतिस्थित्यवगाहनहेतुभूतपर्यायोऽपि। ८ द्रव्येन्द्रियम्। ९ श्रोत्राद्यन्यतम। १०–मात्रमिति ता०। ११ कालस्यापि सक्रियत्वमिति चेत्; न; अनधिकारात्। अत एव चासावेतैः सह नाधिक्रियते।

अत्र[1] कश्चिदाह्–आत्मा सर्वगतत्वान्निष्क्रियः, क्रियाहेतुगु[2]णसमवायात् [3]परत्र क्रियाहेतुरिति; तत्प्रतिविधानार्थमाह्–

द्रव्यस्य क्रियापरिणामिनोऽर्थान्तरे तत्परिणामसामर्थ्यं वायुवत् ।७। यथा वायुः स्वयं क्रियापरिणतत्वात् वनस्पतौ क्रियानिमित्तं तथा आत्मनः क्रियापर्यायस्वभावस्य वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे सति विहायोगतिनामोदयापादितशक्तिविशेषे च सति व्रज्यामनुतिष्ठतो हस्तादिषु क्रियोत्पत्तिर्युक्ता, न तु निष्क्रियस्यात्मनः परत्र क्रियाहेतुत्वं युक्तम् । [4]तत्र यदुक्तम्–"आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" [वैशे० ५।१।१] इत्येतदपाकीर्णम् । कथमिति चेत् ? उच्यते–

अतत्परिणामस्य तदभावो व्योमवत् ।८। यथा व्योम्नो निष्क्रियस्य घटादिषु सत्यपि संयोगे न क्रियाहेतुत्वम्, तथा आत्मनो निष्क्रियस्य सत्यपि संयोगे हस्तादिषु न क्रियाहेतुत्वं युक्तम् । किञ्च,

उभयोः निष्क्रियत्वात् ।९। यथोभयोर्जात्यन्धयोः सम्बन्धे न दर्शनशक्तिप्रादुर्भावोऽस्ति तथा आत्मसंयोगप्रयत्नयोः निष्क्रियत्वात् क्रियाहेतुत्वमयुक्तम् । कथं निःक्रियत्वमिति चेत् ? उच्यते–"दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निःक्रियाणि । एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः" [वैशे० ५।२।२१,२२] निष्क्रिया इति वचनात् संयोगप्रयत्नयोः गुणत्वात् निष्क्रियत्वम् ।

[5]अग्निसंयोगवदिति चेत्; न; अस्मदिष्टसिद्धेः ।१०। स्यान्मतम्–यथा अग्निसयोगः औष्ण्यापेक्षः परत्र घटादौ पाकजान् रूपादीनारभते नात्माधारेऽग्नौ तथा आत्मसंयोगप्रयत्नयोरदृष्टापेक्षयोः हस्तादौ क्रियाहेतुत्वं युक्तं नात्मनीति; तन्न; किं कारणम् ? अस्मदिष्टसिद्धेः । यथा अग्निसंयोगो रूपादिमद्द्रव्यगुणः परत्र घटादौ रूपादिमति रूपाद्यन्तरोत्पत्तिहेतुर्भवति, तथा आत्मसंयोगप्रयत्नावपि परत्र हस्तादौ क्रियामारभमाणौ क्रियावद्द्रव्यगुणाविति क्रियावत्त्वमात्मनोऽस्मदिष्टं सिद्धम् ।

तत्सामर्थ्याभावाच्च ।११। य उक्तोऽग्निसंयोगो दृष्टान्तः न तस्य तत्सामर्थ्यमस्ति । कुतः ? अनुष्णाशीतस्याऽप्रेरकस्यानुपघातिनोऽप्राप्तस्य संयोगस्य रूपाद्युच्छेदोत्पत्त्योर्हेतुत्वासंभवात् । तस्मादसौ असिद्धो दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकार्थसिद्धये नालम् ।

गुरुत्ववदिति चेत्; न; तुल्यत्वात् ।१२। स्यादेतत्–यथा निष्क्रियं गुरुत्वं लोष्टे वर्तमानं तृणादौ क्रियाया हेतुः तथा आत्मसंयोगप्रयत्नौ निष्क्रियावपि सन्तौ हस्तादौ क्रियाहेतू इति; तन्न; किं कारणम् ? तुल्यत्वात् । अग्निसंयोगेन तुल्यमेतत् । यथा क्रियापरिणामिनो लोष्टस्य गुणो गुरुत्वं परत्र क्रियाहेतुः तथा आत्मसंयोगप्रयत्नावपि क्रियापरिणामिद्रव्यगुणाविति क्रियावत्त्वमात्मनः सिद्धम् । किञ्च, निष्क्रियस्य गुरुत्वस्याऽस्पर्शकस्याऽप्रेरकस्यानुपघातिनोऽन्यत्र क्रियाहेतुत्वं नोपपद्यते इति दृष्टान्तोऽसिद्धः । द्रव्यमेव [6]तथापरिणतं क्रियाहेतुरिति ।

धर्मास्तिकायवदिति चेत्; न; वैषम्यात् ।१३। स्यान्मतम्– यथा धर्मास्तिकायो निष्क्रियः जीवपुद्गलानां गतिहेतुः तथा आत्मसंयोगादिः निष्क्रियोऽपि परत्र क्रियाहेतुरिति; तन्न; किं कारणम् ? वैषम्यात् । युज्यते धर्मास्तिकायस्य जीवपुद्गलगतिं प्रत्यप्रेरकत्वम्[7], निष्क्रियस्यापि बलाधानमात्रत्वदर्शनात्, आत्मगुणस्तु अपरत्र क्रियारम्भे प्रेरको हेतुरिष्यते तद्वादिभिः । न च[8] निष्क्रियो द्रव्यगुणः प्रेरको भवितुमर्हति इति वैषम्यम्[9] । किञ्च, धर्मास्तिकायाख्यं द्रव्यमाश्रयकारणं[10] भवतु, न तु

---

१ वैशेषिकः–स० । २ प्रयत्नः संयोगश्चेति । ३ हस्तादौ । ४ तथा सति । ५ निष्क्रियस्यापि गुणस्य क्रियावत्त्वमस्तीति दृष्टान्तेन द्रढयति परः । ६ गुरुत्वेन । ७ प्रत्यप्रेरकत्व नि–ता०, श्र०, मू० । ८ निष्क्रियद्रव्य–मु०, द०, ब० । ९–म्यं च किं च ता० । १० बलाधान ।

निष्क्रियात्मद्रव्यगुणस्य ततो[1] व्यतिरेकेणाऽनुपलभ्यमानस्य क्रियाया आश्रयकारणत्वं युक्तम्। अर्थान्तरभावे चासत्त्वमिति वैषम्यम्। किञ्च,

शरीरे क्रियाभावो जीवस्य निष्क्रियत्वात् आकाशप्रदेशवत् ।१४। यथा आकाशप्रदेशो निष्क्रियः [2]शरीरे क्रियारम्भहेतुर्न भवति तथा आत्मा तद्गुणश्च निष्क्रियत्वात् क्रियाहेतुर्न भवेत्।
५ किञ्च, एकान्तेनाऽमूर्तस्य निष्क्रियस्य शरीरेण सह सम्बन्धाभावात् परस्परोपकारो नोपपद्यते आकाशवदेव।

शरीरवियोगे निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; अभ्युपगमात् ।१५। स्यान्मतम्—यस्य कार्मणशरीरसम्बन्धे सति तत्प्रणालिकापादिता क्रिया आत्मनोऽभिप्रेता तस्याष्टविधकर्मसंक्षये शरीरवियोगात् [3]अशरीरस्यात्मनो निष्क्रियत्वं प्रसक्तमिति; तन्न; किं कारणम्? अभ्युपगमात्, कारणा-
१० भावात् कार्याभाव इति। कर्मनोकर्मनिमित्ता या क्रिया सा तदभावे नास्तीति निष्क्रियत्वं मुक्तस्याभ्युपगम्यतेऽस्माभिः। अथवा, परनिमित्तक्रियानिवृत्तावपि स्वाभाविकी मुक्तस्योर्ध्वगतिरभ्युपगम्यते प्रदीपवत्। अथवा, [4]स्यात् शरीरवियोगे[5] मुक्तस्य निष्क्रियत्वं यद्यनन्तवीर्यज्ञानदर्शनाचिन्त्यसुखानुभवनादयः क्रिया नाऽभ्युपगम्येरन्, अभ्युपगम्यन्ते तु, तस्मादयमदोषः शरीरवियोगादात्मनो निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति।

१५ वक्ष्यमाणत्वाच्च पूर्वप्रयोगादिभिः ।१६। वक्ष्यते चोत्तरत्र मुक्तानां क्रिया। कथम्? पूर्वप्रयोगादिभिः[6]।

पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विस्रसा प्रयोगनिमित्ता च ।१७। पुद्गलानां द्विविधा क्रिया वक्ष्यते। सा द्वितयी भवति विस्रसा प्रयोगनिमित्ता चेति।

सा अनन्या स्वात्मविशेषभावात् ।१८। सा क्रिया [7]तद्वतोऽनन्या वेदितव्या। कुतः?
२० स्वात्मविशेषभावात्। यथा अग्नेर्नान्यदौष्ण्यं स्वात्मविशेषभावात्। यद्यन्यत् स्यात्; अग्नेरभावप्रसङ्गः स्यात् अलक्षणत्वात्[8]। तथा क्रियापि क्रियावतो नान्या स्वात्मविशेषभावात्। यद्यन्या स्यात्; द्रव्यस्यास्पन्दत्वं स्यात् क्रियायाश्चाऽभावः, तस्मादनन्या क्रिया।

अर्थान्तरत्वेऽपि योगात् व्यपदेशो दण्डदण्डिवदिति चेत्; न; स्वतोऽसिद्धत्वात् ।१९। अर्थान्तरत्वेऽपि क्रियायाः तद्योगाद् द्रव्यस्य क्रियावद्व्यपदेशः दण्डदण्डिवदिति च यदि मतम्,
२५ तदपि नोपपद्यते; कुतः? स्वतोऽसिद्धत्वात्। युज्यते [9]स्वतःसिद्धेन दण्डेन योगात् देवदत्तस्य दण्डिव्यपदेशः, न च तथा क्रिया स्वतःसिद्धा व्यतिरेकेणानुपलब्धेः। तस्मात्तद्वद्व्यपदेशो न युक्तः।

समवायादिति चेत्; न; अविशेषप्रसङ्गात् ।२०। स्यान्मतम्, सत्यमेतत् न दण्डदण्डिवद्योगः, स्वतःसिद्ध्यभावात्। कथं तर्हि? समवायो नामाऽयुतसिद्धिलक्षणः[9] संबन्धोऽस्ति, तेनैकत्वमिव नीतस्य द्रव्यस्य क्रियावद्व्यपदेशो भवतीति; तन्न; किं कारणम्? अविशेषप्रसङ्गात्।
३० अयुतसिद्धिलक्षणश्चेत् संबन्धः क्रियाक्रियावतोरविशिष्टः;[10] यद्द्रव्यं सैव क्रिया, या च क्रिया, तदेव द्रव्यमित्यविशेषः प्राप्नोति, तथा च, सति पदार्थान्तरकल्पनाव्याघातः। पदार्थान्तरत्वं चेदभ्युपगम्यते; न [11]नामाऽयुतसिद्धिलक्षणः संबन्धः।

अनन्यत्वे द्वयोरैकात्म्यमिति चेत्; न; कथञ्चिद्व्यतिरेकसिद्धेः ।२१। स्यादेतत्, यदि क्रियाक्रियावतोरनन्यत्वमभ्युपगम्यते तयोरैकात्म्यं प्रसज्येत। दृष्टा च नानात्मता—द्रव्यमवस्थितं

---

१ द्रव्यतः। २ शवस्य। जीवच्छरीरे वा। ३ अयोगकेवलिचरमसमये वर्तमानस्येत्यर्थः। ४ भवतु। ५ तर्हि। ६ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्चेति [ त० सू० १०।६ ]। ७ तद्वतोरन–मु०, द०, ब०। ८ यथा क्रियाया अस्पन्दं द्रव्यं तथा। ९ विद्यमानयोः सम्बन्धोऽयुतसिद्धिः। १०–तोरिष्टः द०, ब०, मु०, मू०, ता०। ११ निश्चयेन।

क्रिया क्षणिकात्मिका, द्रव्यमकारणं क्रिया कारणवतीति । यद्यैकात्म्यं स्यात् द्रव्यस्यावस्थानवत् अकारणवच्च क्रियाया अप्यवस्थानमकारणत्वं च स्यात्, [1]विपर्ययो वेति; तन्न; किं कारणम् ? कथञ्चिद् व्यतिरेकसिद्धेः । अत एवाऽस्माभिः कथञ्चिदन्यत्वमवसीयते ऐकात्म्यं मा विज्ञायीति ।

क्रियावत्त्वे सत्यनित्यत्वमिति चेत्; न; व्यभिचारात् ।२२। स्यादेतत्, यदि क्रियावत्त्वमभ्युपगम्यते जीवस्यानित्यत्वं प्राप्नोति । दृष्टा हि क्रियावतां प्रदीपादीनामनित्यतेति; तन्न; किं कारणम् ? व्यभिचारात् । महदहङ्कारादीनां परमाण्वादीनां च क्रियावतामपि नित्यत्वदर्शनात् व्यभिचारी हेतुः । ५

अथ सर्वानित्यत्ववादी आत्मानित्यत्वे हेतुं ब्रूयात् [2]असिद्धो हेतुः "सर्वे प्रत्ययजाश्चैव सर्वे चैव निरीहकाः" [ ] इति क्रियावत्त्वनिह्नवात् । किञ्च,

अभ्युपगमात् ।२३। अभ्युपगम्यतेऽस्माभिः क्रियावतां जीवादीनां पर्यायार्थिकनयादेशात् अनित्यत्वं ततो न बाधाकरोऽयं हेतुः । १०

असिद्धेश्च ।२४। नेदं क्रियावत्त्वमस्मान् प्रति सिद्धं द्रव्यार्थिकनयादेशात् निष्क्रियत्वोपपत्तेः । एतेन प्रदीपादिदृष्टान्तासिद्धिश्च योज्या । किञ्च,

अनुत्पादाव्ययोत्पादव्ययदर्शनात् ।२५। पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा अनुत्पादाव्ययदर्शनात् निष्क्रिया नित्याश्च । द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा उत्पादव्ययदर्शनात् सक्रिया अनित्याश्चेति अनेकान्तोपपत्तेः एकान्तवादिविहिता दोषा नानेकान्तवादे अवकाशं लभन्ते । १५

अजीवकाया इत्यत्र कायग्रहणे प्रदेशास्तित्वमात्रत्वं निर्ज्ञातं नतिवयत्ताऽवधारिता प्रदेशानाम्, अतस्तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते—

## असंख्येयाः प्रदेशा धर्माऽधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥ २०

संख्याविशेषातीतत्वादसंख्येयाः ।१। संख्यानं संख्या गणनेत्यर्थः । स्वलक्षणेन परस्परतो विशेष्यत इति विशेषः । संख्यायाः संख्यैव वा विशेषः संख्याविशेषः तमतिक्रान्ता ये तेऽसंख्येयाः । न केनचित् संख्यातुं शक्यन्त इति यावत् ।

तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न; तेनात्मनाऽवसितत्वात् ।२। स्यान्मतम्, यदि ते न केनचिदपि संख्यातुं शक्यन्ते, प्राप्तं तर्हि तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? [3]तेनात्मनाऽवसितत्वात् । यथा अनन्तमनन्तात्मनोपलभमानस्य न सर्वज्ञत्वं हीयते तथा असंख्येयमसंख्येयात्मनाऽवबुध्यमानस्य नास्ति सर्वज्ञत्वहानिः । न हि अन्यथाऽवस्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात् । अर्थस्य चाधिगमे त्रिविधं मानं व्याख्यातं संख्येयमसंख्येयमनन्तमिति । तत्रेहाऽजघन्योत्कृष्टासंख्येयं परिगृह्यते । २५

प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः ।३। प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः । कथं प्रदिश्यन्ते ? ३०

परमाण्ववस्थानपरिच्छेदात् ।४। वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणुः स यावति क्षेत्रेऽवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते । ते धर्माधर्मैकजीवाः तुल्याऽसंख्येयप्रदेशाः । तत्र धर्माधर्मौ निष्क्रियौ व्याप्य स्थितौ । जीवः तावत्प्रदेशोऽपि संहरणविसर्पणस्वभावत्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणु महद्वा[5]

---

१ क्रियायाः क्षणिकत्ववत् द्रव्यस्यापि क्षणिकत्वं स्यादित्यादि । २ न सिद्धो श्र० । ३ तेनादनितत्वात् मू०, श्र० । ४ जानतः । ५ बृहद्वा-मु०, द०, व० ।

अधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते। यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलयोर्मध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशाः व्यवतिष्ठन्ते, इतरे प्रदेशाः ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्नं लोकाकाशं व्यश्नुवते।

एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पनोपचार[1] इति चेत्; न; मुख्यक्षेत्रविभागात्।५। स्यान्मतम्, एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पना उपचारतः स्यात्। उपचारश्च मिथ्योक्तिर्न तत्त्वपरीक्षायामधिक्रियते प्रयो-
५ जनाभावात्। न हि मृगतृष्णिकया मृषार्थात्मिकया जलकृत्यं क्रियते इति; तन्न; किं कारणम्? मुख्यक्षेत्रविभागात्? मुख्य एव क्षेत्रविभागः, अन्यो हि घटावगाह्यः आकाशप्रदेशः इतरावगाह्यश्चान्य इति। यदि अन्यत्वं न स्यात्; व्याप्तित्वं व्याहन्यते।

निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; द्रव्यविभागाभावात्।६। स्यादेतत्, यदि मुख्य एव विभागोऽभ्युपगम्यते निरवयवत्वं तर्हि नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? द्रव्यविभागाभावात्।
१० यथा घटो द्रव्यतो विभागवान् सावयवः, न च तथैषां द्रव्यविभागोऽस्तीति निरवयवत्वं प्रयुज्यते।

भेद्यत्वादात्मनामेकग्रहणम्।७। भेद्या आत्मानो बहव इत्यर्थः, तेन एकग्रहणं क्रियते, नानाजीवापेक्षया हि अनन्तप्रदेशत्वं स्यात्।

कथञ्चित्प्रदेशभेदोपपत्तेः संबन्धनिर्देशः।८। एकश्चासौ जीवश्च एकजीवः, धर्मश्चाऽधर्मश्चैकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवाः तेषां धर्माधर्मैकजीवानाम्। प्रदेशा इति संबन्धनिर्देशः क्रियते।
१५ कुतः? कथञ्चित्प्रदेशभेदोपपत्तेः।

असंख्येयप्रदेशा इत्यस्तु लघुत्वात् इति चेत्; न; उत्तरार्थत्वात् भेदकरणस्य।९। स्यान्मतम्–'असंख्येयप्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवाः' इत्यस्तु सूत्रम्, कुतः? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? उत्तरार्थत्वात् भेदकरणस्य। प्रदेशा इति भेदकरणमुत्तरार्थम्। द्रव्यप्रधाने हि निर्देशे सति प्रदेशानामुपसर्जनत्वात् उत्तरत्राभिसंबन्धो[2] न स्यात्। ततः प्रतिसूत्रं [3]प्रदेशग्रहणे क्रियमाणे गौरवं स्यात्।
२० कश्चिदाह–

प्रदेशकल्पना निरवयवत्वादौपचारिकी सिंहवत्।१०। धर्मादीनां या प्रदेशकल्पना सा औपचारिकी। कुतः? निरवयवत्वात्। कथम्? सिंहवत्। यथा विशिष्टपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नामकर्मोदयापादिताविशेषे क्रौर्यशौर्यादिगुणप्रकर्षाधिष्ठाने खरनखोग्रदंष्ट्राभासुरकेसरकपिलनयनताराद्यवयवविशिष्टे केसरिणि सिंहशब्दोऽध्यवसितः माणवके अतद्गुणे भक्त्याऽध्यारोप्यते, तथा पुद्गलेषु
२५ मुख्यः प्रदेशशब्दः धर्मादिषु भक्त्योपचर्यते इति।

न वा; प्रत्ययाभेदात्।११। न वा औपचारिकी। कुतः? प्रत्ययाभेदात्। इह मुख्यप्रत्ययात्[4] सिंहविशेषात् अध्यवसानरूपात् माणवके सिंह इति गौणप्रत्ययोऽध्यारोपरूपो भिन्न उपलभ्यते, न च तथा पुद्गलेषु धर्मादिषु च प्रदेशप्रत्ययो भिन्नोऽस्ति, उभयत्रावगाहभेदतुल्यत्वात्। इतश्च,

उभयत्र सोपपदत्वात्[5]।१२। सिंहशब्दो निरुपपदो मुख्यं गमयति सोपपदो गौणम्–
३० सिंहो माणवक इति, न तथा प्रदेशशब्दे विशेषोऽस्ति पुद्गलेषु धर्मादिषु च सोपपदत्वात्–'घटस्य प्रदेशाः धर्मादीनां प्रदेशाः' इति। ततो नास्त्यत्र विशेषः। इतश्च,

हेत्वपेक्षाभावात्।१३। सिंहे प्रसिद्धः क्रौर्यादिधर्मः तदेकदेशसादृश्यं माणवके गौणव्यवहारस्य हेतुरस्ति, न तथा पुद्गलेषु प्रसिद्धं हेतुमवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचारः क्रियते तेषामपि स्वाधीनप्रदेशत्वात्। तस्मादुपचारकल्पना न युक्ता।

३५ स्वतोऽवधारणाभावात् नाञ्जसा इति चेत्; न; अत्यन्तपरोक्षत्वात्।१४। स्यान्मतम्; यदि घटादिवत् धर्मादीनाम् आञ्जसाः प्रदेशा भवेयुर्ननु घटादिवदेव स्वतः प्रदिश्येरन्। घटादीनां

१–रत इति मु०, ब०। २ उत्तरत्रापि स–श्र०, ता०। ३ असंख्येयाः प्रदेशा इत्यादि। ४ उपचारेण। ५ ज्ञानात्। ६–त् सिंहत्वात् सिंह–मु०, ब०, द०।

हि प्रदेशा जीवादय आञ्जसाः स्वत एव प्रदिश्यन्ते न द्रव्यान्तरतः, न त्वेवं धर्मादीनां प्रदेशाः स्वतः प्रदिश्यन्ते परमाण्ववगाहपरिच्छेद्यत्वात्, अतो न मुख्या इति; तन्न; किं कारणम्? अत्यन्तपरोक्षत्वात्। युज्यते घटादीनां प्रत्यक्षत्वात् स्वत एव प्रदेशावधारणम्। अत्यन्तपरोक्षास्तु धर्मादयः, तत एषां मुख्या अपि प्रदेशा न शक्याः स्वात्मन्येवावधारयितुं न गौणप्रदेशत्वात्।

अर्हदागमप्रामाण्यात् ।१५। युगपत् सकलपदार्थत्वावभासनज्ञानातिशयेनार्हता आविष्कृत आगमः गणधरैरनुस्मृतवचनरचनः श्रुताख्यः, तच्छिष्यप्रशिष्यप्रज्ञावीचिपरम्परासमुपनीतोऽस्ति। तस्य प्रामाण्याद्धर्मादीनां क्षेत्रप्रदेशाः मुख्याः इत्येतदभ्युपगन्तव्यम्। तद्यथा, एकैकस्मिन्नात्मप्रदेशे अनन्तानन्ता ज्ञानावरणादिकर्मप्रदेशा अवतिष्ठन्ते, एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशे अनन्तानन्ता औदारिकादिशरीरप्रदेशाः, एकैकस्मिन् शरीरप्रदेशे अनन्तानन्ता वैस्रसोपचयप्रदेशाः क्लिन्नगुडरेण्वाद्युपचयवदवतिष्ठन्ते, तथा धर्मादिप्रदेशेष्वपि। किञ्च,

स्थितास्थितवचनात् ।१६। भावान्तर(भवान्तर)परिणामे सुखदुःखानुभवने क्रोधादिपरिणामे वा जीवप्रदेशानाम्[2]उद्भवनिधवपरिस्पन्दस्याप्रवृत्तिः स्थितिः, प्रवृत्तिरस्थितिरित्युच्यते। तत्र "सर्वकालं जीवाष्टमध्य[3]प्रदेशा निरपवादाः[4] सर्वजीवानां स्थिता एव, केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव, व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानाम् इतरे (ता इतरे) प्रदेशाः अस्थिता एव, शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चाऽस्थिताश्च" [ ] इति वचनान्मुख्या एव प्रदेशाः। किञ्च,

इन्द्रियपरिणामवचनात् ।१७। इह वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टम्भात् उत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानाम् आत्मप्रदेशानां चक्षुरादीन्द्रियपर्यायपरिणाम उक्तः प्रतिविशिष्टप्रदेशत्वात् परस्परस्थानासंक्रमेण साक्षाच्च दृश्यते तस्मान्मुख्या एवाऽऽत्मप्रदेशाः। किञ्च,

द्रव्याणां प्रतिनियतप्रदेशावस्थानात् ।१८। इहान्येषु आकाशप्रदेशेषु पाटलिपुत्रं स्थितम्, अन्येषु च मथुरा[5], अतो नाना आकाशप्रदेशाः। यस्यैकान्तेन अप्रदेशमाकाशं तस्य यद्देशं पाटलिपुत्रं तद्देशभाविन्येव मथुरापि स्यात्। किञ्च,

उभयदोषप्रसङ्गात् ।१९। संसर्पतो[6]ऽप्यस्य पिण्डस्य[7] कर्णशष्कुल्यन्तरे अदृष्टविशेषसंस्कृतमाकाशं श्रोत्रमिति यदाख्यायते[8]; तत्कृत्स्नं वा आकाशं स्यात्, न वा? यदि कृत्स्नम्; नन्वूर्ध्वाधस्तिर्यगवस्थितस्पर्शवद्द्रव्याभिघातोत्पन्नाः सर्वे शब्दाः सदा सर्वैः जीवैरुपलभ्या इत्यासक्तम्। अथैष दोषो मा प्रापत् इति प्रतिनियताकाशप्रदेशाः श्रोत्रमितीष्यते; नन्वाकाशप्रदेशानां बहुत्वात् यत्प्रतिज्ञातम्–'न सन्त्याकाशप्रदेशा मुख्याः' इति तद्धीनम्। अथवा, परमाणुराकाशेन कृत्स्नेन वा संयुज्येत, न वा? यदि कृत्स्नेन; नन्वेवमणुमात्रमाकाशम् आकाशमात्रो वाऽणुः प्राप्नोति। अथ एकप्रदेशेन संयुज्यते; ननु निरपवादमेतत् सिद्धं मुख्या एवाऽऽकाशप्रदेशा इति। किञ्च,

कर्माभावप्रसङ्गात् ।२०। इहोत्पन्नं कर्म[9] स्वाश्रयम्[10] "आश्रयान्तराद्वियोज्य[11] "आश्रयान्तरेण[12] संयोजयति इत्येषः कर्मणः स्वभावः, सत्येवं प्रदेशवत्त्वमाकाशस्य सिद्धम्; इतरथा हि कर्माभावप्रसङ्गः प्रदेशान्तरसङ्क्रमाभावात्। किञ्च,

---

१ ततो श्र० । २ उद्भवनिधनप–मु०, द०, ता०, व० । ३ मध्यमप्र–मु० । ४ निर्दोषाः स्पन्दरहितत्वात् । ५ मदुरा आ०, ता०, श्र० । ६ गन्तृतोऽपि । ७ शरीरस्य । ८ वैशेषिकैः । "श्रोत्रं पुनः श्रवणविवरसञ्ज्ञको नभोदेशः शब्दनिमित्तोपभोगप्रापकधर्माधर्मोपनिबद्धः ।"–प्रश० भा० पृ० २६ । ९ व्यापारः । १० क्रियाया आश्रयभूतं श्येनम् । ११ स्थाणोः । १२ वृक्षादन्यतमेन ।

एकानेकप्रदेशत्वं प्रत्यनेकान्तात् पुरुषवत् ।२१। यथा पुंसः सामान्यपौरुषेयशरीरद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, तस्यैव शिरःपृष्ठोरूदरपाणिपादाङ्गुलिपर्वाद्यङ्गोपाङ्गपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकत्वम्। अथवा, पुरुषद्रव्यार्थादेशात्स्यादेकत्वम्, स्वजात्यपरित्यागेन [1]पावकलावकादिपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकत्वम्, पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयभ्रातृव्यमातुलादिपर्यायार्थादेशात् वा स्यादनेकत्वम्,
५ पञ्चेद्रियारोग्यमेधाविपटुकुशलसुशीलत्वादिपर्यायार्थादेशाद्वा स्यादनेकत्वम्, तथा धर्माधर्माकाशजीवानाम् आत्मीयद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकप्रदेशत्वं प्रतिनियतप्रदेशपर्यायार्थादेशात् स्यान्नानात्वम् इत्यनेकान्तः।

संसारिणश्च व्यवहारतः सावयवत्वात् ।२२। व्यवहाराद् व्यवहारतः व्यवहारनयार्पणादित्यर्थः। कः पुनर्व्यवहारः? अनादिकर्मबन्धनबद्धत्वम्, अतस्तदावेशात्[2] तदनुविधायित्वे सति
१० सावयवत्वोपपत्तेः संसारिणो जीवस्य प्रदेशवत्त्वम्। शुद्धनयादेशात्तूपयोगस्वभावस्याऽऽत्मनोऽप्रदेशत्वम्।

अथाकाशस्य कति प्रदेशा इति? अत आह–

## आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अनन्ता इत्यन्यपदार्थनिर्देशः ।१। अन्तोऽवसानमित्यर्थः, अविद्यमानोऽन्तो येषां त
१५ इमेऽनन्ताः। अन्यपदार्थनिर्देशोऽयम्। के पुनस्ते? प्रदेशाः। कुतः? प्रत्यासत्तेस्तदभिसंबन्धोपपत्तेः।

असंख्येयानन्तयोरविशेष इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।२। स्यान्मतम्–असंख्येयानन्तयोर्नास्ति विशेषः। कुतः? इयत्तापरिच्छेदाभावतुल्यत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तोऽनयोर्भेदः "नृस्थिती परावरे" [त० सू० ३।३८] इत्यत्र।

२० अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति चेत्; न; अतिशयज्ञानदृष्टत्वात् ।३। स्यादेतत्–सर्वज्ञेनानन्तं परिच्छिन्नं वा, अपरिच्छिन्नं वा? यदि परिच्छिन्नम्; उपलब्धावसानत्वात् अनन्तत्वमस्य हीयते। अथापरिच्छिन्नम्; तत्स्वरूपानवबोधात् असर्वज्ञत्वं स्यादिति। तन्न; किं कारणम्? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्। यत्तत्केवलिनां ज्ञानं क्षायिकम् अतिशयवत् अनन्तानन्तपरिमाणं तेन तदनन्तमवबुध्यते साक्षात्। तदुपदेशादितरैरनुमानेनेति न सर्वज्ञत्वहानिः। न च तेन परिच्छिन्नमित्यतः सान्तम्
२५ [3]अनन्तेनाऽनन्तमिति ज्ञातत्वात्। किञ्च,

[4]सर्वेषामविप्रतिपत्तेः ।४। नात्र सर्वे प्रवादिनो विप्रतिपद्यन्ते। [5]केचित्तावदाहुः–"अनन्ता लोकधातवः" [ ] इति। [6]अपरे मन्यन्ते दिक्कालात्माकाशानां सर्वगतत्वात् अनन्तत्वमिति। [7]इतरे ब्रुवते–प्रकृतिपुरुषयोरनन्तत्वं सर्वगतत्वादिति। न चैतेषामनन्तत्वादपरिज्ञानम्, नापि [8]परिज्ञानत्वमात्रादेव तेषामन्तवत्त्वम्। तस्मात् नैतद्युक्तम् अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति।

३० सर्वज्ञाभावप्रसङ्गाच्च ।५। यस्य अर्थानामानन्त्यमपरिज्ञानकारणं तस्य सर्वज्ञाभावः प्रसजति। अनन्तो हि ज्ञेयः, तस्यानन्त्यादेव न च कश्चित् [9]परिच्छेत्ताऽस्तीति। [10]अथान्तवत्त्वं स्यात्; संसारो मोक्षश्च नोपपद्यते। कथमिति चेत्; उच्यते–जीवाश्चेत्सान्ताः; सर्वेषां हि मोक्षप्राप्तौ संसारोच्छेदः प्राप्नोति। तद्भयात् मुक्तानां पुनरावृत्त्यभ्युपगमे स मोक्ष एव न स्यात् [11]अनात्यन्तिकत्वात्। एकैकस्मिन्नपि जीवे कर्मादिभावेन व्यवस्थिताः पुद्गला अनन्ताः, तेषामन्तवत्त्वे सति कर्मनोकर्मविषय-

१ पूङ् पवने। लूङ् छेदने। २ व्यवहाराङ्गीकारात्। ३ अनन्तप्रमाणेन। ४ सामयिकान् प्रत्युत्तरं दत्त्वेदानीं वादिनः प्रत्याह। ५ बौद्धाः। ६ वैशेषिकाः–स०। ७ सांख्याः–स०। ८ परिज्ञानमा–ता०। ९ ज्ञाता। १० अथान्तत्वम् श्र०। ११ आत्यन्तिकत्वाभावात्।

विकल्पाभावात् संसाराभावः तदभावान्मोक्षश्च न स्यात्। तथा अतीतानागतकालयोरन्तवत्त्वे प्राक् पश्चाच्च कालव्यवहाराभावः स्यात्। न चासौ युक्तः, असतः प्रादुर्भावाभावात् सतश्चात्यन्तविनाशानुपपत्तेरिति। तथा आकाशस्यान्तवत्त्वाभ्युपगमे ततो बहिर्घनत्वप्रसङ्गः। नास्ति चेद् घनत्वम्; आकाशेनापि भवितव्यमित्य[1]नन्तवत्त्वाभावः।

उक्तममूर्तानां प्रदेशपरिमाणम्, इदानीं मूर्तानां पुद्गलानां प्रदेशपरिमाणं निर्ज्ञातव्यमित्यत आह-

## संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

**चशब्दोऽनन्तसमुच्चयार्थः** ।१। अनन्ताः [2]प्रकृतास्तेषां समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते- संख्येया असंख्येया अनन्ताश्चेति। के पुनस्ते? 'प्रदेशाः' इत्यनुवर्तते। कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः संख्येयाः प्रदेशाः कस्यचिदसंख्येयाः अनन्ताश्च।

**अनन्तानन्तोपसंख्यानमिति चेत्; न; अनन्तसामान्यात्** ।२। स्यादेतत्-अनन्तानन्तप्रदेशाश्च पुद्गलाः सन्ति तदुपसंग्रहार्थं[3] तदुपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? अनन्तसामान्यात्। अनन्तप्रमाणं त्रिविधमुक्तम्-परीतानान्तं युक्तानन्तम् अनन्तानन्तं चेति। तत्सर्वमनन्तसामान्येऽन्तर्भावात् अनन्तग्रहणेन गृह्यत इति नोपसंख्यातव्यम्।

**अधिकरणविरोधादानन्त्याभाव इति चेत्; न; सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात्** ।३। स्यान्मतम्-असंख्यातप्रदेशो लोकः, अनन्तप्रदेशस्य अनन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधः, ततो नानन्त्यमिति; तन्न; किं कारणम्? सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात्। परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे अनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते। अवगाहनसामर्थ्यमप्येषामव्याहतमस्ति येन एकैकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्ताऽनन्तानामवस्थानं न विरुध्यते। किञ्च,

**अनेकान्तात्** ।४। नायमेकान्तः-[4]अल्पेऽधिकरणे महद्द्रव्यं नावतिष्ठते इति। कुतः?

**प्रचयविशेषात्**[5] ।५। प्रचयविशेषः संघातविशेषः इत्यर्थः। पुद्गलानां हि प्रचयविशेषात् अल्पे क्षेत्रे बहूनामवस्थानं दृष्टम्। कथम्?

**संहृतविसर्पितचम्पकादि[6]गन्धादिवत्** ।६। यथाऽल्पे कुड्मलावस्थे चम्पके सूक्ष्मप्रचयपरिणामात् संहृताश्चम्पकपुष्पगन्धावयवाः तद्व्यापिनो बहवोऽवतिष्ठमाना दृष्टाः। तस्मिन्नेव विसर्पिते स्थूलप्रचयपरिणामाद्विनिर्गताश्चम्पकगन्धावयवाः सर्वदिग्व्यापिनो दृष्टाः। यथा वाल्पे करीषपटले दारुपिण्डे च प्रचयविशेषावगाढाः सन्तः पुद्गला अग्निना दह्यमानाः प्रचयविशेषेण धूमभावेन दिङ्मण्डलव्यापिनो दृष्टाः, तथाऽल्पेऽपि लोकाकाशे अनन्तानामनन्तानन्तानां च जीवपुद्गलानामवस्थानमिति नास्ति विरोधः।

पुद्गलानामित्यविशेषवचनात् परमाणोरपि प्रदेशवत्त्वप्रसङ्गे तत्प्रतिषेधार्थमाह—

## नाणोः ॥ ११ ॥

अणोः प्रदेशाः न, सन्तीति वाक्यशेषः। कुतो न सन्तीति चेत्? उच्यते—

**प्रदेशमात्रत्वात्** ।१। यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावात् अप्रदेशवत्त्वम्; एवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात् प्रदेशभेदाभावः। किञ्च,

---

१-त्यनन्तवत्त्वा-श्र०, मु०, द०। २ पुद्गलाः ते-मु०, द०। ३-र्थमुप-ता०, मु०, मू०, ब०, द०। ४ अल्पाधि-मु०, ब०। ५-पात् संघातविशेषः संघातविशेष इत्यर्थ-मु०, द०, द०। ६ आदिशब्देन काष्ठादिकं गृह्यते। ७-शबन्धप्र-मु०, अ०, ता०, ब०, द०। ८-शबन्धमेव-श्र०, ता०।

ततोऽल्पपरिमाणाभावात् ।२। न हि अणोरल्पीयान् अस्ति यतोऽस्य प्रदेशाः भिद्येरन्। अतः स्वयमेवाद्यन्तपरिमाणत्वादप्रदेशोऽणुः । किञ्च,

अन्वर्थसंज्ञत्वात् ।३। यथा प्रदीपनात् प्रदीप इत्यन्वर्थसंज्ञा तथाऽणुरितीयमप्यन्वर्थसंज्ञा अणुत्वात् सूक्ष्मत्वात् अणुरिति। यदि ह्यणोरपि प्रदेशाः स्युः; अणुत्वमस्य न स्यात् प्रदेशप्रचय- ५ रूपत्वात्, तत्प्रदेशानामेवाणुत्वं प्रसज्येत ।

अप्रदेशत्वादभावः खरविषाणवदिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।४। स्यादेतत्-यथा खरविषाणम- प्रदेशत्वान्नास्ति तथाणुरपि भवेदिति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्-प्रदेशमात्रोऽणुः, न खरविषाणवदप्रदेश इति ।

आदिमध्यान्तव्यपदेशाभावादिति चेत्; न; विज्ञानवत् ।५। स्यान्मतम्-आदिमध्यान्तव्य- १० पदेशः परमाणोः स्याद्वा, न वा ? यद्यस्ति; प्रदेशवत्त्वं प्राप्नोति। अथ नास्ति; खरविषाणवदस्या- भावः स्यादिति। तन्न; किं कारणम्? विज्ञानवत्। यथा विज्ञानमादिमध्यान्तव्यपदेशाभावे- ऽप्यस्ति तथाऽणुरपि[1] इति। उत्तरत्र च तस्यास्तित्वं वक्ष्यते।

एषामवधृतप्रदेशानां धर्मादीनामाधारप्रतिपत्त्यर्थमाह—

## लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

१५ अनन्तरत्वात् पुद्गलानामवगाहप्रसङ्ग इति चेत्; न, समुदायापेक्षत्वात् ।१। स्यादेतत्- अनन्तराः पुद्गलाः ततस्तेषामेव लोकाकाशेऽवगाहः इत्ययमर्थ आसक्त इति; तन्न; किं कारणम्? समुदायापेक्षत्वात्। धर्मादीनि द्रव्याणि समुदितान्यत्रापेक्ष्यन्ते, तत्रानन्तरमिदं व्यवहितमिदमिति विवेको नास्ति। ततः सर्वद्रव्याणामाधारगतिः सिद्धा भवति।

आकाशस्यापि अन्याधारकल्पनेति चेत्; न; स्वप्रतिष्ठत्वात् ।२। स्यान्मतम्-यथा धर्मा- २० दीनां लोकाकाशमाधारः तथा आकाशस्याप्यन्येनाधारेण भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? [2]स्वप्रतिष्ठत्वात्। स्वस्मिन् प्रतिष्ठाऽस्येति स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। स्वात्मैवास्याधेय आधारश्चेत्यर्थः। कुतः?

ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यान्तराधाराभावात् ।३। न हि आकाशादधिकप्रमाणं द्रव्यान्तरमस्ति यत्राकाशमाधेयं स्यात्, ततः सर्वतो विरहितान्तस्यास्याधिकर[3]णान्तरस्याऽभावात् स्वप्रतिष्ठ- मवसेयम्।

२५ तथा चानवस्थानिवृत्तिः ।४। एवं च कृत्वा अनवस्थादोषनिवृत्तिर्भवति-यतः स्वप्रतिष्ठमा- काशं न तस्यान्यदधिकरणं द्रव्यान्तरमस्ति। अन्याधिकरणत्वे हि तस्याप्यन्यत् [4]तस्याप्यन्यदित्य- नवस्था प्रसज्येत। किञ्च,

परमार्थतया आत्मवृत्तित्वात् ।५। एवंभूतनयादेशात् सर्वद्रव्याणि परमार्थतया आत्मप्रति- ष्ठानीत्याधाराधेयाभावात् कुतोऽनवस्था ?

३० अन्योन्याधारताव्याघात इति चेत्; न; व्यवहारतस्तत्सिद्धेः ।६। स्यान्मतम्-यदि सर्वाणि द्रव्याणि परमार्थतया स्वात्मप्रतिष्ठानि ननु यदुक्तम्- "वायोराकाशमधिकरणम्, उदकस्य वायुः, पृथिव्या उदकम्, सर्वजीवानां पृथिवी, अजीवा जीवाधाराः, जीवाश्चाऽजीवाधाराः, कर्मणामधिकरणं जीवाः, जीवानां कर्माणि, धर्माधर्मकाला आकाशाधिकरणाः" [ ] इत्येतस्या अन्योन्याधारतायाः व्याघात इति; तन्न; किं कारणम् ? व्यवहारतस्तत्सिद्धेः। सर्वमिदमुक्तम् अन्योन्याधारत्वं

१-णुरप्युत्त-आ०। २ स्वप्रतिष्ठितत्वा-आ०। ३-णस्यान्त-आ०। ४ तस्याप्यन्यत् तस्याप्य- न्यदित्य- मु०।

व्यवहारनयवक्तव्यवललाभादेशात् सिद्ध्यति । व्यावहारिकमेतत्–आकाशे वातादीनामवगाह इति । आधारान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्ग इति । परमार्थतस्तु आकाशवत् वातादीन्यपि स्वात्माधिष्ठानानि । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

[1]क्रियाविष्टकर्तृकर्माधारवत् ।७। क्रिया द्विविधा–कर्तृसमवायिनी कर्मसमवायिनी चेति । तत्र कर्तृसमवायिनी आस्ते गच्छतीति । कर्मसमवायिनी ओदनं पचति, कुशूलं भिनत्तीति । तदा विष्टस्य कर्तुः कर्मणश्चाधार आसनादिः स्थाल्यादिश्च । तत्र व्यवहारनयवशात् क्रियायाः द्रव्यमधिकरणम्, [2]तदाविष्टस्य द्रव्यस्य द्रव्यान्तरम् । परमार्थतस्तु एवंभूतनयवशात् क्रिया क्रियात्मन्येव, द्रव्यमपि स्वात्मन्येव । तथा लोकाकाशेऽवगाहो धर्मादीनामिति व्यवहारनयादेशादुक्तम्, परमार्थतस्तु सर्वद्रव्याणि स्वात्माधिकरणानि । ५

आकाशधर्मादीनामाधाराधेयत्वात् कुण्डवदरवत् प्रसङ्ग इति चेत्; न; अयुतसिद्धेऽपि तद्दर्शनात् शरीरे हस्तवत् ।८। स्यादेतत्–यथा कुण्डे वदराणि इत्याधारः कुण्डम्, आधेयानि वदराणीति पूर्वापरकालत्वं युतसिद्धिश्च तेषाम्, तथा आधारत्वात् पूर्वमाकाशं पश्चाद्धर्मादीन्याधेयत्वादिति युतसिद्धिः; अतोऽनादित्वव्याघात इति; तन्न; किं कारणम् ? अयुतसिद्धेऽपि तद्दर्शनात् । कथम् ? शरीरे हस्तवत् । यथा हस्तशरीरयोर्युगपदुत्पत्तौ पूर्वापरत्वेऽसति अयुतसिद्धस्य हस्तस्य शरीरमाधारः, तथा आकाशधर्मादीनामनादिपारिणामिकयौगपद्यसिद्धौ असति पूर्वापरीभावे भवत्याधाराधेयत्वम् । किञ्च; १० १५

अनेकान्तात् ।९। नैतदैकान्तिकम्–युतसिद्धस्यैवाधाराधेयत्वं नायुतसिद्धस्येति । [3]स्तम्भसारादिषु कुण्डवदरादिषु च दर्शनात् । तस्मादनेकान्तान्नायमुपालम्भः ।

अथ लोकाकाश इत्युच्यते, को लोको नाम ?

यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः ।१०। पुण्यपापयोः कर्मणोः फलं सुखदुःखलक्षणं यत्रा- (यत्र) लोक्यते स लोकः । कः पुनरसौ ? आत्मा । २०

लोकतीति वा लोकः ।११।लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः[4] ।

इतरद्रव्यालोकप्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढौ [5]क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।१२। स्यादेतत्–द्विधाप्युक्तेन क्रमेण जीवस्यैव लोकत्वं प्राप्तम् इतरेषां द्रव्याणामलोकत्वं ततश्च "षड्द्रव्यसमूहो लोकः" [ ] इत्यार्षस्य विरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? रूढौ क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तौ स्थितादीनां न गोत्वनिवृत्तिः, तथा लोकनाल्लोक इति व्युत्पत्तावपि धर्मादीनामपि न लोकत्वं हीयते । २५

लोक्यत इति वा लोकः ।१३। सर्वज्ञेनाऽनन्ताऽप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः । तेन धर्मादीनामपि लोकत्वं सिद्धम् ।

आत्मनोऽलोकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; स्वात्मलोकनात् ।१४। यो लोकते आत्मा तस्याऽलोकत्वं प्राप्नोति लोक्यत्वाभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वात्मलोकनात् । योऽसौ सर्वज्ञो बाह्यं लोकमानः स आत्मानमपि लोकते इति लोकत्वमस्य सिद्धम्, इतरथा हि तस्य सर्वदर्शित्वाभावः आत्मानवलोकनात् । आत्मानमनवलोकमानस्य बाह्यलोकनासंभवश्च घटादिवत् । यथा घटादिरात्मानमपश्यन्नपरान् न पश्यति । ३०

अलोकस्यापि लोकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; नः उक्तत्वात् ।१५। स्यान्मतम्–यदि लोक्यत इति लोकः, अलोकस्यापि लोकत्वं प्राप्नोति सर्वदर्शिना लोक्यत्वात् । अथालोकं न लोकते; सर्वदर्शित्व- ३५

---

१ क्रियाधिष्टक– ता०, श्र०, द० । २ तदाधिष्टस्य ता० ३ श्र० । ३ स्तम्भे सारः इति । ४ आत्मा । ५ क्रियाव्यु– ता०, श्र०, मू०, द० ।

मस्य हीयते, [1]न चैतदिष्टम्, तस्माल्लोकत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्–रूढिविशेषवललाभात् विशेषे वृत्तिरिति ।

उभयविशेषणभावाद्वा ।१६। अथवा, उभयविशेषणमिहोपादीयते । यत्रस्थेन सर्वज्ञेन लोक्यते यः स लोक इति । न चाऽलोकस्थेनाऽलोको लोक्यते ततो नालोकस्य लोकत्वप्रसङ्गः ।

५ तस्याऽऽकाशं लोकाकाशं जलाशयवत् ।१७। यथा जलस्य आशय(यः)स्थानं जलाशय इत्युच्यते, तथा लोकस्याकाशं लोकाकाशमिति स्थानापेक्षः संबन्धोऽवसेयः ।

धर्माधर्मपुद्गलकालजीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इति वा ।१८। अथवा, धर्माधर्मपुद्गलकालजीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इत्यधिकरणसाधनो घञ् । किं पुनरधिकरणम्? आकाशम् । लोक एवाकाशं लोकाकाशमिति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिः, तस्मिन्नवस्थानं धर्मादीनां द्रव्याणाम् । अत

१० आकाशं परप्रत्ययवशात् द्वेधा विभज्यते–लोकाकाशमलोकाकाशं चेति । लोकाकाशं धर्माधर्मतुल्याऽसंख्येयप्रदेशम् । वहिः समन्तादनन्तमलोकाकाशम् ।

तत्रावध्रियमाणानामवस्थानभेदसंभवात् विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

## धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

निरवशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थं कृत्स्नवचनम् ।१। यथा अगारैकदेशे घटस्यावस्थानं न तथा

१५ धर्माधर्मयोः लोकाकाशेऽवगाहः । किं तर्हि? तिलेषु तैलवदिति निरवशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थं कृत्स्नवचनं क्रियते । धर्माधर्मौ हि लोकाकाशमशेषं नैरन्तर्येण व्याप्य स्थितौ । कथमेषां परस्परप्रदेशाविरोधः?

अमूर्तित्वात् त्रयाणां परस्परप्रदेशाविरोधः ।२। मूर्तिमन्तोऽपि केचित् जलभस्मसिकतादयः एकत्र अविरोधेनाऽवतिष्ठन्ते किमुताऽमूर्तीनि धर्माधर्माकाशानि । तस्मादमूर्तित्वादेषां परस्पर-

२० प्रदेशाविरोधो वेदितव्यः ।

अनादिसंबन्धपरिणामाच्च ।३। भेदसंघातगतिपरिणामपूर्वकादिमत्संबन्धानां [2]स्थविष्ठानां स्कन्धानां [3]केषाञ्चित् [4]प्रदेशविरोधः स्यात् न तु धर्मादीनां तद्वत् आदिमान् संबन्धः, पारिणामिकाऽनादिसंबन्धस्तेषाम्, ततश्च अन्योऽन्यप्रदेशाविरोधः सिद्धः ।

ततो विपरीतानां मूर्तिमताम[5]प्रदेशसंख्येयाऽनन्तप्रदेशानां पुद्गलानामवगाहनविशेषप्रति-

२५ पत्त्यर्थमाह—

## एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

एकप्रदेशादिष्वित्यवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः[6] ।१। एकश्चासौ प्रदेशश्चैकप्रदेशः, एकप्रदेश आदिर्येषां त इमे एकप्रदेशादयः । के पुनस्ते? प्रदेशाः । कुत एतत्? तुल्यजातीयत्वात् उपलक्ष्योपलक्षणयोः [7]सोमशर्मादिवत् । प्रदेशग्रहणानुवृत्तेर्वा, ते[8]ष्वेकप्रदेशादिषु इति विग्रहे समु-

३० दायो वृत्त्यर्थः सर्वादिवत् । तेनैक[9]प्रदेश उपलक्षणभूतोऽप्यन्तर्भवति ।

भाज्यो विकल्प्यः ।२। भजनीयो भाज्यः पृथक्कर्तव्यः विकल्प्यो विभाज्य[10] इत्यनर्थान्तरम् । कः पुनरसौ? अवगाह इत्यनुवर्तते । तद्यथा-एकस्य परमाणोरेकत्रैव आकाशप्रदेशेऽवगाहः,

---

१ न चैतद्दृष्टं मु०, ब० । २ स्थूलानाम् । ३ समुद्रवीच्यादीनाम् । ४ शिलादिषु । ५ परमाणु । ६ "अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः"–पात० महा० २।२।२४ । ७ सोमशर्मवत् श्र० । सोम इति (इव) शर्म श्रेयो यस्य स तथोक्तः । ८ मध्ये । ९–कदेश–श्र० । १० विभाप्य इ–ता०, मू०, श्र० ।

[1]द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च, त्रयाणामेकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धानां च। एवं संख्येयासंख्येयाऽनन्तप्रदेशानां स्कन्धानामेकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशे अवस्थानं प्रत्येतव्यम्।

एकप्रदेशे नैकस्यावस्थानमयुक्तमिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।३। स्यान्मतम्–भवतु तावद्धर्मादीनां एकप्रदेशेऽवस्थानम् अमूर्तिस्वभावत्वात्, मूर्तिमतां तु पुद्गलानाम् एकप्रदेशेऽवस्थानमयुक्तम्। भवति चेत्; प्रदेशस्य विभागवत्त्वं प्रसक्तम्, अवगाहिनां चैकत्वमिति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्[2]–प्रचयविशेषा[3]दिभिरै(रे)कत्रावस्थानमिति। किञ्च,

एकापवरकेऽनेकप्रकाशावस्थानदर्शनादविरोधः ।४। यथैकस्मिन्नपवरके बहवः प्रकाशाः वर्तन्ते न च क्षेत्रविभागः, नापि एकक्षेत्रावगाहित्वात् तेषां प्रकाशानामेकत्वम्, तथैकस्मिन् प्रदेश अनन्ता अपि स्कन्धाः सूक्ष्मपरिणामात् असङ्करेण व्यवतिष्ठन्त इति नास्ति विरोधः। किञ्च,

द्रव्यस्वभावस्याऽचोदनार्हत्वात् ।५। द्रव्याणां हि स्वभावाः प्रतिनियताः सन्ति, न ते चोदनार्हाः–एवं भवतु मैवं भूदिति[4]। यथा अग्न्यादीनां दहनादयः तृणादीनां च दाह्यत्वादयस्तथा मूर्तिसत्त्वेऽपि अवगाहनस्वभावत्वादेकस्मिन्नपि प्रदेशे बहूनां स्कन्धानामवरोधो न विरोधाय [5]कल्प्यते। किञ्च,

आर्षोक्तत्वात् सूक्ष्मनिगोतावस्थानवत् ।६। सर्वज्ञज्ञानद्योतितार्थसारं गणधरानुस्मृतवचनरचनं शिष्यप्र[6]शिष्यप्रबन्धा[7]ऽव्युपरमादव्युच्छिन्नसन्तानम् आर्षमवितथमस्ति—

> "ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहि सव्वदो लोगो।
> सुहुमेहिं बादरेहिं अणंताणंतेहि विविधेहिं॥" [पञ्चास्ति० गा० ६४]

इत्येवमादि। अतस्तत्प्रामाण्यादपि उक्तोऽवगाहोऽवसेयः। यथैकनिगोतजीवशरीरेऽनन्ता निगोतजीवाः तिष्ठन्ति साधारणाऽऽहारप्राणापानजीवितमरणत्वात् साधारणा इत्यन्वर्थसंज्ञा इत्येतदागमप्रामाण्यादवसीयते तथैवेदमपीति।

अथ जीवानामवगाहः कथमित्यत इदमुच्यते—

## असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

असंख्येयभागादिष्विति चोक्तम्। किमुक्तम्?

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थ इति ।१। असंख्येयानां भागानामेको भागोऽसंख्येयभागः, असंख्येयभाग आदिर्येषां ते असंख्येयभागादयः तेषु असंख्येयभागादिषु। किं भाज्यः? अवगाह इत्यनुवर्तते। अत्राह–कस्याऽसंख्येयभागादिष्विति?

लोकाकाशप्रकरणात्तदभिसंबन्धः ।२। लोकाकाश इत्यनुवर्तते; अतस्तदभिसंबन्धोऽत्र वेदितव्यः। ननु च असावधिकरणनिर्देशः, संबन्धनिर्देशेन चेहार्थः।

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ।३। यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते, एवमसंख्येयभागादिषु इत्यनेनाभिसंबन्धात् लोकाकाश इत्येष निर्देशः। लोकाकाशस्येत्यर्थवशात्[8] विभक्तिः परिणम्यते। तद्यथा–लोकस्य प्रदेशाः असंख्येया भागाः कृताः, तत्रै-

---

१ द्वयोः परमाण्वोर्बद्धयोरबद्धयोश्च एकस्मिन् द्वयोश्च आकाशप्रदेशयोरवगाह इत्यर्थः। २ संहरणविसर्पितादिवार्तिकव्याख्यानावसरे। ३–दिति चैकत्रा–मु०, द०, ब०, ता०, श्र०। ४ लङ्लुङ्लृङ्क्ष्वाङ्डित्यत्र अमाङीति निषेधान्नाट्। ५ विकल्प्यते–श्र०, मू०। ६ प्रतिशि–मु०, द०, ब०। ७–न्धानुप–मु०, द०, ब०। ८–शाद्विपरि–श्र०। –शाद्विपरि–मू०।

कस्मिन्नसंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते। तथा द्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येयभागेषु आ सर्वलोकादवगाहः प्रत्येतव्यः। नानाजीवानां तु सर्वलोक एव।

असंख्येयत्वाविशेषादवगाहाविशेष इति चेत्; न; असंख्येयस्याऽसंख्येयविकल्पत्वात्।४। स्यान्मतम्–एकस्मिन्नप्यसंख्येयभागे प्रदेशा असंख्येयाः, द्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येया एव ततो ५ नास्ति जीवानामवगाहविशेष इति; तन्न; किं कारणम्? असंख्येयस्यासंख्येयविकल्पत्वात्। अजघन्योत्कृष्टासंख्येयस्य हि असंख्येया विकल्पाः। अतोऽवगाहविकल्पो जीवानां सिद्धः।

प्रमाणविरोधादवगाहायुक्तिरिति चेत्; न; जीवद्वैविध्यात्।५। स्यादेतत्–यद्येकस्मिन् लोकस्यासंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते द्रव्यप्रमाणेनानन्तानन्तो जीवराशिः लोकाकाशे प्रमाणविरोधान्न स्थातुमर्हति इति; तन्न; किं कारणम्? जीवद्वैविध्यात्। द्विविधा जीवाः बादराः १० सूक्ष्माश्चेति। तत्र बादराः स[1]प्रतिघातशरीराः। सूक्ष्मा जीवाः सूक्ष्मपरिणामादेव सशरीरत्वेऽपि परस्परेण बादरैश्च न प्रतिहन्यन्त इत्यप्रतिघातशरीराः। ततो यत्रैकसूक्ष्मनिगोतजीवस्तिष्ठति तत्रानन्तानन्ताः साधारणशरीराः वसन्ति। बादराणां च मनुष्यादीनां शरीरेषु संस्वेदजसंमूर्च्छनजादीनां जीवानां प्रतिशरीरं बहूनामवस्थानमिति नास्त्यवगाहविरोधः। यदि बादरा एव जीवा अभविष्यन्नपि तर्हि अवगा[2]हविरोधोऽजनिष्यत। कथं सशरीरस्यात्मनोऽप्रतिघातत्वमिति चेत्? १५ दृष्टत्वात्। दृश्यते हि बालाग्रकोटिमात्रछिद्ररहिते घनबहलायसभित्तितले वज्रमयकपाटे बहिः समन्तात् वज्रलेपलिप्ते अपवरके देवदत्तस्य मृतस्य मूर्तिमज्ज्ञानावरणादिकर्मतैजसकार्मणशरीरसंबन्धित्वेऽपि गृहमभित्त्वैव निर्गमनम्, तथा सूक्ष्मनिगोतानामप्यप्रतिघातित्वं वेदितव्यम्।

अत्राह–लोकाकाशतुल्यप्रदेशः एको जीव इत्युक्तम्, तस्य कथं लोकस्यासंख्येयभागादिषु वृत्तिः? ननु सर्वलोकव्याप्त्यैव भवितव्यमित्यत्रोच्यते—

## २० प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मबादरशरीरानुवर्तनं प्रदेशसंहारविसर्पः।१। अमूर्तस्वभावस्या[3]प्यात्मनः अनादिसंबन्धं प्रत्येकत्वात् कथञ्चिन्मूर्ततां बिभ्रतः लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत् संकोचनं प्रदेशसंहारः। बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवत् विसर्पणं विसर्पः।

२५ ताभ्यामसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदीपवत्।२। यथा निरावरणव्योमप्रदेशावधृ[4]तप्रकाश[5]परिमाणः प्रदीपः शरावमानिकापवरकाद्यावरणवशात् तत्परिमाणप्रकाश उपलभ्यते, तथा ताभ्यां प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् असंख्येयभागादिषु परिच्छिन्ना वृत्तिरात्मनोऽवगन्तव्या।

तद्वदनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; इष्टत्वात्।३। स्यादेतत्–यदि संहारविसर्पणस्वभाव आत्मा प्रदीपादिवदेवास्यानित्यत्वं प्रसजतीति; तन्न; किं कारणम्? इष्टत्वात्। इष्टमेवैतत्–आत्मनः ३० कार्मणशरीरापादितप्रदेशसंहारविसर्पपर्यायादेशादनित्यत्वम्। अथवा इष्टत्वात्, इष्टमेवैतत्, संकोचविकासस्वभावत्वेऽपि रूपिद्रव्यसामान्यादेशान्नित्यत्वं[7] तथात्मनोऽपीति न बाधाकरो दृष्टान्तः।

सावयवत्वा[8]त् प्रदेशविशरणप्रसङ्ग इति चेत्; न; अमूर्तस्वभावापरित्यागात्।४। स्यान्मतम्–प्रदीपादिवत् यदि प्रदेशसंहारविसर्पवानात्मा, अतः संसारिणः घटादिवत् छेदभेदा-

१ मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतीघातः अनवगाहनमित्यर्थः। २–गाह्यविरो–मु०। ३ स्यात्म–श्र०। ४ निश्चित। ५–परिणामः ता०, श्र०। ६ रूपद्रव्य–श्र०, मू०। ७ यथा वा शिवकछत्रकस्थासकोशकुशूलादिपर्यायेषु मृद्द्रव्यम्। ८–वत्वाद्विश–मु०, श्र०, द०।

दिभिः प्रदेशविशरणप्रसङ्गः, ततश्च शून्यता प्राप्नोति इति; तन्न; किं कारणम् ? अमूर्तस्वभावापरित्यागात्। बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वमापद्यमानः नामूर्तस्वभावं जहातीति घटादिवत् न प्रदेशविशरणमस्ति। किञ्च,

अनेकान्तात् ।५। यो ह्येकान्तेन संहारविसर्पवानेवात्मा सावयवश्चेति वा ब्रूयात् तं प्रत्ययमुपालम्भो घटामुपेयात्। यस्य त्वनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्योपयोगादिद्रव्यार्थादेशात् स्यान्न प्रदेशसंहारविसर्पवान्, द्रव्यार्थादेशाच्च स्यान्निरवयवः, प्रतिनियतसूक्ष्मबादरशरीरापेक्षनिर्माणनामोदयपर्यायार्थादेशात् स्यात् प्रदेशसंहारविसर्पवान्, अनादिकर्मबन्धपर्यायार्थादेशाच्च स्यात् सावयवः, तं प्रत्यनुपालम्भः। किञ्च, ५

तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादणुवत् ।६। यस्यावयवाः कारणपूर्वका भवन्ति तस्यावयवविशरणं भवति, अवयूयन्ते इत्यवयवाः। यथा पटादेरनेकतन्त्वादिसंघातकारणत्वात् तन्त्वादिविश्लेषे विशरणं भवति न तथा आत्मनः अन्यद्रव्यसंघातपूर्वकाः प्रदेशाः। कुतः ? तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वात्। यथा अणोः प्रदेशः नान्यद्रव्यसंघातपूर्वकः ततो नासाववयवविश्लेषपूर्वकमनित्यत्वमास्कन्दति किन्तु संघातेनाऽनित्यः, तथा आत्मप्रदेशानामपि नान्यद्रव्यसंघातपूर्वकत्वमतः प्रदेशवत्त्वात् आत्मा सावयवोऽपि नावयवविश्लेषादनित्यः, किन्तु गत्यादिपर्यायादेशादनित्यः। १०

तत एव प्रतिप्रदेशं गुणविशेषाभावो घटवत् ।७। कुत एव[3] ? प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादेव। यथा घटस्य प्रदेशा अन्यद्रव्यसंघातपूर्वका इति तेषु प्रतिप्रदेशं[4] रूपादिगुणविशेषो दृष्टः, न तथा आत्मप्रदेशा अन्यद्रव्यसंघातपूर्वका इति न तेषु प्रतिप्रदेशं सुखादिगुणविशेषो भवति। यदि अन्यद्रव्यसंघातपूर्वकाः स्युरात्मप्रदेशाः तेषु घटवत् सुखादिविशेषवृत्तिः[5] स्यात्, ततश्चात्मनो बहुत्वं प्रसज्येत। यथाऽणौ निरवयवे एकजातीयो गुणः शुक्लादिरेककाले भवति एक एव न भिन्नजातीयस्तथा आत्मनि निरवयवे एकजातीयो गुणः सुखादिरेककाले भवति एक एव। अत्र कश्चिदाह– १५ २०

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलम् ॥" [ ] इति।

अत्रोच्यते—पिष्टपेषणमेतत्, मूर्ताऽमूर्तत्वं प्रति नित्यानित्यत्वं च प्रत्यनैकान्तिकत्वात् उपालम्भाभाव इति।

पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु वृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; शरीरप्रमाणानुविधानात् ।८। स्यान्मतम्–प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यामेव[6] पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु जीवस्य वृत्तिः प्राप्नोतीति[7]; तन्न; किं कारणम् ? शरीरप्रमाणानुविधानात्। कार्मणशरीरवशादुपात्तं महदल्पं वा शरीरमधितिष्ठति संसारी जीव इत्युक्तम्। न चैकप्रदेशादिकं शरीरमस्ति जघन्येनाऽङ्गुलस्याऽसंख्येयभागप्रमाणत्वात्। अतो नास्यैकप्रदेशादिषु वृत्तिरस्ति। २५

मुक्तानां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात् ।९। स्यादेतत्–यदि शरीरप्रमाणानुविधानात् आत्मनो नैकप्रदेशादिषु वृत्तिः, मुक्तानां तर्हि तदभावात्तत्प्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात्। येन शरीरेण मुक्तिमवाप्तवान् जीवस्तत्प्रमाणमेव देशोनमवलम्ब्यावतिष्ठते, न ततो वृद्धिर्नापि हानिः, पुनः प्रदेशसंहारविसर्पकारणाभावात्। अत्राह– ३०

१ घटपटादेः। २ नान्यद्रव्यपूर्वं–मु०, द०, ब०। ३ एतत् प्र– श्र०, मू०, ता०। ४ एकस्मिन्नेव घटे एकस्मिन् प्रदेशे श्यामत्वम् एकस्मिन् रक्तत्वमिति। ५ एकस्मिन् प्रदेशे सुखमन्यस्मिन् दुःखमित्यादि। ६–सर्पणाभ्या–मु०, मू०, द०, ब०, ७–प्नोति तत्र श्र०। ८ इत्येव।

न धर्मादीनां नानात्वम्, कुतः? देशसंस्थानकालदर्शनस्पर्शनावगाहनाद्यभेदात् ।१०। देशस्तावदेषामभिन्नः–यस्मिन् देशे धर्मोऽवस्थितः तस्मिन्नेवेतरेषामवस्थानात्। संस्थानमप्यभिन्नम्–यदेव धर्मस्य संस्थानमाकारः तदेवेतरेषाम्। कालश्चाभिन्नः–त्रिषु कालेषु धर्मादीनां तुल्यवृत्तित्वात्। दर्शनमप्यविशिष्टम्–येषुं ( तेषु ) यत्रैको धर्मः प्रत्यक्षज्ञानिभिर्दृष्टः तत्रैवेतरेषामपि दर्शनम्। स्पर्शनमप्यविशिष्टम्–धर्मादीनि द्रव्याणि सर्वात्मनाऽन्योन्यं स्पृशन्तीति। अवगाहनं चाऽभिन्नम्–एषां सर्वगतत्वात्। तथा अरूपत्वद्रव्यत्वज्ञेयत्वादिभिरप्यविशेषोऽवसेयः। अत्रोच्यते—

न; [2]अतस्तत्सिद्धेः ।११। यत एव धर्मादीनां देशादिभिः [3]अविशेषस्त्वया चोद्यते अत एव नानात्वसिद्धिः, यतो नासति नानात्वेऽविशेषसिद्धिः। न ह्येकस्याविशेषोऽस्ति। किञ्च, यथा रूपरसादीनां तुल्यदेशादित्वे नैकत्वं तथा धर्मादीनामपि नानात्वमिति।

आह–रूपादीनां तुल्यदेशत्वेऽपि चाक्षुषत्वादि[6]विशिष्टलक्षणोपेतत्वात् नानात्वं युक्तं न तथा धर्मादीनां विशेषकरं किञ्चिल्लक्षणमुक्तम्। स्यादेतत्, यदि न लक्षणभेदः। अस्ति तु भिन्नं लक्षणम्। किं पुनस्तदिति? अत उत्तरं पठति—

## गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अथवा, अणुस्कन्धभेदात् पुद्गलानाम् असंख्येयप्रदेशत्वाच्च आत्मनाम् अवगाहिनाम् एकप्रदेशादिषु पुद्गलानाम् असंख्येयभागादिषु च जीवानामवस्थानं युक्तमुक्तम्। तुल्ये पुनरसंख्येयप्रदेशत्वे कृत्स्नलोकव्यापित्वमेव धर्माधर्मयोः न पुनरसंख्येयभागादिवृत्तिरित्येतत्कथमनपदिष्टहेतुकमवसातुं शक्यमिति। अत्र ब्रूमः–अवसेयमसंशयम्। यथा मत्स्यगमनस्य जलमुपग्रहकारणमिति नासति जले मत्स्यगमनं भवति, तथा जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रसा परिणामनिमित्ताहितप्रकारां गतिस्थितिलक्षणां क्रियां स्वत एवाऽऽरभमाणानां सर्वत्र भावात् तदुपग्रहकारणाभ्यामपि धर्माधर्माभ्यां सर्वगताभ्यां भवितव्यम्, नासतोस्तयोर्गतिस्थितिवृत्तिरिति व्यापित्वदर्शनार्थमिदमुच्यते।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः ।१। द्रव्यस्य बाह्यान्तरहेतुसन्निधाने सति परिणममानस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिरित्युच्यते।

तद्विपरीता स्थितिः ।२। द्रव्यस्य स्वदेशादप्रच्यवनहेतुर्गतिनिवृत्तिरूपा स्थितिरवगन्तव्या।

उपग्रहोऽनुग्रहः ।३। द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह[7] इत्याख्यायते।

गतिस्थित्युपग्रहावित्यनेकविग्रहसंभवादर्थानिश्चयः ।४। विग्रहपूर्वको हि लोके वृत्तिपदस्यार्थनिश्चयो भवति। गतिस्थित्युपग्रहौ इत्यत्र तु अनेकविग्रहसंभवात् नास्त्यर्थानिश्चयः। तद्यथा–गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती, गतिस्थिती उपग्रहौ ययोस्तौ गतिस्थित्युपग्रहौ। गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ। गतिस्थिती एव वा उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ इति? नैष दोषः।

अन्यपदार्थवृत्त्यभावो गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मावित्यवचनात् ।५। नात्राऽन्यपदार्था वृत्तिः संभवति। कुतः? गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मावित्यवचनात्।

---

१ धर्मादिषु मध्ये एकः। २ यत एवाभेद आपादितः। ३ अभेदः। ४ यथा संयुक्तयोः क्षीरनीरयोरभेदः। ५ तुल्यदेशाधिष्ठानत्वे मु०, द०, ब०। ६ रसनग्राह्यत्वादि। ७ उपग्रहणमुपग्रहः।

**न षष्ठीवृत्तिर्द्विवचननिर्देशात् ।६।** नेयं षष्ठी वृत्तिः–गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति । कुतः ? द्विवचननिर्देशात् । यदि हि अत्र षष्ठीवृत्तिः स्यात्, उत्तरपदार्थस्य भावस्यैकस्य प्राधान्यात् लघ्वर्थ एकवचननिर्देशः क्रियेत, भेदेन च प्रयोजनाभावात् ।

**परिशेषात् समानाधिकरणा वृत्तिः ।७।** परिशेषात् समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिर्वेदितव्या–गतिस्थिती एव उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति ।　५

**तथा च द्वित्वोपपत्तिः ।८।** एवं च कृत्वा द्वित्वमुपपन्नं भवति, गतिस्थित्योर्भेदात् तत्सामानाधिकरण्यात् भेदसिद्धेः । कथं सामानाधिकरण्यम् ? कर्मसाधनत्वात्–[1]उपगृह्येते इत्युपग्रहौ गतिस्थिती इति ।

**धर्माधर्मयोरिति कर्तृनिर्देशः ।९।** धर्माधर्मयोरित्ययं कर्तृनिर्देशो द्रष्टव्यः । कथम् ? कर्तरि षष्ठीविधानात् । कां क्रियामपेक्ष्य कर्तृत्वं विवक्षितम् ? उपकार इत्युच्यते–उपकरोति[2] क्रियायाः　१० कर्तृत्वम्[3] उपकार इति । किंसाधनोऽयं शब्दः ? भावसाधनः ।

**उपकार इति भावसाधनश्चेत्; पूर्वेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरर्थान्तरवृत्तेः ।१०।** यद्युपकरणमुपकार इति भावसाधनशब्दः, गतिस्थित्युपग्रहावित्यनेन सामानाधिकरण्यं नोपपद्यते[4] धर्माधर्मयोरुपकारो गतिस्थित्युपग्रहाविति । कुतः ? अर्थान्तरवृत्तेः । उपकारो हि धर्माधर्मयोर्वर्तते कर्तृस्थक्रियात्वात् करोतेः, उपगृह्यमाणे तु गतिस्थिती जीवपुद्गलेष्विति । [5]एवं तर्हि कर्म-　१५ साधनः ?

[6]**कर्मसाधनश्चेद्वचनभेदानुपपत्तिः ।११।** यदि कर्मसाधनः; वचनभेदो नोपपद्यते, सामानाधिकरण्यात् द्विवचनं प्राप्नोति ।

**न वा सामान्योपादानात् ।१२।** न वैष दोषः, किं कारणम् ? सामान्योपादानात् । यथा 'साधोः [7]कार्यं तपःश्रुते' इति प्राक्सामान्यमपेक्ष्य लब्धैकवचनः कार्यशब्दः पश्चाद्विशेषसन्निधा-　२० नेऽपि नोपात्तं वचनं जहाति, तदिहापि ( तद्वदिहापि ) उपकारशब्दः उपात्तान्तरङ्गैकवचनो भिन्नवचनपदान्तरापेक्षायामपि न वचनान्तरसंक्रमं करोति[8] ।

**षष्ठीवृत्तिर्वा भावसाधनत्वोपपत्तेः ।१३।** अथवा, गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति षष्ठीवृत्तिरियम् । कुतः ? भावसाधनत्वोपपत्तेः, उपग्रहणमुपग्रह इति भावसाधनोऽयं शब्दः । तथा उपकारशब्दश्च भावसाधनः–उपकरणमुपकारः इति ।　२५

ननु चोक्तं भावस्यैकत्वात् द्विवचननिर्देशो नोपपद्यते इति; नैष दोषः;

**यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थो द्विवचनप्रयोगः ।१४।** धर्माधर्मौ द्वौ गतिस्थित्युपग्रहौ द्वौ, तयोः सामान्यात् यथासंख्यं स्यादिति द्विवचनप्रयोगः क्रियते । एकवचने हि सति यथा भूमिरेकैवाऽश्वादीनां गतिस्थित्योरुपग्रहे वर्तते, तथा धर्म एक एव जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योरुपग्रहं कुर्यात्, तथाऽधर्मोऽपि इत्ययमर्थो गम्येत । [9]अन्यतरस्य वैयर्थ्यमिति चेत्; न; [10]अनेकसहायकारणदर्शनात्[11] ।　३० तेनैतदुक्तं भवति–जीवपुद्गलानां स्वयमेव गतिपरिणामिनां तदुपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानो धर्मा-

---

१ धर्माधर्माभ्यामुपक्रियेते । २ इति । ३ तदपेक्षोऽयं कर्तरि षष्ठीनिर्देशः । ४–ते कुतः अर्थान्तरवृत्तेः धर्मा–मु०, मू०, द०, व० । ५ तटस्थ आह । ६ आह चोदकः । ७ किं तत् । ८ तथा हि धर्माधर्मयोः क उपकार इत्युक्ते गतिस्थित्युपग्रहाविति पश्चाद्विशेषसम्बन्धात् । ९ तथा सति सूत्रकारस्य धर्माधर्मयोर्मध्ये । १० यथैकस्य घटस्य चक्रचीवरकुलालाद्यनेकसहायकारणं दृष्टं तथा जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योः । ११ ता० प्रतौ वार्तिकचिह्नाङ्कितमिदम् ।

स्तिकायः। [1]तेषामेव स्वत एव स्थितिमास्कन्दतां बाह्योपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानोऽधर्मास्तिकायः[2]। सर्वत्र च तत्प्रयोजनदर्शनात् सर्वगतौ चैताविति।

उपग्रहावचनमुपकारेण कृतत्वात् ।१५। उपग्रहवचनमनर्थकम्। कुतः? उपकारेण कृतत्वात्। उपग्रह उपकार इत्यनर्थान्तरम्। तेन गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार इत्यस्तु लघुत्वात्।

५ [3]तयोः कर्तृत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उपकारवचनात् यष्ट्यादिवत् ।१६। स्यादेतत्–गतिस्थित्योः धर्माधर्मौ कर्तारौ इत्ययमर्थः प्रसक्त इति; तन्न; किं कारणम्? उपकारवचनात्। उपकारो बलाधानम् अवलम्बनम् इत्यनर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं[4] भवति। यथा अन्धस्येतरस्य वा स्वजङ्घाबलाद्गच्छतः यष्ट्याद्युपकारकं भवति न तु प्रेरकं तथा जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तिष्ठतां च धर्माधर्मौ उपकारकौ न प्रेरकौ

१० इत्युक्तं भवति।

गतिस्थिती धर्माधर्मकृते इत्यनुपदेशाच्च ।१७। यदि धर्माधर्मौ गतिस्थित्योः [5]प्रधानकर्तारौ स्याताम् 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' इत्युच्येत, न त्वेवमुक्तम्। ततश्च मन्यामहे न प्रधानकर्तारौ इति।

[6]न वा, यथासंख्यनिवृत्त्यर्थत्वात् ।१८। न वैष दोषः। किं कारणम्? यथासंख्यनिवृत्त्यर्थ-

१५ त्वात्। 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' इत्युच्यमाने आत्मनां गतिपरिणामोपकारो धर्मस्य न पुद्गलानाम्, स्थितिपरिणामोपकार इतरस्य नात्मनामिति याथासंख्यं प्रतीयेत, तन्निवृत्त्यर्थमुपग्रह[7]-वचनं क्रियते।

व्याख्यानादिष्टसंप्रत्यय इति चेत्; न; प्रतिपत्तेर्गौरवात् ।१९। स्यादेतत्, सर्वसन्देहेष्विदमुपतिष्ठते–"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" [पात० महा० पस्पशा० सू० ६] इति।

२० तत इष्टस्य संप्रत्ययो भवतीति; तन्न; किं कारणम्? प्रतिपत्तेर्गौरवात्। व्याख्यानादिष्टसंप्रत्यये क्रियमाणे बुद्धिखेदो माभूत् इत्युपग्रहवचनं कृतम्।

[8]सौषिर्यादाकाशस्योपग्रह इति चेत्; न; धर्माधर्मकालात्मपुद्गलाधिकरणत्वात् नगरान्तर्गतवेश्मवत् ।२०। स्यादेतत्–आकाशं सर्वगतमस्ति, तच्च [9]सौषिर्यगुणोपेतम्, अतः तस्यैव गतिस्थित्युपग्रहौ युक्तः, किमन्याभ्यां वृथा कल्पिताभ्यां धर्माधर्माभ्यामिति? तन्न; किं कारणम्? धर्मा-

२५ धर्मकालात्मपुद्गलाधिकरणत्वात् नभसः। कथम्? नगरान्तर्गतवेश्मवत्। यथा नगरान्तर्गतानां वेश्मनां नगरमधिकरणं तथा धर्मादीनां पञ्चानाम् आकाशमधिकरणम्। न चान्यस्य धर्मोऽन्यस्य भवितुमर्हति। यदि स्यात्, अप्तेजोगुणा द्रवदहनादयः पृथिव्या एव कल्प्यन्ताम्। किञ्च,

आकाशास्तित्वेऽपि अनुगृहीतद्रव्यसंबन्धेन सामर्थ्याविर्भावदर्शनात् अनिमिषव्रज्यावत् ।२१। यथा अनिमिषस्य [10]व्रज्या जलोपग्रहाद्भवति, जलाभावे च भुवि न भवति सत्यप्याका-

३० काशे। यद्याकाशोपग्रहात् मीनस्य गतिर्भवेत् भुवि अपि भवेत्। तथा गतिस्थितिपरिणामिनाम् आत्मपुद्गलानां धर्माधर्मोपग्रहात् गतिस्थिती भवतो नाकाशोपग्रहात्। यद्याकाशोपग्रहात्[11] गतिस्थिती स्याताम्; अलोकाकाशेऽपि भवेताम्। ततश्च लोकालोकविभागाभावः स्यात्। लोकव्यतिरिक्तेन चाऽलोकेन भवितव्यं नञ्पदोपहितस्यार्थवत्त्वदर्शनात् अब्राह्मणाभिधानवत्।

---

१ तथा जीवपुद्गलानां स्वयमेव स्थितिपरिणामिनां तदुपग्र–मु०, व०। २–यः इति स–मु०, द०, व०। ३ तटस्थाभिप्रायं निराकरोति परः। ४ निराकृतम्। ५ प्रेरक। ६ अथाचार्यो वदति। ७ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूचयन्त्याचार्यस्य। ८ सौखर्या–मु०। सुषिरत्व। ९ मत्स्यस्य। १० गमनम्। ११–त् स्याता–मू०।

स्वबाह्यकारणभावाऽभावयोस्तद्भावाभावदर्शनात् तदभाव इति चेत्; न; साधारणकारणत्वादाकाशवत् ।२२। स्यान्मतम्–इह गतिमतां स्थितिमतां च द्रव्याणां प्रतिनियतस्वबाह्यकारणसन्निधाने सति नियतगतिस्थित्योर्भावो दृष्टः, यथा मत्स्यादीनां जलादिसद्भावे[1] भावः तदभावे चाभावो दृष्टः। तेषामेव जलाद्यभावे धर्माधर्मयोः सतोरपि गतिस्थित्यभावः, तस्मात्तदधीने गतिस्थिती इति धर्माधर्मयोरभावः इति; तन्न; किं कारणम्? साधारणकारणत्वात् आकाशवत्। यथा सत्यपि भूम्यादावधिकरणे सर्वेषां साधारणमधिकरणमाकाशमिष्यते तथा मत्स्यादीनां सत्स्वपि जलादिषु कारणेषु सर्वेषां गतिस्थित्योः साधारणकारणौ धर्माधर्मावभ्युपगन्तव्यौ।

आकाशमेव पर्याप्तमिति चेत्; न; सर्वतन्त्रविरोधात् ।२३। स्यादेतत्–आकाशमेव विभुत्वात् सर्वद्रव्याणां गतिस्थित्योः साधारणकारणत्वेन पर्याप्तमिति; तन्न; किं कारणम्? सर्वतन्त्रविरोधात्। आकाशमेव पर्याप्तं नान्यदिति नियच्छतः सर्वतन्त्रविरोधो भवति। तद्यथा–[2]केचित्तावदाहुः–आकाशकालदिगात्मानः सर्वगता अपि सन्तः प्रतिनियतस्वलक्षणाः इति। तत्र हि दिङ्निमित्तो यो व्यवहारः इत इदमिति, कालनिमित्तश्च परोऽयमपरोऽयमिति नासावाकाशादृतेऽस्ति इत्याकाशस्यैवादः सामर्थ्यं न दिक्कालयोरिति दिक्कालाभावः प्रसक्तः। तथा च सर्वात्मनां चैकत्वप्रसङ्गः। यदि व्यापित्वादाकाशस्यैव गतिस्थित्युपग्रहः कल्प्यते, ननु यत्प्रत्यर्थनियतबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारगुणोपपत्तेः "व्यवस्थातः। शास्त्रसामर्थ्याच्च नाना" [वैशे० ३।२।२०,२१] आत्मान इति व्यवस्थितं तद्विरुध्यते। [3]अपर आहुः–त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमोऽभिधानाः प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नस्वभावा इति। यदि व्यापित्वादाकाशस्यैव [4]गतिस्थित्युपग्रहाविष्टौ; ननु सत्त्वस्य व्यापित्वात् शोषतापादयो रजोधर्माः सादनावरणादयश्च तमोधर्माः सत्त्वस्यैवेषितव्याः। तथेतरयोरपि प्रतिपक्षधर्मा इति सङ्करप्रसङ्गः। तथा सर्वक्षेत्रज्ञानां चैकत्वसङ्गः चैतन्यस्वरूपाविशेषात् [5]आद्यन्तभोगाविशेषाच्च। [6]अन्ये मन्यन्ते–रूपणानुभवननिमित्तग्रहणसंस्कृताभिसंस्करणालम्बनप्रज्ञप्तिस्वभावलक्षणा रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानाभिधानाः पञ्च स्कन्धाः इति। तत्र यद्येकस्यैव सर्वधर्माः कल्प्यन्ते; नासति विज्ञानेऽनुभवादयः संभवन्तीत्यनुभवादयो विज्ञानस्यैव कल्प्येरन्। तथा सति शेषस्कन्धनिवृत्तौ स्वनिवृत्तिरपि स्यात्, न चैतत् सर्वमिष्टम्। तस्मादभ्युपगम्यतामाकाशस्य विभुत्वेऽपि न धर्माधर्मयोः प्रयोजनं नास्तीति सिद्धौ धर्माधर्मास्तिकायौ।

उभयानुग्रहात् परस्परप्रतिबन्ध इति चेत्; न; स्वतः परिणामसामर्थ्यस्याऽनुग्रहाकाङ्क्षित्वात् कुण्टनयनयष्टिप्रदीपवत् ।२४। स्यान्मतम्, यथा तुल्यबलाभ्यां शकुन्ताभ्यामाकृष्यमाणो मांसपिण्डः यावत्क्षेत्रमेकेनाऽऽकृष्यते तावदितरेण अपकृष्येतेति नात्योत्कर्षापकर्षगतिविधिः संभवति, तथा जगद्व्यापित्वात् धर्माधर्मयोर्यदा धर्मोपग्रहाद् आत्मपुद्गलानां गतिस्तदैवाधर्मोपग्रहात् स्थितिरिति गतेः प्रतिबन्धः। यदा वा अधर्मानुग्रहात्स्थितिस्तदैव धर्मानुग्रहाद्गतिरिति स्थितेः प्रतिबन्धः। एवं तेषां न गतिर्न स्थितिरित्युभयाभावः इति; तन्न; किं कारणम्? स्वतः परिणामसामर्थ्यस्य अनुग्रहाकाङ्क्षित्वात्। कथम्? कुण्टनयनयष्टिप्रदीपवत्। यथा कुण्टस्य गतिपरि[7]णामसमर्थस्य यष्टिरुपग्राहिका न तु सा तस्य गतेः कर्त्री। यद्यसमर्थस्यापि कर्त्री भवेत्; मूर्च्छितसुषुप्तादीनामपि यष्टिसंबन्धाद्गतिः स्यात्। यथा वा नयनस्य स्वतो दर्शनसमर्थस्य प्रदीप उपग्राहकः न तु प्रदीपो नेत्रस्य दर्शनशक्तेः कर्ता। यद्यसमर्थस्यापि कर्ता स्यात्, मूर्च्छितसुषुप्तजात्यन्धानामपि दर्शनं कुर्यात्। तथा आत्मपुद्गलानामपि स्वयमेव गतिस्थितिपरिणामिनां धर्माधर्मावुपग्राहकौ

१ वे तदभावे मू०, द०, मु०, ब०। २ वैशेषिकाः–स०। ३ सांख्याः–स०। ४ गतिस्थितिरित्युप–मु०, द०। ५ आदानभो–मु०, द०, ब०। ६ बौद्धाः–स०। ७–मसामर्थ्यस्य मू०।

गतिस्थित्योर्न कर्तारौ। यदि कर्तारौ स्यातां स्याद् गतिस्थितिविरोधः। अतोऽनुग्राहकत्वान्नास्ति दोषः। किञ्च,

कचिदुपग्राहकाभावेऽपि गतिस्थितिदर्शनात् पतत्रिवत् ।२५। यथा पतत्रिणः प्रकृष्टगतिस्थितिक्रियापरिणामसामर्थ्यात् जलतुल्यबाह्योपग्राहकाभावेऽपि धर्माधर्मद्रव्यसद्भावात् गतिस्थिती
५ दृष्टे, तथेतरेषामपि द्रव्याणां धर्माधर्मोपष्टम्भात् गतिस्थितिसिद्धिरिति तदुपपत्तिः।

तत्राप्याकाशं निमित्तमिति चेदुक्तम् ।२६। यदि तत्रापि पतत्र्यादिषु आकाशमुपग्राहकमस्तीति कल्प्यते; उक्तमेतत्–नाकाशं गतिस्थित्युपग्रहकारणम् अवगाहनलक्षणत्वात्तस्येति।

अनेकान्ताच्च समग्रविकलेन्द्रियवत् ।२७। यथा नायमेकान्तः–सर्वश्चक्षुष्मान् बाह्यप्रकाशोपग्रहात् रूपं गृह्णातीति। यस्मात् द्वीपि[1]मार्जारादयः स्वजातिविशेषोपात्तनयनबलादेव विनापि
१० बाह्यप्रदीपाद्युपग्रहात् रूपग्रहणसमर्थाः, मनुष्यादयस्तु तथादर्शनशक्त्यभावात् प्रदीपाद्युपग्रहमपेक्ष्यन्त इत्यनेकान्तः। यथा वा, नायमेकान्तः–सर्व एव गतिमन्तो यष्ट्याद्युपग्रहात् गतिमारभन्ते नवेति, यस्मात् समग्रपञ्चेन्द्रियो बाह्ययष्ट्याद्युपग्रहात् विनापि धर्मोपग्रहाद्गतिमारभते नैवं चक्षुर्विकलः, स तु समविषमादिभूप्रदेशादर्शनात् तद्विशेषाविष्करणसमर्थां यष्टिमवष्टभ्य गतिमारभते इत्यनेकान्तः। तथा नायमेकान्तः– सर्वेषाम् आत्मपुद्गलानां सर्वे बाह्योपग्रहहेतवः सन्तीति, किन्तु
१५ केषाञ्चित् पतत्रिप्रभृतीनां धर्माधर्मावेव, अपरेषां जलादयोऽपीत्यनेकान्तः।

अनुपलब्धेरभाव इति चेत्; न; स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गात् ।२८। स्यान्मतम्, नच धर्माधर्मौ स्तः अनुपलब्धेः खरविषाणवत्। सतां हि यष्ट्यादीनाम् उपलब्धिरस्ति, तदुपकारश्च निम्नोन्नतादिभूप्रदेशे भेददर्शनं दृष्टम्। न च तथा धर्माधर्मावुपलभ्येते नापि तदुपकार इत्यसत्त्वमिति; तन्न; किं कारणम्? स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गात्। न वयमेवंप्रतिज्ञाः[2]–यो यो नोपलभ्यः स सोऽस-
२० न्निति। यस्तु एवंवादी[3] तस्य स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गः खरविषाणवत्। यथा खरविषाणम् अनुपलब्धेरसत् तथा स्वतीर्थकरपुण्यापुण्यपरलोकादीनामप्यसत्त्वमासक्तम्, न चाऽसत्त्वमिष्टं ततो हेतोर्व्यभिचारः। किञ्च,

अनुपलब्ध्यसिद्धेः ।२९। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वात् तत्प्रणीतपरमागमप्रमाणगम्यत्वात् तदनुसारिस्वकार्यदर्शनाद्यनुमानविषयत्वाच्च धर्माधर्मयोरुपलब्धेरनुपलब्धिलक्षणो हेतुर-
२५ स्मान् प्रत्यसिद्धः। न च हेतुः स्वयमसिद्धः साध्यमर्थं साधयितुमलम्।

अत एव विवादात् ।३०। यत एव यष्ट्यादिवत् न प्रत्यक्षौ धर्माधर्मावत एव विवादः–किमनुपलब्धेः खरविषाणवदभावोऽनयोः, उत अण्वाकाशमूलोदकादिवत् अभाव इति? न हि यत एव विवादः तत एव निर्णयो भवितुमर्हति। किञ्च,

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः ।३१। इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्,
३० यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाऽऽविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः, तथा पतत्रिप्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं चावाप्तुमलमिति तदुपग्रहकारणधर्माऽधर्मास्तिकायसिद्धिः। ततः किम्? अनुमानविरोधो वेदितव्यः।

३५ संसर्ग एव हेतुरिति चेत्; न; कारणनियमाभावप्रसङ्गात् ।३२। स्यान्मतम्–नानेककारणसाध्यं कार्यम्। किं तर्हि? संसर्ग एव हेतुः कार्यात्मलाभस्य, विविक्तानां तन्त्वादीनां कार्यारम्भ-

---

१ व्याघ्र। २ बसः ( बहुव्रीहिसमास इत्यर्थः )। ३ एवं वदतीति।

सामर्थ्याभावात् इति; तन्न; किं कारणम् ? कारणनियमाभावप्रसङ्गात्–यस्मात्कस्माच्चित्कारणसंसर्गात् पटनिष्पत्तिरस्तु। नो चेदेवं प्रतिविशिष्टतन्त्वादिकारणविषयसंसर्गापेक्षत्वादनेककारणत्वसिद्धिः। किञ्च,

एकस्य कारणस्य संसर्गाभावात् ।३३। अनेककारणसाध्यत्वात् संसर्गस्य। संसर्गकारणत्वे प्रतिज्ञाहानिः। अपि च, संसर्गकारणानां संयोगविशेषैः [2]संयोगिनां बहुत्वादनेकः [3]तत्साध्यत्वात् कार्यस्य अनेककारणत्वसिद्धिः। किञ्च,

स्वसमयविरोधात् ।३४। न च वयमेवंपक्षाः–यन्नोपलभ्यते प्रत्यक्षेण तन्नास्तीति। यस्य तु वादिन एषोऽभिप्रायस्तस्य स्वसमयविरोधः। तद्यथा–सर्वे हि वादिनः प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षार्थवादिनः। [4]केचित्तावदाहुः–प्रत्येकं रूपपरमाणवोऽतीन्द्रियास्तत्समुदायोऽनेकपरमाणुक [4]इन्द्रियग्राह्यो नाम [5]चित्तचैतसिकविकल्पमतीन्द्रियमिति। अपरे आहुः–व्यक्तस्य पृथिव्यादेः प्रधानपरिणामस्य प्रत्यक्षत्वं सत्त्वादीनां गुणानां परमात्मनां चाऽप्रत्यक्षमिति। [6]अन्ये तु मन्यन्ते–"महत्यनेकद्रव्यत्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशे० ४।१।६] इत्येवमादिना अनेकपरमाणुसमुदयभावेन निष्पन्नाः पृथिव्यादयस्तद्विषयाश्च रूपादयस्तत्समवायिनः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागादयश्च प्रत्यक्षाः, अण्वाकाशादयोऽप्रत्यक्षा इति। यदि यष्ट्यादिवदनुपलब्धेः धर्माधर्मयोरभावः प्रतिज्ञायेत; ननु विज्ञानादीनां सत्त्वादीनाम् अण्वादीनां चाऽप्रत्यक्षत्वादभावः स्यादिति स्वसमयविरोधः। अथैषां कार्यदर्शनात् अस्तित्वमनुमीयते; धर्माधर्मयोः को मत्सरः ? किञ्च,

त्वदीयजीवितमरणादिवत्तत्सिद्धिः ।३५। यथा त्वदीयजीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीनां मनुष्यमात्राप्रत्यक्षाणाम् अतिशयज्ञानिभिरुपलभ्यमानस्वरूपाणाम् अस्तित्वम्, तथा तावकीनप्रमाणगोचरातीतयोरपि परमर्षिसर्वज्ञदृष्टयोः धर्माधर्मयोरस्तित्वमिति को विरोधः ? किञ्च,

ज्ञानादिवदिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।३६। स्यादेतत्–यथा ज्ञानादीनामात्मपरिणामानां पुद्गलपरिणामानां च द[10]ध्यादिद्रव्यादीनां निर्वृत्तिः परस्पराश्रया न धर्माधर्मास्तिकायस्थानीयद्रव्यान्तराश्रया, तथा जीवपुद्गलेषु गतिस्थितिपरिणामा अपि अन्योन्याश्रया इति धर्माधर्माभाव इति। तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–पतत्त्रिप्रभृतीनां गतिस्थितिकारणेन साधारणेन बाह्येन भवितव्यमिति। किञ्च, ज्ञानादिदध्यादिविकाराणामपि निर्वृत्तेः कालो हेतुः बाह्योऽस्तीत्यभ्युपगमादसमस्समाधिः[11]।

अदृष्टहेतुके गतिस्थिती इति चेत्; न; पुद्गलेष्वभावात् ।३७। स्यान्मतम्–अदृष्टो नामात्मगुणोऽस्ति यद्धेतुकः सुखदुःखविपाकः [12]तत्साधनसन्निधानं च। एवं च कृत्वोक्तम्–"अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोश्चतिर्यक्पवनम् अणुमनसोश्चाद्यं [14]कर्मेत्येतान्यदृष्टकारितानि,उपसर्पणमपसर्पणमसितपीतसंयोगाः कायान्तरसंयोगश्चेति अदृष्टकारितानि" [वैशे० ५।२।१३, १७] इत्यादि, तद्धेतुके गतिस्थिती इति; तन्न; किं कारणम् ? पुद्गलेष्वभावात्। अचेतनत्वात् पुद्गलानां पुण्यापुण्यकरणा[15]भावात् तत्कृतगतिस्थित्यभावदोषः।

यस्योपकारस्तादर्थ्यात् क्रियाप्रवृत्तिरिति चेत्; न; अन्यधर्मस्याऽन्यत्र क्रियारम्भे सामर्थ्याभावात् ।३८। स्यादेतत्–यस्य घटादय उपकरिष्यन्ति तस्य पुंसोऽदृष्टाद् घटादिषु गतिस्थिती भवत इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यधर्मस्याऽन्यत्र क्रियारम्भे सामर्थ्याभावात्। न हि स्वाश्रये क्रियामनारभमाणः अन्यत्र क्रियाहेतुरस्तीत्युक्तं पुरस्तात्। किञ्च,

---

१ यथा कुलालस्य दण्डेन संसर्गः दण्डस्य च चक्रेण, मृत्पिण्डस्य कुलालहस्तेन चीवरेण चेत्यादि। २ कुलालादीनाम्। ३ अनेकसंयोग। ४ बौद्धाः–स०। ४ स्कन्धः। ५ ज्ञान–ज्ञानजसुखदुःखादि। ६ सांख्याः –स०। ७ वैशेषिकाः–स०। ८ दृश्यत्वम्। ९ सूत्रेण। १० दध्यादीनां मू०, मु०। द्रव्यादीनां द०। ११ परिहारः। १२ स्रग्वनिताऽहिलतादि। १३ तिर्यक्प्लवनं भा० २। १४ कर्मेत्याद्य–मू०। १५ पारण–मु०, द०।

**पुण्यापुण्यात्ययेऽपि गतिस्थितिदर्शनात्** ।३९। विनिर्मुक्तपुण्यापुण्यबन्धानां सिद्धानां गतिस्थिती इष्येते । ततो नादृष्टहेतुके गतिस्थिती ।

**अमूर्तत्वाद्गतिस्थितिनिमित्तत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; दृष्टान्ताभावात्** ।४०। स्यान्मतम्–रूपादिगुणविरहितत्वात् अमूर्तौ धर्माधर्मावभ्युपगम्येते, ततस्तयोर्गतिस्थितिहेतुत्वं नोपपद्यते इति;
५ तन्न; किं कारणम्? दृष्टान्ताभावात्। न हि दृष्टान्तोऽस्ति येनामूर्तत्वात् गतिस्थितिहेतुत्वं व्यावर्तेत । किञ्च,

**आकाशप्रधानविज्ञानादिवत्तत्सिद्धेः** ।४१। यथा आकाशममूर्तमपि सत् सर्वपदार्थानामवगाहनप्रयोजनमुपपादयति । यथा वा, प्रधानममूर्तमपि पुरुषार्थप्रवृत्त्या महदादिविकारमापद्यमानं पुरुषस्योपकरोति । यथा वा, विज्ञानममूर्तमपि सन्नामरूपोत्पत्तौ निमित्तं "विज्ञानप्रत्ययं
१० नामरूपम्" [ ] इति वचनात् । यथा वा, अपूर्वाख्यो[3] धर्मः क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते, तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहोऽवसेयः ।

अत्राह– यद्यतीन्द्रिययोर्धर्माधर्मयोरुपकारसंबन्धेनास्तित्वमवध्रियते तदनन्तरमुद्दिष्टस्य नभसोऽतीन्द्रियस्याधिगमे क उपकार इति ? अत्रोच्यते—

## आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

१५ आकाशशब्दो व्याख्यातार्थः ।

**अवगाहशब्दो भावसाधनः** ।१। अवगाहनमवगाह इति भावसाधनोऽवगाहशब्दो वेदितव्यः । अवगाहोऽनुप्रवेश इत्यर्थः ।

**धर्माधर्मयोरवगाहं प्रति कर्तृत्वादनादिसंबन्धनिवृत्तिरिति चेत्; न; औपचारिकत्वात् व्याप्तिसद्भावात्** ।२। स्यान्मतम्–यथा जलमवगाहते हंस इति न जलहंसयोरनादिसंबन्धः, तथा
२० आकाशं धर्माधर्माववगाहेते इत्यभ्युपगमात् अनादिसंबन्धो निवर्तेत इति; तन्न; किं कारणम्? औपचारिकत्वात्। औपचारिकोऽयमवगाहः। कुतः? क्रियाऽभावात्। कुतस्तर्हि उपचारः? व्याप्तिसद्भावात् । यथा गमनाभावेऽपि सर्वगतमाकाशमित्युच्यते व्याप्तिसद्भावात्, तथा मुख्यावगाहक्रियाऽभावेपि लोकाकाशेऽपि सर्वत्र व्याप्तिदर्शनात् व्यवह्रियते–धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाह इति ।

२५ **अयुतसिद्धानामाधाराधेयत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; तत्रापि दर्शनात् पाणिरेखावत्** ।३। स्यादेतत्–युतसिद्धानां लोके दृष्ट आधाराधेयभावः यथा कुण्डबदरादीनाम्। अयुतसिद्धाश्चैते आकाशधर्माधर्माः अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यभावात्, तत आधाराधेयभावो नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम्? तत्रापि दर्शनात्। यथा युतसिद्ध्यभावे पाणौ रेखेति आधाराधेयभावो दृष्टः तथा लोकाकाशे धर्माधर्मावित्याधेयाधारभावः सिद्धः ।

३० **दृष्टत्वादीश्वरैश्वर्यवत्** ।४। यथेश्वरस्यैश्वर्यस्य चाऽयुतसिद्धेऽपि ईश्वरे ऐश्वर्यमिति व्यवहारो दृष्टस्तथा लोकाकाशे धर्माधर्माविति व्यपदेशो युक्तः ।

**अनेकान्ताच्च तत्सिद्धिः** ।५। नायमेकान्तः–अनादिसंबन्धौ धर्माधर्मौ अयुतसिद्धौ चेति । किं तर्हि? स्यादनादिसंबन्धौ स्यान्नाऽनादिसंबन्धौ, स्यादयुतसिद्धौ स्यान्नाऽयुतसिद्धावित्यादि ।

१ सांख्याभिमतम्–स० । २ बौद्धसम्मतम्–स० । ३ मीमांसकाभिमतम्–स० ।

तद्यथा–पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् व्ययोदयाभावात् स्यादनादिसंबन्धी अयुतसिद्धौ च। द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् पर्यायाणां व्ययोत्पादसद्भावात् स्यान्नाऽनादिसंबन्धो नायुतसिद्धौ चेत्यादि योज्यम्। ततः किम्? कथञ्चित् अवगाहः आधाराधेयभावश्च सिद्धो भवति।

**जीवपुद्गलानां मुख्योऽवगाहः क्रियापरिणामात् ।६।** जीवानां पुद्गलानां च मुख्योऽवगाहो वेदितव्यः। कुतः? क्रियापरिणामात्। यथा हंसो जलमवगाहते इति मुख्यो व्यपदेशः तथा जीवपुद्गला आकाशमवगाहन्ते क्रियापरिणामात् इति मुख्यो व्यपदेशोऽवसेयः।

**आकाशस्यावकाशदानसामर्थ्यात् परस्परप्रतिघाताभाव इति चेत्; न; स्थूलानामन्योन्यप्रतिघातात् ।७।** स्यान्मतम्–यद्यवकाशदानसमर्थमाकाशं तस्य च सर्वत्र सन्निधानात्, मूर्तानां परस्परप्रतिघातो न स्यात्। दृश्यते च वज्रादिभिर्लोष्टादीनां भित्त्यादिभिश्च गवादीनाम्, ततोऽस्याऽवकाशदानसामर्थ्यं हीयत इति; तन्न; किं कारणम्? स्थूलानामन्योन्यंप्रतिघातात्। स्थूला हि परस्परतः प्रतिहन्यन्ते न सूक्ष्मास्तेषामन्योन्यप्रवेशशक्तियोगात्, न तस्य तावता अवकाशदानसामर्थ्यं हीयते।

**असाधारणलक्षणत्वानुपपत्तेरिति चेत्; न; सर्वावगाहविशेषलक्षणोपपत्तेः ।८।** स्यादेतत्–यदि सूक्ष्मभावात् इतरेऽपि पदार्थाः अन्योन्यावकाशदानं कुर्वन्ति नाकाशस्येदमसाधारणलक्षणम्। असाधारणेन हि लक्षणेन अस्तित्वमनुमीयते, अतस्तदभावादाकाशाभाव इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वावगाहविशेषलक्षणोपपत्तेः। यथा भूम्यादिषु अश्वादिगतिस्थित्युपग्रहदर्शनेऽपि सर्वद्रव्यगतिस्थित्युपग्रहरूपेणासाधारणलक्षणेनानुमीयेते (येते) धर्माधर्मौ, तथा सर्वद्रव्यावगाहनविशेषलक्षणोपपत्तेराकाशस्यास्तित्वमनुमीयते।

**अलोकाकाशे तदभावादभाव इति चेत्; न; स्वभावापरित्यागात् ।९।** स्यान्मतम्–यद्यवकाशदानलक्षणमाकाशम् अलोकाकाशेऽवगाहिनामभावात् तल्लक्षणाभावात् लक्ष्यानवधारणप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? स्वभावापरित्यागात्। यथा हंसस्यावगाहकस्याभावेऽप्यवगाह्यत्वं जलस्य न हीयते, तथा अवगाहिन्नभावेऽपि नाऽलोकाकाशस्य अवकाशदानसामर्थ्यहानिः।

**[2]अजातत्वादभाव इति चेत्; न; असिद्धेः ।१०।** स्यादेतत्–नास्त्याकाशमजातत्वात् खरविषाणवत् इति; तन्न; किं कारणम्? [3]असिद्धेः। द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् स्वप्रत्ययाऽगुरुलघुगुणवृद्धिहानिविकल्पापेक्षया अवगाहकजीवपुद्गलपरप्रत्ययावगाहभेदविवक्षया च आकाशस्य जातत्वोपपत्तेः हेतोरसिद्धिः। अथवा, व्ययोत्पादौ आकाशस्य दृश्येते। यथा चरमसमयस्याऽसर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्वेनोत्पादस्तथोपलब्धेः, असर्वज्ञत्वेन व्ययस्तथाऽनुपलब्धेः, एवं चरमसमयस्यासर्वज्ञस्य साक्षादनुपलभ्यमाकाशं सर्वज्ञत्वोपपत्तौ उपलभ्यत इति उपलभ्यत्वेनोत्पन्नमनुपलभ्यत्वेन च विनष्टम्। यदि तेनाऽविनष्टमनुत्पन्नं च स्यात्; सर्वज्ञत्वमेवास्य न स्यात्। अतो व्ययोत्पाददर्शनात् असिद्धो हेतुः। बुद्धिशब्दलक्षणस्य खरविषाणस्य स्वकारणसन्निधाने सति जन्मवत्त्वात् अस्तित्वाच्च साध्यसाधनधर्मासिद्धता दृष्टान्तस्य–खरो मृतः गौर्जातः स एव जीव इत्येकजीवविवक्षायां खरव्यपदेशभाजो जीवस्य गोजातिसंक्रमे विषाणोपलब्धेः, [4]अर्थखरविषाणस्यापि जात्यस्तित्वसद्भावात् उभयधर्मासिद्धता। निरन्वयविनश्वरत्वे तु [6]स्मृत्यभावात् लोकसंव्यवहारलोपः स्यात्।

**[7]अनावृतिराकाशमिति चेत्; न; नामवत् तत्सिद्धेः ।११।** स्यादेतत्–नाकाशं नाम

---

१–विशेषोपपत्तेः ब०, द०, मु०। २ अज्ञात–मु०। आह बौद्धः–जातं वा आकाशमजातं वा? यद्यजातम्; तर्हि नास्तीति। ३ असिद्धोऽयं हेतुः। ४ अथ खर–मु०, द०, ब०, ता०, श्र०। ५ उत्पत्ति। ६ दत्तग्रहादि। ७ "तत्राकाशमनावृतिः"–अभिध० १।५। ८ बौद्धः–स०।

किञ्चिद्वस्त्वस्ति, आवरणाभावमात्रं हि तदिति; तन्न; किं कारणम् ? नामवत्तत्सिद्धेः । यथा नामवेदनादि अमूर्तत्वात् अनावृत्यपि सदस्तीत्यभ्युपगम्यते, तथा आकाशमपि वस्तुभूतमित्यवसेयम् ।

[1]शब्दलिङ्गत्वादिति चेत्; न; पौद्गलिकत्वात् ।१२। स्यान्मतम्–नावगाहेन आकाशमनुमीयते । कुतस्तर्हि ? शब्दलिङ्गत्वात् । शब्दो ह्याकाशगुणः वाताभिघातबाह्यनिमित्तवशात् सर्वत्रोत्पद्यमान इन्द्रियप्रत्यक्षः अन्यद्रव्यासंभवी गुणिनमाकाशं सर्वगतं गमयति, गुणानामाधारपरतन्त्रत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? पौद्गलिकत्वात् । पुद्गलद्रव्यविकारो हि शब्दः, नाकाशगुणः । तस्योपरिष्टात् युक्तिर्वक्ष्यते ।

प्रधानविकार आकाशमिति चेत्; न; तत्परिणामाभावात् आत्मवत् ।१३। स्यान्मतम्[2]–प्रधानं नाम सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपमस्ति प्रसवस्वभावकम्, तद्विकारा महदादयस्तद्विकारविशेषः कश्चित् आकाशमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्परिणामाभावात् आत्मवत् । यथा परमात्मनां नित्यत्वात् निष्क्रियत्वात् अनन्तत्वाद्यविशेषात् आविर्भावतिरोभावाऽभावात् परिणामाभावः, तथा प्रधानस्यापि नित्यत्वनिष्क्रियत्वानन्तत्वाद्यविशेषान्न स्यात्परिणामः, तदभावात्प्रधानविकाराकाशकल्पनाव्याघातः । किञ्च, यथा घटस्य प्रधानविकार[3]स्याऽनित्यत्वं मूर्तत्वमसर्वगतत्वं च तथा आकाशस्यापि स्यात् विपर्ययो वा ।

उपकारप्रकरणाभिसंबन्धेनेदमुच्यते—

## शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

शरीरे सत्युत्तरेषां प्रवृत्तिदर्शनात् आदौ तद्वचनम् ।१। सति शरीरेऽधिष्ठानभूते उत्तरेषां वागादीनामाधेयानां प्रवृत्तिरिति कृत्वा शरीरं प्रधानमतस्तस्यादौ ग्रहणं क्रियते ।

तदनन्तरं वागुपादानं पुरुषहितावाप्तिमूलत्वात् ।२। तदनन्तरं वागुपादानं क्रियते । कुतः ? पुरुषहितावाप्तिमूलत्वात् । पुरुषस्य हि वाक् हिते प्रवर्तिका श्रोत्रेन्द्रियद्वारेण ।

अन्येन्द्रियोपसंख्यानमिति चेत्; न; चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् ।३। स्यान्मतम्–चक्षुरादीन्यपीन्द्रियाणि पुरुषस्योपकारकाणि सन्ति, तेषामुपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् । उत्तरसूत्रे वक्ष्यते चशब्दः, स इष्टसमुच्चयार्थो भवति ।

[4]आत्मप्रदेशाच्चक्षुराद्यग्रहणमिति चेत्; न; द्रव्येन्द्रियस्य पौद्गलिकत्वात् ।४। स्यादेतत्–उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमिता आत्मप्रदेशा ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्ताश्चक्षुरादिव्यपदेशभाजो न पौद्गलिका इत्यनुपसंख्यानमिति; तन्न; किं कारणम् ? द्रव्येन्द्रियस्य पौद्गलिकत्वात् । अङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्ता हि द्रव्येन्द्रियपरिणामाः पौद्गलिकाः आत्मनामुपकारे वर्तन्ते ।

मनोऽग्रहणप्रसङ्गाच्च ।५। यदि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्तत्वाच्चक्षुराद्यग्रहणं न्याय्यं मन्यते मनसोऽप्यग्रहणं प्राप्नोति । मनोऽपि हि नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षम् ।

अनवस्थितत्वात् मनोग्रहणमिति चेत्; न; अनवस्थानेऽपि तन्निमित्तत्वात् ।६। स्यान्मतम्–यथा चक्षुरादिव्यपदेशभाज आत्मप्रदेशा अवस्थिता नियतदेशत्वात् न तथा मनोऽवस्थितमस्ति, अत एव तदनिन्द्रियमित्युच्यते, ततोऽस्य न पृथग्ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्था-

---

१ आह नैयायिकः शब्दलिङ्गमाकाशमिति । २ सांख्यस्य–स० । ३ अथ 'आकाशस्य प्रधानविकारस्य नित्यत्वममूर्तत्वं सर्वगतत्वं च तथा घटस्यापि स्यात् कारणसमानत्वात् । ४ आत्मप्रदेशत्वाचक्षुरादिभावेन्द्रियाणां पुद्गलप्रकरणे तद्ग्रहणं युक्तं सूत्रकारस्येति चोदकमाह'''। ५ नियतोद्देश–मु०, मू०, ता०, द०, ब० ।

नेऽपि तन्निमित्तत्वात्। यत्र यत्र प्रणिधानं तत्र तत्र आत्मप्रदेशा अङ्गुलासंख्येयभागप्रमिता मनोव्यपदेशभाजः।

वागग्रहणप्रसङ्गाच्च ।७। यदि आत्मपरिणामाच्चक्षुराद्यग्रहणं कल्प्यते वाचोऽप्यग्रहणम्, वागपि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमोपष्टम्भजनितवृत्तिः[1]।

बहिर्विनिःसृतानामात्मपरिणामाभावात्तद्ग्रहणमिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।८। स्यादेतत्–बहिर्विनिःसृता वाक्पुद्गला आत्मपरिणामा न भवन्ति, तदर्थं[2] पृथग्ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्[3]। उक्तमेतत् तदुत्पतद्भि (तदुत्तरद्भि) रेवाऽस्माभिः–चक्षुरादीनि द्रव्येन्द्रियाणि पौद्गलिकानीति। तस्मात् सूक्तं चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वादिति। ५

ततो मनोग्रहणं तद्वतस्तत्सिद्धेः ।९। ततः पश्चात् मनोग्रहणं क्रियते। कुतः? तद्वतस्तत्सिद्धेः। यस्यात्मनः शरीरमस्ति वाङ्निर्वर्तनसामर्थ्यं च, तस्य हि तद्भवतीति। १०

अन्ते प्राणापानोपादानं सर्वसंसारिकार्यत्वात् ।१०। अन्ते[4] प्राणापानोपादानं क्रियते। कुतः? सर्वसंसारिकार्यत्वात्। सर्वेषां हि संसारिणां जीवानां प्राणापानलक्षणं कार्यमस्ति।

पुद्गलद्रव्यलक्षणार्थमिति चेत्; न; वक्ष्यमाणत्वात् ।११। स्यान्मतम्–शरीरवाङ्मनःप्राणापानग्रहणमिदं पुद्गलद्रव्यस्य लक्षणार्थं नोपकारप्रतिपादनार्थमिति; तन्न; किं कारणम्? वक्ष्यमाणत्वात्। वक्ष्यते हि उत्तरत्र पुद्गललक्षणं व्यापि, इदं तु आत्मोपकारकत्वादुपग्रहप्रकरणे उच्यते। १५

प्रत्यक्षत्वादनुपदेशः इति चेत्; न; केषाञ्चिदप्रत्यक्षत्वात् ।१२। स्यादेतत्–धर्मादीनां गत्युपग्रहादिप्रयोजनमुक्तं युक्तं तेषामप्रत्यक्षाणामधिगमहेतुत्वात्। शरीराद्युपग्रहाभिधानं तु पुद्गलानामयुक्तं प्रत्यक्षत्वात्। यो हि ब्रूयात्[5]–पुरस्तात् आदित्य उदेति पश्चादस्तं गच्छति, मधुरो गुडः, कटुकं शृङ्गिवेरमिति; किं तेन कृतं स्यादिति? तन्न; किं कारणम्? केषाञ्चित् अप्रत्यक्षत्वात्, औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराणि[6] सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षाणि, तदुदयापादितवृत्तीन्युपचयशरीराणि कानिचित्[7] प्रत्यक्षाणि कानिचिदप्रत्यक्षाणि[8]। मनोऽप्रत्यक्षमेव। वाक्प्राणापानाः [9]केचित् प्रत्यक्षाः, [10]केचिदप्रत्यक्षा इन्द्रियगोचरातीतत्वात्। अतः पुद्गलोपकारस्फुटीकरणार्थः शरीराद्युपदेशः क्रियते। २०

शरीराण्युक्तानि ।१३। शरीराण्यौदारिकादीनि व्याख्यातानि पौद्गलिकानि।

कार्मणमपौद्गलिकमिति चेत्; न; तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् ।१४। स्यादेतत्–कार्मणं पौद्गलिकं न भवति। कुतः? [11]अनाकारत्वात्। आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तं कार्मणं तु अनाकारमिति; तन्न; किं कारणम्? तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात्। यथा व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्रापितपाकानां पौद्गलिकत्वं दृष्टं तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात् पौद्गलिकमित्यवसेयम्। न हि अमूर्तं किञ्चिन्मूर्तिमत्संबन्धे सति विपच्यमानं दृष्टमिति। २५ ३०

वाग् द्विधा अपि पौद्गलिकी तन्निमित्तत्वात् ।१५। द्विधा वाक्–भाववाक् द्रव्यवागिति। सोभयी पौद्गलिकी। कुतः? तन्निमित्तत्वात् पुद्गलकार्यत्वादित्यर्थः। भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी; तदभावे तद्वृत्त्यभावात्।

---

१ हस्तपादादिप्रदेशे परिणामः। २ अन्तर्जल्परूपा। ३ वादस्याभिमुखैः सद्भिरेव। ४ अन्ते तु प्रा–मु०, द०, ब०। ५ किमिति। ६ शरीरनामकर्माणि इत्यर्थः। ७ कानिचित् प्रत्यक्षाणि च मु०, द०, ब०। ८ तैजसादीनि। ९ मनुष्याणाम्। १० सूक्ष्मजीवानाम्। ११ अङ्गोपाङ्गरहितत्वादित्यर्थः।

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात्। [1]पुनः कुतो न गृह्यते इति चेत् ? उच्यते—

पुनरग्रहणं तडिद्‌द्रव्यवदसंहतत्वात् ।१६। यथा तडिद्‌द्रव्यं चक्षुषोपलब्धं विष्वग्विशीर्णत्वात् पुनर्न दृश्यते तथा श्रोत्रेण उपलब्धा वाक् विष्वग्विशीर्णा पुनर्न श्रूयते। अथ कथं ५ चक्षुरादिभिरसौ न गृह्यते ?

चक्षुरादिग्रहणाभावो घ्राणग्राह्ये रसाद्यनुपलब्धिवत् ।१७। यथा घ्राणग्राह्ये गन्धद्रव्ये तदविनाभाविनः सन्तोऽपि रसादयो नोपलभ्यन्ते, तथा श्रोत्रेन्द्रियविषयोऽपि[2] शेषेन्द्रियैर्न गृह्यते सूक्ष्मत्वात्।

अमूर्तिरिति चेत्; न; मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोधदर्शनात् ।१८। स्यादेतत्—अमूर्तः शब्दः १० अमूर्तगुणत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोधदर्शनात्। मूर्तिमता इन्द्रियेण शब्दो गृह्यते। न चामूर्तः कश्चिदिन्द्रियग्राह्योऽस्ति। प्रेर्यते च मूर्तिमता पवनेन अर्कतूलराशिवत्[3] दिगन्तरस्थेन ग्राह्यत्वात्। न चाऽमूर्तस्य मूर्तिमता प्रेरणं प्रयुज्यते। अवरुध्यते च शब्दः नलबिलादिभिः [4]कुल्याजलवत्। नचाऽमूर्तं किञ्चिन्मूर्तिमता अवरुध्यमानं दृष्टमिति।

अत्राह[5]—नैते हेतवः। यस्तावदुच्यते—इन्द्रियग्राह्यत्वादिति; श्रोत्रमाकाशमयममूर्त्तममूर्त्तस्य १५ ग्राहकमिति को विरोधः ? यश्चोच्यते—प्रेरणादिति; नासौ प्रेर्यते गुणस्य गमनाभावात्। देशान्तरस्थेन कथं गृह्यते इति चेत् ? "[6]संयोगाद्विभागात्[7] शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" [ वैशे० २।२।३१ ] इति शब्दान्तरारम्भाद् ग्रहणम्। [8]वेगवद्‌द्रव्याभिघातात् तदनारम्भेऽग्रहणं न प्रेरणमिति। योऽप्युच्यते—अवरोधादिति; स्पर्शवद्‌द्रव्याभिघातादेव दिगन्तरे शब्दान्तरानारम्भात्, [9]एकदिक्कारम्भे सति अवरोध इव लक्ष्यते न तु मुख्योऽस्तीति। अत्रोच्यते—नैते दोषाः। श्रोत्रं 'तावदाकाशमयम्' इति नोपपद्यते; २० आकाशस्यामूर्तस्य कार्यान्तरारम्भशक्तिविरहात्। अदृष्टवशादिति चेत्; [10]चिन्त्यमेतत्—किमसावदृष्ट आकाशं संस्करोति, उतात्मानम्, आहोस्वित् शरीरैकदेशमिति ? न तावदाकाशे संस्कारो युज्यते; अमूर्तित्वात् अन्यगुणत्वादसंबन्धाच्च। आत्मन्यपि शरीरादत्यन्तमन्यत्वेन कल्पिते नित्ये निरवयवे संस्काराधानं न युज्यते, तदुपार्जनफलादानाऽसंभवात्। नापि शरीरैकदेशे युज्यते; अन्यगुणत्वात् अनभिसंबन्धाच्च। किञ्च, मूर्तिमत्संबन्धजनितवि[11]पत्संपत्तिदर्शनात् श्रोत्रं मूर्त्तमेवेत्यवसेयम्। यद२५ प्युच्यते—स्पर्शवद्‌द्रव्याभिघातात् शब्दान्तरानारम्भ इति; खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः, स्पर्शवद्‌द्रव्याभिघातादेव मूर्त्तत्वमस्य सिद्धम्। न हि अमूर्तः कश्चित् मूर्तिमता विहन्यते। तत एव च मुख्यावरोधसिद्धिः स्पर्शवदभिघाताभ्युपगमात्।

अभिभवादिदर्शनाच्च मूर्तः शब्दः इत्यवगन्तव्यम् ।१९। यथा तारकादयो भास्करप्रभाभिवान्मूर्तिमन्तः, तथा सिंहगजभेर्यादिशब्दैर्बृहद्भिः [12]शकुनिरुतादयोऽभिभूयन्ते। तथा कंसादिषु ३० पतिता ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति। गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहताः [13]प्रतिश्रुद्भावमास्कन्दन्ति। अत्राह—अमूर्तेरप्यभिभवा दृश्यन्ते—यथा विज्ञानस्य सुरादिभिः मूर्तिमद्भिस्ततो नायं निश्चयहेतुरिति; उच्यते—नायं व्यभिचारः, विज्ञानस्य क्षायोपशमिकस्य पौद्गलिकत्वाभ्युपगमात्। इतरथा हि आकाशवन्नाभिभूयते ( भूयेत )।

---

१ एकवारमुच्चरितः शब्दः स एव। २ शब्दः। ३ अभिमुखीभूतं देवदत्तं प्रति प्रेर्यमाणः शब्दः अन्यदिक्स्थितेन पुरुषेण। ४ कृत्रिमसरित्। ५ वैशेषिकः—स०। ६ भेरीदण्डयोः। ७ वंशस्य। ८ वायु। ९ शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तेः। १० विचार्यम्। ११ तृणादि, तत्प्रतिकारतैलादि। १२ शकुनरु—ता०, श्र०, मू०। १३ प्रतिध्वनि।

मनश्च द्वितयं पौद्गलिकं तन्मयत्वात् ।२०। द्विप्रकारं मनो भावमनो द्रव्यमनश्चेति। तदुभयमपि पौद्गलिकम्। कुतः ? तन्मयत्वात्। भावमनस्तावत् लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम्। द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्याऽऽत्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गलाः वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकं नाकाशमयम्। ५

अर्थान्तरमिति चेत्; न; अनेकान्तात् इन्द्रियवत् ।२१। स्यादेतत्–अर्थान्तरम् आत्मनो मन इति; तन्न; किं कारणम् ? अनेकान्तात् इन्द्रियवत्। यथा वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन एवेन्द्रियपरिणामादेशादात्मनो नानन्यदिन्द्रियम्, इन्द्रियनिवृत्तावपि[3] आत्मनोऽवस्थानात् स्यादन्यत्। तथाऽऽत्मन एव तत्क्षयोपशमापेक्षस्य मनःपरिणामादेशात् स्यादनन्यत्, मनोनिवृत्तावात्मनोऽवस्थानात् स्यादन्यत्। १०

अवस्थायीति चेत्; न; अनन्तरसमयप्रच्युतेः ।२२। स्यादेतत्–अवस्थायि मनः, न तस्य निवृत्तिरिति; तन्न; किं कारणम् ? अनन्तरसमयप्रच्युतेः। मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्गला गुणदोपविचारस्मरणादि कार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते।

आदेशवचनाच्च ।२३। नायमेकान्तः–अवस्थाय्येव मन इति। कुतः ? आदेशवचनात्–द्रव्यार्थादेशान्मनः स्यादवस्थायि, पर्यायादेशात् स्यादनवस्थायि। १५

एकद्रव्यमिति चेत्; न; असामर्थ्यात् ।२४।स्यादेतत्–एकद्रव्यं मनः प्रत्यात्मं वर्तते इति। [4]उक्तं च–"प्रयत्नायौगपद्यात् ज्ञानायौगपद्याच्चैकं मनः" [ वैशे० ३।२।३ ] इति; तन्न; किं कारणम् ? असामर्थ्यात्। कथमसामर्थ्यम् ? परमाणुमात्रत्वात्। परमाणुमात्रं हि मनः तदात्मनेन्द्रियेण च युक्तं सत् स्वप्रयोजनं प्रति व्याप्रियते इत्यभिमतम्[5]। तत्रेदं विचार्यते–तत् आत्मेन्द्रियाभ्यां सर्वात्मना वा संबन्ध्येत, तदेकदेशेन वा ? यदि सर्वात्मना; तयोरात्मेन्द्रिययोरर्थान्तरभावात् व्यतिरिक्तयोरन्यतरेण सर्वात्मना संबन्धः स्यात् अणोर्मनसः नोभाभ्यां युगपत्, विरोधात्। अथान्येन देशेन आत्मना संबध्यते अन्येन देशेनेन्द्रियेण; एवं सति प्रदेशवत्त्वं मनसः प्रसक्तम्। तच्चानिष्टम्, अणुमात्रत्वात् मनसः। किञ्च, यद्यात्मा मनसा सर्वात्मना संबध्यते; मनसोऽणुत्वात् आत्मनोऽप्यणुत्वम्, आत्मनो विभुत्वात् मनसो वा विभुत्वं प्रसज्यते। अथैकदेशेनाऽऽत्मा मनसा संयुज्यते, ननु प्रदेशवत्त्वमात्मनः प्रसक्तम्। ततश्चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षजज्ञानसुखदुःखादीनां प्रदेशवृत्तित्वात् आत्मनः कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादियुक्तः कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादिविरहित इति। यत्र ज्ञानादिविरहितः तत्रात्मलिङ्गाभावात् तदभाव इति सर्वगतत्वाभावः स्यात्। तथेन्द्रियेण मनो यदि सर्वात्मना संयुज्यते; इन्द्रियस्याणुमात्रत्वं मनसो वेन्द्रियमात्रत्वान्नाणुत्वम्। अथैकदेशेन मन इन्द्रियेण संयुज्यते; न तर्हि अणु तत्। किञ्च, गुणगुणिनोरन्यत्वान्नित्यत्वाच्च मनसः संयोगविभागपरिणामाभावात् नात्मना न चेन्द्रियैः संयोगविभागौ स्तः। अथ संयोगविभागाभ्यां मनः परिणमते; न तर्हि नित्यम्। न च गुणगुणिनोरन्यत्वम्। अचेतनत्वाच्च मनसः अनेनैव इन्द्रियेणाऽनेनैव चात्मना संयोक्तव्यं नेन्द्रियान्तरैर्न चात्मान्तरैरिति विशेषज्ञानाभावात् प्रतिनियतात्मेन्द्रियसंयोगाभावः। [10]कर्मवदिति चेत्; न; पौरुषेयपरिणामानुरञ्जित्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्, पुद्गलद्रव्यादेशाच्च स्यादचेतनत्वमिति विषमो दृष्टान्तः।

२० २५ ३०

---

१–मुखस्या–मू०, ता०, श्र०। २–शात् स्यादनन्यदि–मु०। ३ पञ्चेन्द्रियस्य चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियादिजन्मनि। ४ स्वमताभिप्रायं दर्शयति। ५ किमिति। ६ रूपालोकनप्रयत्नेन शेषविशेषप्रयत्नः। ७ तत्र। ८ आत्मना वा इन्द्रियेण वा। ९ आत्मना व्यापित्वादेकस्मिन् शरीरे अनन्तात्मनां सद्भावात्। १० यथा भवन्मते कर्मण अचेतनत्वेऽपि आत्मनः सुखदुःखादिकार्यहेतुत्वं तद्वन्मनस इत्याह परः कर्मवदिति।

[1]सौक्ष्म्याच्च मनसश्चक्षुरादीनां रूपादिग्रहणयोग्यत्वाभावः अणुना मनसा चक्षुरादेः कृत्स्नस्याऽनधिष्ठितत्वात्। यावान् देशश्चक्षुरादीनामणुना मनसाऽधिष्ठितस्तावता एव रूपादिग्रहणसामर्थ्यं भवेत् न कृत्स्नस्य। दृष्टं च कृत्स्नग्रहणं तस्मात् नाणु।

आशुसंचारीति चेत्; न; अचेतनत्वात्।२५। स्यान्मतम्–अणुमात्रमपि सन्मनः आशुसंचा-
५ रित्वात् कृत्स्नग्रहणहेतुरिति; तन्न; किं कारणम्? अचेतनत्वात्। न हि अचेतनस्य मनसः बुद्धिपूर्विका सर्वत्र व्यापृतिर्युक्ता।

अदृष्टवशादिति चेत्; न; क्रियापरिणामाभावात्।२६। स्यादेतत्–यथा पुरुषेण प्रेर्यमाणमलातचक्रमाशुसंचरणात् सर्वत्रोपलभ्यते, तथाऽदृष्टवशान्मनसो भ्रमणमिति; तन्न; किं कारणम्? क्रियापरिणामाभावात्। क्रियावता हि पुरुषेण प्रेर्यमाणमलातचक्रं सर्वत्रोपलभ्यते इत्येतद्युक्तम्,
१० अदृष्टः पुनरात्मगुणः स्वयमक्रियोऽन्यत्र क्रियाहेतुरित्येतदयुक्तमित्युक्तं पुरस्तात्।

[2]अनादिसंबन्धमिति चेत्; न; संयोगित्वात्।२७। स्यादेतत्–अनादिसंबन्धमात्मना मनः स्वभावत एवेति; तन्न; किं कारणम्? संयोगित्वात्। [3]अप्राप्तिपूर्विका हि प्राप्तिः संयोगः इत्यणुमनोवादिनाऽभ्युपगम्यते इति न मनोद्रव्यस्याऽऽत्मनाऽनादिसंबन्धः। [4]क्षायोपशमिकत्वाच्च नार्हतस्य आत्मनाऽनादिसंबन्धं मन इति सिद्धमस्ति।

१५ तत्परित्यागविरोधाच्च।२८। यदि अनादिसंबन्धं मनो भवेत्, अतोऽस्य परित्यागविरोधः स्यात्। अस्ति च परित्यागः। अतो नानादिसंबन्धं मनः।

कर्मवदिति चेत्; न; अनेकान्तात्।२९। स्यादेतत्–यथा जीवकर्मणोरनादिसम्बन्धेऽपि कर्मपरित्यागाविरोधः तथा मनसोऽपीति; तन्न; किं कारणम्? अनेकान्तात्। नायमेकान्तः–जीवकर्मणोरनादिसंबन्ध इति। किं तर्हि? [6]कर्मबन्धसन्तत्यपेक्षया स्यादनादिसंबन्धः, मिथ्यादर्शनादि-
२० प्रत्ययापादितबन्धभेदापेक्षया स्यादादिमान्। अतोऽस्य तत्प्रत्यनीकभावनाप्रकर्षसन्निधौ परित्याग इति नास्ति विरोधः।

इन्द्रियसहकारिवेदनावगमादिति चेत्; न; चेतनास्वभावत्वात्।३०। स्यादेतत्–इन्द्रियाणां सहकारिकारणं मनः। कुतः? चक्षुरादिभिरिष्टानिष्टरूपरसादिविषयोपलब्धौ तत्सन्निधाने सुखदुःखवेदनावगमात् नान्योऽस्य व्यापारोऽस्ति इति; तन्न; किं कारणम्? चेतनास्वभावत्वात्।
२५ निष्टप्तायःपिण्डवत् इन्द्रियपरिणामात् आत्मैव इन्द्रियम्, अतश्चेतनास्वाभाव्यात् इन्द्रियाण्येव वेदनावगमं कुर्वन्ति। अतश्चैतदेवं यदि मनोऽन्तरेण इन्द्रियाणां वेदनावगमो न स्यात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च वेदनावगमो न स्यात्।

पृथगुपकारानुपलम्भात् तदभाव इति चेत्; न; गुणदोषविचारादिदर्शनात्।३१। स्यान्मतम्–नास्ति मनः पृथगुपकारानुपलम्भात् इति; तन्न; किं कारणम्? गुणदोषविचारादिदर्शनात्
३० मनसः। मनोलब्धिमता आत्मना मनस्त्वेन परिणामिता पुद्गलाः तिमिरान्धकारादिबाह्याभ्यतरेन्द्रियप्रतिघातहेतुसन्निधानेऽपि गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्यमनुभवन्ति, अतोऽस्त्यन्तःकरणं मनः।

विज्ञानमिति चेत्; न; तत्सामर्थ्याभावात्।३२। स्यान्मतम्–न मनो नामाऽन्यदस्ति। किं तर्हि? विज्ञानमेव किञ्चिन्मनः इति व्यपदिश्यते। उक्तं च–

---

१ तावताऽपरितुष्टः सन् दूषणान्तरमप्यापादयति। २ तरुणनैयायिकवत् सृष्टिसंहारमतमनङ्गीकृत्य आत्ममनइन्द्रियाणामनादिसम्बन्ध एव संयोग इत्याह जरन्नैयायिकः, तमाचार्यो निराकरोति। ३ "अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः।"–प्रश० भा० पृ० ६२। ४ तर्हि भवतां कथमिति चेदाह। ५ एकाक्षविकलाक्षादिषु। ६ कर्मसम्बन्ध–मु०, द०। ७ इन्द्रियाणाम्। ८ परिणमिताः मु०, ता०, द०। ९ बौद्धस्य।

"[1]षण्णामनन्तरातीतं[2] विज्ञानं यद्धि तन्मनः" [अभिध० १।१७] इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्साम-र्थ्याभावात्। वर्तमानमेव विज्ञानं बाह्यमर्थं नावबोद्धुमलं किमङ्ग पुनरतीतम् ? वर्तमानं ताव-द्विज्ञानं क्षणिकं पूर्वोत्तरविज्ञानसंबन्धनिरुत्सुकं कथं गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्यं कुर्यात् ? अनुस्मरणं हीदं स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टं नानुभूतस्य ( नाननुभूतस्य ) नान्यानुभूतस्य। न च क्षणिकैकान्ते तत्संभवति। एकसन्तानपतितत्वात् तदुपपत्तिरिति चेत्; न; तदवस्तुत्वात्[3] तदतीतमत्यन्तमसत् कथमिव गुणदोषविचारस्मरणादौ सहायि भवेत् ? आलयविज्ञानं[4] [5]वीज-शक्तिरूपं सदवस्थितमालम्बनं भवतीति चेत्; तस्य[6] एकस्य कालान्तरावस्थायित्वाभ्युपगमे क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः। न चेत्; तदालम्बनाभावः।

प्रधानविकार इति चेत्; न; अचेतनत्वात् ।३३। स्यादेतत्[7]–न पौद्गलिकं मनः। किं तर्हि ? प्रधानविकारः। प्रधानस्य महदहङ्कारादिभावेन परिणामिनः कश्चिद्विकारविशेषो मनः इत्याख्या-यते इति; तन्न; किं कारणम् ? अचेतनत्वात्। प्रधानमचेतनं तद्विकाराश्च तदात्मका इति घटवद-चेतनस्य तस्य गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्याभावः। किञ्च, मनः [8]करणं विचारादेः, कर्ता पुरुषः, प्रधानं वा स्यात् ? न तावत् पुरुषः; निर्गुणत्वात्, [9]सात्त्विका हि गुणदोषविचारादयः। न च प्रधानम्; तस्याऽचेतनत्वात्। न हि लोके किञ्चिदचेतनं गुणदोषविचारादेः कर्तृ दृष्टम्। किञ्च,

तदव्यतिरेकात्तदभावः ।३४। प्रधानात् सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपात् महदहङ्कारा-दयः परिणामा वैषम्यरूपाः[10] [11]व्यतिरिक्ता वा स्युः, अव्यतिरिक्ता वा ? यदि व्यतिरिक्ताः; [12]कार्य-कारणैकत्वैकान्तप्रतिज्ञाहानिः। अथाव्यतिरिक्ताः; प्रधानमेव न परिणामा नाम केचन सन्तीति मनसो निवृत्तिः।

[13]कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राणः ।३५। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्ग-नामोदयापेक्षिणा आत्मना उदस्यमानः कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते।

बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणोऽपानः ।३६। तेनैव आत्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽपान इत्याख्यायते। एतावप्यात्मानुग्राहिणौ जीवितहेतुत्वात्।

तन्मूर्तिमत्त्वं प्रतिघातादिदर्शनात् ।३७। तयोः प्राणापानयोः तेषां वाङ्मनःप्राणापानानां[14] वामूर्तिमत्त्वमवगन्तव्यम्। कुतः ? प्रतिघातादिदर्शनात्। प्रतिभयहेतुभिरशनिशब्दादिभिर्मनसः प्रतिघातो दृश्यते, सुरादिभिश्चाऽभिभवः। हस्तपुटादिभिरास्यसंवरणात् प्राणापानयोः प्रतिघात उपलभ्यते, श्लेष्मणा चाभिभवः। नचाऽमूर्तस्य मूर्तिमद्भिरभिघातादयः स्युः।

अत आत्मास्तित्वसिद्धिः प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात् ।३८। अत आत्मनोऽस्तित्वं प्रासिधत्। कुतः ? प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात्। यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मानं साधयति, असति तस्मिन्नप्रवृत्तेः। नाक-स्मात्; [15]नियमदर्शनात्। न विज्ञानादिकृतम्; तेषाममूर्तत्वे प्रेरणशक्तिविरहात्। न रूपस्कन्ध-

---

१ पञ्चेन्द्रियाणां मनोज्ञानस्य च। २ नष्टम्। ३ एकसन्तानपतितोऽपि अतीतो देवदत्तः वर्तमानस्य प्रपौत्रा-देरुपकरोति किम् ? न चैवम्, तद्वत्। ४ अतीतविज्ञानम्। ५ यथा उप्तो व्रीहिः स्वयमतीतोऽपि भविष्यत्फला-देरालम्बनं भवति तथा। ६ आलम्बनविज्ञानस्य। ७ सांख्यः। ८ साधकतमम्। ९ निर्गुणत्वात् कर्ता न भवति किमित्याशङ्कायामाह। सत्त्वगुणमया इत्यर्थः–स०। १० न्यूनाधिका इत्यर्थः। ११ प्रधानात्। १२ असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यमिति मृत्पिण्डे घटोऽस्ति घटे मृत्पिण्डं चेति सांख्यमतम्। १३ शरीराभ्यन्तरं कोष्ठम्। १४–नां मू–ता०, श्र०। १५ कुतः ?।

कृतम्; तस्याचेतनत्वात्। सर्वेषां निरीहकत्वात्[1] कर्माभाव इति चेत्; न; देशान्तरप्राप्त्यभाव-प्रसङ्गात्। वायुधातुविशेषात् देशान्तरे प्रादुर्भावः क्रियेत्युपचर्यते न मुख्या क्रियाऽस्ति [3]"भूतिर्येषां क्रिया सैव" [ ] इति वचनात् इति चेत्; न; वायुधातुविशेषाऽसामर्थ्यात्। वायुधातुरपि निःक्रियः स कथमिव देशान्तरप्रादुर्भूतिहेतुः स्यात्। [4]क्षणिकत्वाभ्युपगमादनवस्थितानां कर्मा-
५ भावः इति चेत्; न; असिद्धत्वात्, अयुक्तेश्च।

प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अङ्गाङ्गिद्वन्द्वे तदभावात्।३९। स्यान्मतम्–शरीरं च वाक् च मनश्च प्राणश्चाऽपानश्च शरीरवाङ्मनःप्राणापाना इति द्वन्द्वे कृते एकवद्भावः प्राप्नोति। कुतः? प्राण्यङ्गत्वात् इति; तन्न; किं कारणम्? अङ्गाङ्गिद्वन्द्वे तदभावात्। प्राण्यङ्गानामेव यो द्वन्द्वः तस्यैकवद्भावः उक्तः। अङ्गमवयव एकदेश इत्यनर्थान्तरम्। शरीरमत्राङ्गि
१० चास्तीत्येकवद्भावो न भवति। अथवा, वागादीनि नाङ्गानि दन्तादिवदनवस्थितत्वात्। अथवा, द्वन्द्वैकवद्भावः सर्वः समाहारविषयः। समाहारश्चैकप्राणिविषयाणां युक्तः। नानाप्राणिस्थाश्चैते विवक्षिताः, ततो नास्त्येकवद्भावः।

**पुद्गलशब्दो निर्दिष्टार्थः।४०।** पुद्गलशब्दस्यार्थो निर्दिष्टः–पुंगिलनात् पूरणगलनाद्वा पुद्गल इति।

**उपग्रहप्रकरणात्कर्तरि षष्ठी।४१।** उपग्रहशब्दः प्रकृतः, स च [5]भावसाधनः तेन कर्तुरनुक्त-
१५ त्वात् पुद्गलानामिति कर्तरि षष्ठी द्रष्टव्या। तेन शरीरादिपरिणामैरात्मनां पुद्गला उपग्रहीतार इत्युक्तं भवति। ते चात्मानः सक्रियाः कर्ममलीमसाः सन्तः शरीरादिकृतमुपकारं तद्बन्धपूर्वकम-नुभवन्तीत्येतदुक्तम्। एकान्तनिष्क्रियत्वे अत्यन्तशुद्धत्वे[6] च शरीरादिभिः बन्धाभावात् तत्कृतो-पकाराभावः, तत्क्रियाहेतुत्वाभावश्चेति संसाराभावः, तदभावात् कुतो मोक्षः?

यथा चैतच्चतुष्टयं[7] गमनव्याहरणचिन्तनप्राणनादिभावेन परिणामविशेषाहितमनुग्राहकं
२० पौद्गलिकत्वात् तथाऽयमपि तत्कृत एवोपकार इति प्रदर्शयन्नाह—

## सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

**बाह्यप्रत्ययवशात् सद्वेद्योदयादात्मनः प्रसादः सुखम्।१।** यदात्मस्थं सद्वेद्यं कर्म द्रव्यादि-बाह्यप्रत्ययवशात् परिपाकमुपयाति तदात्मनः प्रसादः प्रीतिरूपः सुखमित्याख्यायते।

**तथा असद्वेद्योदयात् आत्मपरिणामः संक्लेशप्रायो दुःखम्।२।** तथा तेन प्रकारेण बाह्यप्रत्य-
२५ यवशेनेत्यर्थः, असद्वेद्योदयादात्मपरिणामो यः संक्लेशप्रायः स दुःखमिति कथ्यते।

**भवस्थितिनिमित्तायुर्द्व्यसंबन्धिनो जीवस्य प्राणापानलक्षणक्रियाविशेषाव्युपरमो जीवि-तम्।३।** भवधारणकारणमायुराख्यं कर्म, तदुदयापादितां भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तस्य प्राणापानलक्षणस्य क्रियाविशेषस्याविच्छेदो जीवितमिति प्रत्येतव्यम्।

**तदुच्छेदो मरणम्।४।** तस्य जीवितस्योच्छेदो जीवस्य मरणमित्यवसेयम्।

३० **सुखग्रहणमादौ तदर्थत्वात्परिस्पन्दस्य।५।** सर्वेषां प्राणिनां परिस्पन्दः सुखप्राप्त्यर्थः, ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते।

---

१ 'यो यत्रैव' इत्यादिना निर्व्यापारत्वात्। २ व्यापार। ३ उत्पत्तिः। भूतिर्येषां मु०, श्र०, द०, ता०। ४ क्षणत्वाभ्यु–ता०, श्र०, द०। ५ कर्मसाधनः मु०, द०, ब०। ६ प्रकृतिर्बध्यते प्रकृतिर्मुच्यत इति सांख्यमते। ७ चतुष्टयं कथमित्युक्ते शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानामिति सूत्रं मनसि कृत्याह। शरीरस्य गमनमित्यादि वाच्यम्।

तदनन्तरं दुःखवचनं तत्प्रतिपक्षत्वात् ।६। सुखस्य हि प्रतिपक्षभूतं दुःखम्, अप्रीतिहेतुत्वात् । ततोऽस्य वचनं तदनन्तरं क्रियते ।

जीवतस्तदुभयदर्शनात् तदनन्तरं जीवितग्रहणम् ।७। यतः तदुभयं सुखदुःखं जीवतो भवति, ततः तदनन्तरं जीवितग्रहणं क्रियते ।

अन्ते प्राप्यत्वान्मरणस्यान्ते वचनम् ।८। आयुःक्षयनिमित्तं मरणमन्ते प्राणिभिरवाप्यत इति तदुपादानमन्ते क्रियते । ५

सुखं च दुःखं च जीवितं च मरणं च सुखदुःखजीवितमरणानि तान्येवोपग्रहः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहः । केषाम् ? पुद्गलानामिति प्रकृतमभिसंबध्यते ।

प्रकृतत्वादुपग्रहावचनमिति चेत्; न; स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–प्रकृतमुपग्रहवचनमस्ति तेन शरीरवाङ्मनःप्राणापानैः सुखदुःखजीवितमरणैश्च पुद्गला जीवान् उपगृह्णन्ति इत्यस्मिन्नर्थे प्रतिपादिते पुनरुपग्रहवचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थत्वात् । यथा धर्माधर्माकाशानि परेषामेवोपग्रहं कुर्वन्ति न तथा पुद्गलाः, स्वोपग्रहश्चैषामस्तीति प्रदर्शनार्थं पुनरुपग्रहवचनं क्रियते । तद्यथा–कंसादीनां भस्मादीनि जलादीनां कतकादीनि अयःप्रभृतीनामुदकादीनि उपकारं कुर्वन्ति । १०

मरणमात्मोपग्रहो नेति चेत्; न; निर्विण्णस्य तत्प्रियत्वात् ।१०। स्यादेतत्–मरणमात्मोपग्रहो नोपपद्यते । कुतः ? अनिष्टत्वात् । न हि कस्यचित् मरणमीप्सितमिति; तन्न; किं कारणम् ? निर्विण्णस्य तत्प्रियत्वात् । व्याधिपीडाशोकादिभिर्जीवितान्निवृत्तादरस्य निर्विण्णस्य हि जनस्य मरणं प्रियं लोके दृश्यते । १५

प्रयोजनप्रतिपादनार्थत्वाच्च दुःखवत् ।११। यथा दुःखमनिष्टमपि जीवानां पुद्गलैः प्रतिपाद्यं [2]प्रयोजनमिति गृह्यते तथा[3] मरणमपीति नास्ति दोषः । २०

लघ्वर्थमेकसूत्रीकरणमिति चेत्; न; आशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् ।१२। स्यान्मतम्–'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च पुद्गलानाम्' इत्येकमेव सूत्रं कर्तव्यं लघ्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम् ? आशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । शरीरवाङ्मनःप्राणापाना हेतवः[4]श्चत्वारः सुखदुःखजीवितमरणानि च फलानि[5] चत्वारि, तेषां [6]याथासंख्यमनिष्टमाशङ्क्येत, तन्निवृत्त्यर्थं[8] नानायोगकरणम् । उत्तरसूत्रे[7] सुखादिसंबन्धनार्थं च । २५

तदनुपपत्तिर्नित्यानित्यपक्षयोर्विकारावस्थानाभावात् ।१३। तेषां सुखादीनाम् अनुपपत्तिः । क्व ? नित्यपक्षेऽनित्यपक्षे च । कुतः ? विकारावस्थानाभावात् । तद्यथा–नित्यपक्षे तावत् आत्मनां पूर्वापरकालतुल्यत्वात् परिणामान्तरसंक्रान्तिलक्षणस्य विकारस्याभावात् सुखादिककल्पनमयुक्तम् । अनित्यपक्षे चावस्थानाभावात् सुखादिसंबन्धोऽनुपपन्नः । अवस्थितस्य हि इष्टानिष्टशब्दस्पर्शादिसन्निपाते सति सुखादिप्रभवः[9] स्यात् । स चाकस्मान्न भवति । किं तर्हि ? कुशलाकुशलभावनापूर्वकः[10] । कुशलाकुशलभावना[11] च स्मृत्यभिसंबन्धिचेष्टाभिनिर्वृत्तिलक्षणा । [12]स्मृत्यादयश्चानवस्थितस्य न संभवन्तीत्यतो नित्यानित्यात्मकस्यात्मनः सुखादिनिरूपणं निरवद्यम् । ३०

---

१ असिधारादेः निशितकरणादिरूपम् । २ कार्यमित्यर्थः । ३ अनिष्टमपि पुद्गलस्य कार्यमित्यर्थः । ४ कारणानि । ५ कार्याणि । ६ समवचने याथासंख्यं शैलीयमाचार्यस्येति न्यायात् । ७ परस्परोपग्रहो जीवानामित्यत्र । ८ एकयोगकरणे शरीरादिरपि प्रसज्येत । ९ उत्पत्तिः । १० शुभाशुभस्पर्शभावनापूर्वकः । ११ संभावना सङ्कल्पः । १२ अनुभूतस्य स्मरणं नाननुभूतस्य नान्यानुभूतस्य च ।

आह-अजीवद्रव्यचतुष्टयस्य यथा परानुग्रहः सान्ततिकः किमेवमात्मनामपि, उतान्यो विधिरस्तीति ? अत्रोच्यते—

## परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

कर्मव्यतिहारविषयः परस्परशब्दः ।१। कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहार इत्यर्थः। तद्विष-
५ योऽयं परस्परशब्दः । परस्परस्योपग्रहः परस्परोपग्रहः । कः पुनरसौ ?

स्वामिभृत्यादिभावेन[1] वृत्तिः परस्परोपग्रहः ।२। स्वामी भृत्य आचार्यः शिष्य इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रह इत्युच्यते। स्वामी तावत् वित्तत्यागादिना भृत्यादीनामुपग्रहे वर्तते, भृत्याश्च हितप्रतिपादनेन अहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उभयलोकफलप्रदोपदेशदर्शनेन [2]तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि [3]तदानुकूल्यवृत्त्या।

१० प्रकृतत्वादुपग्रहावचनमिति चेत्; न; अनन्तरचतुष्टयप्रतिनिर्देशार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्-प्रकृतमुपग्रहवचनमस्ति तदभिसंबन्धात् पुनरुपग्रहवचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनन्तरचतुष्टयप्रतिनिर्देशार्थत्वात् । नाऽपूर्वः कश्चित् परस्परोपग्रहो जीवानामस्ति, अनन्तरसूत्रे निर्दिष्टः सुखादिचतुष्टयोपग्रह एवेति प्रदर्शनार्थं पुनरुपग्रहवचनम्।

स्त्रीपुंसरतिवदनियमप्रदर्शनार्थं च ।४। यथा स्त्रीपुंसौ यौगपद्येन रतिक्रियायां परस्परस्योप-
१५ कुरुतः न तथा सुखाद्युपग्रहे नियम इति प्रदर्शनार्थं च पुनरुपग्रहवचनं[4] क्रियते । [5]जीवो हि कश्चित् स्वस्य सुखं कुर्वन् परस्यैकस्य सुखं करोति कश्चिद् द्वयोः कश्चिद्बहूनाम्। कश्चिद् दुःखमात्मनः कुर्वन् परस्यैकस्य द्वयोः बहूनां वा[दुःखं]करोति। कदाचिद् द्वौ बहवो वाऽऽत्मानः सुखं दुःखं वा कुर्वन्तः परस्यैकस्य द्वयोर्बहूनां वा [6]सुखं दुःखं[वा]उत्पादयन्ति। एवमितरत्रापि योज्यम्।

आह-यदि अवश्यं सतोपकारिणा भवितव्यम्, संश्च कालोऽभिमतः स किमुपकारः इति ?
२० अत्रोच्यते- तस्य खलु वक्ष्यमाणस्वतत्त्वस्याऽमूर्तेः—

## वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अथवा, यथा धर्मादीनामस्तित्वस्याऽऽविर्भावक उपकार उक्तो गत्यादिः, तथा कालस्यापि प्रतिनियत उपकारोऽस्तित्वसंसूचकोऽस्ति, उत नास्ति ? अस्त्युपकारः । यद्येवं स उच्यतामिति ? अत आह[7]- वर्तनादीनि[8] ।

२५ [9]करणाधिकरणयोर्वर्तनेति चेत्; युटि सति ङीप्रसङ्गः ।१। स्यादेतत्-वर्ततेऽनया अस्यां वेति विगृह्य वर्तनाशब्दो निष्पाद्यत इति। एवं[10] सति परत्वाद्युटि सति टित्त्वात् ङी प्राप्नोति [11]कथं तर्हि सिद्धिः ?

णिजन्ताद्युचि वर्तना ।२। स्त्रीलिङ्गे कर्मणि भावे वा णिजन्ताद्युचि सति वर्तनेति भवति। वर्त्यते[12] वर्तनमात्रं वा वर्तनेति ।

---

१ श्र० प्रतौ वार्तिकचिह्नं नास्ति, मुद्रिते च। २ तदुपदेशाहित-श्र०। ३ तदनुकूलवृ-मु०, ब०। ४ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूचयन्त्याचार्यस्य। ५ उक्तार्थमेव विवृणोति। ६ सुखमु-ता०, श्र०, मू०। ७ अनेन पातनिकाभिप्रायेण कालस्य साध्यत्वमुक्तं भवति। ८-दीनीति-मु०, द०, ब०, श्र०। ९ तटस्थ आचार्यमतं परिपृच्छति आचार्यः। १० स्यादेवेति चेत्। ११ न प्राप्नोतीत्युक्ते तटस्थ आह। १२ प्रयोक्त्रा अनेन ।

अनुदात्तेत्त्वात्ताच्छीलिको वा ।३। अथवा, [1]वृत्तिरयमनुदात्तेत्, ततस्ताच्छीलिको युच् वर्तनशीला वर्तनेति । का पुनर्वर्तना ?

प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।४। द्रव्यस्य पर्यायो द्रव्यपर्यायः, द्रव्यपर्यायं द्रव्यपर्यायं प्रति प्रतिद्रव्यपर्यायम्, अन्तर्नीत एकः समयोऽनया सा अन्तर्नीतैकसमया, का पुनरसौ ? स्वसत्तानुभूतिः, उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यवृत्तिः सत्ता, न ततोऽन्या काचिदस्ति। ५ स्वा सत्ता स्वसत्ता, प्रतिनियता असाधारणीत्यर्थः, बुद्ध्यभिधाना[2]नुप्रवृत्तिलिङ्गेनानुमीयमाना [3]सादृश्योपचारादेकापि सती[4] जीवाजीवतद्भेदप्रभेदैः संबन्धमापद्यमाना विशिष्टशक्तिभिरेव संबध्यते। तस्या अनुभूतिः स्वसत्तानुभूतिर्वर्तनेत्युच्यते। एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि [5]स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिरुत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्वर्तन्त इति कृत्वा तद्विषया वर्तना। १०

सा आनुमानिकी व्यावहारिकदर्शनात् पाकवत् ।५। यथा व्यावहारिकस्य पाकस्य तण्डुलविक्लेदनलक्षणस्यौदनपरिणामस्य दर्शनादनुमीयते—अस्ति प्रथमसमयादारभ्य सूक्ष्मपाकाभिनिर्वृत्तिः प्रतिसमयमिति। यदि हि प्रथमसमये अग्न्युदकसन्निधाने कश्चित् पाकविशेषो न स्यात्, एवं द्वितीये तृतीये च न स्यादिति पाकाभाव एव स्यात्। तथा सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वपर्यायाभिनिर्वृत्तौ प्रतिसमयं दुरधिगमा[6] निष्पत्तिरभ्युपगन्तव्या। १५

तल्लक्षणः कालः ।६। सा वर्तना लक्षणं यस्य स काल इत्यवसेयः। समयादीनां[7] क्रियाविशेषाणां समयादिनिर्वृत्त्यानां च पर्यायाणां पाकादीनां स्वात्मसद्भावानुभवनेन स्वत एव वर्तमानानां निर्वृत्तेर्बहिरङ्गो हेतुः समयः। पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढिसद्भावे काल इत्ययं व्यवहारोऽकस्मान्न भवतीति तद्व्यवहारहेतुना अन्येन भवितव्यमित्यनुमेयः।

आदित्यगतेरिति चेत्; न; तद्गतावपि तत्सद्भावात् ।७। स्यादेतत्—आदित्यगतिनिमित्ता २० द्रव्याणां वर्तनेति; तन्न; किं कारणम् ? तद्गतावपि तत्सद्भावात्। सवितुरपि व्रज्यायां [8]भूतादिव्यवहारविषयभूतायां क्रियेत्येवं रूढायां वर्तनादर्शनात् तद्धेतुना अन्येन कालेन भवितव्यम्।

आकाशप्रदेशनिमित्तेति चेत्; न; तां प्रत्यधिकरणभावाद्भाजनवत् ।८। स्यादेतत्—आकाशप्रदेशनिमित्ता वर्तना नान्यस्तद्धेतुः कालोऽस्तीति; तन्न; किं कारणम् ? तां प्रत्यधिकरणभावात् भाजनवत्। यथा भाजनं तण्डुलानामधिकरणं न तु तदेव पचति, तेजसो हि स व्यापारः, २५ तथा आकाशमप्यादित्यगत्यादिवर्तनायामधिकरणं न तु तदेव निर्वर्तयति। कालस्य हि स व्यापारः।

सत्तात इति चेत्; न; तस्या अप्यनुग्रहात् ।९। स्यान्मतम्—सत्ता नाम सर्वपदार्थानां साधारण्यस्ति तद्धेतुका वर्तनेति; तन्न; किं कारणम् ? तस्या अप्यनुग्रहात्। कालानुगृहीतवर्तना हि सत्तेति ततोऽप्यन्येन कालेन भवितव्यम्।

द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः ।१०। द्रव्यस्य ३० चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूतां स्वां द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः प्रयोगविस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः। तत्र प्रयोगः पुद्गलविकारः, तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा। तत्र परिणामो द्विविधः—अनादिरादिमांश्च। अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयो-

---

१ अस्येव अनुदात्तसंज्ञात [?]। २ सत्यप्यश्वादिव्यतिकरे गोजात्यविनाभाविसत्ताज्ञानं गौरियं गौरियमिति शब्दानाम्। ३ जीवादिषु वर्तमानसत्तासामान्योपचारात्। ४ सत्ता। ५ अगुरुलघुत्वाद्यसंख्यातप्रदेशत्वादि। ६ ज्ञातुमशक्या। ७ किंविशिष्टानाम्। ८ अतीतानागतवर्तमान।

गजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञानशीलभावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। अचेतनस्य च मृदादेः घटसंस्थानादिपरिणामः कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। इन्द्रधनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिकः। तथा धर्मादेरपि परिणामो योज्यः।

५ परिणामाभावः सत्त्वासत्त्वयोर्दोषोपपत्तेरिति चेत्; न; पक्षान्तरत्वात् ।११। स्यान्मतम्–नास्ति परिणामः। कुतः? सत्त्वासत्त्वयोः दोषोपपत्तेः। बीजमङ्कुरे स्याद्वा, न वा? यदि सदङ्कुरे बीजम्; अङ्कुराभावो बीजवत्। अथासत्; न बीजमङ्कुरत्वेन परिणतम्, अङ्कुरे तत्स्वभावाभावात्। अतः परिणामाभावः इति; तन्न; किं कारणम्? पक्षान्तरत्वात्। यथा सत्पक्षदोषो नाऽसत्पक्षं स्पृशति पक्षान्तरत्वात्, असत्पक्षदोषोऽपि सत्पक्षं तत एव। तथा सदसदेकान्तपक्षदोषावप्यने-
१० कान्तपक्षं न स्पृशतः पक्षान्तरत्वादेव, इतरथा हि पक्षसङ्करप्रसङ्गः। उभयदोषप्रसङ्ग इति चेत्; न; जात्यन्तरत्वान्नरसिंहरूपवत्। शालिबीजादिद्रव्यार्थादेशात् अङ्कुरे स्याद्बीजमस्ति। यद्यन्वयोच्छेदः[1] स्यात्; फलविशेषाभावः प्रसज्येत। शालिबीजादिपर्यायार्थादेशात् स्यादङ्कुरे नास्ति बीजम्। यद्यविपरिणामः[2] स्यात्; [3]अन्यथावृत्तिदर्शनमयुक्तं स्यात्।

प्रतिषेधाभावाच्च ।१२। इदमसि[4] त्वं प्रष्टव्यः? परिणामः सन्वा प्रतिषिध्येत, असन्वेति?
१५ उभयथा च प्रतिषेधाभावः? यदि सन्; सत्त्वादेव न प्रतिषिध्येत[5]। अथ सन्नपि प्रतिषिध्येत; ननु परिणामप्रतिषेधोऽपि[6] सत्त्वात् प्रतिषिध्यत इति प्रतिषेधाभावः। तदभावादप्रतिषिद्धः[7] परिणामः। अथ प्रतिषेधः सत्त्वादप्रतिषिद्धः; ननु परिणामोऽपि सत्त्वात् अप्रतिषिद्धः। अथाऽसन् परिणामः; असत्त्वादेव खरविषाणवत् न प्रतिषिध्यते इति प्रतिषेधाभावः। अथवा, यस्य परिणामो नास्ति स वक्तृत्वेनापरिणतः वाच्यस्याप्यर्थस्याभिधेयत्वेनापरिणामः अभिधानस्य[8] च वाचकत्वेनापरिणाम
२० इति वक्तृवाच्यवचनानामभावात् प्रतिषेधाभावः, तदभावादप्रतिषिद्धः परिणामः स्थितः।

अन्यानन्यत्वदोषादिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१३। स्यान्मतम्–नास्ति परिणामः। कुतः? अन्यानन्यत्वयोर्दोषात्। बीजादङ्कुरोऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा? यदि अन्यो बीजादङ्कुरः; न तर्हि बीजपरिणामोऽङ्कुरः। अथानन्यो बीजादङ्कुरः; न तर्हि अङ्कुरोऽस्ति बीजादनन्यत्वात्। उक्तं च–

"स्याच्चेद्बीजं परिणतं नान्यो बीजाच्च सोऽङ्कुरः।
२५ तच्च[10] नैवं यदि ह्यन्यो न [11]तत्तच्चेन्न सोऽङ्कुरः॥" [ ]

तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–पक्षान्तरत्वात् दोषाभाव इति। स्याद्बीजादङ्कुरोऽन्यः स्यादनन्यः। यस्मात् प्रागङ्कुरोत्पादात् बीजेऽङ्कुरपर्यायो नासीत् पश्चाच्च जातः तस्मात् बीजादङ्कुरः पर्यायार्थादेशात् स्यादन्यः। यस्माच्च शालिबीजजातिविशिष्टोऽन्योऽङ्कुरोऽसन्,[12] तस्माच्छालिबीजजात्यात्मकद्रव्यार्थादेशात् बीजादङ्कुरः स्यादनन्यः।

३० व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषादिति चेत्; न; अनेकान्तात् ।१४। स्यान्मतम्–बीजेऽङ्कुरत्वेन परिणते अङ्कुरे बीजं व्यवस्थितं वा स्यात्, अव्यवस्थितं वा? यदि व्यवस्थितम्; बीजस्य व्यवस्थानात् विरोधात् अङ्कुराभावः। अथाव्यवस्थितम्; न तर्हि बीजमङ्कुरत्वेन परिणतम्। तस्मादुभयत्र दोषान्नास्ति

---

१ यद्यनन्वयोच्छे–ता०, श्र०, मू०। २ बीजस्य विविधपरिणामाभावः। ३ अङ्कुररूप। ४ इदमस्ति त्वं मु०, द०, व०। ५ प्रतिषिध्यते। ६ प्रतिषिध्यते ता०, श्र०, मू०। ७ वागादिः। ८ द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायात्। ९–नस्य वा च–ता०। –नस्य च वाचकत्वापरिणा–ता०। १० अङ्कुराद् भिन्नं न। ११ तस्माच्चेन्न मु०। १२ अपितु स एव सन्।

परिणाम इति ? तन्न; किं कारणम् ? अनेकान्तात्। यथा मनुष्यायुर्नामकर्मोदयादङ्गोपाङ्गपर्यायाना-स्कन्दन् निष्ठप्रायःपिण्डवत् अङ्गुल्युपाङ्गपरिणामात् अङ्गुलिरात्मा, अतो वीर्यान्तरायक्षयोपशमापेक्षोऽङ्गुल्यात्मा संकोचनप्रसारणपर्यायावास्कदन् अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् सन्, पौद्गलिकपरिवृत्तावस्थिताङ्गुल्युपाङ्गपर्यायार्थादेशाच्च[1] स्यात् सन्, अत एव स्यादनन्यः स्यादवस्थितः। संकोचनप्रसारणपर्यायार्थादेशात् स्यादसन् अत एव स्यादन्यः स्यादनवस्थितः। तथैकेन्द्रियवनस्पतिनामायुरुदयाविष्कृतः आत्मैव बीजपर्यायमास्कन्दन् निष्ठप्रायःपिण्डवत् बीजपरिणामात् बीजव्यपदेशभाक्। अतः किम् ? अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् सन्, पौद्गलिकशालिजात्येकेन्द्रियरूपरसशब्दस्पर्शपर्यायार्थादेशाच्च स्यात् सन्, अत एव स्यादनन्यः स्यादवस्थितः। पौद्गलिकशालिबीजपर्यायार्थादेशात् स्यादसन्, अत एव स्यादन्यः स्यादनवस्थितः। इत्येवमनेकान्ताश्रयणादेकान्तपक्षदोषानुषङ्गाभावः।　　१०

वृद्ध्यभावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्यहेतुत्वात्। १५। स्यादेतत्–नास्ति परिणामः। कुतः ? वृद्ध्यभावप्रसङ्गात्। यदि बीजमङ्कुरत्वेन परिणमेत; बीजमात्र एवाङ्कुरः स्यात् पयःपरिणामदधिवत्, ततो वृद्ध्यभावः। उक्तं च–

"[2]किञ्चान्यद्यदि तद्बीजं गच्छेदङ्कुरतामिह।
[3]विवृद्धिरङ्कुरस्य स्यात् कथं बीजादपुष्कलात्॥ १॥" [　　　]　　१५

[4]भौमौदकरससंबन्धाद्वृद्धिरिति चेत्; न; बीजपरिणामाभावप्रसङ्गात्। उक्तं च–

"अथेष्टं तै रसैर्भौमैरौदकैश्च विवर्धते।
नन्वेवं सति बीजस्य परिणामो न युज्यते॥ १॥" [　　　]

भौमौदकरसद्रव्यान्तरसंचयात् वृद्धिरिति चेत्; न; द्रव्यान्तरसंयोगेऽपि वृद्ध्यभावात्। यदि भौमौदकरसद्रव्यान्तराणि संयोगवृद्ध्या वर्तन्ते; ननु वृद्ध्यभावः जतुसंयोगे काष्ठवृद्ध्यभाववत्। उक्तं च–　　२०

"आलिप्तं जतुना काष्ठं यथा स्थूलत्वमृच्छति।
[5]ननु काष्ठं तथैवास्ते जतु चात्र विवर्धते॥ १॥
तथैव यदि तद्बीजमास्ते येनात्मना स्थितम्।
रसाश्च वृद्धिं कुर्वन्ति बीजं तत्र करोति किम्॥ २॥" [　　] इति;　　२५

तन्न; किं कारणम् ? अन्यहेतुत्वात्। 'बीजमात्रः अङ्कुरो भवेत्' इति ब्रुवता त्वयैवाभ्युपगतः [6]परिणामः। यस्तु भवता दोष उपन्यस्तः वृद्ध्यभावप्रसङ्ग इति; नासौ युक्तः; कुतः ? अन्यहेतुत्वात्। यथा मनुष्यायुर्नामोदयाभ्यां जातो बालः बाह्यसावित्रकिरणादिसंबन्धापेक्षस्तन्यनवनीताद्याहारमनुभवन् अभ्यन्तरवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भाविताहारजरणसामर्थ्यकायाग्नि[7]बलोपेतः उपयुक्ताहाररसादिपरिणामान्निर्माणनामकर्मोदयापेक्षो वर्धते, तथा वनस्पतिविशेषायुर्नामोदयापेक्षो बीजाधिष्ठानो जीवोऽङ्कुरो जातः भौमौदकरसाहारं तत्प्रायः पिण्डवत् आत्मसात्कुर्वन् बाह्यसावित्रकिरणसंतापाभ्यन्तरवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भाविताङ्कुरकायाग्निबलात् भौमौदकरसान् जरयन् स्वानुरूपनिर्माणकर्मोदयापेक्षो वर्धते। अयं तु वृद्ध्यभावदोष एकान्तवादिनामेव भवति। नित्यत्वैकान्ते तावद्वि-[8]परिणामाभावात् वृद्ध्यभावः। क्षणिकैकान्तवादेऽपि [9]प्रतीत्यसमुत्पादाभ्युपगमात् तावतोऽधिगमे　　३०

१ –देशान्न स्यात् सन् मु०, द०। –देशाच्च न स्यात्–मू०, ता०। २ दूषणान्तरमप्यस्ति। ३ विशिष्टा वृद्धिः। ४ बीजमात्रमङ्कुरो भवतु वृद्धिस्तु। ५ तनु–मु०। ६ तावद् बीजमात्रः। ७ बलापेक्षः मु०, द०, ब०। ८ तावत्परिणा–श्र०। ९ रसादिकमालक्ष्य।

तावत् एवोपगमाद् वृद्ध्यभावः। किञ्च सर्वेषां क्षणिकत्वात् अङ्कुरस्य तत्कारणाभिमतानां च भौमौदकरसादीनां युगपद्वा विनाशः स्यात्, पौर्वापर्येण वा ? यदि युगपत्; नास्ति तत्कृता वृद्धिः। न हि वृद्धिहेतवो विनश्यन्तोऽन्यस्य विनश्यतोऽर्थस्य वृद्धिं कुर्वन्तो दृष्टाः। अथ पौर्वापर्येण; विनष्टस्याङ्कुरस्य भौमादयः किं कुर्वन्ति, विनष्टा वा किं कुर्युः ? अनेकान्तवादिनां तु अङ्कुरो भौमादयश्च
५ द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्याः पर्यायार्थादेशाच्च स्यात्क्षणिका इति वृद्ध्युपपत्तिः।

[1]क्षणिकत्वे प्रबन्धभेदाभ्युपगमात् वृद्धिरिति चेत्; न; तदभावात् ।१६। स्यान्मतम्–भावानां क्षणिकत्वेऽपि वृद्धिर्युज्यते। कुतः ? प्रबन्धभेदाभ्युपगमात्। त्रिविधो हि प्रबन्धः–सभागरूपः, क्रमापेक्षः, अनियतश्चेति। तत्र प्रदीपात् [2]प्रदीप एकः प्रबध्यते स्रोतसः स्रोत एवेति (इवेति), सादृश्यात् सभागरूपः प्रबन्धः। स (स्व) सन्ततिपरिणामक्रमोपलम्भात् बालकुमारबीजाङ्कुराद्यविच्छेदः क्रमा-
१० पेक्षः। [3]कृकलासानेकवर्णप्रबन्धानियमो मेघेन्द्रधनुरादिष्वनियतः। ततोऽस्ति वृद्धिरिति; तन्न; किं कारणम् ? तदभावात्। इदमिह संप्रधार्यम्–सतोर्वा प्रबन्धः स्यात्, सदसतोः, असतोर्वा ? न तावदसतोः प्रबन्धः वन्ध्यासुताकाशकुसुमयोः। नापि सदसतोः खरखरविषाणयोः। परिशेषात् सतोरेव। क्षणिकवादे तु पूर्वोत्तरस्कन्धयोर्नैकस्मिन् क्षणेऽस्तित्वमिति प्रबन्धाभावः। अस्तित्वे च क्षणिकप्रतिज्ञाहानिः। आह–क्षणिकत्वेऽपि तुलान्तनामोन्नामवत् युगपदुत्पादविनाशभावात् अर्थप्रबन्ध
१५ इत्यस्ति वृद्धिरिति; उच्यते–यदि युगपदुत्पादविनाशयोः वृत्तिः; कार्यकारणभावाभावः सव्येतरगोविषाणवत्।

[4]ध्रौव्यैकान्ते परिणामाभावोऽनेकदोषप्रसङ्गात् ।१७। ध्रौव्यैकान्ते य उक्तः परिणामः "व्यवस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरोपजनने च परिणामः।" [ योगभा० ३।१३ ] अवस्थितस्य हि ध्रौव्यादिलक्षणस्य द्रव्यस्य क्षीरधर्ममात्रनिवृत्तौ दधिधर्ममात्रोत्पत्तौ परिणाम इति; स
२० नोपपद्यते; कुतः ? अनेकदोषप्रसङ्गात्। न हि तस्य[5] [6]द्रव्यमवस्थितमस्ति[7] यस्य परिणामो भवेत्। अथास्ति समुदायव्यतिरिक्तं द्रव्यम्; ननु गुणसमुदायमात्रद्रव्यप्रतिज्ञाहानिः। किञ्च,

उभयदोषप्रसङ्गात् ।१८। इदमिह मीमांस्यम्–यन्निवर्तते यच्चोत्पद्यते यच्च व्यवतिष्ठते तदेतत् त्रितयं गुणसमुदायमात्रं वा स्यात्, ततोऽन्यद्वेति ? यदि गुणसमुदायमात्रम्; ननु स एवासौ प्राक् पश्चाच्च गुणसमुदायः कोऽत्र कस्य वा परिणामः ? अन्येन नाम निवृत्तेन अन्येनावस्थितेनाऽन्येन-
२५ चोत्पन्नेन भवितव्यमिति न्याय्यम्। अथान्यदिति गृह्यते; एवमपि गुणसमुदायमात्रद्रव्यप्रतिज्ञाहानिः। किञ्च, ध्रौव्यैकान्तविरोधः, एकश्चेद्धर्मो निवर्तते एकश्चेदुत्पद्यते अनित्यताप्राप्तेरिति। किञ्च, समुदायः गुणेभ्योऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा ? यद्यनन्यः; गुणा एवेति समुदायकल्पनाव्याघातः, तदभावाच्च तदविनाभाविनां गुणानामप्यभावः। अथान्यः समुदायः; पुनरत्र प्रतिज्ञाविरोधः परस्पराविनाभाविनोः स्वरूपशून्यत्वं च स्यात्, कुतः परिणामकल्पना ?

३० [8]यच्चोक्तम्–पूर्वभावस्यान्यभावाप्तिः परिणाम इति; तदयुक्तम्; कस्मात् ? उभयदोषप्रसङ्गात्। [9][10]शब्दादीनां सुखादिसमन्वयभावानुपपत्तिः शब्दादिभावनिवृत्तिर्वेति। यदि पूर्वभावस्य अन्यभावापत्तिः परिणामः; सुखदुःखमोहानां शब्दादिभावापत्तेः शब्दादिषु[11] सुखादिसमन्वयभावानुपपत्तिः। किं कारणम् ? पूर्वभावस्यान्यभावापत्तिः परिणामः इति प्रतिज्ञानात्। अथ पूर्वभावस्य

---

१ अथ नित्यत्वैकान्तवादिमतनिरासपुरस्सरमालम्बनस्य बौद्धस्य पुनरपि दोषं प्रतिपादयन्नाह। २ प्रदीपकश्च प्रबुध्य–मु०, ब०। प्रदीपकः प्रबुध्य–ता०, द०। ३ सरटः कृकलासः स्यात्। ४ नित्यैकान्ते। ५ बौद्धादेः। ६ तत्। ७ क्षणिकत्वात्। ८ क्रमभाविद्रव्यनिराकरणं कृतम्। ९ अनेन सहभाविद्रव्यनिराकरणं कृतम्। १० तदेवाह। ११ उत्तरभावेषु।

नान्यभावापत्तिः सुखादिसमन्वयात्; कथं तर्हि पूर्वभावस्यान्यभावापत्तिः परिणामः ? तथैव सुखाद्यवस्थानात् शब्दादिभावानुपपत्तिः प्रसजति, सा चानिष्टा, तस्मान्न पूर्वभावस्यान्यभावापत्तिः परिणामः।

किञ्च, अभावस्यापरिणामात्। [1]यद्येनात्मना[2] नास्ति न तस्य तद्भावापत्तिः विद्यते। यथा अभावस्य भावात्मनाऽभावान्न [3]तद्भावापत्तिः, एवं गुणानां स्थूलत्वेन अभावात् तद्भावापत्तिरयुक्ता। अथास्ति [4]तद्भावः; ततः परिणामानुपपत्तिः तद्भावात्। येनात्मना यद्विद्यते तस्य न पुनस्तद्भावापत्तिः। नह्यभाव अभावात्मकत्वात् पुनरभावो भवति। एवमेकान्ते [5]कारणस्योभयथा परिणामानुपपत्तेः अनेकान्त आश्रयणीयः–पर्यायार्थादेशात् स्यादन्यभावापत्तिः, द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नान्यभावापत्तिः परिणाम इति। तथा द्रव्यार्थादेशात् स्यादवस्थितस्य द्रव्यस्य परिणामः, पर्यायार्थादेशात् स्यादनवस्थितस्येति। अथ का क्रियेति ? अत्रोच्यते–

**क्रिया परिस्पन्दात्मिका द्विविधा ।१६।** द्रव्यस्य द्वितयनिमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते। सा द्विविधा पूर्ववत् प्रयोगविस्रसानिमित्ता। प्रायोगिकी शकटादीनाम्। विस्रसानिमित्ता मेघादीनाम्।

**स्थितिग्रहणमिति चेत्; न; परिणामावरोधात् ।२०।** स्यादेतत्–यदि परिस्पन्दात्मिका क्रिया इत्युच्यते स्थितेर्ग्रहणं प्राप्नोति। गतिनिवृत्तिर्हि स्थितिरिति; तन्न; किं कारणम् ? परिणामावरोधात्। स्थितिर्हि परिणामेऽन्तर्भवति।

**परिणामग्रहण[6]मेवास्तु इति चेत्; न; भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात् ।२१।** स्यान्मतम्–यथा स्थितिः परिणामेऽन्तर्भवति तथा क्रियापि तत्रैवावरुध्यते इति परिणामग्रहणमेवैकमस्तु इति; तन्न; किं कारणम् ? भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात्। द्रव्यस्य हि भावो द्विविधः–परिस्पन्दात्मकः, अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते, इतरः परिणामः, इत्येतत्[8] ख्यापनार्थं पृथग्ग्रहणम्।

**क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात् परत्वापरत्वानवधारणमिति चेत्; नः कालोपकारप्रकरणात् ।२२।** स्यान्मतम्–क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्ते परत्वापरत्वे। तत्र क्षेत्रनिमित्ते[7] तावदाकाशप्रदेशाल्पबहुत्वापेक्षे। एकस्यां दिशि बहूनाकाशप्रदेशानतीत्य स्थितः परः, ततः अल्पानतीत्य स्थितोऽपरः। प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्मः, तद्विपरीतोऽधर्मोऽपरः इति। कालहेतुके शतवर्षः परः, षोडशवर्षोऽपर इति। अतोऽर्थभेदात् परत्वापरत्वयोरनवधारणमिति; तन्न; किं कारणम् ? कालोपकारप्रकरणात् कालकृतेऽत्र परत्वापरत्वे गृह्येते, दूरासन्नदेशावस्थायिनोः कुमारस्थविरयोः, तपस्विचाण्डालयोः सन्निकृष्टदेशे [9]चाण्डाले पर इति व्यवहारो दृश्यते, विप्रकृष्टे च [10]तपस्विनि अपर इति। ते एते परत्वापरत्वे कालकृते [11]इह गृह्येते।

**वर्तनाद्युपकारलिङ्गः कालः ।२३।** उक्ता वर्तनादयः उपकारा यस्यार्थस्य [12]लिङ्गं स काल इत्यनुमीयते। तथा चोक्तम्–"येन मूर्तानामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते स कालः" [ ] इति।

**वर्तनाग्रहणमेवास्त्विति चेत्; नः कालद्वैविध्यप्रदर्शनार्थत्वात् प्रपञ्चस्य ।२४।** स्यान्मतम्–वर्तनाग्रहणमेवास्तु कालास्तित्वख्यापनं तद्विकल्पत्वात् परिणामादीनामिति; तन्न; किं कारणम् ?

---

१ रूपादि। २ स्वरूपेण। ३ तस्याभावापत्तिः–मु०, द०, ब०। ४ स्थूलत्व। ५ नुवर्गादेः पूर्वरूपेण उत्तररूपेण च। ६–णमेकमेवास्ति–मु०, द०, ब०। ७–त्ते परत्वापरत्वे ताव–मु०, ता०। ८ सूत्रे इदमेवेत्यनिश्चयः। ९ स्थविरचाण्डाले। १० कुमारे। ११ वर्तनादिसूत्रे। १२ ज्ञापकम्।

कालद्वैविध्यप्रदर्शनार्थत्वात् प्रपञ्चस्य। द्विविधः कालः–परमार्थकालः व्यवहाररूपश्चेति। तत्र परमार्थकालः वर्तनालिङ्गः गत्यादीनां धर्मादिवत् वर्तनाया उपकारकः। स किंस्वरूप इति चेत्? उच्यते–यावन्तो लोकाकाशे प्रदेशास्तावन्तः कालाणवः परस्परं प्रत्यबन्धाः एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्यापिनः मुख्योपचारप्रदेशकल्पनाऽभावान्निरवयवाः। मुख्यप्रदेशकल्पना हि
५ धर्माधर्मजीवाकाशेषु पुद्गलेषु च द्व्यणुकादिषु स्कन्धेषु। परमाणुषूपचारप्रदेशकल्पना, [1]प्रचयशक्तियोगात्। उभयथा च कालाणूनां प्रदेशकल्पनाऽभावात्, धर्मास्तिकायादिवत् कायत्वाभावः। अत एव विनाशहेतुत्वाभावात् नित्याः। परप्रत्ययोत्पादविनाशसद्भावादनित्याः। सूचीसूत्रमार्गाकाशच्छिद्रवत् परिच्छिन्नमूर्तित्वेऽपि रूपादियोगाभावात् अमूर्ताः। निष्क्रियाश्च प्रदेशान्तरसंक्रमाभावात्। व्यवहारकालः परिणामादिलक्षणः[2]। [3]कालवर्तनया लब्धकालव्यपदेशः, कुतश्चित्
१० परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः।

कालत्रैविध्यसिद्धिः परस्परापेक्षत्वात्।२५। भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति त्रिविधः कालः सिद्धः। कुतः? परस्परापेक्षत्वात्। यथा वृक्षपङ्क्तिमनुसरतो देवदत्तस्य एकैकतरुं प्रति प्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् [6]व्यपदेशस्तथा तान् कालाणूननुसरतां द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवतां भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भावः। तत्र परमार्थकाले भूतादिव्यवहारो गौणः, व्यवहारकाले मुख्यः।
१५ परस्परापेक्षश्चासौ–यद्द्रव्यं क्रियापरिणतं कालपरमाणुं प्राप्नोति तद्द्रव्यं तेन [7]कालेन वर्तमानसमयस्थितिसंबन्धवर्तनया वर्तमानः कालः, [8]कालाणुरपि वर्तयंस्तद्द्रव्यमनतिक्रान्तसंबन्धवर्तनात्तदाख्यो भवति। [9]तदेव कालवशात् अनुभूतवर्तनासंबन्धं भूतम्, कालाणुरपि भूतः। तदेव वर्त्स्यत्स्थितिसंबन्धवर्तनापेक्षं भविष्यदिति व्यपदिश्यते, कालाणुश्च भविष्यन्निति। एवं[10] सवितुरनुसमयगतिप्रचयापेक्षया आवलिकोच्छ्वासप्राणस्तोकलवनालिकामुहूर्ताऽहोरात्रपक्षमासर्त्वे-
२० यनादिसवितृगतिपरिवर्तनकालवर्तनया व्यवहारकालो मनुष्यक्षेत्रे संभवति इत्युच्यते, तत्र ज्योतिषां गतिपरिणामात्, न बहिः निवृत्तगतिव्यापारत्वात् ज्योतिषाम्। मनुष्यक्षेत्रसमुत्थेन ज्योतिर्गतिसमयावलिकादिना परिच्छिन्नेन[11] क्रियाकलापेन[12] कालवर्तनया कालाख्येन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च प्राणिनां संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तानन्तकालगणनाप्रभेदेन कर्मभवकायस्थितिपरिच्छेदः सर्वत्र जघन्यमध्यमोत्कृष्टावस्थः क्रियते।

२५ [13]क्रियामात्रमेव कालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धिरिति चेत्; न; तद्भावे कालाभिधानलोपप्रसङ्गात्।२६। स्यान्मतम्–क्रियामात्रमेव कालः। कुतः? तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेः। सर्वोऽयं कालव्यवहारः क्रियाकृतः। क्रिया[14] हि [15]क्रियान्तरपरिच्छिन्ना [16]अन्यक्रियापरिच्छेदे वर्तमाना कालाख्या भवति। योऽपि समयो नाम भवद्भिरुच्यते स परमाणुपरिवर्तनक्रियासमय एव [17]कालसामानाधिकरण्यात्। न समयपरिमाणपरिच्छेदकोऽन्यः ततः सूक्ष्मतरः कश्चिदस्ति कालः। तत्स-
३० मयक्रियाकलाप आवलिका, तत्प्रचय उच्छ्वास इत्यादि समयक्रियाकलापपरिच्छिन्ना आवलिका उच्छ्वासपरिच्छेदे वर्तमाना कालाख्या[18]। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। लोकेऽपि तथैव गोदोहेन्धनपाकादिरन्योन्यपरिच्छेदे वर्तमानः कालाख्यः इति क्रियैव काल इति; तन्न; किं कारणम्? तदभावे कालाभिधानलोपप्रसङ्गात्। सत्यम्, क्रियाकृत एवायं व्यवहारः सर्वः–उच्छ्वासमात्रेण कृतं मुहूर्तेन कृतमिति, किन्तु समय उच्छ्वासो निश्वासो मुहूर्तः इति स्वसंज्ञाभिर्निरूढानां काल इत्यभि-

१ कुतः। २–लक्षणः मु०, द०। ३ निश्चय। ४ आवलिकोच्छ्वासादि। ५ घटिकादितः। ६ इति। ७ समयरूपेण। ८ निश्चयकालः। ९ क्रियावद्द्रव्यमेव। १० अनेन प्रकारेण, सर्वद्रव्यमेव काल इति प्रतिपादितद्वारेणेत्यर्थः। ११ निश्चितेन। १२ सूर्यस्य। १३ अथ लब्धावकाशः तथागतः प्रत्यवतिष्ठते। १४ आवलिकादिः। १५ समयादि। १६ सासादनकालादि। १७ कालसामान्यसामाना–मु०, द०, ब०। १८ कालाख्यापि ए–श्र०।

धानमकस्मान्न भवति। यथा देवदत्तसंज्ञया निरूढे पिण्डे दण्ड्यभिधानमकस्मान्न भवतीति दण्डसंबन्धसिद्धिः, तथा कालसिद्धिरपि। इतरथा कालव्यवहाराभावप्रसङ्गः स्यात्।

वर्तमानाभावप्रसङ्गाच्च।२७। यस्य क्रियामात्रमेव कालो नान्यः कश्चिदस्ति वर्तनालक्षणः, तस्य वर्तमानकालाभावः प्रसक्तः। कथम्? ऊयते पट इति यः प्रक्षिप्तस्तन्तुः सोऽतिक्रान्तः, यः प्रक्षेप्स्यते सोऽनागतः, न च तयोरन्तरे काचिदन्या अनतिक्रान्ताऽनागामिनी क्रिया अस्ति या वर्तमानत्वेन परिगृह्येत। वर्तमानापेक्षौ च पुनरतीतानागताविष्येते [1]तदभावे तयोरप्यभावः स्यात्। ५

यदप्युक्तम्–आरम्भादिरपवर्गान्तः क्रियाकलापो वर्तमान इति[2]।

"आरम्भाय प्रसृता[3] यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः।
कार्यस्यानिष्ठातः तन्मध्यम[4]कालमिच्छन्ति॥" [ ] इति;

तदप्ययुक्तम्; कुतः? अभ्युपगमविरोधात्। पूर्वं क्रियाकाल इत्युक्तं पश्चात् क्रियासमूह इति। क्षणिकानां क्रियावयवानां समूहाभावाच्च। यस्य पुनरन्यो वर्तनालक्षणः कालः, तस्य प्रथमसमयक्रियावर्तनया आरम्भमुपादाय द्वितीयादिसमयक्रियाविशेषाणां द्रव्यार्थतयाऽवस्थानमनुभवतां समुदायमुपचर्य तत्समूहसाध्यस्य घटादेरापरिसमाप्तेर्वर्तते घटादिक्रियेति वर्तमानकालसिद्धिः कल्प्यते। यदि व्यतिरेकेणानुपलब्धेः कालो नास्तीत्युच्यते; ननु क्रियायाः क्रियासमूहस्य चाभावः। कारकाणां हि प्रवृत्तिविशेषः क्रिया, न तेभ्यः प्रवृत्तिर्व्यतिरिक्ता उपलभ्यते। यथा सर्पात्मलाभ एव कौटिल्यं न तत्तस्माद् व्यतिरिक्तमुपलभ्यते एवं क्रियापीति। तथा क्रियावयवेभ्यो व्यतिरिक्तो न तत्समूह उपलभ्यते तदात्मकत्वात्, अतस्तयोरभावप्रसङ्गः स्यात्। किञ्च, क्रिया क्रियान्तरस्य परिच्छेदिका कालव्यपदेशभागित्यनुपपन्नम् अनवस्थानात्। स्थितो हि लोके प्रस्थादिः [6]परिमाणविशेषः व्रीह्यादेरवस्थितस्य परिच्छेदको दृष्टः। न च तथा क्रियाऽवस्थिता अस्तिक्षणमात्रावलम्बनाभ्युपगमात्। न हि स्वयमनवस्थितः कश्चिदनवस्थितस्य परिच्छेदको दृष्टः। प्रदीपपरिस्पन्दवत् इति चेत्; यथा प्रदीपोऽनवस्थितः परिस्पन्दस्यानवस्थितस्यैव परिच्छेदे वर्तते तथा क्रियापीति; एतच्चायुक्तम्; असिद्धत्वात्। प्रदीपः परिस्पन्दश्च क्षणिक इति नास्माभिरभ्युपगम्यते स्वकार्यस्य प्रकाशनादेरनेकक्षणसाध्यत्वात्। समूहस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावादिति चेत्; न; क्षणिकानां समूहाभावात्। शब्दवदिति[10] चेत्; न; यथा क्षणिकानां वर्णध्वनीनां समुदायः पदवाक्यरूपः तथा क्रियावयवानामिति; [11]एतदप्यसाम्प्रतम् असिद्धत्वादेव। न हि वर्णध्वनयः क्षणिकाः; देशान्तरस्थश्रोतृविषयभावापत्तिदर्शनात्। [12]शब्दान्तरारम्भात् तत्प्रतिसिद्धिरिति चेत्; न; क्षणिकस्यारम्भशक्तिविरहात्। यस्मिन् क्षणे स्वयमात्मलाभमापद्यते न तदाऽन्यमुत्पादयति असत्त्वात्, उत्तरक्षणे च नारभते उत्पत्त्यनन्तरापवर्गित्वात्। आसन्नसदवस्थाको[13] हि क्षण उत्पत्तिकाल इति व्यपदिश्यते, उत्तरकालमस्य सत्त्वं नास्ति इत्युत्पत्तिव्यवहार एव न स्यात्। १० १५ २० २५

[14]पूर्वविज्ञानाहितसंस्कारबीजाधारभूतायां बुद्धौ समुदायकल्पनेति चेत्; न; तस्या अपि तादात्म्यात्। यस्य तु द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्या क्रिया पर्यायार्थादेशाच्च स्यादनित्या बुद्धिरपि; तस्य वस्तुनि बुद्धौ च क्रियावयवसमूहस्य शक्तिव्यक्तिस्वरूपेण व्यवस्थितस्य कालवर्तनया प्रतिलब्धकालव्यपदेशस्य परिच्छिन्नस्यान्यपरिच्छेदे वृत्तिरुपपद्यते इति व्यवहारकालसिद्धिः। तत्प्रसिद्धौ च ३०

---

१ वर्तमानाभावे। २ अस्माकमपि वर्तमानकालोऽस्तीति वदन्तं सांख्यं प्रत्याह। ३ उद्यताः। ४ वर्तमानमित्यर्थः। ५ स्याद्वादिनः। ६ परिणामादेः। ७ न तु तत्त–मु०, द० ब०। ८ वंशादेः। ९ शिखारूपेण क्षणप्रतिक्षणं गलनसद्भावात्। १० चेत् क्षणि–श्र०। ११ तदसा–श्र०। १२ न्यायवादिमतमाश्रित्याह बौद्धः। १३ पर्यासिकः। १४ "नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥"–वाक्यप० १।८५।

मुख्यकालसिद्धिः इत्युक्तम् । अथ किमर्थं परत्वापरत्वयोः पृथग्ग्रहणम्, वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वानीत्येवं वक्तव्यम् ?

परत्वापरत्वयोः पृथग्ग्रहणं परस्परापेक्षत्वात् ।२८। परत्वापरत्वे पृथग्गृह्येते । कुतः ? परस्परापेक्षत्वात् । परत्वं ह्यपेक्ष्यापरत्वं भवति, अपरत्वं चापेक्ष्य परत्वमिति ।

५ अथ किमर्थं वर्तनाग्रहणमादौ क्रियते ?

वर्तनाग्रहणमादौ अभ्यर्हितत्वात् ।२९। वर्तनाग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? अभ्यर्हितत्वात् । कथमभ्यर्हितत्वम् ? वर्तनापूर्वकत्वात् परमार्थकालप्रतिपत्तेः । तन्निमित्तत्वात् व्यवहारकाललिङ्गस्याप्राधान्यम् ।

अत्राह– उक्तं भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति, [1]तन्त्रान्तरीया जीवं परिभाषन्ते,

१० तत्कथमिति ? अत्रोच्यते—

## स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

स्पर्शग्रहणमादौ विषयबलदर्शनात् ।१। स्पर्शग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? विषयबलदर्शनात् । सर्वेषु हि विषयेषु स्पर्शस्य बलं दृश्यते । स्पृष्टग्राहिष्विन्द्रियेषु स्पर्शस्यादौ ग्रहणव्यक्तिः, सर्वसंसारिजीवग्रहणयोग्यत्वाच्च ।

१५ रसप्रसङ्ग इति चेत्; न; स्पर्शे सति तद्भावात् ।२। स्यान्मतम्–यदि विषयबलात् आदौ स्पर्शोऽधीतः, ननु विषयबलत्वात् आदौ रस एवाध्येयः । स्पर्शसुखनिरुत्सुकेष्वपि[2] रसव्यापारदर्शनादिति; तन्न; किं कारणम् ? स्पर्शे सति [3]तद्भावात्, तत्रापि सति स्पर्शे रसव्यापार इति स्पर्शग्रहणमेवादौ न्याय्यः । तत एवानन्तरं रसवचनं स्पर्शग्रहणानन्तरभावितत्वात् (भावित्वात्) रसग्रहणस्य, तदनन्तरं तद्ग्रहणं क्रियते ।

२० वायौ तदभावात् व्यभिचार इति चेत्; न; तत्राप्यभ्युपगमात् ।३। स्यादेतत्–वायुः स्पर्शवान् इति तदनन्तरं रसग्रहणाभावात् व्यभिचार इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्राप्यभ्युपगमात् । रूपादयो हि स्पर्शाविनाभाविनः घटादिष्विव वायावप्यभ्युपगम्यन्ते । स्पर्शवत्तत्र सतां रूपादीनामपि ग्रहणं कस्मान्नेति चेत् ? स्थूलविषयग्राहित्वाच्चक्षुरादीनां घ्राणेन्द्रियविषयवत् वायौ सतामपि रूपादीनामग्रहणम् ।

२५ रूपात् प्राग् गन्धवचनम् अचाक्षुषत्वात् ।४। रूपात् प्राक् गन्धवचनं क्रियते । किं कारणम् ? अचाक्षुषत्वात् ।

अन्ते वर्णग्रहणं स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः ।५। सर्वेषामन्ते वर्णग्रहणं क्रियते । कुतः ? स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः ।

नित्ययोगे मतुब्विधानम् ।६। स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्ते येषां सन्ति

३० ते स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः इति नित्ययोगे मतुविधानं द्रष्टव्यम् । यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति क्षीरेण नित्ययोगात् मत्वर्थीयविधानम्, तथा अनादिपारिणामिकस्पर्शादिगुणसामान्यनित्ययोगे मतुरिति । स्पर्शादीनामनन्तपर्यायत्वेऽपि मौलभेदप्रसिद्ध्यर्थमितः क्रियते ।

मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शभेदाः ।७। एते मृद्वादयोऽष्टौ स्पर्शस्य मूलभेदा द्रष्टव्याः ।

---

१ चार्वाकादयः । २ यतिषु । ३ सद्भावात् ता०, श्र० ।

तिक्तकटुकाम्लमधुरकषाया रसप्रकाराः ।८। तिक्तादयः पञ्च रसप्रकाराः वेदितव्याः ।

गन्धः सुरभिरसुरभिश्च ।९। गन्धो द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्चेति ।

वर्णाः पञ्चधा नीलपीतशुक्लकृष्णलोहितभेदात् ।१०। नीलादिभिः पञ्चभिः प्रकारैः वर्णा भिद्यन्ते । एषां च स्पर्शनादीनामेकैकस्य एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणपरिणामोऽवसेयः ।

सकलरूपादिद्रव्यधर्मनिर्देशात् अवशिष्टविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह— ५

## शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपो-द्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

शब्दादीनामभिहितनिर्वचनानां परिप्राप्तद्वन्द्वानां मतुना अभिसंबन्धः ।१। शब्दादीनां निर्वचनेन प्रतिलब्धार्थानां परस्परापेक्षायां सत्यां द्वन्द्वं कृत्वा मतुना संबन्धो योजयितव्यः । तद्यथा-शपत्यर्थमाह्वयति [1]प्रत्याययति, शप्यते येन, शपनमात्रं वा शब्दः । बध्नाति, बध्यतेऽसौ, १० बध्यतेऽनेन, बन्धनमात्रं वा बन्धः । लिङ्गेन आत्मानं सूचयति, सूच्यतेऽसौ, सूच्यतेऽनेन, सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः, सूक्ष्मस्य भावः कर्म वा सौक्ष्म्यम् । स्थूलयते परिबृंहयति, स्थूल्यतेऽसौ, स्थूल्यतेऽनेन, स्थूलनमात्रं वा स्थूलः । स्थूलस्य भावः कर्म वा स्थौल्यम् । संतिष्ठते, संस्थीयतेऽनेनेति, संस्थितिर्वा संस्थानम् । भिनत्ति, भिद्यते, भेदनमात्रं वा भेदः । पूर्वोपात्ताशुभकर्मोदयात् ताम्यति आत्मा, तम्यतेऽनेन, तमनमात्रं वा तमः । पृथिव्यादि[2]घनपरिणाम्युपश्लेषात् देहादिप्रकाशावरण- १५ तुल्याकारेण छिद्यते, छिनत्त्यात्मानमिति वा छाया । असद्वेद्योदयात् आतपत्यात्मानम्, आतप्यतेऽनेन, आतपनमात्रं वा आतपः । निरावरणमुद्योतयति, उद्योत्यतेऽनेन, उद्योतनमात्रं वा उद्योतः । शब्दश्च बन्धश्च सौक्ष्म्यं च स्थौल्यं च संस्थानं च भेदश्च तमश्च छाया च आतपश्च उद्योतश्च शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योताः, ते येषां सन्ति ते शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः । २०

शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात् ।२। शब्दो द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? भाषालक्षणविपरीतत्वात्-भाषालक्षणो विपरीतश्चेति ।

भाषात्मक उभयथा अक्षरीकृतेतरविकल्पात् ।३। तत्र भाषात्मकः शब्दः उभयथा कल्प्यते । कुतः ? अक्षरीकृतेतरविकल्पात् । अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदात् आर्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः । अवर्णात्मको द्वीन्द्रियादीनाम्, अतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुश्च । स २५ एव सर्वः प्रायोगिकः ।

अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् ।४। अभाषात्मकः शब्दो द्वेधा विभज्यते । कुतः ? प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् । तत्र वैस्रसिको वलाहकादिप्रभवः ।

प्रयोगश्चतुर्धा ततविततघनसौषिरभेदात् ।५। प्रयोगजः शब्दः चतुर्धा भिद्यते । कुतः ? तत-विततघनसौषिरभेदात् । तत्र चर्मतननात्ततः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवः । विततः तन्त्रीकृतो वीणा- ३० सुघोषादिसमुद्भवः । घनस्तालघण्टालालनाद्यभिघातजः । सौषिरो वंशशङ्खादिनिमित्तः । न शब्दः आकाशगुणः इति [3]केषाञ्चित् दर्शनम्; तदयुक्तमित्युक्तं पुरस्तात् ।

---

१ ज्ञापयति । २ -दिपरि-श्र० । ३ वैशेषिकाणाम्-स० ।